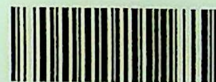
विश्ववाणी



संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल (जेल में)

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख्तर हुसैन रायपुरी

मई १९४



इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त श्री जैनेन्द्रकुमार का धारावाहिक उपन्यास, अनेक सुप्रसिद्ध कवियों, कहानी लेखकों और विचारकों की कवितायें, कहानियाँ और विचार-धारायें ।

र्षिक मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद एक अङ्क का ।।=)

विषय-सूची

मई १९४३

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काशमीर के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ५	मई, १९४३	अङ्क ५, पूरे अङ्क २९

गीत

डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित

क्या ऐसे ही तुमने रहीम पहिचाने,
दोनो बैठे अपनी - अपनी ज़िद ठाने !

है राम - रहीम न दूर, न काशी काबा,
है मज़हब के झगड़ों का झूठा दावा
वह हमला करता, यह करता है धावा
दो बेटे एक पिता के, लड़ते बाबा !

पहनो सच्चे मालिक के सच्चे बाने।
वह प्रेम सिखाता, लड़ना नहीं सिखाता
अपनी क़ुदरत में सब को खेल खिलाता
वह सब का मालिक और सभी का दाता
वह पिता सभी का, जननी भारत - माता
लो, बढ़ो, चलो आज़ादी को ले आने।

— —

वेदान्त और तसव्वुफ़

डा० ताराचन्द

रामानुज का समय हमें अपने इतिहास के उस ज़माने में ले आता है जब कि उत्तरी हिन्दोस्तान इसलाम के प्रभाव में आ चुकता है और हिन्दू धर्म में इसलामी विचार और संस्कार मिलने लगते हैं। लेकिन इसके साथ ही साथ इसलाम धर्म भी हिन्दू-शास्त्र और दर्शन के तरीक़ों और ख़्यालों को ग्रहण करता है जिससे दोनों एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। इसलिए, इन दोनों का मेल जोल किस तरह शुरू हुआ यह जानना बहुत ज़रूरी है।

तसव्वुफ़ या इसलामी रहस्यवाद की नींव .क़ुरान के उपदेशों पर ही रखी गई है। सूफ़ी सम्प्रदाय अपने सिद्ध पुरुषों की चरितावली हज़रत मुहम्मद से ही शुरू करते हैं और उनमें से बहुत से हज़रत अली को उनका पहला ख़लीफ़ा मानते हैं। यहां पर सूफ़ी धर्म के आरम्भ काल के उल्लेख की कोई ज़रूरत नहीं; लेकिन मन्सूर-ऊल-हल्लाज, जिनका जन्म ८५८ ईस्वी में ईरान में इस्तख़ के पास तूर नामक गाँव में हुआ था, के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। उनकी जीवनी से मालूम होता है कि वह हिन्दोस्तान में आकर गुजरात और काश्मीर में ठहरे थे और फिर उसके बाद .ख़ुरासान गए। आख़ीर में बग़दाद जाकर रहने लगे और वहीं पर उपदेश देने लगे। इनके विचार पुराने ख़्यालवाले लोगों को पसन्द न आए और इब्न दाऊद उल इस्फ़हानी ने जो ज़ाहिरिया सम्प्रदाय के आलिम थे उनके ख़िलाफ़ फ़तवा दे दिया। वज़ीर के सामने मुक़द्दमा हुआ और ९२२ ई० में उनको फांसी दी गई। मन्सूर के इस ऐलान से कि 'मैं' और 'हक़' एक ही है (अनलहक़) उस वक़्त भी जनता पर काफ़ी असर पड़ा। इसी के साथ उनकी राय कि हज वग़ैरह पाँचों फ़रज़ों की जगह और संस्कार ले सकते हैं बड़े वाद विवाद का सबब बनी। मन्सूर की शिक्षा थी कि ईश्वर (.ख़ुदा) सृष्टि की सारी सीमाओं के परे है और ईश्वर और आदमी की आत्मा दोनों आख़ीर में एक हो जाते हैं। इस सिद्धान्त को 'हुलूले लाहूत फ़ी अन्नासूत' कहते हैं।

मन्सूर के २०० साल बाद इमाम मुहम्मद ग़ज़ाली हुए। उनको 'हुज्जत्-उल इसलाम' यानी 'इसलाम का सबूत, कहा जाता है और वे मुसलमानों में सबसे ऊंचे दर्जे के पंडित समझे जाते हैं। फ्रांसीसी लेखक रेनाँ, जिसने मुसलिम विचार-धारा का काफ़ी अनुशीलन किया था, उनको अरब के दार्शनिकों में सबसे मौलिक मानता है। इन्होंने इसलामी दर्शन पर यूनान का जो प्रभाव पड़ा था उसको इस तरह से उखाड़ कर फेंक दिया कि वह पूरब में फिर न पनप सका।

ग़ज़ाली का जन्म १०६६ ईस्वी में तूस नामक जगह में हुआ था, उन्होंने अपना जीवन एक धर्म-शास्त्री और भाष्यकार की हैसियत से शुरू किया लेकिन बाद में फ़लसफ़े की ओर उनका मन झुका। बग़दाद के मशहूर निज़ामिया कालिज के वह प्रोफ़ेसर मुक़र्रर किए गये। कुछ समय के बाद उनके दिमाग़ में एक इनक़लाब हुआ और उनकी आत्मा में उथल पुथल मचा। फ़लसफ़े की तरफ़ से विश्वास हट गया और वह नास्तिक हो गए। अपनी जगह से इस्तीफ़ा देकर उन्होंने तपस्या के द्वारा शान्ति हासिल की। मक्का आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा करके उन्होंने ध्यान में मन लगाया। आख़िरकार उनकी परेशान आत्मा को शान्ति मिली। वह नैशापुर वापिस आए और वहाँ कालिज में पढ़ाने लगे। इसके थोड़े ही समय बाद वह अपने जन्म स्थान तूस लौटे जहाँ सन् ११११ ईस्वी में उनका देहान्त हो गया।

ग़ज़ाली का 'इह्या-उल-उलूम' उनका सब से उत्तम रचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने धर्म और

फ़लसफ़ा सम्बन्धी सारी समस्याओं पर विचार किया है। ज्ञान या इल्म के बारे में उनका कहना है कि यह दो प्रकार का है—अक़्ली-यानी अक़्ल या बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाला और दीनी-यानी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला। पहिले तरह का इल्म वैज्ञानिक इल्म है और प्रत्यक्ष प्रमाण, तर्क, और अध्ययन इसके हासिल करने के साधन हैं। एक ओर औषधि-शास्त्र, गणित, ज्योमेट्री, ज्योतिष शास्त्र और दूसरी ओर धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा व्याकरण आदि इसकी शाखाएँ हैं। दूसरी तरह का ज्ञान इल्मे मकाशिफ़ा यानी आत्मा के साक्षात्कार का ज्ञान है। इसका मक़सद उस ईश्वर की प्राप्ति है जिसके सिवा सब असत् है। यह मनुष्य को सारे फंदों से छुड़ाकर सत् का साक्षात्कार कराता है। मन (ख़ातिर) में चञ्चलता पैदा करनेवाली इन्द्रियों को स्थिर करना, हृदय की शुद्धि (तज़किया-ए-नफ़स) और गूढ़ तत्वों पर चिंतन (मराक़बा और मकाशफ़ा) इसके लिए पहली शर्त है। पहली तरह के दुनियावी इल्म की सचाई अनिश्चित है, किन्तु आत्मिक ज्ञान की निश्चित, क्योंकि यह सचमुच ईश्वर ही का सामना करा देता है। पहिली तरह का ज्ञान दूसरी तरह के ज्ञान से नीचे दर्जे का है, इसलिए जब तक यह दूसरे प्रकार के ज्ञान के विकास में साधक है तब तक तो ठीक है वरना बिल्कुल बेकार।

इन दोनों प्रकार के ज्ञानों के बीच में फ़र्क़ दिखलाने के लिए ग़ज़ाली ने दो उदाहरण दिए हैं। पहिला—किसी खेत में एक कुआं खोदा गया। इसमें पानी दो तरह से भरा जा सकता है एक तो ज़मीन की सतह पर नालियाँ खोदकर किसी दूसरे कुंड से इसमें पानी लाया जा सकता है या फिर उसी कुंए की तह की ज़मीन को इतना और खोदा जाय कि अन्दरूनी सोते से ख़ुद ब ख़ुद फूट कर पानी ऊपर आ जाए। दूसरी तरह का आया हुआ पानी पहिली तरह से आए हुए पानी के मुक़ाबले में अधिक निर्मल, वाफ़िर और स्थायी होगा। ठीक इसी तरह मनुष्य का मन (क़ल्ब) एक कुआँ है, नालियां पांच इन्द्रियां, और उनके द्वारा लाया गया पानी, तजरुबे और अनुभव (प्रत्यक्ष ज्ञान) पर आश्रित ज्ञान की तरह है। लेकिन दूसरे तरह का ज्ञान वह है जो छिपे हुये सोते से कुएं की तह की मट्टी के हट जाने पर अपने आप निकल आता है। यह वह सीधा ज्ञान है जो लौहे-महफ़ूज़ (सुरक्षित पट्टी) पर लिखा हुआ है, और यह उस दैवी सत् का ज्ञान है जो ईश्वर की दया से खोजने वाले की आत्मा में प्रकाशित होता है।

दूसरा उदाहरण—एक राजा से कहा गया कि रोमन और चीनी बड़े अच्छे चित्रकार हैं। उन दोनों की चतुराई की तुलना करने की ग़रज़ से राजा ने अपने कमरे की एक दीवार चीनी कलाकारों और सामने वाली रोमन कलाकारों को दी। दोनों के बीच में एक पर्दा डाल दिया गया। रोमन लोगों ने तरह तरह के रङ्ग इकट्ठे किए। लेकिन चीनियों ने बिला किसी रङ्ग के ही अपना काम शुरू किया। जब दोनों ने अपना काम ख़तम कर लिया तो उनकी चित्रकारी का मुआयना करने के लिए राजा बुलाया गया। रोमन लोगों की सुन्दर तस्वीरों को देखकर राजा बहुत ही ख़ुश हुआ और फिर चीनियों की दीवार की ओर मुड़ा जिस पर कोई भी रंग इस्तेमाल नहीं किया गया था। राजा ने आश्चर्य से पूछा 'चित्र कहाँ हैं ?' तब चीनियों ने बीच का पर्दा हटा दिया और रोमन चित्र की सारी सुन्दरता की परछांई उस चीनी दीवार पर पड़ी। इतना ही नहीं बल्कि चीनियों ने अपनी दीवार पर ऐसी अद्भुत पालिश की थी कि परछांई असली तस्वीर से भी कहीं ख़ूबसूरत लगी और उसकी जगमगाहट के सामने तस्वीर फीकी पड़ गई।

ईश्वर के भक्त इन चीनियों की तरह से ही हैं। वे अपने दिल के आईने को इस तरह शुद्ध और निर्मल कर लेते हैं कि सनातन सत्य उसमें अपने पूरे प्रकाश के साथ चमकने लगता है, लेकिन पोथी पढ़ने वाले पण्डित रोम वालों की तरह से हैं; उनका ध्यान सिर्फ़ बाहरी दुनिया की शोभा तक ही सीमित रहता है।

इस्लामी रहस्यवाद के फ़लासफ़े के विकास में शहाबुद्दीन सुहरावर्दी (११४५—१२३४ ईस्वी) ने एक बड़ा भारी हिस्सा लिया। इस विषय पर उनकी लिखी हुई पुस्तक 'अवारिफ़ुल मआरिफ़' एक पूर्ण ग्रन्थ है। सुहरावर्दी ने इल्मों के फ़र्क़ को और भी भली भांति से जांचा है। उन्होंने बतलाया है कि इन्द्रियों और बुद्धि से प्राप्त (इद्राकी, हिस्सी, अक़्ली) अनुभव इल्म या ज्ञान से जुदा है। इस अनुभव के दो पहलू हैं—एक अक़्ले हिदायत यानी बनाने वाले के विषय की जानकारी और दूसरा अक़्ले मआश, बनाई हुई चीज़ों के विषय की। इल्म तीन तरह का है—१—इल्मे-तौहीद-यह ज्ञान कि ईश्वर एक है, २—इल्मे मआरिफ़त—ख़ुदा के कार्यों का ज्ञान; और ३—इल्मे-शरियत ख़ुदा के हुक्मों का ज्ञान। लेकिन इस इल्म के भी परे एक भीतरी दीठ है जिसे मआरिफ़त कहते हैं "मआरिफ़त इबारत अज़ बाज़ शिनाख़तने उलूमे मुजमिल दर सूरते तफ़सील।" (दीठ उस जानने का नाम है जो ज्ञानों में साधारण और विशेष की पहचान से हासिल होती है)। वह बतलाते हैं कि भीतरी दीठ (मारिफ़त) समाधि (वज्द) से मिलती है, और इसीलिये ज़बान में ताक़त नहीं कि वह इसे बयान कर सके। अनुभव और ज्ञान इसके लिये केवल भूमिका के समान हैं। इसलिए इल्म के बग़ैर दीठ (मारिफ़त) नामुमकिन है, और इल्म दीठ के बिना एक बोझा है। सबसे ऊँची दीठ (मारिफ़त), मारिफ़ते इलाही (ईश्वर की दीठ) है, जो आत्मा की पहचान पर निर्भर करती है। कहा है—"मन अरफ़ा नफ़सहि अरफ़ा रब्बिहि।"

"जो आत्मा में दीठ रखता है वही परमात्मा को पहचानता है।"

ईश्वर क्या है, उसका मनुष्य से क्या सम्बन्ध है—इन विषयों पर सुहरावर्दी के विचार उनकी इल्म और मारिफ़त (ज्ञान और दीठ) के सिद्धान्तों में शामिल हैं। उनके विचार से ख़ुदा पूर्ण, सत् और शुद्ध तत्व है जो गुण और विशेषणों से परे है। "अल्लाह, अहद, समद, मुनज़्ज़ा अज़ वालिदो वलद, व मऊनतो मदद, व मुक़द्दस अज़ शबीहो नज़ीरो वज़ीरो मशीर।"

ख़ुदा एक और सनातन है। उसका न कोई पैदा करने वाला है और न ख़ुद उससे ही कोई पैदा होता है। उसको न कोई मदद देता है और न वह किसी की मदद चाहता है। न उसका कोई सानी है, न कोई उसके समान है, न कोई उसका सहायता देने वाला वज़ीर है और न कोई सलाह देने वाला मन्त्री! देश, काल, गुण, आकार, संख्या, परिमाण, आदि से उसे कोई सम्बन्ध नहीं। वह तर्क, अनुभव, इन्द्रिय-ज्ञान, और अनुमान आदि से अप्राप्य उनसे दूर और स्वतन्त्र है। "हरचि दर अक़्लो फ़हमो हवासो क़यास गुंजद ज़ाते ख़ुदावंदे सुबहान अज़ां मुनज़्ज़हो मुक़द्दस अस्त।"

लेकिन यह पूर्ण चेतना वह चमकता दमकता तेज है जो हमेशा के लिये छिपा नहीं रह सकता। सुहरावर्दी का कथन है—"मुराद अज़ तज्जली इन्कशाफ़े शम्से हक़ीक़ते हक़ अस्त, तआला व तक़द्दुस अज़ ग़यूमे सिफ़ाते बशरी व ग़ैबते आँ।"

'इन्सानी गुणों के बादलों को हटा कर, ऊँचे और विशुद्ध ईश्वर के परम सत्य रूपी सूरज को प्रकाश करना ही तजल्ली (आत्मा की ज्योति) है। यह प्रकाश तीन प्रकार का है—१—तजल्ली-ए-ज़ात-ईश्वर के तत्व का प्रकाश २—तजल्ली-ए-सिफ़ात उसके गुणों का प्रकाश और ३—तजल्ली-ए-अफ़आल उसके कार्यों का प्रकाश। पहली अवस्था को मुशाहदा, दूसरी को मुकाशफ़ा, और तीसरी को मुहाज़रा कहते हैं। मुशाहदा की सबसे ऊँची अवस्था वह है जब कि देखने वाला (द्रष्टा) देखी गई वस्तु (दृष्ट) में अपने को मिला देता है।

परमात्मा और मनुष्य के सम्बन्ध को बतला कर सुहरावर्दी सूफ़ियों के रीति रिवाज, शिष्टाचार और आदर सत्कार पर अपने विचार ज़ाहिर करते हैं। इसके बाद वह उनके कर्त्तव्यों और सद्गुण को बतलाते हैं, आख़ीर में अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिये रास्ते की मंज़िलें और अवस्थाएँ बयान करते

हैं। उनके मत के अनुसार यह बहुत ज़रूरी है कि शरियत (धर्म) में बताए गए नियत कर्म (विधि) किए जाएँ और जिन कामों को करने से मना किया गया है (निषेध) वे न किए जाएँ। मसलन पांच फ़र्ज़ अवश्य करने चाहिये। सद्गुणों में वे सच, धीरज, विनय, उदारता, मित्रता, क्षमा, स्नेह और प्रेम पर ज़ोर देते हैं। पश्चात्ताप, तप, त्याग, दीनता, समर्पण, कृतज्ञता, भय, आशा, ईश्वर में विश्वास और उसकी इच्छा का पालन—यह सब उस मार्ग की मंज़िलें हैं। इन सब गुणों से युक्त सूफ़ी ईश्वर प्रेम और आकर्षण की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का अनुभव करता है और अन्त में फ़ना व बक़ा (मोक्ष) के मंज़िले मक़सूद पर पहुंच जाता है।

इब्न अरबी जो 'शेख़-उल-अकबर' के नाम से मशहूर हैं, सुहरावर्दी से छोटे लेकिन उनके समकालीन थे। उनका जन्म स्पेन देश के मुरचिया स्थान में सन् ११६५ ई० में हुआ लेकिन वह अपने जीवन को बिताने के लिये पूर्वी देशों में आये और कई मुल्कों का सफ़र करते हुए दमिश्क़ में बस गए। सन् १२४० ई० में उनका जीवन समाप्त हो गया।

ईश्वरी तत्त्व की खोज के साथ उनके फ़लसफ़े का आरम्भ होता है। उनका विचार है कि ईश्वर को न तो केवल सबके परे (तन्ज़ीह) और न सिर्फ़ सबके अन्दर (तशबीह) माना जा सकता है, क्योंकि वह दोनों ही है। क़ुरान का कहना है "हूउल अव्वल हूउल आख़िर हूउल बातिन हूउल ज़ाहिर।"

'वह सबसे पहिला और सब के आख़िर है; वह अन्दर वाला है, और बाहर वाला भी।' यह भी कहा गया है "सनरीहुम आयतना फ़िलाफ़ाक़ि व अन्फ़सहुं हत्ता यतबीन लहुं इन्नहुलहक़्क़े" 'मैं आसमान में और उनके प्राणों में अपने चिह्नों को ज़ाहिर करूँगा ताकि उनको साफ़ साफ़ मालूम हो जाए कि वही सत्य है।' जब कि यह कहा जाता है कि "उसके समान कोई चीज़ नहीं है", तो उसके तन्ज़ीह या परा रूप से तात्पर्य है, और जब कहा जाता है कि 'वही सुनने और देखने वाला है' 'हू उस्समी हू उल बसीर" तो उसकी 'तशबीह' या अन्तर्व्यापी अवस्था से मतलब है। जहां एक ओर वह बुद्धि के परे है वहां दूसरी ओर वह अपने को हब्ल-उल-वरीद यानी गरदन की नाड़ी से भी पास बताता है।

इसीलिए परम सत् का बयान केवल ऐसे ही शब्दों में किया जा सकता है जो आपस में विरोधी हों। लेकिन यदि वह परम सत् संपूर्ण है तो इसका एक नियत रूप भी होना चाहिये। ब्रह्मांड का विकास इसी नियत रूप से सम्बन्ध रखता है।

प्रवृत्ति का सिद्धान्त ईश्वर के नियत रूप से बंधा है। इससे सृष्टि के विकास-क्रम का पता चलता है। इस विकास की पांच अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था वहदत यानी पूर्ण ऐक्य या अद्वैत की है जिसमें बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् बिलकुल एक होते हैं। दूसरी अवस्था वह है जिसमें ऐक्य टूट जाता है और अन्तर्जगत् (बुतून) और एकत्व का सामना होता है। इसको वहिदियत कहते हैं। इसके बाद अहदियत यानी बहुत्व में एकत्व वाली अवस्था आती है, इस अवस्था में गुणों (सिफ़ात) में तत्व और तत्व में गुण प्रकट हो जाते हैं। चौथी अवस्था वह है जब विचार नाम (एयान) उत्पन्न होते हैं और आख़िरी वह जबकि रूप (अजसाम) पैदा होते हैं। मनुष्यों, चीज़ों और जगत् के इस बहुत्व के पीछे, दर असल, एक ही तत्व है, जैसा कि क़ुरान में कहा गया है, "ऐ लोगों अपने रब का आदर करो, जिसने एक प्राण से सारी ख़लक़त को पैदा किया। "या ऐयहा उन्नास उत्तिक़ू रब्बिकुं अल्लज़ी ख़लक़कुं मन नफ़सहि वाहिदतुन्"

बाहरी जगत् के स्वभाव के बारे में इब्न अरबी ने अजीब विचार ज़ाहिर किए हैं। 'फ़ुसूस्-उल-हिकम' में वह कहते हैं कि मनुष्य और ख़ुदा का सम्बन्ध पदार्थ और उसकी परछांई का सा है; और मनुष्य का जीवन स्वप्न समान है। और भी कई विषयों पर इब्न अरबी के विचार बिलकुल मौलिक थे। उदाहरण के तौर पर मूर्ति पूजा के बारे में उनका विरोध साधारण रूप से कहे जाने वाले मतों से भिन्न विचारों पर मुनहसर था। वह कहते थे

कि हर पूजा की चीज़ में, चाहे वह पत्थर, पेड़ या कुछ भी क्यों न हो, ईश्वर या उसके गुणों का प्रकाश होता है; लेकिन उपासना के यह साधन ईश्वर को एक ही वस्तु में सीमित कर देते हैं और उसकी असली संपूर्णता और एकत्व निकाल देते हैं जो ठीक नहीं। (फ़स्से-हारूनी)

अब्दुल करीम जीली जो इब्न अरबी के ही सम्प्रदाय का था, १४ वीं सदी के आख़री हिस्से में फ़ारस में रहता था। ऐसा मालूम होता है कि उसने जवानी में हिन्दुस्तान का भ्रमण किया था। उसका फ़लसफ़ा अधिकतर इब्न अरबी के ही सिद्धान्तों से मिलता जुलता है, इसलिए उसके यहां बयान करने की कोई ज़रूरत नहीं। जहां तक पूर्ण ब्रह्म का अपने शुद्ध अन्तर्जगत से जिसे जीली काला बादल (अल अमा) कहता है, बाह्य जगत् के अनिगनत रूपों में बदलने (अवतरण) का विषय है, जीली और इब्न अरबी के मत एकसां हैं। लेकिन गुणों वाली दुनिया किस प्रकार फिर शुद्ध और संरल तत्व में लौट जाती हैं—इस पर भी जीली विचार प्रकट करता है, और सत असत के चक्र को पूरा करता है। इस चक्र के बीचों बीच आदमी का स्थान है, क्योंकि उसकी आत्मा एक ओर ब्रह्म और दूसरी ओर प्रकृति से मिल जाती है।

आदमी सत और असत के बीच में पुल बांधता है। आत्मा में सत्ता के सारे गुण एक हो जाते हैं इसीलिए उसके द्वारा बहुत्व में फँसा हुआ एक अपने एकत्व के बारे में सचेत हो जाता है। जिस मनुष्य में इस एकत्व के ज्ञान का उदय हो जाता है वह इन्साने कामिल, पूर्ण पुरुष (परम हंस) कहलाता है। इस ज्ञान के उदय की तीन अवस्थाएँ हैं—नाम की ज्योति, गुणों की ज्योति और तत्व की ज्योति। यह अवस्थाएँ ब्रह्म के प्रकृति में उतरने की तीन मंज़िलें हैं। इन्हें अहदिय्यत (एकता), हुविय्यत (तदीयता) और अनिय्यत (अस्मदीयता) के नामों से पुकारते हैं।

बाद के सूफ़ी लेखकों ने इन अवस्थाओं के दूसरे नाम रखे हैं। जैसे साधारण चेतना की अवस्था को नासूत कहते हैं और इससे आगे वाली तीन अवस्थाओं को क्रम से मलकूत, जब्रूत और लाहूत नाम देते हैं। मलकूत अवस्था में जो चेतना होती है उसकी स्वप्न से तुलना की गई है। इसको सूक्ष्म जगत और अमिट रूपों का जगत भी मानते हैं। दूसरी अवस्था बेखुदी या तल्लीनता की है जो सुषुप्ति के तुल्य है। यह वह गहरी नींद है जिसमें सपने नहीं दिखाई देते। सबसे ऊँची अवस्था सत्य, तत्व और एकत्व की अवस्था है। इन हालतों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं की जाँच करें तो मालूम होता है कि मनके विषयों का धीरे धीरे इस प्रकार नाश होता है, कि अन्त में एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब चेतना में कोई भी दूसरी वस्तु न रहकर वह अकेली रह जाती है। पहली अवस्था वह है जिसमें विषयी, विषय और उन दोनों के आपस के सम्बन्ध मौजूद रहते हैं; दूसरी वह है जिसमें विषयी और विषय रह जाते हैं सम्बन्ध टूट जाते हैं, और आख़िरी वह है जिसमें केवल विषयी ही रह जाता है, विषयों का अन्त हो जाता है। यह फ़ना (मोक्ष) की मुख्तलिफ़ सीढ़ियां हैं जिन पर चढ़ कर आत्मा परमात्मा को पहुंच जाती है और उसकी यात्रा पूरी हो जाती है।

यही यात्रा जिसे 'तरीक़ा' कहते हैं एक संयम है, जिसके दो हिस्से हैं। पहिले हिस्से को 'मुजाहिदा' (अभ्यास) और दूसरे को 'मराक़बा' (ध्यान) कहते हैं। मुजाहिदा या अभ्यास का ध्येय हृदय की शुद्धि (तज़कियाए नफ़्स) है और इसमें शरियत के नियमों, विधि और निषेधों, को मानना है। दूसरे हिस्से के अन्दर शारीरिक और मानसिक क्रियायें हैं जिन्हें ज़िक्र (ध्यान) कहते हैं। ज़िक्र (ध्यान) की कई क़िस्में हैं, इनमें जली ख़फ़ी अधिक मशहूर हैं। इन क्रियाओं के लिए ख़ास ख़ास आसन हैं और इनके साथ साथ प्राणायाम (हब्से दम) भी किया जाता है जिसमें ईश्वर का परम नाम 'ला इला इल-अल्लाह'

ज़पा जाता है। यह क्रियाएँ एक गूढ़ प्रभाव पैदा करती हैं जिसमें अनदेखे रङ्ग और अनसुने शब्द दिखाई और सुनाई देते हैं। मौलाना रूम इसी की तरफ़ इशारा करते हैं और कहते हैं—"दर लबश कुफ्लस्त व दर दिल आवाज़ए। लब ख़मोश वो दिल पुर अज़ आवाज़ए" होंट पर ताला लगा है, और दिल में एक नाद है, होंट चुपचाप हैं लेकिन दिल नाद से भरा है।

इसलामी रहस्यवाद के विकास का बयान यहीं ख़त्म हो जाना चाहिये। क्योंकि इसके बाद वाले इतिहास में हमें इससे आगे और कोई नए विचार नहीं मिलते। इसलिए अब यहां पर वेदान्त और तसव्वुफ़ दोनों में क्या समानता है यह जानने के लिये दोनों की तुलना करना चाहिये। सबसे पहिले हम ज्ञान के सिद्धान्तों को लें। उस विषय में वेदान्त और तसव्वुफ़ दोनों ही मानते हैं कि विद्या दो प्रकार की होती है, एक का विषय सत्य है दूसरी का जगत। एक अपरा है, और दूसरी परा, एक दीनी और दूसरी दुनियावी। पहली प्रकार की विद्या का लक्ष्य अपने को जानना आत्म-प्राप्ति है यानी 'साक्षात्कार' या 'मुशाहदा', 'अनुभव'—'समाधि' 'वज्द' 'जमा-उल-जमा'—यानी परमानन्दमय अनुभव इसके साधन हैं। 'अभ्यास' या 'रियाज़त' 'योग' या 'ज़िक्र' 'संयम' और 'ध्यान' या 'मुजाहदा' और 'मराक़बा' आदि मानसिक साधन इसकी क्रियाएँ हैं।

दोनों ही मत उस पूर्ण 'तद्' 'हू' 'धातु' 'ज़ात' को एकसां मानते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों की दृष्टि से वह दूर से दूर और पास से पास है। वह परम या मुतलक़; सत्यस्य सत्यम् या हक़ीक़त-उल-हक़ायक़, ज्योतिषम्-ज्योति या नूरून-अला-नूरिन; सर्व व्यापी या मुहीत है। दोनों मानते हैं कि सिर्फ़ बुद्धि या अक़्ल के ज़रिए इसका बोध नहीं हो सकता। जहां एक ओर उपनिषद् कहते हैं कि "वह न मन से, न वाणी से और न आंखों से पाया जा सकता है, 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मना' वहाँ जामी साहब फ़रमाते हैं 'परम प्रकाशित सत्य का तत्व न इल्म से पाया जा सकता है और न दृष्टि से।'

'हक़ीक़ते हक़े सुबहान न दर इल्म गुंजद व न दर अयान।"

दोनों ही ब्रह्म के जगत-रूप में बदलने को विकार कहते हैं और इसकी कई सीढ़ियां मानते हैं। इस क्रम का लक्षण उस गूढ़ अद्वैत में नाम और रूप या इस्म और सिफ़ात का पैदा हो जाना है। दोनों ही मानते हैं कि जगत का बाहुल्य उसकी इच्छा का फल है। उपनिषद में आया है—:

'उसने सोचा कि अब मुझे जगत की रचना करना चाहिए।'

हदीस में आया है, "कुन्तो कनज़न् मख़फीयन् फ़ाहबबतो अन उरिफ़ो फ़ख़लक़तो अल ख़ल्को"

'मैं एक छिपा हुआ ख़ज़ाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिए मैंने सृष्टि की रचना की।'

वेदान्त और तसव्वुफ़ दोनों ही मनुष्य को परमेश्वर का ख़ास कृपा पात्र मानते हैं, क्योंकि उन दोनों के अनुसार मनुष्य की बुद्धि या क़ल्ब चेतन (ख़ुदा) और जड़ (प्रकृति, दुनिया,) के मिलने की जगह है। जहाँ हिन्दू मनोवैज्ञानिक इस प्रकृति में सत्व, रजस और तमस तीन गुण पाते हैं वहाँ ग़ज़ाली भी उसमें इद्राक (सत्व), क़ुदरत (रजस), और शहवत-ओ-ग़ज़ब (तमस) यह तीन तत्व बतलाते हैं।

इसी तरह आत्मा के फिर ईश्वर में लय हो जाने के बारे में दोनों सम्प्रदायों के एक से विचार हैं। एक ही मार्ग से दोनों एक ही मंज़िल पर पहुंचते हैं। दोनों ही में समान संयम हैं, समान गुणों की आवश्यकता है, और दोनों के अनुभव एकसा हैं। रास्ते की मंज़िलें और अवस्थाएँ एक ही हैं। केवल नामों का फ़र्क़ है। मामूली से मामूली आदमी से यह बात नहीं छिप सकती कि दोनों सम्प्रदायों के विचार और लक्ष्य एक हैं। यदि परमात्मा की कृपा और प्रसाद की एक तरफ़ ज़रूरत है तो दूसरी तरफ़ भी उतना ही ज़रूरी है कि उसका फ़ैज़ और लुत्फ़ हो। न तो हिन्दू बिना गुरू के इस पवित्र यात्रा को पूरा कर सकता है

और न मुसलिम पीर या मुरशिद के बग़ैर; और दोनों ही दशाओं में शिष्य या मुरीद का गुरू पर पूरा पूरा आसरा होना चाहिये। परमार्थतः प्रेम या इश्के हक़ीक़ी की ताक़त ही दोनों को रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करती है।

जब तसव्वुफ़ और वेदान्त हिन्दुस्तान की ज़मीन पर मिले तो इन्होंने दोनों हिन्दू और मुसलमानों में, ईश्वर की तलाश करने वाले लोगों के हृदय में उत्साह भरा। दोनों में इतनी साफ़ साफ़ समानताएं थीं कि दोनों ही ने उन्हें पहिचान कर अपना लिया। दोनों सूफ़ी और सन्तों ने मालूम कर लिया कि उनके लक्ष्य और साधन एकसां हैं। आपस के इसी मिलाप से विचार की वह गहरी धारा बह निकली, जो मध्यकालीन हिन्दोस्तान की संस्कृति का आधार बनी। इस समय के अनेकों मज़हबी नेताओं और सुधारकों ने इस आत्मिक ऐक्य के विचार ज़ाहिर किए। मिसाल के तौर पर हम उनमें से कुछ यहाँ देते हैं। 'गुलशने-राज़' के लेखक शहाबुद्दीन मुहम्मद शबिस्तरी, जिनकी १३२० ई० में मृत्यु हुई, मूर्तिपूजा और इसलाम के फ़र्क़ को बतलाते हुए कहते हैं :

बुत ईंजा मज़हरे इश्क़ अस्तो वहदत,
बूअद .जुन्नार बस्तन अक़दे खिदमत।
चू कुफ़रो दीं बुअद क़ायम व हस्ती,
शवद तौहीद ऐने बुत परस्ती।
चू अशिया हस्त हस्ती रा मज़ाहिर
अज़ा जुमला यके बुत बाशद आखिर।
मुसलमां गर बिदानिस्ते कि बुत चीस्त
बिदानिस्ते कि दीं दर बुत परसतीस्त।
वगर मुशिरक ज़िबुत आगाह गश्ते
कुजा दर दने .खुद गुमराह गुश्ते।
नदीद ऊ अज़ बुत इल्ला खल्के ज़ाहिर
बदीं इल्लत शुद अन्दर शिर्क काफ़िर।
तू हम गर अज़ू न बीनी हक़ पिनहां
ब शरअ अन्दर न ख्वानंदत मुसलमां।

मूर्ति इस दुनिया में प्रेम और अद्वैत को प्रगट करने वाली है। और जनेऊ बांधने का मतलब सेवा का प्रण करना है। चूंकि कुफ़ और दीन (हिन्दू और मुसलिम धर्म) दोनों ही दुनिया के अस्तित्व पर क़ायम हैं इसलिए तौहीद (अद्वैत धर्म) मूर्ति-पूजन का असली तत्व है। चूंकि जगत की सारी वस्तुएं अस्तित्व को प्रगट करती हैं, इन सब ही वस्तुओं में मूर्ति भी एक वस्तु है। अगर मुसलमान जानता कि मूर्ति सचमुच क्या है, तो समझ जाता कि मूर्तिपूजा ही धर्म है। और अगर मूर्ति पूजने वाला मूर्ति की असलीयत जानता तो वह अपने धर्म से न बिचलता। उसने मूर्ति में केवल बाहरी प्रकृति को देखा और इस कारण उसने ईश्वर को न पहचाना और काफ़िर हुआ।

तू भी अगर उसमें सत्य को छिपा हुआ नहीं देखता तो तुझे भी शरअ (धर्म शास्त्र) के हिसाब से मुसलमान नहीं कहेंगे।

मिर्ज़ा जान जानान मज़हर जिनका जन्म १६९९ ई० में हुआ अपने एक पत्र में हिन्दू धर्म के बारे में यूं लिखते हैं :—

बुत परस्ती व ईं अमल मुशावहत
वं ज़िक्रे राब्ता दारद कि मामूले
सूफ़िया अस्त, व ईं मानी मुनासिबत।
व अक़ीदए कुफ़्फ़ार अरब न दारद
कि आंहा बुतां रा मुतसरिफ़्फ़ बिलज़ात
गुफ़तन्द न आला ए तसर्रुफ़ इलाही

मूर्तिपूजा उस प्रयोग से समानता रखती है जिसे ज़िक्रे राबता (मिलाने वाला ध्यान) कहते हैं। यह प्रयोग सूफ़ियों का मामूल (अभ्यास) है। इस अर्थ में मूर्तिपूजा का कोई सम्बन्ध काफ़िर अरबों के मत से नहीं है क्योंकि अरब मूर्तियों को स्वयं शक्तिमान मानते थे न कि ईश्वर की शक्ति के साधन।

[अनुवादित] समाप्त

राजा और ऋषि

महात्मा भगवानदीन

यह बात ठीक नहीं है कि किसी धर्म की लीक से हटकर चलना अधर्म है। किसी धार्मिक तत्व में गहरे जाना ही धर्म की तरक़्क़ी करना है। हाँ, उस धर्म के तत्त्व ज्यों के त्यों रहें। बदलाव जीवन है, वह धर्म का भी जीवन है। धर्म-अनादि है मगर सारे धार्मिक विचार सादि हैं। महा त्यागी बेटे में महा परिग्रही बाप की कुछ न कुछ बात रहती है। बग़ैर परिग्रह के त्याग की क़दर ही नहीं। बेटा बाप से बड़ा हो सकता है और बहुत बड़ा हो सकता है पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह अपने बाप से पैदा है। धार्मिक विचार कितना ही उत्तम क्यों न हो पर उसकी जड़ उन निकृष्ट विचारों में मिलेगी जो उससे पहले मौजूद थे। प्रेम और हिंसा का भी यही हाल है। प्रेम की शोभा ही हिंसा से है। हिंसा प्रेम की जननी है, इस नाते वह उसको प्यार करती है और उसके उत्थान में जी जान लड़ा देती है। हिंसा समझे बिना प्रेम समझ में नहीं आ सकता। मनुष्य के मन के दो और केवल दो ही पहलू हो सकते हैं—एक यह कि वह जगत का हो रहे, दूसरा वह कि जगत उसका हो रहे। मन क़ाबू में कर लेने से जगत का आधिपत्य प्राप्त होता है। जीवन में किसी भी प्रकार की सफलता के लिए मन पर क़ब्ज़ा करना ज़रूरी है। नायक इसी क्रिया का सर्वोच्च पर्याय है। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि जिसने मन पर क़ाबू पा लिया है उसने आत्मा को भी समझ लिया है, यह ज़रूरी नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि मन पर क़ाबू पाने वाला अपने उन सब अनुभवों को जो सीधे उसकी आत्मा को हुए हैं एक ओर रख दे, और सांसारिक उन्नति में बढ़ता चला जाय। मन पर क़ाबू पाने वाले नायक की तुलना हम फ़ौलाद से कर सकते हैं। वह समय पाकर स्थिरता या मुहब्बत की शरण लेता है। अपनी आत्मा में पैठने की बात उसे कभी सूझती ही नहीं। पुराने रूमी सरदार और चंगेज़ ख़ां जैसे चीनी साहसी इसी कोटि में आते हैं।

मन पर क़ाबू पाने वाली प्रवृत्ति की जननी है घोर बर्बरता और मन पर क़ाबू पाने वाली प्रवृत्ति ने जन्म दिया अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को। यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, जब इसकी जननी जगत में ऊँचा स्थान पाये हुए थी, लोगों के हृदय में जगह बना चुकी थी और कुछ ही दिनों में इसने अपनी माँ के सारे राज्य पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया। एक समय था जब बर्बरता ही सब कुछ थी और उसी की पूजा होती थी। उसके बाद न्यायप्रिय, संयमी नायकों की पूजा हुई। इसके बाद यह आवाज़ जगत में गूँजने लगी कि "वह आदमी ही क्या, जिसने जगत तो जीत लिया लेकिन आत्मा को मैला कर लिया।" पुराने समय के नायक आत्मा के मैले होने की बात सोचते ही न थे। उनके सामने दृष्य जगत था, उसी का जीतना, चक्रवर्ती बनना, उनका काम था। वे योग्यता, कर्मण्यता, विजय के पुजारी थे, कायरता और मृत्यु को अपना दुश्मन समझते थे। उनके जीवन मन्दिर का कलश था, प्रसिद्धि। उन्हें इस बात की रत्ती भर परवाह नहीं थी कि उनकी अन्तरात्मा में क्या द्वन्द चल रहा है और क्या क्या अनुभव हो रहे हैं। उनका अपना क्या बनेगा इसकी भी उन्हें परवाह न थी। उनका बलिदान बहुत ज़बरदस्त होता था। वे जीवन का बलिदान ही नहीं करते थे किन्तु प्रसिद्धि की वेदी पर अपनी आत्मा को बलि चढ़ा देते थे। इससे ही तो पता चलता है कि कोरा नायकत्व बुरी चीज़ है। मगर यह कथन सापेक्ष है, बर्बरता की अपेक्षा यह अच्छी चीज़ है, आत्मोन्नति, आत्मदर्शन की अपेक्षा यह यह बुरी चीज़ है।

बिगड़ना, बनना (उत्पादन, व्यय; सृष्टि, प्रलय) जीवन के दो पहलू हैं पर बिगड़ना बिगड़ना ही

रहेगा और बनना बनना ही। हम खाते भी हैं और टट्टी भी जाते हैं, दोनों हमारे जीवन के लिये जरूरी हैं। फिर भी टट्टी से हम घृणा करते हैं और बुरा समझते हैं। जीवन-क्रम में बुराई (पाप) एक आवश्यक चीज़ है। एक ओर तो वह जीवन में काम करती है प्रलय का, जो वास्तव में सृष्टि भी है और प्रलय भी, और दूसरी ओर वह काम करती है हद बाँधने का और रोक खड़ी करने का। जीवन-क्रम के लिये बुराई कितनी जरूरी क्यों न हो, बुराई रहेगी बुराई ही। जो भी बुराई के बुराई होने से इन्कार करता है वह बुराई के सीधे अर्थों से बुराई को वंचित करना चाहता है। जैसे जैसे बुराई की जरूरत बढ़ती जाती है वैसे वैसे बुराई का बुरापन चमकने लगता है। एक दार्शनिक के लफ़्ज़ों में वहिर्मुखी प्रवृत्ति वाला मनुष्य एक शिकारी जानवर है। शिकारी जानवर उन तमाम प्राणियों के दुश्मन होते हैं जो उनके खाने के काम आते हैं। अपने उत्थान के दिनों में सभी लोगों का यही हाल था। यह जानने के लिये कि रूमी लोग असल में क्या थे उनसे पूछने की ज़रूरत नहीं। वे विजेता थे, यह तो उन लोगों से पूछने से पता लगेगा जो उनके द्वारा जीते गये थे। प्रजा सरकार की कसौटी होती है, प्रजा जैसा समझे सरकार वैसी मानी जाएगी। सरकार जैसा कहे वैसी वह नहीं हो सकती। रूमी लोगों को उन दिनों की प्रजा सचमुच शिकारी जानवर समझती थी। वहिर्मुखी मनुष्य आत्मा की छानबीन के बाद भले का नहीं, बुरे सिद्धांत का ही प्रतीक साबित होगा। यह अटल सच है। वहिर्मुखी को अन्तरात्मा की कौड़ी भर परवाह नहीं होती और यही बात उसके बुरे होने का सच्चा प्रमाण है। जितने अंशों में वह अपने अन्तरात्मा की ओर से बेपरवाह होता है उतने ही अंशों में वह उन सब चीज़ों को छोड़ता जाता है जो आत्मोत्थान में सहायक होती हैं। वहिर्मुखी मनुष्य में इस बुराई का बाहरी रूप यह होता है कि जितने अंशों में वह दूसरों की तरफ़ से बेपरवाह होता है उतने ही अंशों में वह उन सब चीज़ों को छोड़ता जाता है जो आत्मोत्थान में सहायक होती हैं। यही तो कारण था कि पुराने यूरुप के लोग बड़े क्रूर और बड़े पाषाणहृदय होते थे और यहूदी ख़ास तौर से इतने एकांगी होते थे कि उनको यदि इस वहिर्मुखी प्रवृत्ति का देवता माना जाए तो अत्युक्ति न होगी। एक तरह से वे ही लोग इस नवीन जगत के जनक हैं। किस तरह वहिर्मुखी प्रवृत्ति बुराई के महत्व को और उसकी उत्तमता को दुनिया से मनवा लेती है, उसकी ज़िन्दा मिसाल है आजकल का अमरीका, जहाँ का हर एक आदमी मुसकराते हुए इस बात के अधिकार को स्वीकार करता है कि वह करोड़ों आदमियों को अपने आर्थिक लाभ के लिए दुख में डाल सकता है और मौत के घाट उतरने के लिए भेज सकता है और जहाँ सिर्फ़ संसारिक सफलता के लिए आत्मा का इतने दर्जे तक पतन किया जा सकता है जितना पहले कभी देखने में नहीं आया था। और यही बात यह बताकर कि कि बॉलशेविज़्म आत्मा का कितना बड़ा दुश्मन है रूस ने भी साबित करदी है। वहाँ करोड़ों आदमी मार डाले गये और धर्म की ऊँची बातों में विश्वास करने वाले जेल में ठूंस दिए गए। पाठकों को यह सुनकर अचरज होगा कि बॉलशेविज़्म जैसे ऊँचे और उदार नवीन धर्म को वहिर्मुखी क्यों बताया जा रहा है। पर है बात वैसी ही। बॉलशेविज़्म वहिर्मुखी ही है। और अगर वहिर्मुखी नेता बुराई की मूर्त्ति है तो रूसी लोगों ने उस क़िस्म की सबसे बड़ी मूर्त्ति पैदा की है। हाँ, और मुल्कों ने भी छोटी छोटी मूर्त्तियाँ पैदा कीं। जैसे चीन ने चंगेज़ ख़ाँ, यूनान ने सिकन्दर, क़ाबुल ने बचासक्का, वग़ैरा। साहसी लोग जो न कभी अपने फ़ायदे की सोचते हैं न दूसरों की, बार बार अपनी जान को जोखों में डाल देते हैं। सूदख़ोर अपने सूद को वसूल करने में कितनी बार जान से हाथ धो बैठते हैं और कोरे तार्किक तर्क में जीतने की ख़ातिर सिर हथेली पर लिए फिरते हैं। लेकिन ऊँचे से ऊँचा और अच्छे से अच्छा वहिर्मुखी (अभव्य) बुराई के सिद्धांत का ही प्रतीक रहता है।

सिपाही कितना ही शुद्ध मन वाला क्यों न हो, मारता और नाश ही करता है और उसे किसी तरह यह नहीं समझाया जा सकता कि तेरा यह विनाशकारी कर्म बुरा है। पुराने नायकों का ज़िक्र करते हुए आजकल हर प्रकार का आत्मवाद अहंकारवाद बताया जाता है और मरना मारना एक मामूली बात कही जाती है, अमरत्व का प्रश्न एक ओर रख दिया जाता है। यही इस बात का सबूत है कि इस क्रूर, निर्दयी, बहिर्मुखी प्रवृत्ति पर कितना ज़ोर दिया गया है। इसके ख़िलाफ़ ईसा के यह लफ़्ज़ कि 'आत्मा को मत खो बैठो क्योंकि उसकी कमी दुनिया की किसी चीज से पूरी नहीं की जा सकती।' बड़े मार्के का असर पैदा कर सके, यह अचरज की ही बात है।

उस समय जब बहिर्मुखी प्रवृत्ति अपने सर्वोच्च शिखर पर थी ईसा की आत्मवाद की आवाज़, जिसको उसी तरह बढ़ने का अधिकार था जैसे कि बहिर्मुखी प्रवृत्ति को, पहले पहल उन्हीं को कुछ ऊँची जो आत्मा की ओर बढ़ रहे थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार की चेतनता बहुत पहले से पूरब में जाग चुकी थी तो भी यूरूप में फैली हुई बहिर्मुखी प्रवृत्ति को सामने रखते हुए पहले लफ़्ज़ का इस्तेमाल बेजा न होगा। अब मनुष्य समाज को यह पता चला कि दुनिया पर राज्य करने से भी ज़्यादा ज़रूरी है अपने आपको इसलिए बदलना कि हम अपनी आत्मा को ऊंचा उठा सकें। मगर इसके लिए चाहिए बहिर्मुखी प्रवृत्ति से बिल्कुल विपरीत प्रवृत्ति। इस वृत्ति से हमारा ध्यान अपनी और दूसरी आत्माओं की ओर फिरेगा और अपनी ओर दूसरी आत्माओं के प्रति हमारी श्रद्धा बढ़ेगी और आत्म-महत्व की स्थापना होगी। इन बातों का बहिर्मुखी प्रवृत्ति में कोई स्थान ही न था। मगर आत्मा की ओर बढ़ने का रास्ता विजय की राह नहीं गया, वह तो आत्मसमर्पण की राह गया है, जहाँ सारे मनोभावों को आत्मा की वेदी पर चढ़ा देना पड़ता है।

एक दार्शनिक का कहना है कि मानव संस्कृति इस तरह नहीं बढ़ी कि उसने एक विचार से दूसरा विचार बनाया किन्तु इस तरह बढ़ी कि उसने एक तरह के मनोभाव को दूसरे तरह के मनोभाव के लिए दबाया और इसी तरह संस्कृति की धार निरन्तर बिना रुके बढ़ती रही। सिद्धान्त, जिनके ज़रिए से जगत की क्रियाशीलता पर अधिकार किया जाता है, उन विचारों का अन्तिम रूप है जो जीवन में पहले से ही मौजूद थे। हर बात, जो कुछ दिनों के बाद बड़ा विचार या मुख्य सिद्धान्त नाम पाने वाली है, पहले पहल अचानक और बिला समझे ही मन में उत्पन्न होती है। चाहे समय के लिहाज़ से लीजिए, चाहे मुल्कों के लिहाज़ से लीजिए, मनुष्य एक ही ओर बढ़ता हुआ, एक ही विचार के कभी किसी पहलू को और कभी किसी पहलू को अपनाये रहता है। किसी ख़ास क़िस्म के मनोभाव बढ़ जाने से उससे पहले की संस्कृति पुरानी हो जाती है। इसीलिए भिन्न भिन्न समय में मानव समाज भिन्न भिन्न देवताओं की पूजा करता आया है, कभी जानवरों की कभी पौदों की, कभी सूरज चांद तारों की और कभी ईंट पत्थरों की। यह सब देवता उसके मनोभावों के संकेतमात्र थे। एक मर्तबा इस चक्कर में फँसकर मानव समाज इस बात के लिए अयोग्य हो गया कि वह इस लोक से हटकर कोई दूसरी बात सोच सके। बाद में जो कुछ सोचा गया उसकी जड़ में पुराने देवता किसी न किसी रूप में ज़रूर मौजूद रहे मगर जैसे ही वह चक्र टूटा वैसे ही ख़ास प्रकार की संस्कृति की जड़ें हिल गईं और वह ढह पड़ी। यही वजह है कि जीवन के भिन्न भिन्न विचारों में कहीं कहीं एक साफ़ दीवार खड़ी मालूम होती है। बहिर्मुखी प्रवृत्ति की विचार-धारा अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की विचार-धारा से बिल्कुल भिन्न है। आज कल का पच्छिमी मनुष्य घटनाओं के जाल में फँसा हुआ है। नए अर्थों में अठारहवीं शताब्दि से पहले घटनाओं की ओर बहुत कम क्या, बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दि से उन्होंने (घटनाओं ने) मनुष्य के ध्यान को इतना अपनी ओर खींचा जितना जादू भी पहले समय में मनुष्य का ध्यान न खींच सका था। केवल घटनाओं

से शासित होना ही इस बात का प्रमाण है कि हम मशीन युग के चक्र में फँस गये हैं। वास्तविक बौद्धिक उन्नति हमारी नहीं हो पाई। अब जैसे ही हम इस घटना चक्र में से निकलेंगे वैसे ही अठारहवीं सदी के सारे प्रश्न हमारे सामने से हट जाएंगे और हम ठीक रास्ते पर आ लगेंगे।

वहिर्मुखी प्रवृत्ति वाला मनुष्य सारी दुनिया पर पर क़ब्ज़ा करना चाहता है। इस काम में सच उसके लिए कोई चीज़ नहीं रह जाता। हाँ, सच से अगर उसे इस काम में मदद मिलती हो तो वह उसे ज़रूर अपना लेगा। यही कारण है कि राजनेता और सेनापति ज़रूरत के वक्त झूठ बोलने में ज़रा भी नहीं झिझकते, उनके लिए झूठ बोलना मामूली चीज़ हो जाती है। आत्मा सदैव सच के झण्डे के नीचे ही बढ़ता है। आत्मा की तुलना ज्योति से की जाती है। आत्मिक सत्य की भित्ति विज्ञान पर या विज्ञान के धरातल पर नहीं है, वह तो सचाई पर है। यही कारण था कि पश्चिम में ईसा ने पहले पहल इस बात पर ज़ोर दिया कि वह स्वयं सत्य है। हरेक आदमी जिसे अपनी आत्मा का ज्ञान है अपनी आत्मा की पुकार पर उन सब अनुभवों से ऊपर उठता ही है जो उसे अब तक होते रहे हैं। उसके अन्दर यह तीव्र इच्छा होती है कि वह अपनी आँखों यह देखे कि जीवन है क्या चीज़। सचाई के रूप में वह अपने भीतर की तराज़ू की डन्डी को सीधा रखना चाहता है क्योंकि बग़ैर उसके उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शुरू शुरू में गहरे से गहरा आदमी पूरा पक्का साबित नहीं होता। जो कुछ वह अपने अन्दर चाहता है उसके लिए उसमें एक बड़ी तबदीली की ज़रूरत है, उसकी ख़ातिर उसे दूसरा ही आदमी बनना होता है। इस क्रिया में उसे कष्ट होता है। यही कष्टसहन का तत्व तपस्या के नाम से प्रसिद्ध है। कष्ट सहना भर कोई अर्थ नहीं रखता, उससे आत्मा को कोई फ़ायदा नहीं होता। सचाई की ख़ातिर कष्ट सहने के लिए तैयार रहना और कष्ट पड़ने पर उसे सहना तपस्या है। पहले पहल तो जीवन स्वयं कष्टप्रद अनुभवों का पुंज है और सत्य को पाने के लिये कष्ट ज़रूरी है और दूसरी बात जो सबसे ज़्यादा ज़रूरी है वह यह है कि सच के जानने पर ही ज़ोर दिया जाय क्योंकि आत्मा की उन्नति के लिए सच की जानकारी अत्यन्त ज़रूरी है। ईसा और बुद्ध में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ था। बुद्ध ईसा की अपेक्षा आत्मा की जागृति के लिहाज़ से कहीं ऊँचा था और इसलिए वह सारे मनुष्य समाज को राह बताने के लिए आज के दिन तक सबसे बड़े नक्षत्र का काम कर रहा है। फिर भी उसने कष्ट सहन के लिए तैयार रहने का प्रचार नहीं किया, उसने जो कुछ किया वह मनोभावों को जानकर कष्टों के दूर करने की बात थी। यही कारण है कि बुद्ध अपने समय में कोई एतिहासिक उन्नति की नींव नहीं डाल सका। इसी सिलसिले में कुछ जर्मन लोगों की, जो ईसा को 'हीरो' (Hero) मानते हैं, ग़लती भी साफ़ समझ में आ जाती है। कष्टों को सहन करने की हिम्मत और सलीब (Cross) को अपने कन्धे पर ले चलने की बात ऊँचे दर्जे की हिम्मत है सही, पर अगर शब्दों का यह काम है कि विवेक में मनुष्य की सहायता करे तो ईसा 'हीरो' नहीं था किन्तु बिल्कुल उससे उलटा था। उसने कष्ट सहे, वह ऐसा आदमी था जो दुःखों से दबा हुआ था। हाँ, वह आत्मा के लिहाज़ से 'हीरो' था, किन्तु आजकल के आत्मा की ओर से अन्धे आदमियों की राय के अनुसार वह दुनियावी 'हीरो' नहीं था। वह कमज़ोर नहीं था और न वह इस किस्म का आदमी था कि तकलीफ़ों से भागे। किसी भी दामों शान्ति को मोल लेने को वह इच्छुक नहीं था। ओडीसीयस (Odysseus) की अपेक्षा ईसा भिन्न प्रकार का कष्ट सहन करने वाला था। ओडीसीयस (Odysseus) को वास्तव में ऐसे कष्टों में से गुज़रना पड़ा जो उसे अच्छे नहीं लगे। उसे उनकी शिकायत थी। वे कष्ट उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सके और यह भी नहीं माना गया है कि उसके कष्टसहन में कोई उद्देश्य था। यूनानियों

की राय में 'बेमतलब का दुख कष्ट' कहलाता है। ईसा की राय में 'सचाई की ख़ातिर कष्ट सहन इस बात का प्रमाण है कि अन्दर कोई क्रियात्मक परिवर्तन हो रहा है।'

इसी बात से ईसा की कथा उन सब कथाओं से भिन्न हो जाती है जिनमें कष्टसहन, मरने और देवताओं के अवतरण का ज़िक्र है। वास्तव में ईसा की कथा में पुराने ज़माने की वे सारी कथाएँ आ मिली हैं जो उस समय प्रसिद्ध थीं। नतीजा यह हुआ है कि अब यह मुश्किल हो गया है कि उन कथाओं को अलग अलग किया जाय। ईसाइयों ने मरने वाले और शहीद देवताओं की कथाओं को कुछ इस तरह से समझाया है जिससे यह पता चलता है कि बुराई और पाप भी आत्मदर्शन में पूरे सहायक होते हैं और यही वजह है कि ईश्वरभक्त घृणित से घृणित मौत के कष्ट को सहने में घृणा नहीं करते। पुराने कष्ट सहन करने वाले और मरने वाले देवता सब ईश्वर की राह में कष्ट सहन करने वाले थे। जर्मन ईसाइयों की दृष्टि से वे ईसा के समान ही दुख सहन करने वाले 'हीरो' (Hero) थे। अब यह इन्कार नहीं किया जा सकता कि न सिर्फ़ पाल बल्कि ईसा ख़ुद भी इसी तरह सोचता था। यानी ईसा के लिए सबसे ज़रूरी बात यह थी कि मनुष्य समाज का छुटकारा हो और उसका सारा प्रयत्न इसी के लिए था। साफ़ ही है कि इस मामले में धार्मिक और आध्यात्मिक विश्वासों को बहुत कम महत्व दिया गया है। हमें ज़रूरत है आत्मा में विश्वास की। यह ज़रूरी नहीं है कि आत्मविश्वासी अपनी आत्मा को पहचाने। हर आदमी, जिसमें बड़े से बड़े आदमी शामिल हैं, उन रिवाजों में बँधा रहता है जिनमें उसने जन्म लिया है। जो कुछ भी हो, न सिर्फ़ पाल ने बल्कि ईसा ने भी अपने बारे में ऐसा ही सोचा होगा। सच्चा और असली मानों में मौलिक और तात्विक ईसाई सत्य वह था जो शताब्दियों से अपनी ख़ासियत को ज्यों का त्यों बनाए बड़े रूप में अपनी सत्ता को बनाए रहा। आज यह बात ज़ोर से नहीं कही जा सकती क्योंकि ईसा-युग की सारी उन्नति का भविष्य इसी पर टिका हुआ है। यहूदियों या ईसा से पहले के धर्मतत्वों पर ईसाई-सत्य का आत्मा नहीं टिका हुआ है! मुक्ति के मान लेने से या प्रायश्चित करके शुद्ध हो जाने से भी ईसाई धर्म का समर्थन नहीं होता। किन्हीं ख़ास सिद्धान्तों पर भी ईसाई धर्म का दारमदार नहीं है। सारे सिद्धान्त ईसाइयत के अनुभव की जड़ में पहुँचने के प्रयत्न मात्र हैं। विचार का इसके सिवाय और प्रयास हो भी क्या सकता है? इसके अलावा सब विशेष शिक्षाएँ पुराने रूपों में नए अर्थों की खोज हैं। हरेक आदमी जानता है कि नाटक लिखने वाले कवि को एक ऐसे प्लाट (Plot) की ज़रूरत होती है जो पहले से मौजूद हो, वह उसी में ग़ोता लगाता है और उसमें तन्मय होकर एक मौलिक सृष्टि की रचना करता है जिसमें किसी को यह कल्पना भी नहीं होती कि इसमें कोई पुरानी चीज़ भी शामिल है। उस हर आदमी का मार्ग इस नाटक लिखने वाले जैसा ही होता है जो अपने आपको जानने की कोशिश करता है। आत्मा अपने आप को देह के द्वारा ही पहचानती है क्योंकि वह इसके सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकती। जितनी ज़्यादा अपनी खोज के लिए आत्मा देह को अपनाती है उतनी ही ज़्यादा वह अपने को पाती है, किसी ग़ैर को नहीं पाती। यही कारण है कि समय समय पर मनुष्य समाज में किसी ख़ास किताब के ज़रिये से अपने अपने अनुभवों का वर्णन किया गया है। यहाँ मेरा मतलब किसी ख़ास किताब से नहीं है; बल्कि इस तरह की सब किताबों से है जिसमें होमर की 'ओडेसी' और हिटलर की 'मीन-केम्फ़' जैसी पुस्तकें भी शामिल हैं। ऐसी किताबों के लोग भिन्न भिन्न अर्थ लगाकर विपरीत दर्शन पैदा कर लेते हैं और विपरीत धर्म बन बैठते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि इस तरह की प्रथा को रोकना चाहिए; किन्तु बहुत से आदमियों के लिए यह बिल्कुल ज़रूरी है कि ये किसी ख़ास पुस्तक से अपना नाता जोड़ें वरना वे अपने को पहचान ही नहीं सकते।

आजकल की भाषा में ईसाई धर्म और पुराने धर्म का अन्तर यों बताया जा सकता है कि सचाई की ख़ातिर कष्टों को स्वीकार करना, झेलना और उनके लिए तैयार रहना, इन सब बातों से मनुष्य में एक परिवर्तन होता है और इस तरह मनुष्य की पहुँच आत्मा तक हो जाती है। ईसाई धर्म पुराने धर्म का दूसरा पहलू नहीं है किन्तु उसके बिल्कुल विपरीत हैं। पुराना धर्म कष्टों में पड़ने से बचता है जबकि ईसाई धर्म जान बूझकर अपने लिए कष्टों को स्वीकार करता है। जातीय अनुभवों को एक ओर रखकर संसारिक विजय प्राप्त हो सकती है किन्तु आन्तरिक उन्नति तब तक नहीं होती जब तक आन्तरिक उन्नति की रीति पर पूरे तौर से अमल न किया जाय। आन्तरिक उन्नति ही ईसाई धर्म का उद्देश्य है। संसार के सब धर्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म आत्मोन्नति पर सबसे ज़्यादा ज़ोर देता है। जिससे इस काम में सहायता मिले वह अच्छा और जिससे रुके वह ख़राब। इससे यह सिद्ध हुआ कि विजय से कष्टसहन कहीं बड़ी चीज़ है, क्योंकि केवल वही आदमी जो अपनी अन्तरङ्ग प्रवृत्ति पर ध्यान देता है केवल वही आदमी जो अपने भीतर के अनुभवों पर सबसे ज़्यादा ज़ोर देता है, वही आत्मदर्शन का अधिकारी होता है या उसको पहले से ज़्यादा साफ़ कर पाता है। कष्ट-स्वीकृति, बिना किसी अपवाद के, दुख दर्द से भरी हुई होती है। आत्म विश्लेषण, भीतर की खोज, अन्तर्द्वन्द, आत्म दमन, पश्चाताप यह भीतर की ऐसी क्रियाएँ हैं जिनमें दुख होता ही है और केवल वे ही सत्य मार्ग को पा सकते हैं जो दुख से नहीं डरते, किन्तु सत्य की ख़ातिर हर प्रकार की आपत्ति में पड़ने को तैयार रहते हैं।

इसलिए कष्ट और केवल कष्ट के लिए तैयार रहना ही वह मार्ग है जिससे आत्मोन्नति हो सकती है! इस उल्टी बात का भेद अपने आप समझ में आ जाता है कि क्यों समय समय पर यूरुप में बेइज़्ज़ती, बदनामी, दुख, महामारी और कुरूपता को बड़ी आदर की दृष्टि से देखा गया। यह सब काम पुराने धर्म की प्रतिक्रिया रूप नहीं थे किन्तु सत्य पर बहुत ज़्यादा ज़ोर देने की शक्ल में थे। इनका यह भी मतलब था कि पूरे तौर से दुनिया की ओर से बेपरवाह हो जाने में व्यक्ति के अन्दर एक क्रियात्मक शक्ति जाग जाती थी जिससे बड़ा काम हो जाता था। अपने ऊपर यह कष्टसहन की बीमारी ईसाई वातावरण में कभी कभी ख़ूब फैली, चाहे वह आत्मपीड़न की शक्ल में रही हो या कष्टसहन की शक्ल में और यही कारण था कि कष्ट सहने वाले प्रचारक कभी कभी बड़ी प्रसिद्धि पा जाते थे चाहे उनका सम्बन्ध ईसाई धर्म से हो या न हो। हिन्दुस्तान और तिब्बत में जो तपस्या करने की रीति है वह इससे बिल्कुल भिन्न है। ऐसी तपस्या कष्ट की ख़ातिर कष्टसहन नहीं कहलाती, ऐसी तपस्या से इच्छा-शक्ति प्रबल हो जाती है, आत्मा आज़ाद हो जाती है, और ख़ास रीति में निकलने से आत्मा ऊँची उठ जाती है। योगी और जेसूइट (Jesuit) दोनों ही कष्टसहन पर ज़्यादा ज़ोर नहीं देते किन्तु ईसा इसके विपरीत सलीब (Cross) को कन्धे पर उठाकर ले चलने से इस बात पर ज़ोर देता है कि कष्ट को कष्ट के लिए सहन करना चाहिए और यही मुक्ति का मार्ग है।

यहाँ यह ज़रूर जान लेना चाहिए कि मनुष्य का आत्मा प्रकृति से बिल्कुल भिन्न है। जैसे जैसे आदमी आत्मोन्नति करता जाता है वैसे वैसे ही आत्मेतर (जड़) से उसका झगड़ा बढ़ता जाता है और यह आत्मेतर होता कौन है? उसकी अपनी देह, जिसको वह अपने आदर्श के अनुसार रूप नहीं दे पाता। पवित्र, उत्तम और महान को उस सबसे घृणा होगी ही जो अपवित्र, भोंडा, नीच और पर है। इस नियम का अपवाद नहीं मिलता।

पश्चिमी इतिहास में ईसाई धर्म-तत्व की यह व्याख्या व्यक्ति के बारे में है। इसका सामाजिक रूप यह है कि व्यक्ति के कष्टसहन से समाज में दूसरों के प्रति कष्टसहन की ताक़त पैदा होती है, सहानुभूति की मात्रा बढ़ती है और संसार के ऊंचा उठाने की इच्छा

उत्पन्न होती है। एक आदमी हैरान रह जाता है जब उसको यह पता चलता है कि अफ़लातून और अरस्तू जैसी ऊँची आत्माएं भी ग़ुलामी को बेजा नहीं समझती थीं, फिर चाहे वह ग़ुलामी उन लोगों की ही क्यों न हो जो कल राजकुमार थे। उन्होंने यह प्रश्न तक नहीं उठाया की ग़ुलामों के साथ कम से कम ऐसा व्यवहार तो न हो जो मनुष्यों के साथ उचित नहीं समझा जाता। यह विचार तो उस वक़्त जागे हैं जब आदमी ने जान बूझकर कष्टसहन स्वीकार किया। अच्छे से अच्छे और ऊँचे से ऊँचे आदमी उन आदमियों पर कड़ा ज़ुल्म करते हैं जिन्हें वे अपने से नीचा समझते हैं। अपने से नीचों के प्रति दया या बराबरी के भाव पैदा ही नहीं हो सकते जब तक हम अपने आप कष्ट सहने को स्वीकार न करें। आज कल छोटी छोटी क़ौमें, जिनका जीवन बड़ा कठिन हो रहा है और जो ज़िन्दा रहने की ख़ातिर दूसरों से लड़ भिड़ रही हैं, अपने भाइयों के प्रति सबसे ज़्यादा बेरहम होती हैं। वे अपने भाइयों को बीमार पड़ने का हक़ भी नहीं देतीं, वे उन्हें बहुत ही कम माफ़ करती हैं और जब उनमें से कोई बेरोज़गार हो जाता है तो खाने तक को नहीं पूछतीं। आमतौर से ग़रीब दुतकारे और फटकारे जाते हैं और जहाँ तक क़ानून इजाज़त दे उनके साथ ऐसा बर्ताव किया जाता है मानो इस दुनिया में उनका कोई हक़ ही नहीं है। छोटी क़ौमों की यह सख़्ती ऊँची जाति वालों की सख़्ती से भी कहीं ज़्यादा होती है क्योंकि ऊँची जाति वाले आम आदमियों को अपने बराबर का न समझें तो भी वह उनसे डाह तो नहीं करते बल्कि कभी कभी दया करके उनके साथ भलाई भी करते हैं। ऊँची जाति वाले आम आदमियों के साथ ज़ालिम और सख़्त होते हैं तो अपने लिये भी ज़ालिम और सख़्त होते हैं। ऊँची जाति के विद्वान जिस तरह एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं वह बहुत ही अमानुषिक दृश्य होता है। आपस की उदारता जैसी चीज़ उनमें देखने को नहीं मिलती। बेशर्मी के साथ वे एक दूसरे से डाह करते हैं। हाँ, वे उस वक़्त एक हो जाते हैं जब उन्हें किसी तीसरे से लड़ना होता है और उस वक़्त शायद यह भावना कि हम एक ही हैं उनके डाह को कम कर देती है और इस तरह उनकी जीत भी हो जाती है। इस ख़्याल से जर्मनी के बहुत से विद्वानों की हालत बहुत ही भयानक है क्योंकि नीट्शे (Nietzsche) और उसके शागिर्दों ने मनोविज्ञान के ऐसे हथियार तैयार कर दिये हैं जिनकी मदद से वे हर बाहरी विचार के साथ भीतर बैठी हुई बुराई का जोड़ मिला सकते हैं या हर भलाई को बुराई का रूप दे सकते हैं और हर दैवी घटना को सांसारिक घटना के रूप में वर्णन कर सकते हैं। ऊँची आत्माओं के कष्टसहन को ठीक समझना है तो ठीक, पर साथ ही साथ बड़ा अधार्मिक भी है क्योंकि ऐसा समझने वाला उस कष्टसहन में भाग नहीं लेता बल्कि अपना दिल सख़्त कर लेता है। वह यह मानता है कि जो कष्ट सह रहा है उसको उस कष्ट के फ़ायदा होगा। इसलिए वह कष्ट उठाकर उस फ़ायदे से वंचित रह जाता है जिसका वह हक़दार था और इस तरह अपनी आत्मा के साथ सख़्ती कर बैठता है। वह अपनी वास्तविक अवस्था को भी नहीं पहचानता और इसलिए उसे बहुत से दुष्परिणामों का शिकार होना पड़ता है जैसे बीमारी, क़त्ल, भूकों मरना, देश निकाला इत्यादि। हार्दिक भावनाओं और सहानुभूति के जगाने का एक ही मार्ग है और वह है कष्टों को स्वीकार करना। सच्ची स्वीकृति में पत्थर भी पिघल जाता है।*

---

* एक जर्मन विचारक के लेख के आधार पर यह लेख लिखा गया है—लेखक

उस दिन

श्री शरदेन्दु

था सुषमित फूलोद्यान खड़ा,
था कुसुमित फूलोद्यान खड़ा,
था सुरभित फूलोद्यान खड़ा,
जिससे मधु-रस सञ्चित कर कर
थीं बना रहीं कुछ मधु-मक्खीं
वृक्षों पर अपना जीवन-घर।
कुछ मधुलोलुप,
मधु के प्रेमी,
आये मधु को बरवश लेने,
जिस पर न रहा अधिकार उन्हें
पर फिर भी जिनकी आँख लगी
मधु-सञ्चय पर,
वे सहसा झपटे मधु लेने
मधु-सञ्चय पर।
पर मानव को प्यारा निज घर,
पशु-पक्षी को प्यारा निज घर,
मधु-मक्खी को प्यारा निज घर।
कोई कैसे फिर ले सकता
जीवन के रहते हमसे घर?
वे क्रोध भरी मधु-मक्खीं थीं,
प्रतिशोध भरी मधु-मक्खीं थीं,
वे टूट पड़ीं उन पर मिल कर
जो मधु पर डाका डाल रहे,
जो चिर-सञ्चित मधु लूट रहे।

सारे मधु-ग्राहक भाग उठे,
सारे पथ-चालक भाग उठे,
औ' क्षण भर में
हो सारा पथ सुनसान गया।
पर मधु-मक्खीं क्या शान्त हुईं?

भन भन करतीं,
शायद कहतीं,
'प्रतिशोध न लें यह कायरपन,
उन को छोड़ें यह कायरपन,'
वे टूट पड़ीं उन पर भी तो
जो सजातीय थे वैरी के।
मधु-मक्खीं भी क्या सह सकतीं
अपने घर का अपमान कभी?
आज़ादी का अपमान कभी?
वे थीं मानव को बता रहीं,
'अपना अधिकार न खो जाए,
अपना सम्मान न खो जाए,
इन चिर-विनाश की लहरों में
अपना घर-बार न खो जाए।'

भन-भन करतीं,
शायद कहतीं,

'प्रतिशोध न लें यह कायरपन,
उनको छोड़ें यह कायरपन।'

———

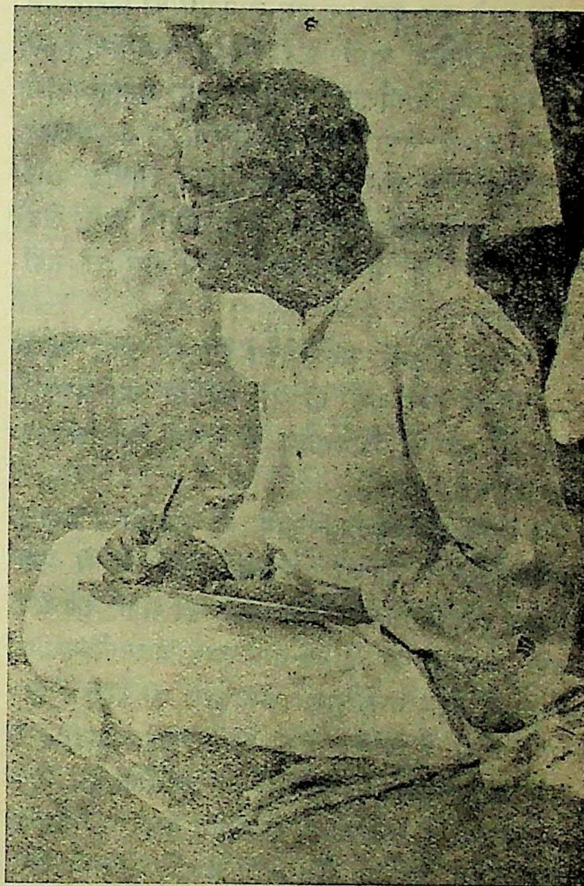
शान्तिनिकेतन के शिल्पगुरु—श्री नन्दलाल वसु

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक

मानव के व्यक्तित्व के दो रूप हैं—एक कर्मकार और दूसरा शिल्पकार-कलाकार। कर्मकार के रूप में वह अपने कर्म-कौशल से रोटी कमाता और आजीविका चलाता है। और शिल्पकार के रूप में वह अपनी पैनी दृष्टि से विश्व के निगूढ़ सौन्दर्य का मूर्त-रूप प्रदान करता है। उसकी वे कृतियां सदा आनन्द-देने वाली होती हैं। सच पूछा जाय तो मनुष्य की आत्मा ही शिल्पी होती है, प्रबुद्ध आत्मा ही यथार्थ में सर्जक बन सकती है। बाक़ी इस मोहक और लोभी संसारस्थली में अन्य लोग जो कि कलाकारों की श्रेणी में परिगणित होते हैं, वे सभी बाज़ार में चलने वाले जाली सिक्कों की तरह होते हैं!

शांतिनिकेतन के शिल्पगुरु श्री नन्दलाल वसु पावन और प्रशान्त प्रभावाले कलाधर हैं। वे आनुधिक भारतीय शिल्प परिपाटी में प्राणप्रतिष्ठा करने वाले शिल्पाचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रसिद्धतम शिष्यों में से हैं। इसके अतिरिक्त वे दक्षिणेश्वर के उस प्रभुभक्त संत राम-कृष्ण परमहंस के भी एक दीक्षित शिष्य हैं—यह बात बहुत कम लोगों को ज्ञात है। इसी कारण नन्द-बाबू उस अद्भुत मादकता में निमग्न रहते हैं, जिसे रहस्यवादी लोग "उन्मत्त चेतना"—"Drunken Consciousness"—कहते हैं। उनके चित्त में वह "दैवी नम्रता" विद्यमान है, जिसमें व्यक्ति प्रभु के प्रति अपनी अकिंचनता के भाव को सदा जाग्रत रखता है।

नन्दबाबू की इस दिव्य नम्रता के विषय में एक घटना उल्लेखनीय है। एक बार एक संभावित अतिथि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जी की स्वप्नभूमि और प्रयोग स्थली—शांतिनिकेतन आश्रम—को देखने के लिये आए। इस शांतिनिकेतन में ही गुरुदेव ने नन्दबाबू को कला मन्दिर का प्रधान पुरोहित बनाया है। अतिथि महोदय ने आश्रम की परिक्रमा करके सभी विभागों का अवलोकन किया। चित्रालय (Art Gallary) दिखाने के लिये ठिगनें क़द वाला,



आचार्य नन्दलाल वसु

वर्गाकार कन्धें वाला, सादी पोशाक वाला, खुले मस्तक वाला, नंगे पैर वाला, उपनेत्र वाला, उज्ज्वल मस्तक और तेजस्वी नयनों वाला एक व्यक्ति अतिथि को मार्ग-दर्शन कराने लगा। पथदर्शक ने क्रमशः चित्रों का परिचय कराया और चित्रकारों के नाम से भी प्रेक्षक को परिचित किया। पथ-दर्शक

ने केवल अपने बनाए हुए "शिव का नृत्य" नामक चित्र का प्रेक्षक अतिथि को परिचय नहीं दिया। प्रेक्षक उस चित्र के आकर्षक सौन्दर्य को निहार कर मुग्ध सा रह गया तथा चित्रकृति के रचयिता का नाम पूछना भी भूल गया !

शांतिनिकेतन के अतिथिगृह से बोलपुर स्टेशन के लिए बिदा होते समय आगन्तुक ने मुझसे वार्तालाप करते हुए कहा—"इस ज्ञानतीर्थ को निहार मैंने अपार आनन्द पाया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जी के साथ वह वार्तालाप, छात्रों की वह मनोमुग्धकारी संगीत-गोष्ठी तथा कलाभवन में रंगों की वह मनोहर मजलिस, मुझे चिरकाल तक प्रमोद, प्रसाद और प्रेरणा का मानसिक भोजन देती रहेगी। परन्तु खेद का विषय है कि मैं शिल्पस्वामी नन्द बाबू से नहीं मिल सका।

"आपने उन्हें ज़रूर देखा है" मैंने उत्तर दिया —"वे श्री नन्द बाबू ही थे, जिन्होंने गत अपराह्न काल में आपको चित्रशाला के चित्रों का परिचय कराया था !"

प्रेक्षक महोदय के विस्मय का ठिकाना न रहा। उनको इस बात का बड़ा अनुताप रहा कि वे उस विश्रुत और विनम्रचेता शिल्पकार को नहीं पहिचान सके ! सच तो यह है कि नन्द बाबू आत्मगोपनशील व्यक्ति हैं, और सच्चे गुणी कलाकार की यही विशेषता होती है कि वह कला की प्रतिष्ठा चाहता है। उसे अपने सम्मान की परवाह कम ही होती है !

नम्रता तो नन्द बाबू का प्रधान गुण है, उनके चरित्र का आभूषण है। आज कल के आत्म-प्रचार लोलुप शिल्पियों के लिए उनका यह गुण कितना अच्छा बोधपाठ है।

नन्द बाबू का जन्म सन् १८८३ में दरभंगा राज्य के खडगपुर ग्राम में हुआ था। इनके पिताजी राज्य के एक कुशल एञ्जीनियर थे। वे अपनी सत्यता और साधुता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। वे अपने अवसान के समय अपने बालकों को "अपना बहिरंग और अन्तरंग सदा पवित्र रखने के लिए" अनुशासन कर गए थे। नन्द बाबू की माता भी बड़ी धार्मिक और भक्तिपरायण महिला थीं। नन्द बाबू को हस्त-कौशल और प्रभु प्रीति के सद्गुण अपने माता पिता से उत्तराधिकार में मिले हैं। नन्द बाबू कालेज में उपस्नातक श्रेणी की पढ़ाई तक पहुंचे होंगे कि उनके भविष्य निर्माण के जीवन देवता गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जी ने उनको ग्रंथ शिक्षा छोड़कर तूलिका की तालीम प्राप्त करने को प्रेरित किया। उन्हीं की उपकारी प्रेरणा का यह परिणाम आया कि नन्द बाबू शिल्पस्वामी अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट संपर्क में आए ! उसके कुछ वर्ष पूर्व ही अवनीन्द्र बाबू भी भारतीय कला को पाश्चात्य शिल्पकारों के अन्धानुकरण से बचाने की सुदिशा और सत्प्रेरणा प्राप्त कर चुके थे। इस समस्त दिशादर्शन और सत्यप्रेरणा का श्रेय एक सहृदय अंगरेज़ महानुभाव को है जो कि उन दिनों कलकत्ते की सरकारी कलाशाला के प्रिन्सिपल थे। भारतवर्ष में आधुनिक कला जागरण के इतिहास में गुरू और शिष्य (श्री० ई० बी० हैवल और श्री अवनीन्द्र बाबू) का यह सम्मिलन एक महत्वपूर्ण और युगप्रवर्तक घटना है !

इस छात्रकाल में अवनीबाबू के तेजस्वी प्रभाव के नीचे नन्द बाबू की केवल कला और सौन्दर्य विषयक प्रसुप्त शक्तियों ने ही अपना विकास साधा हो ऐसा नहीं। दक्षिणेश्वर की छाया में उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों ने भी बहुत विकास सिद्ध किया। इस प्रकार नन्द बाबू के भाग्यविधायक प्रभु ने मानों उनके अन्दर इस सचाई को प्रकाशित करके बताया कि कला और धर्म जीवन रूपी ढाल के दो पार्श्व हैं। आगे जाकर यही सचाई शांतिनिकेतन की शान्त एकात्र छाया में पल्लवित और पुष्पित होने लगी। नन्द बाबू कलकत्ते की उस द्रव्य पूजक, प्राणपीड़क और कोलाहल पूर्ण राजधानी को छोड़कर कवि ऋषि रवीन्द्रनाथ जी के शान्त पावन तपोवन में आ गए। कोई बीस वर्षों से नन्द बाबू विश्वभारती के कला-विभाग के संचालक हैं। उनके शांतिनिकेतन आ जाने से कवीन्द्र की चिरवांछित इच्छा पूरी हुई।

शांतिनिकेतन आकर नन्द बाबू ने केवल वहाँ की कला और सौन्दर्य-दृष्टि को ही प्रोज्वल और प्राणवान् नहीं बनाया। साथ ही उन्होंने गुरुदेव के बनाए हुए नाट्यप्रबन्धों के अभिनय के लिए वहाँ के नाट्य-मंच को भी अपनी प्रतिभा और कल्पना के रंगों से अनुरंजित और अनुप्राणित किया है।

कलाकार और कलाशिक्षक के रूप में उनके अपने ध्येय को समझने के लिए यही उचित है कि उनके अपने शब्द प्रयुक्त किए जाएँ। कुछ वर्ष पूर्व इस विषय में अख़बारों में नन्द बाबू ने अपना अभिमत निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया—

"हम अज्ञात की ओर प्रयाण कर रहे हैं, क्योंकि केवल वर्तमान ही हमारे लिए सत्य है—अतीत और भविष्यत् नहीं। हम भारतीय हैं क्योंकि हम भारत की आत्मा को पाने के लिए प्रयत्नशील हैं। शैली और रीतियों की परवाह न करते हुए हम लोग प्राणवान् का स्वागत करते हैं। हम उसे श्रद्धा पूर्वक स्वीकार करते हैं, जिसे हमारे पास आनेवाले, हमारे लिए लाते हैं।

इसी कारण हम रीति और विधान को अधिक महत्वशाली नहीं समझते। हम जीवन की पूजा करते हैं, प्राण की उपासना करते हैं, जो कि जीवित की आत्मा है!

हमारा अतीत हमें प्रेरणा देता है। प्रकृति हमें प्रेरणा देती है। विश्व के पुरातन अनुभव हमें मार्ग दर्शन कराते हैं।

हमने अपने आन्तरिक आनन्द को प्रकट करने का प्रयत्न किया है—क्योंकि जीवन के आनन्द के प्रगटीकरण का नाम ही कला है।"

उपरोक्त शब्दों में उपनिषद् के संदेश की प्रति-ध्वनि गूंज रही है, जिस ध्वनि को नन्द बाबू ने अश्रान्त साधना द्वारा अपने जीवन में अनुप्राणित किया है।

नन्द बाबू की सर्जक कला और उनके दैनिक आचार का ध्यानसूत्र है—हम जीवन की उपासना करते हैं, प्राण की पूजा करते हैं। इसीलिए वे वास्तव-वाद के विरुद्ध हैं। अपने छात्रों के प्रति नन्द बाबू का मुख्य आदेश यही रहता है कि आकृति के पीछे रहने वाले आत्मा को, भाव को, देखने का प्रयत्न करो। घटना के पीछे रहने वाली यथार्थता को निहारो। सामान्य के पीछे रहने वाले विशेष को पहिचानो। इस विषय में दो प्रासंगिक घटनाएं यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं।

एक नवागन्तुक विद्यार्थी—प्रत्येक नए छात्र के मन में इसी प्रकार का प्रश्न बहुधा जागता है—ने नन्द बाबू से पूछा कि वह किस विषय को लेकर चित्रांकन करे। नन्द बाबू तुरन्त बोले—"जो भी विषय तुम्हारे नयनों के सामने आए, उसका अंकन कर सकते हो। यथा—पुष्प, पत्ता, गधा आदि!"

नवागत छात्र गुरुजी की ओर ज़रा विस्मय-दृष्टि से निहारने लगता है, मानो वे कुछ परिहास कर रहे हों! शिल्पगुरु ने उसका मनोगत भाँप लिया। शीघ्र ही अपनी जेब से एक खाली काग़ज़ और पेन्सिल—जो कि उनकी जेब में सदा मौजूद रहते हैं—निकाल कर समीपस्थ खेत में चरते हुए एक गधे का जीवित रेखांकन (स्केच) कर बताया। छात्र चित्रांकन को ध्यान से निहारता रहा। अंकन समाप्त होते ही वह भावावेश में बोल उठा—"मास्टर महाशय, क्या गधा इतना सुन्दर हो सकता है?"

"निःसंदेह, यदि किसी के पास अवलोकन की दृष्टि हो।"—गुरुजी ने उत्तर दिया। और इस प्रकार की आश्चर्यवाहिनी दृष्टि तो उनके पास प्रभूत मात्रा में है। नन्द बाबू की इस विशिष्ट प्रतिभा के विषय में कविगुरु रवीन्द्रनाथ जी ने अपनी "शिल्पी के प्रति" नामक कविता में अच्छा संकेत किया है।—

"हे चित्रकार, हे चिरयात्री, तुम आस पास की सभी वस्तुओं पर अपनी दृष्टि का जाल फेंकते हुए चले जा रहे हो। उन दृष्ट वस्तुओं को तुमने रेखाओं में अंकित करके देश परदेश भेज दिया है। यह जो कुछ भी, जैसा तैसा भी है, वह तुम्हारी दृष्टि में द्विज और चाण्डाल के भेद से विहीन है।"

प्रत्येक व्यक्ति के लिये नन्दबाबू तक पहुंचना बहुत सरल है; चाहे वह कलाकार हो या न हो। किसी भी मानवबन्धु के साथ असौजन्य और औदासीन्य को वे सहन नहीं कर सकते।

एकबार उन्होंने देखा कि एक उच्च पदाधिकारी व्यक्ति जो कि उनका मित्र था, तथाकथित बड़े लोगों के साथ तो विशेष शिष्टता का व्यवहार करता था और छोटे लोगों के आतिथ्य आदि में उपेक्षा रखता था। नन्दबाबू ने सोचा कि अनजाने में ही इस प्रकार मनुष्यता का अपमान करने की अपने मित्र की इस वृत्ति का कुछ इलाज करना चाहिए। मित्र को ठीक राह पर लाने के लिये वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते रहे।

एक दिन वह पदाधिकारी मित्र अपने कमरे में बैठा हुआ कार्य निमग्न था। मकान के बाहर मैदान में एक गधा खड़ा हुआ था। दुपहरी का समय था। अफ़सर महाशय अपने काग़ज़ पत्रों में तल्लीन थे। नन्दबाबू ने अन्दर आकर सूचित किया कि एक प्रेक्षक अतिथि उनसे मिलने के लिए बाहर प्रतीक्षा कर रहा है। इतना कहकर नन्दबाबू स्वयं पिछले दरवाज़े से चुपके से सरक गए। अफ़सर मित्र शीघ्र ही खड़े हो गये और अपने वस्त्रों को व्यवस्थित करके बड़े वेग से आगन्तुक के सत्कार के लिये बाहर निकले। बाहर जाकर उन्होंने क्या अनुभव किया होगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। परन्तु उन्होंने उस संकेत को ठीक प्रकार अवगत कर लिया जिसे वह विनोदप्रिय शिल्पी बताना चाहता था। इस घटना के बाद वह संभावित महानुभाव अपने व्यवहार में बहुत विनयशील बन गये।

नन्दबाबू की विनोद चर्चा बहुत चोखी और परिष्कृत होती है। बहुधा उसमें एक बालक की सी स्वाभाविक चपलता होती है। यह मनोहर विनोदशीलता उनके स्केचों, चित्रों और ऑटोग्राफ़ संपुटों (स्वाक्षरी की पोथी) में भी निहारी जा सकती है। विनोद के मज़ेदार मसालों से उनके कलाविषयक वार्तालाप और चर्चाएँ सुस्वादु बन जाती हैं। इसके सिवाय नन्दबाबू में एक ओर यदि बाल सुलभ वशंवदता और प्रभावग्राहिता विद्यमान हैं तो दूसरी ओर एक प्रौढ़ और दक्ष पुरुष की सहज स्फूर्ति और तेज भी विद्यमान हैं। उनकी कला भी उनकी मानवता की तरह सर्वग्राही है। वे "सुंदर" के उपासक हैं--चाहे वह सौन्दर्य तत्व कहीं से भी, आँखों की खिड़की से या कानों के झरोखे में से होकर, उदात्त आत्मा के रूप में, एक सुंदर दृश्य के रूप में, एक स्केच के रूप में या एक मधुर गीत के रूप में, उनके पास आता हो।

यह एक विस्मय और दया का विषय है कि जिस पुरुष का समस्त व्यक्तित्व प्राणों के प्रबोध से तालबद्ध और तरंगित हो रहा है, उसने संगीत विद्या नहीं साधी है। अन्यथा यह निश्चय है कि वह एक सिद्ध गायक बन सकते थे।

नन्दूबाबू की कला कृतियों (विशेषतः बुद्ध-महाभिनिष्क्रमण, उमा का संताप, शिव का विषपान, पार्वती के लिये शिव का अनुताप, चैतन्य महाप्रभु आदि) को देखने से आत्मा को रसायन की मात्रा मिलती है, प्राण को प्रोत्साहन मिलता है, हृदय को एक अविस्मरणीय अनुभूति प्राप्त होती है।

सचमुच वे प्राणों के पूजक हैं और प्राण कभी पुरातन नहीं होते! इसीलिये हम कह सकते हैं कि नन्दबाबू शिल्पी के साथ साथ योगी भी हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जी ने नन्दबाबू को समर्पित की हुई एक कविता में क्या ही उत्तम कहा है—

"तुम एक ऐसे मकान में पैदा हुए थे, जिसके बाहर रंगों का रहस्य खड़ा होकर उसकी चौकसी कर रहा था। उस भवन में बैठकर तुमने जीवन पथ पर चलकर थके हुए यात्रियों की विश्रांति के लिए एक रूप का घोंसला बनाया! उसमें तुमने अपनी रेखाओं द्वारा "सनातन आश्चर्य" को बन्दी कर दिया। भगवान् करे तुम्हारी तूलिका शंकर की आर्द्र जटा की तरह, जीवन के जलों का स्रोत बनी रहे!"

भारत माता के इस तरह के शिल्पस्वामी ने अभी हाल में ही अपने जीवन की षष्टी पूर्ति करके ६१ वें वर्ष में पदार्पण किया है। प्रभु करें इस शिल्पऋषि को आर्य ऋषियों का "शत शरदों" का तेजोमय आयुष्य प्राप्त हो और इनके कुशलकरों से आर्य-शिल्प की विजय-वैजयन्ती द्विग्दिगन्त में फहराती रहे!

अनुवादक—श्री शंकरदेव विद्यालंकार

दो दृश्य

श्री प्रेमलता 'कौमुदी'

चीन, टर्की, रूस, युरुप,
में भरा यश-गान तेरा।
भूल सकता है भला क्या,
विश्व, अतुलित दान तेरा?
आर्य-भूमि, सुधीर जननी,
विश्व पालक, पूज्य है तू।
विश्व-कण-कण में छिपा है,
कीर्तिशालिन, मान तेरा॥

× × ×

आज किस के मुस्कुराने में,
छिपा वह हास तेरा।
वेदना के रक्त-दीपों से,
भरा आकाश तेरा।
धरा को, तम-पुंज को,
यश-चन्द्रिका तूने दिखाई।
एक अनुचर व्यंग से, हा!
कर रहा परिहास तेरा!

अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्रकुमार

[अनाम स्वामी की सर पी० दयाल से ब्रह्मचर्य पर बातें हो रही थीं। उसी विषय पर आगे और भी विवेचन है।]

वह कहते गये, कहते गये, जैसे गिरिशिखिर से एकाएक झरना झर रहा हो। मैं उसमें नहाता रहा।

'स्त्री में पुरुष के और पुरुष में स्त्री के प्रति राग के साथ द्वेष का सम्मिश्रण है। तभी तक उनमें आकर्षण है और भोग बुद्धि है। राग अकेला होता ही नहीं! द्वेष के साथ जुड़वां होता है। यह तो हर एक के अनुभव में आने वाली बात है। काम में जो एक भास है, उसका नहीं तो दूसरा क्या मतलब है? वह हिंस्र भावना ही है। डाह कामुक कामना के साथ चलती ही है। कहोगे कि डाह कामना में नहीं, समाज के कारण है। यानी समाज में जो इन बातों में रोक थाम और मेरे-तेरे की भावना है उस कारण ईर्ष्या बन गई है। रोक-थाम हटी और संबंध स्वच्छन्द हुए कि ईर्ष्या मिट जायगी। मुझे ऐसा नहीं लगता। राग बिना द्वेष के जी नहीं सकता। कोई तीसरा न हो तो भी दो यदि सम्भोग में मिलेंगे तो उनमें अविश्वास भी रहेगा। घृणा और प्रेम सम्भोग में अभिन्न होकर चलते हैं। जिसमें घृणा नहीं उस प्रेम में सम्भोग असम्भव है। अपने को न सहारा पाकर प्राणी भोग में प्रवृत्त होता है। निष्कामता निषेधक स्थिति नहीं, वह तो परिपूर्ण मनस्थिति की द्योतक है। इसी तरह ब्रह्मचर्य भी निषेधक भाव नहीं है। वह तो परिपूर्णता का भाव ही है। हमारे अन्दर द्वन्द्व चलता रहता है। मैथुन को शास्त्रों में द्वन्द्व नाम भी दिया है। स्थिति हमें द्वन्द्वातीत पाती है। वही फिर भोग-युक्त कैसे हो सकती है? व्यक्तित्व को हमें विभक्त रखना है अथवा कि उसमें एक संयोजन और ऐक्य लाना है? हम अपने ही भीतर तीव्रता से विभक्त हो रहते हैं तब वह अवस्था उन्माद अथवा विक्षिप्तता की ही कहलाती है। भीतर हमारे युद्ध तो छिड़ा ही है। उसे धर्म-अधर्म या देवता-दानव का युद्ध भी कहा जाता है। वह हमारी शक्ति को क्षीण करता है। नशा उस युद्ध से अपने को टलाने की, भगने की कोशिश है। ब्रह्मचर्य उसकी समाप्ति का उपाय है। समाप्ति पराजय में नहीं, समन्वय में है। असल ब्रह्मचर्य भी समन्वय रूप है। उसकी साधना से व्यक्तित्व असंदिग्ध बनता है। उसको एक प्रबलता, एक निश्चित, एक श्रद्धा प्राप्त होती है। तब वह अपने को चहुँ ओर ख़र्च नहीं करता, प्रत्युत लक्ष्य की ओर गति करने में समर्थ होता है। भोग द्वारा आदमी अपने को बिखराता है; ब्रह्मचर्य आत्म-संचय का प्रयोग है।

'अङ्गरेज़ी में जिसको self-integration कहें, ब्रह्मचर्य वही योग है। अपने इन्द्रिय, मन, प्राणों को ब्रह्मनिष्ठा में पिरो रखना है। व्यक्ति समाजहित में शून्यवत् होता दीखे, वह निरी इकाई ही होता जाय, तो वहां ब्रह्मचर्य असिद्ध मानना चाहिये। ब्रह्म तो समष्टि का सार है। उसकी समीचीन चर्या व्यक्ति को स्वल्प नहीं, विशद ही कर सकती है। इस तरह ब्रह्मचर्य मनुष्य-समाज ही नहीं, बल्कि सचराचर विश्व के आत्महित के साथ योग पाने की साधना का नाम है। इसमें व्यक्ति के समाज से कटकर अलग हो पड़ने की तो बात ही नहीं की जा सकती......'

सहसा रुके। मुझे देखा। अनन्तर बोले "तुम्हारी कठिनाई मैं समझता हूं। पर बाहर दीखता हो उससे विभ्रम में न पड़ो। ऊपर के टीके से किसी को ब्रह्मचारी मानोगे तो फिर मन में शंका आये बिना कैसे रहेगी? यह मुझसे सुन लो कि ब्रह्मचर्य का सारांश प्रेम है। वह प्रेम जो घृणा की अपेक्षा नहीं रखता और जो स्वयम् प्रतिष्ठ है वह सेवामय है। अभाव

मूलक वह राग जो द्वेष के बिना चलता ही नहीं, उसकी परिणति भोग है। इससे अधिक कुछ और मानने की ज़रूरत नहीं है। भोग से जीवन की सामर्थ्य या उपयोगिता कैसे बढ़ सकती है? फिर भी संसारी लोग जो दुनिया को हरियाला बनाये हुये दीखते हैं और वीतरागी जो उसे उजाड़ते हुये प्रतीत होते हैं वह इसलिये कि ऊपरी बातों से असलियत नहीं जानी जाती। संसारी विरागी हो सकते हैं और एकांतसेवी घोर संसारी हो सकते हैं। पर तुम तो उस फेर न पड़ो। शुद्ध मानव-सहानुभूति को आत्म-धर्म यानी ब्रह्मचर्य की पहचान मान रखो। जहाँ वह वस्तु सूखी है, वहां मान लो कि धर्म नहीं है। और जहाँ उस प्रकार आर्द्रता है, वहां जान लो कि चित्तत्व यानी आत्मा भी है।

फिर कुछ रुक कर बोले—भाई दयाल, मृणाल तुम्हारी बुआ थीं। पर मैं भी उन्हें जानता था। इतिहास मत पूछो। बेशक उन्होंने बहुत बिपता उठायीं। पर यह भी सच है कि मरते मर गईं, पर उन्होंने हार नहीं मानी। कुछ लोग उजागर जगत को उजेला करते हैं, कुछ अंधेरी सीली कोठरी में अपनी नन्हीं लौ लेकर पहुँचते हैं। सूरज आस्मान में से चमकता है और धरती पर धूप फैलाता है। धूप दे, इसके लिये सूरज धरती से दूर रहेगा। लेकिन धरती के भीतर कोयले की काली खानों में काले कपड़ेवाले जो मज़दूर घुसते हैं वे धुंधली लालटेन से अपना काम चलाते हैं। वहां सूरज की सामर्थ्य नहीं कि पहुंचे। पर लालटेन अपनी, यानी उसी का, काम वहां करती है। क्या हम उसकी धुंधली रोशनी को रोशनी न कहें? उससे धौली धूप नहीं मिलती, फिर भी उजेला मिलता है। लेकिन सूरज को समझने के लिये उसे लालटेन के भीतर भी नहीं देखा जा सकता। यही बात है। तुम्हारी मृणाल बुआ में ब्रह्मचर्य के आदर्श को देखने में मैं असमर्थ हूं। पर क्या मैंने उनकी श्रद्धा को नहीं देखा? क्या मैंने घोर अंधकार से घिरी हुई होकर भी, दीप-शलाका की भांति, उन्हें पल पल जलते हुये भी नहीं देखा? सन्देह नहीं कि जो अपने को जलाता है वह प्रकाश भी करता है। तुम्हें विश्वास दिला सकता हूँ कि उन की विपता में मैं उनके तुमसे कम काम नहीं आया। पर तुम आत्मग्लानि के कारण सत्य और धर्म के बारे में मतिभ्रम मत पैदा कर लो। जो भूल है, वह मृणाल में भी भूल ही थी। करुणा के कारण भी आत्म-विमुख आचरण नहीं किया जा सकता। उनकी प्रेरणा करुणा की थी, यह बात बेशक छोटी नहीं है। तो भी आत्म-विरोधी आचरण समर्थित नहीं हो सकेगा······"

इस जगह मैं अपने को दाब नहीं सका। मैंने जानना चाहा कि मृणाल बुआ को कैसे, कहां वह पा गये? और ख़ुद क्या उनके जीवन में किसी ओर से किसी रूप में कोई नारी नहीं आई?

पर वह नहीं घिर सके। आगे मैं नहीं जान सका।

तब मैंने तर्क किया कि व्यक्ति का जीवन क्या विधि की ही भाषा नहीं है? आदमी उस भाषा को समझना चाहेगा ही। हमारा सब ज्ञान उस अन्तिम नियम को पाने की शोध है जो हमारे समूचे जीवन का अधिष्ठाता है। विकास उसी की निरन्तर चाह है। इस तरह व्यक्ति-जीवन खुली पुस्तक की भांति हो तो उससे सत्यशोधक जीवन-वैज्ञानिकों के काम में सहायता मिले। जीवनचरितों से यही लाभ है। ऊँचे आत्मचरितों से तो और भी इसमें सहायता मिलती है। व्यक्ति अब व्यक्तिगत नहीं रहता जा रहा है। यहां तक कि समूह यानी सरकार उससे खर्च का हिसाब भी मांगती है। इसी तरह व्यक्ति को अपने जीवन-ग्रन्थ को पूरी तरह हर एक के लिये प्राप्य बना रखना ज़रूरी है। ख़ास तौर से वे जीवन जो असाधारण हों, जिनके प्रति लोगों में जिज्ञासा हो, खुली पुस्तक होने ही चाहिये। आप भेद से ढके क्यों रहते हैं?

हँसकर बोले—"चोर अपनी चोरी खोलता है?"

मैंने कहा, "नहीं खोलता, इससे क्या बाकी सबकी कठिनाई बढ़ ही नहीं जायगी?"

बोले, "सो तो है। चोरी करने से उसे छिपाना बुरा है। पर चोरी है, इसीसे तो छिपाना पड़ता है। पाप-कथा नहीं उघाड़ता, सो इसलिए नहीं कि पापी मशहूर होने में मुझे सुख नहीं है; बल्कि इसलिये कि उससे सिवाय मेरे और किसी का भला होने की आशा नहीं है।

मैंने पूछना चाहा कि तो क्या आप—

बोले, "नहीं, वह छोड़ो। छिपा यहाँ क्या है? जाननहार सब जानता है। विधि की लिपि से कुछ नहीं छूटता। शोधक के लिये आसानी करने की जो बात कहते हो, उसमें सचमुच सार मालूम होता है। मैं उस पर सोचूंगा। पर इतना तो है कि सार-भूत सब कुछ जगद्गति को प्राप्त होता रहता ही है। वह खोया जा नहीं सकता। नाम-धाम, पता-ब्यौरे जो बीच में से खो जाते हैं सो इसलिये कि उन्हें खोया जाना ही चाहिए। गन्ने का छूंछ भी सदा रहना चाहे तो फिर रस कैसे प्राप्त होगा? रसलाभ के लिये छूंछ को नष्ट होना ही चाहिये। इसीसे मेरे सम्बन्ध का घटनात्मक कुछ भी रहने और जाने लायक होगा, यह मैं नहीं मान पाता हूं। और जो मुझमें सारवान है, वह तो आज भी मेरा नहीं है और वह विश्वांतःकरण को अनायास उपलब्ध है। मैं नहीं रह जाऊँगा मेरे शब्द रहेंगे, इस भूल में भी मैं नहीं हूँ। अन्त में कुछ भी नहीं रह जायगा। बस, मुझसे जिस अंश में अहिंसा की प्राप्ति होगी और सत्य की निष्ठा फूटेगी, वही मेरा स्थायी मूल्य होगा।"

मैंने प्रयत्न और किया। पर इस आशा से अधिक नहीं ही पा सका कि वह अपने जीवन के इतिवृत को खुली पुस्तक की भांति बांधे जाने के लिये दे जाने पर विचार करेंगे। मैं इतने के लिये उनका कृतज्ञ हूँ। भगवान जाने की इस सौध की बुनियाद में क्या मिलेगा! मुझे आशंका और आस्था है कि इस दीप्त भव्यता के आधार में कोई गहरी मनोव्यथा अवश्य ही है। मुझ में स्थिर हो गया है कि सच्चे जीवनोत्कर्ष के नीचे एक गम्भीर आत्मव्यथा होनी ही चाहिए। दूसरी किसी नींव पर खड़ी ऊँचाई नहीं तो टिकी किस भांति रह सकेगी?

परिचय

श्री ब्रह्मदत्त विद्यार्थी

[युवक कवियों के ऐसे 'परिचय' पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने को आते रहते हैं। हम जानते हैं कि इन लोगों में से किसी समय भी ऐसे अनेक व्यक्ति निकल आते हैं जो ऐसे 'परिचय' को चरितार्थ कर देते हैं। इसी सच्ची आशा के साथ हम इसे प्रकाशित कर रहे हैं—सम्पादक]

हम भरे हुए वह सागर हैं,
तह में मोती दिखला देंगे।
हम भरे हुए वह गागर हैं,
प्यासे की प्यास बुझा देंगे।

× × ×

हम पड़े हुए वह बीज हैं जो,
मिट्टी से पेड़ उगा देंगे॥
हम खड़े हुए वह भूधर हैं,
गंगा सी नदी बहा देंगे।

× × ×

हम कटे हुए से तरुवर हैं।
कोपल से फिर लहरा देंगे।
एक वृक्ष की जगह अनेकों,
बन-वृक्षों की धूम मचा देंगे।

× × ×

हम कुम्भकार की मिट्टी हैं,
यों नचा नचा कर अपने को।
औ तपा-तपा कर अग्नी में,
निज रूप अनेक दिखा देंगे।

× × ×

ऋतुओं में बस ऋतुराज हैं हम,
जो ऋतु का राजा कहलाता ।
बौरे आमों की डाली पर,
कोकिल का राग सुना देंगे ।

× × ×

हम जीवन की अभिलाषा हैं,
जग - जीवन का परवाह नहीं ।
नव जीवन जीवन में भर कर,
नभ जीवन - ज्योति जगा देंगे ।

× × ×

हम निडर शस्त्र स्तम्भ रूप,
हैं खड़े हुए बहु बाधा में ।
दृढ़ आशा है अपने मन को,
सब भय का भूत भगा देंगे ।

× × ×

जीवन की ज्योति जगा देंगे,
मर - मर हम अमर बना देंगे ।

एकता का आधार

श्री रघुवीरशरण दिवाकर, बी० ए०, एल० एल-बी

हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐसा कोई भेद-भाव नहीं है जो हिन्दुओं में ही आपस में न हो। यदि उन भेदभावों पर से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच आत्मीयता के सम्बन्ध को स्वीकार करने के लिए हम तैयार नहीं हैं, तब हमें हिन्दुओं में भी परस्पर आत्मीयता के बंधन को अस्वीकार करना होगा। फिर हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग दो क़ौमें ही नहीं रह जायंगी, ये हिन्दू ही कई क़ौमों में बँट जायँगे और आगे चल कर छोटे-छोटे से बाड़ों में 'क़ौमियत' घिर कर यह देश एक दो नहीं सैकड़ों क़ौमों से भर जायगा ।

हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक ईश्वर को मानते हैं लेकिन हिन्दुओं में ही जैनी और बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते। हिन्दू मूर्तिपूजक हैं, मुसलमान मूर्ति-विरोधी हैं लेकिन हिन्दुओं में ही आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज आदि अनेक पंथ मूर्ति-पूजा के सख़्त ख़िलाफ़ हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर खान-पान शादी-विवाह का रिवाज नहीं है लेकिन हिन्दुओं में ही ऐसे एक दो नहीं सैकड़ों हज़ारों बाड़े हैं जिनमें आपस में खान-पान और शादी-विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं होता। हिन्दू और मुसलमान में ही छुआछूत का विचार नहीं है स्वयं हिन्दुओं में भी आपस में है। रस्म-रिवाज, वेषभूषा आदि की दृष्टि से भी हिन्दुओं में परस्पर हिन्दुओं और मुसलमानों की अपेक्षा यदि ज़्यादह अन्तर नहीं है तो कम भी हरगिज़ नहीं है ।

पंजाबी हिन्दू के दिल में बंगाली हिन्दू के प्रति, राजपूत के दिल में मद्रासी हिन्दू के प्रति, बिहारी हिन्दू के दिल में बंगाली हिन्दू के प्रति और गुजराती हिन्दू के दिल में महाराष्ट्रीय हिन्दू के प्रति-स्नेह और सहानुभूति अधिक नहीं है, सिक्ख और मराठे में आत्मीयता नहीं है, न गुजराती को मारवाड़ी से और न मारवाड़ी को गुजराती से प्यार है। हिन्दू तो हिन्दू, अलग अलग प्रान्तों के एक ही वर्ण के लोगों में भी कोई आत्मीयता नहीं है। भला देखिए, कहां आगरा और दिल्ली के आस पास का भिखमंगा अपढ़ रसोइयां ब्राह्मण और कहां महाराष्ट्र का उच्च शिक्षित विद्वान सम्पन्न ब्राह्मण ? कहाँ उत्तरी भारत के परहेज़गार पण्डितजी और कहाँ झींगर, कीड़ी, मकौड़ी सब हज़म कर जानेवाले लेकिन अछूत की छाया से भी नापाक हो जाने वाले मद्रास के ब्राह्मण देवता ? कहां मछलियों भरी जाली को देख कर कांपने और उलटी करनेवाले संयुक्त प्रान्त के

ब्राह्मण और कहाँ डेढ़ डेढ़ हाथ की मछलियाँ कच्ची "सटक नारायण" करने वाले बंगाल के ब्राह्मण ?

रही ख़ून की बात। पंजाबी मुसलमान और पंजाबी हिन्दू में और यू० पी० के मुसलमान व यू० पी० के हिन्दू में—किसी भी प्रान्त के हिन्दू या मुसलमान दोनों में—एक ही ख़ून बह रहा है। यही नहीं, पंजाबी ब्राह्मण और मद्रासी ब्राह्मण की अपेक्षा पञ्जाबी ब्राह्मण और पञ्जाबी मुसलमान में तथा मद्रासी ब्राह्मण और मद्रासी मुसलमान में ख़ून की घनिष्टता कहीं ज़्यादह है। यूं अगर सब हिन्दुओं का एक ख़ून माना जाय, तब यह देखते हुए कि ये दस करोड़ मुसलमान हिन्दू पूर्वजों की ही संतान है, सब हिन्दुओं का ही नहीं, सब हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों का ही एक ख़ून मानना पड़ेगा।

भाषा भी अलग-अलग प्रान्तों के हिन्दुओं और मुसलमानों की एक ही है। पञ्जाब में दोनों हिन्दू और मुसलमान पञ्जाबी बोलते हैं, सिंध में सिंधी, गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी और बंगाल में बङ्गाली बोलते हैं। यह तो सिर्फ़ बड़े बड़े शहरों और क़स्बों में ही अब कुछ हद तक मुसलमानों को उर्दू तथा हिन्दुओं को हिन्दी बोलते देखा जा सकता है लेकिन क़स्बों में ही बहुत हद तक और क़स्बों से बाहर गांवों में तो पूरे तौर पर हिन्दू और मुसलमान दोनों की एक, सिर्फ़ एक ही, भाषा है। सब प्रान्तों के हिन्दू ही नहीं ब्राह्मण भी यदि एक स्थान में जमा किये जायँ तब या तो वे एक दूसरे का मुंह ही ताकेंगे या अपनी अपनी बगलें ही भाकेंगे। यही बात मुसलमानों व उनके किसी भी एक वर्ग के विषय में सत्य है।

यदि हम 'पाकिस्तान' और शेष हिन्दुस्तान पर एक-एक नज़र डालें तो देखेंगे कि इनमें से हर एक में कई-कई भाषाएँ होंगी। उत्तर-पश्चिम में ही सिंधी, बलोची, बहुई, मुल्तान, पञ्जाबी, पश्ती, दरदी, बलती, हुजा और काश्मीरी ये दस भाषाएँ बोली जाती, उधर पूर्वी बङ्गाल में अपनी एक जीवित भाषा बंगाली है ही और वह रहेगी ही, फिर हिन्दुस्तान में तो शायद कई दर्जन भाषाओं के होने में संदेह को कोई स्थान ही नहीं है। यदि भाषा को जातीयता का आधार माना जाय, और सचमुच धर्म की अपेक्षा भाषा की एकता एक जातीयता के लिये ज़्यादह ज़रूरी है, तो 'पाकिस्तान' के बाशिन्दों को ग्यारह जातियों में और शेष हिन्दुस्तान के निवासियों को कई दर्जन जातियों में बाँटना पड़ेगा। अतः भाषा के आधार पर हिन्दुओं को अलग एक क़ौम और मुसलमानों को अलग एक क़ौम मानना निरर्थक है। यह हमें न भूलना चाहिये कि भाषा का धर्म से सम्बन्ध नहीं है। अपनी भाषा वह है जिसे मां के दूध के साथ बच्चा सीखे। जिस भाषा के व्याकरण को पुस्तक पढ़ कर सीखा जाय वह मातृभाषा नहीं है। जब माँ के दूध के साथ भाषा सीखी जाती है तब उसके साथ ही साथ व्याकरण ख़ुद आता जाता है।

यदि हम धर्म की दृष्टि से देखें तो भी हमें ऐसा कोई विशेष भेद या विरोध दिखाई नहीं देता है जिस के कारण दोनों को सम्प्रदाय न कह कर दो क़ौम कहने की इच्छा हो। हिन्दू धर्म और इसलाम में परस्पर विभिन्नताओं के होते हुए भी दोनों ही धर्म इतने उदार हैं कि इनमें परस्पर संघर्ष तो दूर, किसी और धर्म से भी कभी इनकी टक्कर नहीं हो सकती।

दोनों ही धर्म मनुष्य को नेकी और पाकीज़गी का सबक़ देते हैं। दोनों ही धर्म मनुष्य को पाप की ओर से हटा कर पुण्य की ओर लाने के लिए प्रयत्नशील है। दोनों ही धर्म मानवता के दृढ़ स्तम्भ हैं।

किसी भी धर्म या उसके संस्थापक की इसलाम ने बुराई नहीं की है। क़ुरान में एक लाख पैंतीस हज़ार पैग़म्बर माने गये हैं और यह कहा गया है कि ऐसी कोई क़ौम नहीं और ऐसा कोई मुल्क नहीं, जहां ख़ुदा ने पैग़म्बर न भेजे हों। हज़रत ईसा मूसा वग़ैरह पैग़म्बरों का ज़िक्र करते हुए वहां यह साफ़ लिख दिया गया है कि यद्यपि सब पैग़म्बरों के नाम यहां नहीं दिये जा सके हैं लेकिन हर मुसलमान के लिये यह लाज़िमी है कि वह सब पैग़म्बरों की इज़्ज़त

करे। कुरान में किसी भी धर्मवाले से झगड़ना मना किया गया है। वहां हरएक धर्म के पूजा-पाठ के जुदा-जुदा तरीक़ों में भी कोई विरोध नहीं बताया गया है। अल्लाह के सभी नामों को ख़ुदा, अल्लाह, रब, रहीम, रहमान, ईश्वर, परमात्मा, भगवान, गॉड, अहुरमज़्द, पाक बताते हुये नाम पर लड़ना जहालत कहा गया है। ऐसे मुसलमान कवियों की कमी नहीं है जो कृष्ण-भक्ति के ही नहीं, दुर्गा और भैरव तक के गीत गाने में किसी हिन्दू कवि से पीछे नहीं रहे हैं।

वही बात हिन्दू धर्म के विषय में भी है। गीता में यह स्पष्ट उल्लेख है कि संसार में जितनी भी महान विभूतियां हैं वे ईश्वर से पैदा हुई हैं। हर मज़हब के पैग़म्बर और देवी देवता को वहां स्थान प्राप्त है। ईश्वर में अगाध भक्ति रखने वाले और ईश्वर के नाम तक से चिढ़ने वाले, रास्ते में पड़े हुए पत्थरों व मील खम्बों को देवता समझ कर पूजने वाले और मन्दिर की मूर्तियों को भी पत्थर कहकर उनका उपहास करनेवाले, राजसिंहासन पर बैठकर न्याय अन्याय का निर्णय करने वाले और जंगलों में जाकर बेसरो-सामान नँगे अधनंगे घूमनेवाले, सभी हिन्दू धर्म में आ जाते हैं। सच तो यह है कि हिन्दू धर्म कोई एक धर्म ही नहीं है, वह धर्मों का एक अजायब-घर (Museum) है।

हिन्दू धर्म और इस्लाम में जो कुछ अन्तर है वह स्वाभाविक है। हर एक के इतिहास को देखकर हम उसके आज के विकास को देखें तो हमें पता लगेगा कि दोनों एक ही ईश्वरीय तेज़ की दो किरणें हैं, एक अरब में चमकी और एक भारत में जगमगायी, दोनों एक ही नदी की दो धाराएँ हैं, एक अरब में बही और एक भारत में बही, दोनों एक ही आसमान से गिरा हुआ शुद्ध जल है जो वहां अरब में गिरा, यहां भारत में गिरा। कुछ कम या ज़्यादा यही बात सब धर्मों के विषय में है।

आज छोटी-छोटी निकम्मी बातों को लेकर दोनों लड़ते हैं, एक दूसरे का सिर फोड़कर, समझते हैं कि वे हिन्दुत्व व मिल्लत की सेवा कर रहे हैं। सच यह है दोनों ही अपने अपने धर्म को भूलकर, हिन्दू दानवता की पूजा कर रहे है और मुसलमान शैतानियत की नमाज़ पढ़ रहे है। क्या यह हिन्दुओं का अपराध नहीं है कि जिस हिन्दू धर्म के आंगन में तैंतीस करोड़ देवताओं को स्थान प्राप्त हो सका वहाँ ईसा और मुहम्मद इन दोनों के लिए अब भी कोई आसन खाली नहीं है? गीता के शब्दों में विश्व की सब महान विभूतियाँ ईश्वरांश हैं लेकिन भारत के इन दस करोड़ मुसलमानों का, दुनिया के मुसलमानों की बात जाने दीजिये जो हिन्दुओं से बहुत ही ज़्यादह हैं, आराध्य मुहम्मद उनके लिए ईश्वरांश नहीं बन सका! यह मुसलमानों का क़सूर नहीं तो क्या है कि ख़ुदा ने हर मुल्क और हर क़ौम में पैग़म्बर भेजे और हर पैग़म्बर की इज़्ज़त करना हर मुसलमान का फ़र्ज़ बताया तो भी इन बाईस करोड़ हिन्दुओं के आराध्य राम और कृष्ण के सामने वे सिर झुकाने में असमर्थ हैं! पतन यहाँ तक हो गया है कि एक हिन्दू मुसलमान को राम-राम करेगा, मुसलमान हिन्दू को सलाम करेगा, दोनों परस्पर एक दूसरे का सम्मान करेंगे, लेकिन दोनों एक दूसरे के आराध्य महात्माओं का आदर तो दूर उनके प्रति शिष्टाचार का पालन भी न करेंगे।

दोनों ही भूल कर रहे हैं। दोनों ही अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। हमें चाहिए यह कि दोनों को दोनों की भूल बताएँ, उनकी ग़लत-फ़हमियों और ख़ाम ख़यालियों को दूर करें। लेकिन हम दोनों को अलग-अलग क़ौम कहकर जुदा-जुदा करने, हिन्दू-संगठन और तनज़ीम के नाम पर लड़ाने, परस्पर ग़ैरियत और दुश्मनी के भाव भरने तथा धर्मान्ध बनाकर दोनों एक-दूसरे के खून का प्यासा बनाने का ही काम करते हैं।

कहा जाता है कि दोनों ही हिन्दू धर्म और इसलाम व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित न रहकर उसके सामाजिक पारिवारिक जीवन में इतने इतने गहरे उतर गये हैं कि दोनों मिलकर एक

नहीं हो सकते। पर यह भी एक भूल है। निःसन्देह हिन्दू लॉ और मुस्लिम लॉ अलग-अलग हैं पर हिन्दुओं में ही ऐसे कई क़ानून हैं। जैन लॉ तो हिन्दू लॉ से बहुत विभिन्न है। स्वयं हिन्दू लॉ ही कई तरह की विभिन्न व्यवस्थाओं से भरा हुआ है जो अलग-अलग समुदायों पर लागू होती हैं। मुसलमानों में अनेक समुदाय ऐसे हैं जिन पर हिन्दू लॉ अभी भी पूरे या अधूरे रूप में लागू होता है, यहाँ तक कि स्वयं जिन्ना साहब जिस खोजा समुदाय के अंग हैं उसे मुस्लिम लॉ की अपेक्षा हिन्दू लॉ से ही ज़्यादा अपेक्षा है।

सच तो यह है कि दोनों ही क़ानून अपने अपने देश की और अपने अपने समय की अपेक्षा को लिये हुए हैं। वे अनन्त-कालीन नहीं हैं। किसी भी क़ानून को इस बदलती हुई दुनिया में अनन्त-कालीन मानना भूल है। यदि हिन्दू और मुसलमान समय की परिस्थिति के ध्यान में रखकर अपने अपने क़ानूनों में सुधार कर लें, अथवा एक नये क़ानून का ही निर्माण कर लें तो इससे न हिन्दुत्व की मर्यादा का भंग होगा और न इस्लाम की शान में फ़र्क़ आयगा। लेकिन यदि दोनों ही अपने अपने आग्रह को छोड़ने के लिए तय्यार न हों तब हिन्दू अपने लिये हिन्दू लॉ सुरक्षित रखें, और मुसलमान मुस्लिम लॉ पर आंच न आने दें, दोनों अपने अपने समुदाय में अपना अपना क़ानून लागू रखें। इसमें लड़ने की क्या बात है? इसमें राष्ट्रीयता के बन्धन की उपेक्षा कहां है जो दोनों के एक दूसरे से पृथक् कर दिया जाय? दोनों हिन्दू और मुसलमान प्रेम के साथ मिलकर बैठें और यह तय कर लें कि उन्हें तो मिलकर एक होना है तब कोई कारण नहीं है कि क़ानून के विषय में अपने अपने पृथकत्व को रखते हुये भी दोनों मिलकर एक मार्ग का निर्माण न कर सकें।

क़ानून ही नहीं, कहीं-कहीं मुसलमानों में हिन्दू उपनाम, शादी-बिवाह के हिन्दू रस्म-रिवाज आदि भी अभी तक मान्य हैं। कई फ़िरक़े तो ऐसे हैं कि उनके रहन सहन खान पान से यह जान सकना असंभव है कि वे मुसलमान हैं पर वे मुसलमान हैं। इस तरह के दृश्यों के धर्मपरिवर्तन की अपूर्णता का कार्य कहने से ही नहीं अविचारणीय नहीं ठहराया जा सकता। इससे तो यही पता लगता है कि जब कोई धर्म किसी अन्य धर्म व उसके अनुयाइयों के सम्पर्क में आया करता है तो उसका एकांगी दृष्टिकोण व रूप स्वभावतः बदल जाता है। भारत में महात्मा बुद्ध ने जिस रूप में बौद्ध धर्म के जन्म दिया था, चीन और जापान में जाकर उसी बौद्ध-धर्म ने बिलकुल भिन्न रूप धारण कर लिया है। यह स्वाभाविक ही है। धर्म-परिवर्तन की अपूर्णता को लेकर ऐसे स्वाभाविक के अस्वाभाविक कैसे कहा जाय?

धर्म का बन्धन ऐसा नहीं है कि एक ही धर्म के अनुयायी भी शांति और प्रेम के साथ-साथ रह सकें, आपस में न लड़ें। हम इतिहास के पन्नों को उलट कर देखें तो पता लगेगा कि वहां ऐसी घटनाएँ भरी पड़ी हैं जिनमें साम्राज्यवादी धनलोलुपी व महत्वाकांक्षी लोगों ने अपने ही सहधर्मियों पर आक्रमण किया है। पहिला हिन्दू साम्राज्य छोटे-छोटे हिन्दू राज्यों को हथिया कर ही बनाया गया था और हिन्दू राज्यों की आपस की लड़ाई ही उसके विनाश में मुख्य कारण रही है। मुसलमानों का इतिहास तो ज़्यादह पुराना भी नहीं है। कट्टर मुसलमान मुग़ल-सम्राट औरंगज़ेब तो बीजापुर और गोलकुंडा के मुसलमान राज्यों पर ज़िन्दगी भर हमले ही करता रहा। उसके राजपूत मित्रों ने अपने ही राजपूत भाइयों पर बड़े-बड़े हमले किए। योरप के ईसाई राष्ट्रों के भयंकर युद्ध तो हमारे सामने ही हैं। यह भी हम देख ही रहे हैं कि बौद्ध धर्मानुयायी जापान अपने सहधर्मी चीन पर कैसे-कैसे ज़ुल्म ढा रहा है।

जब धर्म का बन्धन ऐसा नहीं है कि उसके सब अनुयायी प्रेम के साथ रह सकें, तब धर्म के आधार पर ही जातीयता की कल्पना कर बैठना कहां की अक़्लमन्दी है? हम देख रहे हैं कि एक ही धर्म और वह भी वही इस्लाम होते हुए भी मिस्र तुरकिस्तान, अरब, फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान मिल

कर अब तक एक क़ौम नहीं बन सके। जिस तरह भारत की भौगोलिक एकता जिन्ना साहब की राय में अलग-अलग हिन्दू मुसलमान इन दो क़ौमों को एक नहीं बना सकती, इसी तरह एक मुसलमान क़ौम को भौगोलिक विभिन्नताएँ—प्राकृतिक सीमाएँ—भी तो अलग अलग क़ौम नहीं बना सकतीं। फिर मुसलमान अलग अलग इन देशों में अलग अलग क़ौम क्यों बने हुए हैं? क्यों सब मिल कर एक क़ौम के दृढ़ संगठन में आबद्ध नहीं हैं? कारण स्पष्ट है और वह यह कि इसलाम का—ठीक इसी तरह किसी भी धर्म का—बन्धन अब ऐसा नहीं है जो उसमें बँधे हुए सभी प्राणियों को एक क़ौम बना सके।

यदि यह कहा जाय कि भाषा, जलवायु आदि की विभिन्नता के कारण वे मिलकर एक क़ौम नहीं बन सके तब तो हिन्दुस्तान के मुसलमानों को भी प्रान्त-प्रान्त के अनुसार कई क़ौमों में बांटना पड़ेगा। और यदि यह कहा जाय कि भौगोलिक विभिन्नता के कारण वे एक क़ौम नहीं बन सके, या यूँ कहिए कि जहां भौगोलिक एकता रही वहीं सब को मिलकर एक क़ौम बन सकी तब तो भारत की भौगोलिक एकता को देखते हुए यहां के सब हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जैनी, बौद्ध आदि को मिला कर एक क़ौम ही कहना होगा।

ख़ून, भाषा, और भूमि, इन तीन से हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐसा कोई भेद-भाव नहीं है जो स्वयं हिन्दुओं में ही, मुसलमानों की बात अभी जाने दीजिये, न हो, यह ऊपर बताया जा चुका है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि धर्म की दृष्टि से एक तो कोई ऐसी विशेष विभिन्नताएँ हैं ही नहीं जो हिन्दुओं में ही परस्पर न हों और जिनको लेकर हिन्दुओं और मुसलमानों को दो क़ौम कहने की हिम्मत हो, दूसरे यदि हैं भी, तो धर्म का बंधन ऐसा बन्धन नहीं है जो उसमें बँधे हुए सभी प्राणियों को एक जातीयता के प्रेम-सूत्र में आबद्ध कर सके। यह सब इतना प्रत्यक्ष है कि डाक्टर अम्बेडकार सरीखे व्यक्तियों को भी स्वीकार करना पड़ा है और इसीलिये हिन्दुओं और मुसलमानों को दो क़ौम सिद्ध करने के लिए उन्हें नए कारणों का आश्रय लेना पड़ा है। उनका कहना है कि ख़ून, भाषा, और भूमि की एकता से एक क़ौमियत का निर्माण नहीं होता उसके लिए एक तो यह ज़रूरी है कि दोनों हिन्दुओं और मुसलमानों की भूत काल की स्मृतियाँ ऐसी हों जिनमें प्रतिस्पर्द्धा, जय-पराजय, व शत्रुता की कोई अनुभूति न हो, और दूसरे यह कि दोनों में एक दूसरे से मिलने की—एक दूसरे के साथ रहने की—वास्तव में इच्छा हो।

जहां तक भूतकाल की स्मृतियों का सम्बन्ध है सचमुच एक तरफ़ महमूद ग़ज़नवी और औरङ्गज़ेब आदि की स्मृतियां और दूसरी तरफ़ गुरु नानक, शिवा जी, बंदा वैरागी आदि की स्मृतियां दोनों में काफ़ी कड़वाहट पैदा करने वाली हैं। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिये कि जिस तरह मनुष्य का विकास होता है उसी तरह क़ौमें और राष्ट्र भी विकसित होते हैं, इसलिये इन पुरानी स्मृतियों को कषाय रूप में भूलकर, मान-अपमान, हिंसा-प्रतिहिंसा, के भावों के साथ याद न रखकर, दोनों हिन्दू और मुसलमान आनेवाली संतानों के लिये नई स्मृतियां छोड़ें तो इसमें क्या आश्चर्य है? दो व्यक्तियों में संघर्ष होता है, वैर होता है, तब क्या उनमें फिर मेल नहीं हो सकता है? स्वयं हमारे और हमारे प्रिय पाठकों के जीवन में ऐसी घटनाएँ भरी पड़ी होंगी जब वैर के बाद मित्रता हुई है, द्वेष के बाद प्रेम हुआ है और पहिली स्मृतियां कषाय रूप में भुला दी गई हैं। जो व्यक्ति के लिये सत्य है वही समाज के लिये सत्य है, क्योंकि व्यक्ति समाज की ही एक इकाई है या समाज व्यक्तियों का ही एक समूह है। लेकिन व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में भी इस तरह के दृष्टांत हमारे सामने हैं। इङ्गलैण्ड और स्काटलैण्ड के भूतकाल के नेता अलग अलग हैं और प्रायः एक का नेता दूसरे का शत्रु है, और एक की विजय दूसरे की पराजय है, फिर भी इङ्गलैण्ड और स्काटलैण्ड के निवासी मिलकर आज एक

राष्ट्र और एक क़ौम के रूप में दिखाई दे रहे हैं। आर्यों और अनार्यों की घटना तो हमारे ही देश की है। इस तरह के दृष्टांतों के साथ इधर अकबर और कबीर सरीखी महान् विभूतियों की स्मृति भी तो हिन्दू मुसलमान दोनों के दिलों में है। भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिये भूत को कषाय रूप में हमेशा ही भुलाया जाता रहा है। भूत से ही नहीं, बल्कि पैदा होने वाले भविष्य से भी मनुष्य-समुदाय प्रोत्साहन पाया करते हैं। आदान-प्रदान की पद्धति ने भूत के चिन्हों तक को मिटाया है, पुराने रूप नष्ट हुए हैं, नए रूप प्रकट हुए हैं, पुरानी व्यवस्था मिट गई हैं और नई व्यवस्थाओं ने जन्म लिया है। इस अनादि काल से चले आए हुए इस प्राकृतिक नियम को देखते हुए यदि यह आशा की जाय कि हिन्दू और मुसलमान भी भूत को न देखकर, भविष्य को ध्यान में रखकर, वर्तमान में एकता के प्रेमसूत्र में बँधने के लिये प्रयत्नशील हों, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

रहा साथ-साथ रहने और घुलमिल कर एक हो जाने की इच्छा का प्रश्न। स्वयं जिन्ना साहब व पाकिस्तान की मांग करने वाले अन्य मुसलमान बन्धु बार-बार यह कहते सुने जाते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में एकता स्थापित करने के अब तक के सभी प्रयत्न असफल हुए हैं, इसलिये हिन्दू मुस्लिम समस्या का सबसे अच्छा हल यह है कि दोनों अलग-अलग हो जायँ। उनकी यह पाकिस्तान की स्कीम, जैसा कि वे कहते हैं, इसलिये नहीं है कि वे अलग होना चाहते हैं, बल्कि इसलिये है कि मिलकर एक होने के विषय में उन्हें कोई आशा नहीं रह गई है। किसी कार्य की पूर्ति में निराशा होना एक बात है और उसकी इच्छा न होना दूसरी बात है।

भारतवासियों में एकता की लगन नहीं है, यह कहना राष्ट्र का ही अपमान नहीं, सत्य का भी अपमान है। अङ्गरेज़ों के आने के पहिले के इतिहास को हम देखें तो हमें मालूम होगा कि एक लम्बे समय के पारस्परिक संघर्ष के पश्चात् दोनों एक दूसरे के पास आ रहे थे और यदि इन अङ्गरेज़ों के सब्ज़ क़दम इस ज़मीन पर न पड़ते तो आज के इस क्रांति-युग में वे बहुत-कुछ मिलकर इस दुनिया के इतिहास के निर्माण में इतना अधिक भाग लेते कि आज हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन अभागे भारत के भाग्य में तो कुछ और ही बदा था। गौरांग प्रभु तशरीफ़ लाए और अपनी कूटनीति, छल व पशु शक्ति के बल पर इस विशाल देश के भाग्य-विधाता बन बैठे और स्वाभाविक व प्राकृतिक रूप से होने वाली आदान-प्रदान-जन्य सामाजिक सांस्कृतिक व धार्मिक एकता—अङ्गरेज़ों की पशु शक्ति के दम पर दिखने वाली यह बाहरी एकता नहीं जिसका ज़िक्र लीग के नेता बार-बार किया करते हैं, बल्कि दोनों के जीवन को बांधने और दिलों को मिलाने वाली भीतरी और स्थायी एकता—खटाई में पड़ गई।

इस बाहरी एकता के बीच में ही पिछले पचास साल में जो भारत के कोने कोने में एक राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई है, जो आज़ादी की लगन पैदा हुई है, जो प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता की संकुचित सीमाएँ भीतर ही भीतर नष्ट हुई हैं, उन्हें देख कर यह कैसे कहा जा सकता है कि भारतवासियों में एकत्व की भावना नहीं?

मुस्लिम लीग को छोड़ कर शेष विशाल मुस्लिम जन-समुदाय साथ-साथ रहने और मेल-जोल बढ़ाने के ही पक्ष में है। हिन्दू महासभा तथा कुछ दक़ियानूसी हिन्दुओं के अतिरिक्त सभी हिन्दू मुसलमानों के साथ मेल जोल बढ़ा कर भाई-भाई की तरह रहने के लिए उत्सुक हैं। भले ही कुछ वर्षों की राजनीति के कारण सामूहिक दृष्टि से इस तरह की भावना को ठेस पहुँची हो, लेकिन यह एक क्षणिक आवेश व तत्कालीन फल की उच्छृंखल भावना का ही, जो आजकल की राजनीति का मुख्य अंग है, कार्य है। यह कड़वाहट दूर होने पर जब हिन्दू और मुसलमान ठंडे दिल से सोचेंगे, अपने-अपने मन को टटोलेंगे, तो वे देखेंगे कि दोनों के दिलों में राष्ट्रीय एकता की

आग धधक रही है, दोनों ही एक दूसरे से मिलने के लिए परस्पर प्रतियोगिता व ईर्ष्या तक करने के लिये लालायित हैं।

देश के राजनैतिक जीवन की ऊपरी सतह पर होनेवाली इन क्षणिक व अस्थायी हलचलों पर से हमेशा के लिये होने वाली व्यवस्था का निर्णय नहीं किया जा सकता। उसके लिये तो इस भारत भूमि और विश्व के इतिहास को देखना होगा—मानव और उसकी वृत्तियों को परखना होगा और करना होगा, भूत को भुला कर तथा वर्तमान की इन क्षणिक विचार-धाराओं को ताक में रखकर, दिल और दिमाग़ से हर तरह के पक्षपात और तअास्सुब को निकाल कर, भविष्य पर, निकट भविष्य पर नहीं दूर भविष्य पर अर्थात् आने वाले एक दो तीन कल पर नहीं बल्कि असंख्य कलों पर, गम्भीर विचार।

मुस्लिम लीग ही नहीं, हिन्दू महासभा का भी यही दावा है कि हिन्दू अलग एक क़ौम हैं और उसके समर्थन में वे प्राचीन इतिहास की दुहाई देते हुए कुछ ऐसे ही कारण दिया करते हैं जैसे कि मुस्लिम लीग मुसलमानों को एक क़ौम कहने के लिये दिया करती है। मुसलमानों को अलग क़ौम मान कर भी सभा यह पसन्द नहीं करती कि भारत का कोई भाग पूर्ण रूप से मुसलमानों के अधिकार में दिया जाय। वह भारत को हिन्दुस्तान—हिन्दुओं का स्थान—मानकर अखिल भारतवर्ष को हिन्दुओं के आधीन ही बनाए रखना चाहती है और मुसलमानों को छोटे साथी या सहयोगी के रूप में देखने की आशा करती है। इस सम्बन्ध में सावरकर जी ने हिन्दू महासभा के बार-बार होते जाने वाले सभापति की हैसियत से बार-बार बहुत कुछ कहा है लेकिन उन सब बातों की और आलोचना करने के लिये यहाँ स्थान व अवसर नहीं है।

लीग को मुसलमानों का जितना प्रतिनिधित्व प्राप्त है, हिन्दू महासभा को उतना हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है लेकिन इस पर से ही एक को सम्मान व दूसरे को असम्मान की दृष्टि से देखा जाय, ऐसी हमारी भावना नहीं है। दोनों ही अलग-अलग हिन्दुओं और मुसलमानों की साम्प्रदायिक संस्थाएँ हैं और दोनों के दृष्टिकोण अपनी-अपनी अपेक्षा से एक-सरीखे हैं। इसलिये ऊपर जो लीग के दृष्टिकोण की आलोचना की गई है उससे सहज ही महासभा के दृष्टिकोण की भी आलोचना हो जाती है। फिर भी यदि हो सका तो कभी अलग किसी निबन्ध में उसकी भी विस्तृत आलोचना कर दी जायगी। अभी तो यह कहना ही काफ़ी है कि जहाँ तक लीग और सभा का सम्बन्ध है हम पूर्ण रूप से समभावी हैं।

निराश होने का कोई कारण नहीं है। यह विश्वास रखिये कि आप विजयी होंगे और अपने मुल्क में ही नहीं सारी दुनिया में एक ऐसी नई व्यवस्था का—इस पुरानी सड़ी गली दुनिया में से एक ऐसी नई तरोताज़ा दुनिया का—निर्माण कर सकेंगे, जहाँ राजनैतिक व सामाजिक रंगमंच पर कूटनीति का नृत्य न हो सकेगा, जहां कोई भी दूसरों के न्यायोचित अधिकारों को छीन कर गुलछर्रे न उड़ा सकेगा, जहां शैतान फरिश्ते का जामा पहिन कर दुनियां की आंखों में धूल न झोंक सकेगा। उस समय यह दुनिया स्वर्ग का-सा एक नन्दन निकुंज होगी जिसका मालिक फरिश्ता होगा, जहां सत्य, अहिंसा और न्याय के वृक्ष उगेंगे और फले फूलेंगे, जहां सेवा व प्रेम की सुन्दर क्यारियों में त्याग और बलिदान के सुमन खिलेंगे और जहाँ मानवता की मधुर सुरभि फैल कर दिल व दिमाग़ को मस्त बनाएगी। आइए, संगठित होकर, परस्पर एक बन कर, इसके लिये कुछ करिये, कुछ करिये।*

* इस लेख में आर्थिक और औद्योगिक एकता को मिलन का आधार नहीं माना गया। और इस बीसवीं सदी में यही जनता के मिलन के लिए सच्चा आधार है।—सम्पादक

क्यों ?

श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुँह फैलाया;
मानव ने ही दानव बनकर, महा प्रलय का ज्वार जगाया।
युद्ध - क्षेत्र का सूना आलम, रणचण्डी ने आज सजाया;
मानव - आविष्कारों ने ही, मानव का संहार दिखाया।
नील क्षितिज पर जहरीले से, गैसों का गुब्बार समाया;
जग के कोने - कोने पर अब, आज मृत्यु ने जाल बिछाया।
भौतिक चकाचौंध ने देखो, जीवन का चिर सत्य दबाया;
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुँह फैलाया।

वायुयान पर्वत पर पहुँचे, बम - बर्षा का खेल रचाया;
और समुद्रों की छाती पर, जलयानों ने जाल बिछाया।
मानव का संहार नित्य ही, बलि - बकरों - सा होता जाता;
रणचण्डी का खप्पर भी तो, और लबालब भरता जाता।
किन्तु युद्ध का सृष्टा मानव, नहीं स्वार्थ पूरा कर पाया;
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुँह फैलाया।

अगणित बहिनों के मस्तक से, लाल - बिन्दु अब धुलते जाते;
माताओं की गोदी भी तो, सूनी कितने करते जाते!
कितने ही परिवार उजड़ कर, भिखमङ्गों से बनते जाते;
जीवित रहने के भी साधन, धीरे - धीरे मिटते जाते।
किन्तु युद्ध की ताण्डव गति में, कहाँ तनिक भी अन्तर आया ?
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुँह फैलाया!

गर्हित राज्य - वृद्धि के पथ पर, कैसा संयम, कौन विरागी ?
निम्न स्वार्थ की पृष्ठ भूमि पर, मानव की पशुता यों जागी!
एक चाहता शहंशाह बन, सब जग का शासक कहलावे;
और ग़ुलाम बनाकर जग को, निज इंगित पर नाच नचावे।
मानवता, ममता, समता को, इस प्रभुता ने तुरत भगाया;
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुंह फैलाया।

संहारक यह कांक्षा देखो, और अमर - सी उनकी वाणी;
ईसा, बुद्ध, मुहम्मद, गान्धी, बतलाते जो जग - कल्याणी!
कितना अन्तर दोनों में है, कौन किसे अब यह बतलावे ?
महानाश की चकाचौंध में, कौन किसे सत्पथ दिखलावे ?
निशा - गर्भ में कहाँ उषा - सा, इस विनाश में प्रात समाया ?
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुंह फैलाया।

रजनी का यह कुहू अँधेरा, स्वर्ण - प्रात की किरण बनेगा;
मानव की इस दानवता से, मानवता का प्राण जगेगा!
आज खून जिनका है बहता, वही खून कल बदला लेगा—
मानव की इस दानवता का, नग्न चित्र क्या यहीं रुकेगा ?

वर्तमान समाज की एक करुण कहानी

ज्योत्स्ना

श्री सरस्वती देवी

'बड़ी गरमी है।'

चारपाई पर करवट लेते रहने पर भी बसंत को नींद न आई। बिजली के पंखे से गर्म हवा आने लगी थी। उठकर पङ्खा बंद कर दिया। एक गिलास ठंडा पानी पिया और व्याकुल हो निखरी चाँदनी में टहलने लगा।

सहसा उसकी निगाह पास के मकान में गई। उसने देखा कि इतनी असह्य गर्मी में भी वह माँ बेटी लालटेन के क्षीण प्रकाश में कुछ सी रही हैं। उस धधकती हुई ज़मीन पर एक छोटा बच्चा चिथड़ों पर सोया है। उसकी आत्मा काँप उठी। वह वहीं रैलिंग थामकर ठिठका खड़ा रहा।

रात आधी से ज़्यादा बीत चुकी थी। गरमी से तड़पते तड़पते कुछ लोग निद्रा देवी की गोद में जा चुके थे। पथ पर सन्नाटा छाया हुआ था। दिन भर के थके माँदे लोग विश्राम कर रहे थे पर इतनी सख्त गरमी में भी इस समय यह बाला अपने काम में तन्मय है। उसे शायद यह भी खबर नहीं कि रात कितनी गई। धीमी चाँदनी उस के मुख पर पड़ रही है। इससे उसके शान्त सरल सुन्दर मुख की शोभा द्विगुणित हो रही है। उसकी कोमल उँगलियाँ फुर्ती से अपना काम कर रही हैं। शायद उन सुन्दर उँगलियों को उस भोले मुख पर दया आ रही है। और वे काम खतम करने के लिए उत्साहित हैं। पसीने की बूंदें आ आकर उसके कपोल पर ढुलक रही हैं।

बसंत ने विवशता से उत्पन्न दरिद्रता के इस दृश्य को देखा। सहानुभूति और दया से उसका हृदय भर आया। हृदय ने एक अजीब दर्द का अनुभव किया। वह भावावेश की अधिकता से खड़ा सोचता रहा।

कुछ देर बाद इस षोडसी की माँ बोली—अब सो रह ज्योत्स्ना! रात बहुत हो गई है।

'सो रहूँगी माँ, थोड़ा और है पूरा करलूं। सुबह बाबू साहब के यहाँ दे आऊंगी। कुछ पैसे मिल जायेंगे भैया के दवा के लिए और कुछ खाने के लिए हो जायगा।' कुछ कंपित कंठ से ज्योत्स्ना बोली।

माँ ने एक आह भर कर कहा—भगवान की इच्छा! क्या यह तेरी उमर थी—तेरे पिता जी मुझे कितना प्यार करते थे—वह होते तो क्या तुझे·····

बीच में ही ज्योत्स्ना बोल उठी—भूल जाओ अम्मा, उस बीती हुई कहानी को। भैया को भगवान अमर करें। यही हम दुखियों की आत्मा की पुकार है।

बच्चा रो उठा। माँ उसे चुप कराते हुए आँखों में उमड़े आँसुओं को पोंछ कर बोली—कैसे भूल जाऊं ज्योति उन अतीत की बातों को? एक क्षण के लिए भी वे नहीं भूलतीं। इस बालक को देखती हूँ तो कलेजा टूक टूक हो जाता है। इसने पिता का मुंह भी नहीं देखा। कुछ शान्ति तब भी होती जब तेरे पिता जी की इच्छानुसार किसी योग्य और सम्पन्न घराने में तेरी शादी कर पाती। पर हा दैव, ऐसा भाग्य भी नहीं!

एक फीकी हँसी हँस कर ज्योत्स्ना ने कहा—माँ, ऐसी बातें सोच कर मन को ख़राब मत करो। हम लोग पहिले जो थे, थे, किन्तु अब उन बातों को भूल जाना होगा। हर वक्त यही सोचना चाहिए कि हम लोग अति दीन प्राणी इस संसार में हैं। हम लोग गरीब हैं। ग़रीब होकर महलों का स्वप्न न देखना चाहिए।

माँ, फूलबाला, बेटी की यह गंभीर बात सुन एक निश्वास त्याग चुप हो रही।

पर फूलबाला का मन व्यथित हो उठा। उसने ज्योत्स्ना की ओर सजल नेत्रों से देखा। वहाँ से उठ कर वह उसी ओर चली आई जिधर बसन्त की छत थी। बसन्त आड़ में हो गया। वह अपने आप कह उठी—क्या इस सुकुमारी, गुणसम्पन्ना, सरल बालिका को योग्य वर के साथ ब्याह न सकूंगी? क्या इसका भाग्य मेरे भाग्य के समान ही बड़ा खोटा है? पर मैंने तो अच्छे से अच्छे दिन भी देखे, सुख भी भोगा! ओह, रामशरण की बातों पर मेरा मन सिहर उठता है। कहाँ ज्योत्स्ना और कहां वह वर! एक अभी इस दुनियाँ में खिलने की तैयारी में है तो दूसरा यहाँ से जाने की। दैव, इस निर्दोष को तू ने मेरे पेट से क्यों जनमाया? इस देश और इस समाज में क्या अब दुखियों को कहीं आश्रय नहीं मिल सकता?

फूलबाला कातर दृष्टि से आसमान की ओर निहारने लगी मानो अपनी मूक भाषा में कुछ कह रही हो।

बसंत ने सब बातें स्पष्ट रूप से सुनीं। उसको रोमांच हो आया। लड़खड़ाते पैरों से अपने पलंग की ओर बढ़ा।

× × ×

लाला शंकरदयाल लखनऊ के सम्पन्न व्यक्तियों में थे। सूबे के प्रसिद्ध एडवोकेट थे। अच्छा सम्मान था। कुछ वर्षों से प्रैक्टिस छोड़ दी थी। 'ईश्वर-आराधना' और 'समाज सेवा' में लग रहते थे।

बसंत लाला जी का एकलौता पुत्र था। धन और सम्मान लाला जी को प्राप्त था पर बसंत ऐश्वर्य तथा माता पिता के असीम लाड़ प्यार में पलने पर भी सादगीपरस्त था। वह देखने में जितना सुन्दर था उसका हृदय उतने ही स्वच्छ और उच्च विचारों से शराबोर था। दुखी को देख कर उसके नेत्रों से आँसू निकल आते थे। मन, प्राण उसके कष्ट को दूर करने के लिए विकल हो जाते! कालेज में अनेक ग़रीब छात्रों की फीस अपने पास से दे देता।

समाज, देश और दुनिया के कष्टों के मूल कारणों और इन कष्टों के दूर करने के उपायों के बारे में वह विशेषज्ञों की पुस्तकें पढ़ने का कोई अवसर न खोता था। पिता की इच्छा थी कि पुत्र खूब सज धज कर रहा करे। बंगले, मोटर, बाग बागीचे सभी तो उसी के थे। परन्तु वह जानता था कि यह सब ऐश की सामग्री कैसे मिलती है। वह सदा सादगी पसन्द करता। सोचता, मैं सज धज कर निकलूंगा तो मेरे गरीब भाई क्या सोचेंगे? यही न कि मुझे लूट और चोरी के पैसों का अभिमान है! न, न, यह मुझसे न होगा। दूसरों को उन्नति का अवसर न देकर उनसे तरह तरह से सब चीजें ऐंठ लेना कोई मानवोचित गौरव का काम नहीं है!

× × ×

'माँ! माँ कहाँ हैं?'

बड़े ही मधुर शब्दों में ज्योत्सना बोली।

'अरे सुनती हो! कहाँ हो! ज्योत्स्ना आई है।'

वकील साहब को देख ज्योत्स्ना सकुचा गई थी। झिझकती हुई सर का कपड़ा ज़रा और खींच-कर शर्म से खड़ी रही।

भीतर से कौशिल्या देवी ने आकर स्नेहसिंचित स्वर में कहा—ओह बेटी, कब से खड़ी हो?

ज्योत्स्ना दोनों हाथ जोड़ धीरे से बोली—अभी तो आई हूँ, माँ!

कपड़ा हाथ में लेते हुए कौशिल्या ने कहा—इतनी जल्दी की तो ज़रूरत न थी। तुमने इतना परिश्रम क्यों किया? सुविधानुसार बना लेतीं।

'बहुत परिश्रम तो नहीं किया माँ! हाँ, भैया बीमार हैं, उसकी दवा की ज़रूरत है।

आगे ज्योत्स्ना कुछ कह न सकी! वह अपनी करुण दशा किसी को बतलाना नहीं चाहती थी।

बाहर से आते आते बसन्त के कानों में उसकी आवाज़ पड़ी। माता के पास आकर वह खड़ा हो गया।

कौशिल्या ज्योत्स्ना की बातों से बहुत दुखी हुई। उसका मातृत्व उसका दुख दूर करने के लिए अन्दर ही अन्दर तड़प उठा।

ज्योत्स्ना के हाथ से उसने कपड़ा ले लिया। देखा कि फ़ीरोज़ी रंग के स्वदेशी रेशम पर कारचोबी का काम बहुत ही होशियारी और सफ़ाई के साथ किया गया है। एक एक मोर इतनी उत्तमता के साथ बने हैं मानो उड़ा चाहते हों। नन्हीं-नन्हीं फूलों की पंखुड़ियाँ सुकुमार उँगलियों की कला को ही नहीं व्यक्त कर रही थीं, बल्कि कलाकार के जीवन की करुण कहानी भी व्यक्त कर रही थीं। उसने आर्द्र कण्ठ से पूछा—क्या दूँ बेटी?

'मैं क्या जानू माँ! जो समझो दे दो। जल्दी जल्दी में कुछ बना भी न पाई।' आँखें नीची कर कम्पित स्वर में ज्योत्स्ना ने कहा—

बसन्त को उस कम्पित कंठ में बड़े ही दर्द का अनुभव हुआ। इतने में लाला शंकरदयाल बोल उठे—पाँच रुपये दे दो।

यह सुन बसन्त चौंक कर बोल उठा—इतने परिश्रम का मूल्य पाँच ही रुपये?

बसन्त के मुख से यह सुन ज्योत्स्ना का हृदय भर आया।

कौशिल्या ने एक बार बसन्त की ओर देखा, फिर स्नेह से ज्योत्स्ना के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—अच्छा बेटी, तुम घर जाओ। मैं अभी रुपया लेकर स्वयं आऊँगी।

ज्योत्स्ना के जाते ही बसन्त ने माँ से कहा—माँ, यह लोग बहुत ग़रीब हैं।

कौशिल्या—हाँ, ये लोग अभी हमारे पड़ोस में आये हैं। किसी समय इनका ज़माना बहुत अच्छा था बेटा! इसके पिता मनमोहन जी की मासिक आमदनी ढाई तीन सौ रुपये थी। यह ज्योत्स्ना बड़े ही लाड़ प्यार में पाली जाती थी। पर इन लोगों का वह सुख यकायक ग़ायब हो गया। इसके पिता मनमोहन जी खुलकर देश का काम करने लगे। सब आमदनी बन्द हो गयी। कष्ट पर कष्ट आये। इस बार क़रीब नौ माह हुए पकड़ कर जेल में डाल दिये गये थे। उन पर राजनीति का मुक़दमा चलने लगा था। पर चार मास के भीतर ही उनका स्वर्गवास हो गया। यह जो छोटा बच्चा है उसका जन्म भी तब नहीं हुआ था। पाँच मास का पेट में था। अभागे ने अपने देशभक्त बाप मनमोहन जी का मुंह तक न देखा। अब ये माँ बेटी इसी तरह सिलाई व दस्तकारी करके किसी तरह गुज़र कर रही हैं।

बसन्त ने कहा—मनमोहन जी! तब तो मैं इनके पिता के बारे में बहुत कुछ जानता हूँ माँ! देशभक्तों के बारे में जानना मैं भी अपना कर्तव्य समझता हूं।

ज्योत्स्ना ने यह सब सुन लिया।

वह घर आई—हृदय में एक भारी तूफ़ान लेकर। अपने को एक छोरविहीन दरिया में बहते हुए पाया जहाँ कोई सहारा ही नज़र न आता था। बसन्त के सहानुभूति के शब्दों ने उसके दिल पर बहुत असर डाला।

दिन भर उसका जी उचटा उचटा रहा। किसी काम में मन न लगा। रात में भी बहुत देर तक उसे नींद नहीं आई। उसके कानों में बसन्त के मधुर स्वर गूंज रहे थे। आँखों में वही सुन्दर सूरत झूल रही थी। पर यह ग़रीब है, वह धनवान है। उस बाला का मन एक वेदना से कराह उठा। माँ के सो जाने पर ज्योत्स्ना धीरे धीरे उठी और छत पर जाकर आकाश की ओर देख बोली—मेरे पिता ने कोई बुरा काम नहीं किया। देशभक्ति मनुष्यमात्र का परम कर्तव्य है। इस कर्तव्यपालन करने वाले के प्रति हमारी श्रद्धा होनी चाहिए, हम में त्याग का भाव होना चाहिए। क्या उनमें ऐसा ही भाव है?

उसे पता न था कि दूसरी छत पर किसी ने उसके इन शब्दों को कितनी प्रसन्नता के साथ सुना।

× × ×

बसन्त फ़र्स्ट डिवीज़न एम० ए० पास हो गया। लाला जी के घर में आज आनन्द का वारापार नहीं, माता पिता सभी बहुत प्रसन्न हैं।

यह ख़बर सुन ज्योत्स्ना के दिल में भी विशेष प्रसन्नता का संचार हुआ। उसे क्यों ऐसी ख़ुशी हुई, इसका उत्तर वह बार बार अपने मन से पूछती है पर उसका मन क्या उत्तर देता? बात तो हृदय की थी।

रात में सोते समय लाला जी ने कौशिल्या से कहा—बसन्त एम० ए० पास हो गया, अब उस की शादी ज़रूर करनी चाहिए।

कौशिल्या ने स्वामी की बात का समर्थन करते हुए कहा—हाँ, उसकी शादी हो जाय, एक यही मेरी भी अवशेष लालसा है।

'तो फिर कल जज साहब, श्रीकान्त, के पत्र का उत्तर दे दूँ? उन्होंने कई बार पत्र लिखा।'

कौशिल्या—किस बात का उत्तर?

लालाजी—यही बसन्त की शादी के लिए।

कौशिल्या—वह अपनी लड़की गिरिजा से करना चाहते है?

लालाजी—लड़की तो तुमने देखी है?

कौशिल्या—हाँ, देखने में लड़की बहुत सुन्दर है। किन्तु मुझे वहाँ की शादी पसन्द नहीं।

लालाजी कौशिल्या की बात से चौंक उठे; बोले—क्यों?

कौशिल्या—कुछ—यों ही।

लालाजी—नहीं, नहीं, साफ़ साफ़ कहो न। जब लड़की अच्छी है तो नापसन्द होने का क्या कारण?

कौशिल्या—लड़की देखने में अच्छी अवश्य है पर रूप ही तो नहीं देखा जाता। रूप का आकर्षण स्थायी नहीं हो सकता।

लालाजी—वह उदण्ड है, क्या?

कौशल्या—माता पिता के धन पर उसे अभिमान है और अपनी ख़ूबसूरती पर नाज़ है। इसी से स्वभाव तेज़ है। भला ऐसी लड़की के साथ क्या बसन्त सुखी हो सकेगा?

लालाजी—लेकिन अपने जोड़ की ऐसी रिश्तेदारी न मिलेगी। लड़की अच्छी, दहेज़ अच्छा। दस पन्द्रह हज़ार से कम नहीं मिलेगा। बसन्त चाहे तो अच्छा पद भी मिल जावेगा।

कौशल्या—उँह, ऐसी रिश्तेदारी लेकर क्या करना होगा कि जीवन दुखमय हो जावे! मेरे क्या नहीं है, जो मैं दूसरे के धन पर लोभ करूँ? यदि किसी ग़रीब की लड़की आयेगी तो इस बँगले की, मोटर की, धन दौलत की क़दर करेगी। जिसके घर में बचपन से ही इन सब का योग हो वह हमारे यहाँ आकर क्या नई चीज़ देखेगी? और ऐसी लड़की लेना ही जानती है, देना तो जानती ही नहीं। धनवान की बेटी के लिये कितने ही वर तैयार हैं। उसके फ़ैशन, नाज़, आदि के प्रशंसकों और स्वार्थी चापलूसों की कमी नहीं। ग़रीब की बेटी के लिये वर कहाँ, चाहे वह कितनी ही गुणवान क्यों न हो? और क्या यह तुम्हें नहीं मालूम कि बसन्त कितने उदार हृदय का लड़का है, उसके हृदय में ग़रीबों के लिये बेहद ममता है। जिसका दिल बनाव सिंगार और धन की ही ओर झुका है उसे वह नहीं चाहेगा। यह जानते हुए भी क्या हमारा यह धर्म है कि किसी जज साहब या और साहब की लड़की उसके जीवन के साथ बाँध दें? क्या बसन्त की सादगी को वह पसन्द करेगी? क्या वह बसन्त के साथ सब तरह सहयोग कर सकेगी? नहीं, मुझे तो इसका ज़रा भी विश्वास नहीं है।

कुछ देर लालाजी चुप रहे, फिर अन्यमनस्क भाव से बोले—अपनी हैसियत भी तो देखनी चाहिए।

कौशल्या—हाँ, हैसियत ज़रूर देखनी चाहिए, पर हैसियत के लिये यह जरूरी नहीं कि शादी-ब्याह धनी घर में ही हो।

इस बार लाला जी कुछ खीझ उठे। व्यंग के स्वर में बोले—तो फिर ज्योत्स्ना से ही न कर लो!

कौशिल्या—मेरा जी तो यही चाहता है। ज्योत्स्ना बड़ी ही सुशीला, निरभिमानिनी, समझदार और गुणी है। चार पांच वर्ष से उसको देख रही हूं जब वह ग्यारह बारह साल की निरी बालिका थी। पर आज तक उसमें कोई अवगुण न देख पाई। वह बड़ी ही..........

लाला जी बीच में ही बात काट कर बोल उठे—क्या बकती हो? भला ज्योत्स्ना का हमारा क्या संबंध? एक मिहनत मज़दूरी कर पेट पालने वाली की कन्या से बसंत का व्याह! असम्भव बात।

कौशल्या—नहीं, असम्भव तनिक भी नहीं। अभी चार दिन पहले जब ज्योत्स्ना के पिता जीवित थे तब उनकी हालत क्या थी? रुपये-पैसे से बड़प्पन या प्रतिष्ठा का आधार यह देश नहीं मानता था; अब मानने लगेगा तो बुराई ही होगी, यह स्पष्ट दिखाई देने लगा है। उन लोगों ने अच्छे दिन देखे हैं। हमेशा से ऐसे नहीं रहे। लक्ष्मी का क्या भरोसा? आज मेरे ही यहाँ से रूठ जाये तो हम क्या कर सकते हैं?

लाला जी—लेकिन........

कौशिल्या—लेकिन वेकिन की क्या बात है? मैं कहती हूं कि ज्योत्स्ना और बसंत की अनुपम जोड़ी होगी। इस घर में वह लक्ष्मी सी सुशोभित होगी। आपके सुयोग्य पुत्र की बधू होने के लिए मुझे ज्योत्स्ना में सभी योग्य लक्षण दीखते हैं। फिर ऐसा क्यों हो कि एक गुणवती कन्या के निर्धनी होने से उसे अपनाया न जाये? बसन्त धनवानों के धन को 'लूट का माल' कहता और समझता है। वह विरक्त होकर इस धन को किस तरह फेंक दे सकता है, यह भी तो सोचना चाहिए।

लाला जी इस बार कुछ गर्म होकर बोले—नहीं, नहीं, वहाँ शादी हर्गिज़ नहीं हो सकती। वहाँ शादी करके क्या अपनी बदनामी कराना है?

कौशिल्या—बदनामी क्यों होगी?

चिढ़कर लाला जी बोले—एक कंगाल के साथ शादी करके क्या बड़ाई होगी? बरात को ठीक तरह खाना-पीना तक तो मिलेगा नहीं? हमें तो कभी कुछ मिलेगा ही क्या? मिलने जुलने वाले बड़े आदमी अलग चिढ़ जावेंगे।

कौशिल्या—मुझे उन बड़े आदमियों से मिलने वाली नेकनामी बदनामी से मतलब नहीं। मैं अपना लड़का व्याहूँगी, उनकी समाज का नहीं।

लाला जी—तुम्हें मतलब नहीं, मुझे तो है। मैं तो उन्हीं की समाज का हूँ। वहाँ शादी हर्गिज़ नहीं होगी।

कौशिल्या—लेकिन मेरी समाज तो वही है जो ज्योत्स्ना, उसकी माँ और उसके पिता की है।

'मेरी समाज वह नहीं है।' लाला जी की यह बात सुनकर कौशिल्या ने उस समय चुप रहना ही उपयुक्त समझा। पर उसका दिल ज्योत्स्ना को पुत्र-बधू बनाने को और भी लालायित हो गया।

× × ×

अभी अभी बसन्त सोकर उठा तो उसके कानों में यह शब्द पड़े—'बहिन, सुशील और गुणवती होने से क्या लाभ, जब भाग्य ही खोटा है।' स्वर बड़ा ही करुण था।

बसन्त चौंक उठा। आवाज़ों से उसने समझ लिया कि बगल के कमरे में उसकी माँ और ज्योत्स्ना की माँ फूलबाला बातें कर रही हैं।

बसंत उत्सुक होकर सुनने लगा।

कौशिल्या देवी स्नेह भरे स्वर में बोली—ऐसा न कहो बहिन! वह लक्ष्मी है, बहुत समझदार और सीधी सादी है।

फूलबाला—हाँ, यों तो वह बहुत समझदार है, जब से उसके पिता का अंत हुआ तभी से यह देख समझ रही हूँ। आज तक किसी चीज़ के लिए उसने ज़िद नहीं की। दिन रात परिश्रम करके भी वह ऐसी संकोच प्रकट करती है मानों कहती हो, कुछ भी नहीं किया, सारी दुनिया का काम मैं करलूँ और माँ

तथा भाई के कष्ट हरलूँ; पर उसकी विवाह की बात सोचती हूँ तो कलेजा फटने लगता है।

ज्योत्स्ना का विवाह!

बसंत का हृदय जोरों से धड़कने लगा।

कौशिल्या—कहीं बातचीत की है बहिन?

फूलबाला—एक लम्बी सांस लेकर बोली—हाँ, यहाँ के जो लाला मनोहरदास हैं उन्हीं……।

कौशिल्या—उनके लड़के से?

इस बार फूलबाला रो उठी। रोते रोते बोली—उनके लड़के तो सब व्याहे हैं और बाल बच्चे वाले हो रहे हैं।

कौशिल्या—तो ख़ुद उन्हीं से! वे अब फिर विवाह करना चाहते हैं?—'अंग शिथिल हो गये, पर मन शिथिल न हुआ!' उनके साथ ज्योत्स्ना के विवाह की बात सोचना भी पाप है!

फूलबाला—पाप! किसका पाप? इस समाज का, इस देश का, नीच, स्वार्थी युवकों का, जो मेरे परिवार और इस लड़की को ऐसी उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं या मेरा? किसका पाप है बहिन, यही तो मैं पूरी तरह समझ नहीं पाती। और देशों में तो देश-भक्त परिवार के साथ या किसी भी लड़की के साथ ऐसा अन्याय नहीं हो सकता।

कौशिल्या—सिवा तुम्हारे और तुम्हारे ऐसे परिवारों के हम सबका पाप है! हिन्दुस्तानी रियासतों तक में समाज-सुधार के—अनमिल विवाह, वृद्ध-विवाह और दहेज के विरुद्ध—क़ानून बन गये। यहाँ जूं नहीं रेंगती।' और उसने अपनी आँख का आँसू पोंछ डाला।

फूलबाला—ज्योत्स्ना का मुख देखती हूं तो कलेजा मुंह को आ जाता है। कहाँ पाऊँ इस अभागी के लिए योग्य वर? कौन मुझ निर्धन और उपेक्षित के घर सम्बन्ध करने को राज़ी होगा? कौन सम्पन्न पिता अपने योग्य पुत्र को मुझ निर्धन की बेटी से व्याहेगा! इस समाज में कौन ऐसा है जो मेरी बेटी के गुण देखेगा? चारों तरफ़ से 'लड़की सयानी हुई, व्याह दो—चाहे जिसे व्याह दो—बुड्ढे से, रोगी से, किसी से व्याह दो'—बस ऐसी आवाज़ें आती हैं। मनोहरदास ने हमारी ग़रीबी पर दया करके ही लड़की का उद्धार और मेरे परिवार भर का उद्धार करने के उच्च विचार से यहाँ अपना विवाह करने की कृपा करनी चाही है!

कौशिल्या चुप रही। उसके हृदय में यह जान कर बड़ी व्यथा थी कि इस फूल सी सुकुमार नव बाला से वह जर्जर बूढ़ा ब्याह करना चाहता है! अब उस पर उसे क्रोध आया और घृणा हुई समाज भर के प्रति और साथ ही ज्योत्स्ना के प्रति उसका ममत्व भीतर ही भीतर उमड़ पड़ा। गला भर आया। वह कुछ बोल न सकी।

ज्योत्स्ना उसको बहुत भाई है; वह सुशीला है, उसमें दया-क्षमा का भाव भरा हुआ है, वह धन को सार्थक कर सकती है, पति को सच्चा प्रेम दे सकती है, सच्चे अर्थ में उसकी जीवनसंगिनी हो सकती है। उसे पाकर उसका परिवार सफल हो सकेगा। ठीक तरह सफल हो सकेगा!

फूलबाला फिर बोली—कौन जानता था कि ये दिन भी देखने होंगे? क्या मालूम था कि इसके पिता इतनी जल्दी चल बसेंगे! वह ज्योति को कितना चाहते थे। ज्योति सचमुच उनके आँखों की ज्योति थी। उन्होंने ही उसे अपने ढंग से दीक्षा-शिक्षा दी थी! वह चले गये। मैं इसका बलिदान संकीर्ण स्वार्थ में सने और क्षुद्रता का बड़प्पन समझने वाले समाज की बलि-वेदी पर करने के लिए जीवित हूँ!' इतना कह फूलबाला फूट फूट कर रो उठी। उसका हृदय अगाध वेदनाओं, अपमानों और यंत्रणाओं से भरा हुआ था।

कौशिल्या सान्त्वना भरे स्वर में बोली—रोओ मत बहिन! जब तक यहाँ ऐसे ऐसे स्वार्थी और ऐसी सड़ी समाज-पद्धति मौजूद हैं तब तक एक हमारी ही ज्योति नहीं वरन् सैकड़ों ज्योति का प्रतिदिन बलिदान होता है। रोओ मत, रोना इसका इसका इलाज नहीं है।

[शेषांश अन्त में]

विचार-तरङ्ग

श्री चारवाक

"उनका भारत"

उनके भारत के गण्यमान्य लोग दो वर्गों में विभाजित हैं। ये दो वर्ग अथवा कक्षा या दल भारतीय चक्की के दो पाट हैं। इञ्जिन के दो पत्थरों के बीच इस देश की जनता गेहूं सी पीसी जाती है और उसी से लोगों की उदर पूर्ति के लिये आटा तैयार होता है।

एक वर्ग (इस चक्की का नीचे का पत्थर) है—राजे, महाराजे, नवाब, रईस, ज़मीन्दार, महाजन, सेठ-साहूकार, बड़े पूंजीपति, मुल्ला, पुजारी, पण्डे, पण्डित, महन्त, सन्यासी, फ़क़ीर इत्यादि। और दूसरा वर्ग (चक्की का ऊपर का पाट) है—इस साम्राज्य की शक्ति, शासनकर्ता, शासकों के अनुचर, कर्मचारी, विदेशी पूंजीपति, कारख़ानों के मालिक, और विदेशी तिजारती लोग।

प्रथम वर्ग के अधिकांश लोग वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट हैं। धनी लोग और पूंजीपति कहते हैं, हम कुबेर के वंशज हैं, इस देश की समृद्धि के लिये धन कमाते हैं। राजे महाराजे कहते हैं, हम विष्णु के अवतार हैं, सूरज और चांद के वंशज हैं। भारत की प्राचीन शासन शक्ति और राजत्व के उदाहरण व साक्षी हैं। तालुक़ेदार, नवाब और रईस लोग कहते हैं—हम जनता के जन्मसिद्ध पथदर्शक नेता हैं! महन्त, पुजारी, पण्डित, पण्डे, सन्यासी, फ़क़ीर, मुल्ला लोग कहते हैं—हम भारतवर्ष के धर्म के स्तम्भ और रक्षक हैं, भारत की संस्कृति और कीर्ति की पताका फहराते हैं।

दूसरे वर्ग के लोगों में से इस साम्राज्य की शक्ति का कहना है—हम इस देश की रक्षा करते हैं, अन्य धन लोलुप राष्ट्रों को भारत को हड़पने से रोके हुये हैं। इस शासकवर्ग का कहना है—हम देश में अमन क़ायम किये हैं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं। एक जाति को दूसरी पर आतंक व जुल्म करने से रोकते हैं। एक दूसरे को परस्पर लड़ने नहीं देते। सबसे समानता का व्यवहार करते हैं। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच के साथ समान न्याय करते हैं। सबके अपराधों के लिये एक सा दण्ड देते हैं। विदेशी पूंजीपति और कारखानों के मालिक तथा व्यापारी लोग कहते हैं—हिन्दुस्तानी धनी लोग अपने धन को ज़मीन के नीचे गाड़े रखते हैं। उसका उपयोग तिजारत या शिल्पीय कारखानों में लगाकर नहीं करते। हम अपना द्रव्य लगाकर पुतलीघर, कारख़ाने, शिल्पशाला खोलते हैं। यहाँ के ग़रीब मज़दूरों को मज़दूरी देकर उनसे काम लेते हैं। यहाँ उनकी उदरपूर्ति का साधन देते हैं। यहां का अनाज व कच्चा माल विदेशों में भेजते हैं और उसके बदले वहाँ से बना बनाया माल यहाँ के लोगों के इस्तेमाल के लिये लाते हैं। हमारी पूंजी इस देश की रेल, तार सड़क, पुल इत्यादि पर लगी है। हम भारत की सरकार को इन यातायात के कामों के लिये रुपया क़रज़ देते हैं। रेलगाड़ी व सड़कों के द्वारा एक सूबे से अनाज दूसरे प्रदेश में फ़ौरन् पहुंच जाता है। देश की हिफ़ाज़त के लिये सिपाही भी इन्हीं साधनों के द्वारा फ़ौरन् ज़रूरत के वक्त जहाँ ज़रूरत हो पहुंच जाते हैं। हिन्दुस्तान में ऐसी एकता भी इसी आने जाने के सुभीते के कारण हुई है।

उपरोक्त दो वर्गों के सदस्यों का चोलीदामन का साथ है। वे एक दूसरे के सहकारी, सहयोगी और मददगार हैं। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। वास्तव में वे दोनों वर्ग उनके भारत के अंग प्रत्यंग हैं। इन दोनों वर्गों को एक ही वर्ग, शोषणशक्ति, कहा जाय तो उपयुक्त होगा। एक के बिना दूसरे का काम कैसे चले? नीचे के पाट पर

ऊपर के पाट का दारमदार है और नीचे का पत्थर ऊपर वाले पत्थर की सहायता के बिना टिक नहीं सकता।

पहले वर्ग का वह भाग, जिसको गौरव के साथ उनके भारत के लोग, भारतीय भारत (इण्डियन इण्डिया) कहा जाता है, यह समझता है कि भारत-वर्ष का जनसमूह, ज़मीन, धन, रत्न सब उसी वर्ग के ऐशोआराम, ऐश्वर्य और उपभोग के लिये हैं। दूसरा दल कहता है, हम अपनी 'सेवा' के एवज़ में भारत-शोषण करते हैं। उसकी रक्षा, शासन और सम्वृद्धि के लिये अपना ख़ून और पसीना बहाते हैं। इसके बदले तनख़ाह और मुनाफ़ा लेते हैं। दोनों दल जानते हैं कि भारतीय जनता में यथेष्ट जाग्रति और सार्वजनिक शिक्षा के प्रसार से उनकी शोषणशक्ति में अड़चन पड़ेगी। अतः जनता की मानसिक और शारीरिक उन्नति करना उनका ध्येय कैसे हो सकता है ? उनको स्वाथ के लिये देश व समाज की वर्तमान अवस्था की ही रक्षा करना नितान्त ज़रूरी है।

"उनका भारत" क़ाबिले तारीफ़ चीज़ें रखता है। वे संसार का ध्यान इस देश के प्राकृतिक सौन्दर्य-पर्वत, नदी, मठ, मन्दिर, मसजिद, मक़बरे, विशाल भवन, प्रासाद, ताज सरीखे दर्शनीय दृश्यों—की ओर आकर्षित करते हैं। भारतवासियों के अनोखे रीति-रिवाज व रस्म, विचित्र आभूषणों इत्यादि को क़ायम रखना वे अपना कर्तव्य समझते हैं ताकि "उनका भारत" संसार के लिये एक अजायब घर बना रहे। शासकों का कहना है—यदि हम न हों तो यहाँ की मूढ़ जनता भारत के वैभव के स्तम्भों को चकना-चूर करदे, देश की काया पलट दे, हिन्दुस्तानी आपस में कट मरें। जात पात, धर्म-कर्म पर आघात होने लगे। और अन्त में भारत की ये विशेषतायें, सब ख़ूबियां संसार से लोप हो जायँ !

प्रथम श्रेणी के लोग कहते हैं—भारतीय समृद्धि और संस्कृति के संरक्षक, पोषक, प्रदर्शक और गुण-ग्राहक हम ही हैं। उनका कहना है, उनके पूर्वज गंधर्व विद्या, नृत्यकला, चित्रकला, शिल्पकला इत्यादि को अपने प्रासादों में आश्रय देते थे। उनका भरण-पोषण, रक्षा करते थे। अब नवीन सभ्यता को अपना कर संसार की सभ्य जातियों को वे जताना चाहते हैं कि नई रोशनी, नवीन सभ्यता की दौड़ में किसी से कम नहीं। अस्तु, ये बढ़िया से बढ़िया, बेश क़ीमती, सैकड़ों मोटरें रखते हैं। बड़े बड़े महल आनन फानन में तय्यार करवाते हैं जिनमें गरमी की मौसम में शरदी और जाड़े की ऋतु में तपिश मशीन और यन्त्रों के द्वारा, लाखों रुपया लगाकर उत्पन्न करते हैं। यानी लक्ष्मी के बल से सृष्टिकर्ता की निर्माण की हुई ऋतुओं के प्रभाव तक को बदल देते हैं। पुरानी पौराणिक और मजहबी तसवीरों के बदले पाश्चात्य चित्र, प्राकृतिक और शारीरिक सौन्दर्य को दर्शाने वाले ये अपने महलों में सजाते हैं। इनके पूर्वज अपने धन को दान-पुण्य, तीर्थ-यात्रा, यज्ञ, औषधालयों, विद्वानों की पाठशालाओं आदि में लगाते थे। महाराजा श्रीहर्ष प्रति वर्ष अपने साम्राज्य की सारी आय को प्रयागराज (इलाहाबाद) जाकर दान-पुण्य में ख़र्च कर दिया करते थे। अब उनके उत्तराधिकारी अपनी आय को विलायत यात्रा, हौलीउड, मोटर, सिनेमा, डांस इत्यादि इत्यादि मनोरंजन के साधनों में, बड़े बड़े शासनकर्ताओं की आवभगत, ख़ातिरदारी और दावतों आदि में ख़रच करते हैं।

क्या लोग इन दो वर्गों के ऐशोआराम, शानो-शौक़त और वैभव के साधन जुटाने को ही जन्मे हैं ?

अब समय आगया है कि हमारी भी सुध ली जावे। हमारी ओर भी देखा जावे। भारतीय जनता जीती है—वह भी इस दुनिया का रंग ढंग समझने लायक़ हो रही है। लोगों को यह महसूस करना चाहिए कि भारतीय जनता में जान है; शक्ति है। वही भारत की असली शक्ति और पूंजी है। बिना किसी परोपकारी शक्ति की सहायता और प्रोत्साहन के 'उनके भारत' की जनता का उत्थान नहीं हो सकता, न वह संसार के जन समूह की किसी तरह सहायता ही कर सकती है। पर हमारा भारत ऐसा नहीं है। काश कि शीघ्र "उनका भारत" "हमारा भारत" बन सकता ! बनेगा अवश्य। आज न सही तो कल।

मुझे जाने दो

अख़्तरहुसेन रायपुरी

"मुझे जाने दो"—उसने कहा। और जब तक मैं उसे रोकूं, वह हाथ छुड़ा कर जा चुकी थी। अँधेरे में उसकी आँखों की एक झपक और चौखट पर पायल की एक झनक सुनाई दी। वह चली गई और मैं कोठरी में अकेला रह गया।

मैं वहां जाना न चाहता था। कई बार मैं उस मकान के सामने से गुज़रा था और शाम को कुछ जवान लड़कियों को उसके आगे खड़ा पाया था। जाड़े की रातों में बांह-खुले जम्पर पहिने यह छोकरियां राहचलतों को लुभाने की जुगत किया करती थीं। कोई भी आँखों वाला पौडर की लाली में स्त्रीत्व के लहू की झलक देख सकता था। उनके शरीर का हर रोवां थरथरा कर कह रहा था—'हमें ले लो, एक रुपये के बदले'!

इनमें से कोई सिगरेट का धुवां बड़ी नज़ाकत से किसी रंगीले के मुंह पर फूंक देती थी और कोई मनचली किसी बेडौल मारवाड़ी के जूते पर पान की पीक थूक देती थी। जब वह पलट कर देखता तो लड़कियाँ आँख मार कर खिलखिला पड़ती थीं। उनकी हर अदा से यह बात निकलती थी—हमें ले लो, एक रुपये के बदले!

ट्रामों और मोटरों पर सम्भ्रान्त महिलाओं के खेप के खेप गुज़रा करते थे। इन टकैती वेश्याओं पर निगाह पड़ते ही यह देवियाँ भौं चढ़ा कर दूसरी ओर देखने लगती थीं। इन कलमुहीं कलङ्क-कुमारियों का सत्यानास हो! चंद टकों के लिए, शराब की एक बोतल या सिगरेट की एक डिबिया के लिए अपना तन हर ऐरे-ग़ैरे को सौंपते इन्हें कोई सङ्कोच नहीं होता। और हम?—फिर वे अपने पतियों को याद करने लगती थीं, जिन्होंने उन्हें ऊंची हवेलियां, रेशमी सारियाँ और छः छः बच्चे भेंट किये थे!

इस वेश्यालय के समीप एक छोटी सी काली-बाड़ी थी। उसकी काली-कलूटी और नंग-धड़ंग देवी अपनी पथराई हुई आँखों से दुनिया का तमाशा देखा करती थी। शाम को जब आरती शुरू होती और निर्बोध कुमारियां उसके आगे नाचने लगतीं तो मिट्टी के दियों की धुंधली जोत में उसका राग-रूप अधिक भयावह और रहस्यमय हो जाता। भान होता कि औरत की आत्मा काला कफ़न ओढ़े हुए अपनी समाधि से उठी है और पल भर में मर्द को कुचल कर रख देगी। जो लोग दर्शन के लिये आते, हाथ बाँधे हुए ललचाई हुई दृष्टि से इन नर्त्तकियों को ताका करते थे। जब वे आँख उठा कर भी न देखतीं, तो वे बेधड़क उन वेश्याओं को घूरने लगते जो पुजारी के डर से सीढ़ी के पास सिर झुकाए खड़ी रहती थीं।

इनमें से एक का हाव-भाव सब से निराला था। उसके मन को पूजा की महिमा का ज्ञान न था। वह सिगरेट पीती हुई लापरवाही से आरती का तमाशा देखती और रह रह कर कीर्तन की लय पर पैरों से टेक देने लगती थी। जब कोई बूढ़ा अपनी घटी हुई आवाज़ से संगीत को बेसुरा कर देता तो वह खिलखिला कर हँस पड़ती और पनवाड़ी को पुकार कर कहती—'अरे, ज़रा सी सुरती तो बनाना।' और पूजा के गीत देर तक पङ्खहीन पतिंगों के समान तड़फा करते थे।

जब मैंने पहिली बार उसे, देखा तो मेरा दिल डरा, झिझका और आप ही आप उसकी ओर झुक गया। मैं भागते भागते भी उसके निकट पहुंच गया।

पर उसने अनमनेपन से मुझ पर उचटती हुई दृष्टि डाली और अपनी एक सखी से पूछने लगी—"अरी, उस लँगड़े से कितने ऐंठे?"

अब मैं हर शाम को उस फुटपाथ पर से गुज़रने लगा। जब वह बाहर खड़ी होती, तो कुछ हैरानी से मेरी ओर देखती और फिर होठों होठों में मुस्कुरा कर अपनी सहेलियों से बातचीत करने लगती। कभी वह वहाँ नहीं भी होती थी और मैं समझ जाता था कि वह कहां है। दिल पर चोट सी लगती, रगों में लहू तेज़ी से बहने लगता और माथे पर पसीने की बूंदें आ जातीं। दूर हट कर लैंप के खंभे का सहारा लिए घंटों खड़ा रहता था—इतनी देर कि पैर सुन्न हो जाते थे। मैं यों ही टकटकी बांधे उस फाटक को ताकता रहता था। समाज के बहुतेरे धनी-धोरी उसके अन्दर से निकलते और दाहिने बायें देखकर लपकते हुए भीड़ में गुम हो जाते थे। लम्बी लम्बी चोटियों और घनी डाढ़ियों वाले बीसियों सदाचारी इस चकलाघर से बरामद होकर भीगी बिल्लियों के समान पंजे दबाये भागते नज़र आते थे।

मुझे याद है कि मैंने उससे बातचीत करने का साहस कैसे किया था। उस दिन मैं एक प्यारे दोस्त को समाधिस्थ करके लौटा था। वह घुल घुल कर मर गया क्योंकि इलाज के लिये रुपये न थे। जब वह मर गया तो हमने उसे मिट्टी के नीचे दबा दिया। गोया आदमी समाज की समाधि में चांदी के ढेलों के नीचे दब गया और उसने मरते मरते कहा—"मेरी पीप तुम्हारी देह को सड़ायेगी, मेरे आँसू तुम्हारी हड्डियों को गलाएँगे, मेरा ख़ून तुम्हारी रगों को गरमायेगा।"

जब मैं क़ब्रिस्तान से लौटा तो विवेक की जगह कोई चीज़ भांय भांय कर रही थी। दिया जले न जाने किसने मुझे उस कोठे के आगे पहुँचा दिया। और मैंने बे कुछ कहे सुने हाथ पकड़ कर उसे अन्दर घसीट लिया।

कड़वेपन से एक एक शब्द को चबा कर वह बोली—कालीबाड़ी के पीछे की गली में कल्लाल की दूकान है, वहां से ठर्रे का एक अद्धा तो ले आना।

जादू से बँधे हुए ग़ुलाम की तरह मैं कल्लाल की दूकान में घुसा जो मिट्टी के बड़े बड़े मटकों से अटाटूट भरी हुई थी और उनकी ताड़ी व सेंधी में मक्खियाँ और मकोड़े तैर रहे थे। अन्दर मतवाले गा रहे थे—

"एक शा नम्बर वन का···आ—बहा दे नाला"

मैंने जल्दी से एक अद्धा ख़रीदा और दोअन्नी की चाट—चटपटी, मसालेदार।

उसने देखते देखते मुंह लगाकर आधी बोतल ख़ाली कर दी। फिर चुपचाप एक सिगरेट सुलगाया। और अपने पाँव फैलाकर टूटी हुई आराम कुर्सी पर लेट गयी।

एकाएक वह ज़ोर से हँसी और मुझ पर आँखें गाड़ कर पूछा—"तुम यहाँ क्यों आये हो?"

हवा बन्द थी। खिड़की से आकाश का एक छोटा सा टुकड़ा नज़र आ रहा था, जिसमें दो तीन तारे चमेली के फूलों के समान खिले हुए थे।

मैंने कोई जवाब न दिया। ऐसे सवाल का जवाब भी क्या हो सकता था?

"बोलते नहीं? मैं पूछ रही हूँ कि तुम यहाँ किस लिये आये हो? मुझे उस मर्द से घिन आती है जो औरत के पास बैठकर अपना मतलब आँखों आँखों में बयान करता है और उस घड़ी की प्रतीक्षा करता है जब तंग आकर औरत ख़ुद अपने मुंह से पूछेगी कि तुम चाहते क्या हो?"

उसने बोतल की बची हुई शराब भी अपने गले के नीचे उतार ली और सिगरेट का एक कश लेकर बाहिर देखने लगी। मेरे मुंह पर चुप्पी की मुहर लगी हुई थी। ख़ुद मुझे भी नहीं मालूम था कि यहां क्यों आया हूँ और चाहता क्या हूँ।

फिर वह उठकर कमरे में टहलने लगी। टहलते टहलते आईने के आगे रुक गयी और उसमें अपनी सूरत देखने लगी। जब वह दोबारा हँसी तो ऐसा लगा कि कोई मुर्दा हँस रहा है।

"यह मेरी ही सूरत है। अगर मैं पौडर, काजल और लाखे को धो डालूं तो क्या रह जाये—पिचके हुए गाल, सूखे हुए होंठ, धँसी हुई आँखें! तीन साल में क्या से क्या हो गया। मेरे बदन को घुन लग

चुका है। मैं अन्दर से खोखली हो गयी हूँ। मुझे ऐसे ऐसे रोग लग गये हैं जिनकी कल्पना मात्र से तुम सहम जाओगे और यहाँ एक क्षण भी न ठहरोगे।"

देर तक वह कुछ सोचती रही। अब उसका मुंह क्रोध के मारे तमतमाने लगा। मुझे घूर कर वह गरज उठी—"और यह रोग मुझे कहां से लगे? यह तुम जैसे चाहने वालों की ही भेंट है। मर्द?—सूज़ाक और आतशक के कीड़ों का बाप?

'तुम अभी इस कुंज-गली की रीति-रस्म को नहीं जानते। यदि तुम्हें अपने दूसरे भाइयों की तरह मालूम होता कि औरत मिट्टी का एक खिलौना है और बस—तो तुम आते ही उसे तोड़ देते—इस प्रकार अचम्भे और घबराहट से मुझे न ताका करते फिर भी तुम उन लोगों से अच्छे हो जो भूखे भेड़िये के समान देखते ही हमारे सीनों पर आते हैं, हमें कुत्तों के समान भँभोड़ते हैं और हमारे पल्लों में दो चार टिकल्लियाँ बाँधकर चले जाते हैं।

'फिर बाड़ी वाली आती है।' गाँठ से एक एक छदाम निकाल कर ले जाती है और इसके बदले खाने के लिए रोटियां और सिंगार के लिये काजल की सलाई दे जाती है।

'दिन के उजाले में जब भूले-भटके तुम्हारा इधर से जाना होता तो आकाश की ओर नाक उठाकर कहते हो कि 'यहाँ व्यभिचार है। इन टकैती वेश्याओं को स्त्रीत्व की लेशमात्र लाज नहीं। इन्हें शहर से निकाल देना चाहिये।

'पर रात के अँधेरे में तुम चुपके चुपके आते हो और मानवता के इस मरघट को आबाद करते हो। मुंह काला करके अपनी हराम की कमाई की चन्द कौड़ियां हमें थमाते हो और फिर अपने रनवास को यह चिंता लिये हुये भागते हो कि—श्रीमती तो क़ुशलपूर्वक हैं!"

वह हाँफने और खाँसने लगी। उसकी साँस फूल गयी और वह चारपाई पर गिर पड़ी। उदासी से उस काजल की कोठरी को निहार कर वह धीरे धीरे कहने लगी—अधिक देर नहीं है। कोई कानों में कह रहा है कि इस नाटक पर शीघ्र परदा गिर पड़ेगा। अब तो सब कुछ सपना जान पड़ता है।

'जब मैं मर जाऊँ और मेरी लाश अनाथों के विस्मृत्तिगर्त्त में फेंक दी जाये तो तुम अलीगढ़ के मौलवी— से मिलना। उस समय उनके पास जाना जब वे मस्जिद के सुखासन पर अड्डा जमाये नैतिकता की महिमा बखान रहे हों। और जब वे नारी की कुचाल पर चोंच खोलें तो आगे बढ़कर कहना—मौलवी साहिब, अब आप अनैतिकता की जान को अधिक न रोवें, क्योंकि, कलकत्ते में उस बेचारी की अकाल मृत्यु हो गयी।

'और जब सब बुड्ढे नमाज़ी ऐनकें खिसका कर और डाढ़ियां फर्रा कर तुम्हें घूरें कि क्या बकता है तो कहना—मैं आपकी बेटी की शवयात्रा का तमाशा देखकर आ रहा हूँ—वही जिसे एक 'हरामी' बच्चा पैदा करने के अपराध में आपने घर से निकाल दिया था, जिसे समाज ने आश्रय देने से इनकार करके वेश्या बनने के लिये लाचार कर दिया। समाज-सेवा का बदला उसे घिनौने रोगों के रूप में मिला और जब वह मर गयी तो एक मुल्ला ने उसकी लाश पर अल्लाह मियां का गुणगान किया।' जब तुम यह कह चुकोगे तो लोग तुम्हें बहुत पीटेंगे, पर अपने प्रेम के नाते इतना कष्ट उठा लेना।'

मेरा दिल बैठा जा रहा था। मैं चाहता कि वहां से भाग जाऊँ पर पैरों में जैसे ज़ंजीर पड़ गयी थी।

वह फिर खांसने लगी। जब उसका जी था कुछ सँभला तो वह फूट फूट कर रोने लगी—"तुम लोग जानवरों पर दया करते हो। उन्हें कोई सताता है तो सज़ाएँ देते हो। साँडों और बन्दरों का मनुष्यों से अधिक सत्कार करते हो। पर औरत?—आह, औरत पर इतना अत्याचार क्यों करते हो? और स्त्री पत्नी बनकर पुरुष से अधिक वेश्या से घृणा करती है। वह नहीं जानती कि वेश्या न हो तो

पुरुष की बर्बरता किसी स्त्री के सतीत्व को ठिकाने न रखेगी।"

अब हवा चल रही थी, और ताड़ के पत्ते दर्द-भरी आवाज़ में कराह रहे थे। सड़कों पर ट्रॅमों और मोटरों का शोर कम हो गया था। हां, इक्के-दुक्के रिक्शा की घंटी कभी-कभी बज उठती थी। बादलों ने आकाश के उस टुकड़े को घेर लिया था और इनमें कभी कभी बिजली चमक उठती थी।

वह फिर बोलने लगी—"मैंने केवल एक बार प्रेम किया है और अब भी इस मोह में मग्न हूं कि वह प्रेम अकपट था। यह मोह कभी न टूटेगा क्योंकि प्रेम-परीक्षा से पहिले ही वह मर गया। वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर किस आतुरता से मुझे देखता था। उसी की याद संसार में मुझे सबसे प्यारी है। मैंने सब कुछ उसे सौंप दिया और इससे पहिले कि वह इसकी क़ीमत लौटाये, प्लेग में मर गया। उसने मुझे जो बच्चा दिया, वह 'हरामी' था। काश, हमारे प्रेम को नैतिकता की मोहर मिल जाती और उस बच्चे की जान बच जाती।"

इन भूली हुई बातों की याद से उसका दिल भर आया और रोते रोते उसकी हिचकी बँध गयी। मेरी समझ में न आया कि उसे किस तरह दिलासा दूं। जिस माँ के आगे उसके बच्चे की लाश पड़ी हुई हो और जिस औरत के आगे उसके प्रीतम की अर्थी, उसे सन्तोष देने का ढब कोई भाषा पैदा नहीं कर सकती।

जैसे वह अदालत के आगे बयान दे रही हो। "मेरी सौतेली माँ ने अन्धेरी रात में उस बच्चे को आँगन में ज़िन्दा गाड़ दिया। बिछौने पर लेटे लेटे बिजली की रोशनी में मैंने यह हृदयबेधक दृश्य देखा और फिर चीख़ कर बेसुध हो गयी।

'एक दो सप्ताह बाद सौतेले मामा ने मुझे गाड़ी में बिठाकर इलाहाबाद का टिकट थमा दिया। दूर के एक सम्बन्धी का घर.....बलात्कार.....बदनामी का डर और घर निकाला.....कलकत्ता........ यह चकलाघर—"

अस्फुट स्वर में वह यह उखड़े हुए शब्द दोहराती रही और पल भर के लिये उसकी आँख झपक गयी।

मैं दबे पाँव उठा और निकल भागने के इरादे से जूते पहिनने लगा। इतने में वह चौंक कर उठ बैठी: "क्या तुम जा रहे हो?" उसने उदासी से पूछा। अब उसकी आवाज़ निढाल पड़ गयी थी।

मैं खड़ा का खड़ा रह गया। अब भी कुछ न कह सका। "अच्छा तो जाओ। अब न आना। मैं तुम से बदला लेना नहीं चाहती। और कोई होता तो ख़ुशी ख़ुशी सुज़ाक का उपहार देती, वह किसी और को देता, फिर यह विष उसके बच्चों में जाता। धीरे धीरे सारी दुनिया इन विषैले रोगों का शिकार हो जाती। तब शायद समाज के ठेकेदारों को होश आता कि इस विष-वृक्ष की जड़ कहां है।

'कभी कभी आकर पूछ जाओगे कि मेरे मरने में कितनी देर है? कोई भरी जवानी में मरता है तो लोग दुख मनाते हैं कि जीवन ने इसे अभी दिया ही क्या था। पर मुझे देखो कि जीवन से मौत के सिवा और किसी चीज़ की भीख नहीं मांगती। तुम क्या जानो कि हम आप अपनी दृष्टि में कितनी पतित हैं। हम ऐसी लौंडियां हैं जिनके मालिक हर रोज़ बदलते हैं।—क्यों, किस ध्यान में गुम हो गये? जाओ, ईश्वर के लिये चले जाओ।"

तब भी मैं न जा सका। मुझे उससे कुछ नहीं लेना था, फिर भी पङ्खबद्ध पक्षी के समान अपने स्थान से न टल सका।

"मैं नहीं जाऊँगा"—यह कहकर अपना सिर मैंने उसकी गोद में रख दिया। वह एक बेजान लाश की तरह यों ही पड़ी रही। उसके दिल की धड़कन को मैं साफ़ सुन सकता था, उसकी आत्मा का विलाप मेरे कानों में गूंज रहा था।

"तो फिर मुझे जाने दो"—उसने कहा और वह चली गयी।

हैदराबाद—जुलाई १९३७

महावीर

श्री हरनारायण शर्म्मा 'किङ्कर'

[अलवर में महावीर जयन्ती पर पठित]

मानवता क्लान्त हुई,
जनता सब भ्रान्त हुई,
अवनी अशान्त हुई,
जीवन-रस बूंद बूंद, सूख चला—
फैल गया, घोर तम चारों ओर
क्षुब्ध हुए,
लुब्ध हुए,
बुद्ध स्वार्थ मद से।
हिंसा-नद
पारावार बनकर उमड़ पड़ा
दर्पोन्मत्त मानव सब
डूबे से जाते थे।
छाया दुख, दैन्य, क्लेश
जग में, अशेष—और
भड़क उठी दावानल
विकट विनाश की।
उसका प्रकाश
शवदाह के प्रकाश सा,
फैला दिगन्त में
कालानल कोप सम,
होती थी बलि नित्य
उसमें जीवधारियों की।
उसको ही कहते थे
यज्ञ, हवन, पुण्य कर्म्म
जिसमें आहूत-पशु-होते
निरीह, मूक, बेबस, बेचारे
निरे निरवलम्ब, निर्बल थे।
करते थे चीत्कार, हाहाकार
दुनिवार-विश्ववेदना का
उमड़ा था पारावार,
पुण्य के अन्तर में पाप—
छिपा पाप था।
आंसू में आकुलता,
विवशता रोदन में,
भय का अवाक् रोर,
हिंसा का नंगा नाच,
हायरे, अरोष—
हुआ दोष, मूक प्राणी का।
मानव बन दानव
चला अनीति पथ पर क्यों?
जग के श्रेष्ठ प्राणी का—
अमृत सन्तान का
यह क्रूर, निर्मम, कठोर,
हा, शिला का उर?
उदर—क़बर
मुख-ज्वालामुखी-सा हा!
लपटें बनी हैं—साँस,
कैसी यह छलनी है
हिंसक यदि पशु हैं तो
यह फिर कौन है?
यह है यदि रक्षक तो
भक्षक है कौन भला?
किस पशु की प्रवृत्ति
दीखती न इसमें?
बचा कौन
पड़ काल कोटर में इसके?
धरती जा रही है दबी
इसके गुरू भार से,
क्रूर - व्यवहार से,
अनीति अनाचार से,
यह ही वह मुक्ति पथी—
महत् उदार यही

यह ही वह देव मूर्त्ति
ज्ञानी, तपपूत बड़ा,
वसुधा का भूषण और
भोक्ता इस जगती का ?
कालनगरी का यह
निशङ्क यमराज सा
महा नीच, दम्भी है
सबसे ही घृण्य यह,
वधिक सम रहता है—
घात में प्राणियों की,
चाट लग गई है जिसे नित्य रक्त चाट की।
मानवता रोती थी,
हँसती थी दानवता,
क्रूरता पिशाचिनी का
वन्य व्यवहार देख,
जाग उठी तुम में एक
दिव्य चेतना की ज्योति।
हिंसा की हिंसा हुई
ह्रास हुआ ह्रास का
मिटा तम तोम इस उगते दिवाकर से
भासमान आसमान धरती सब हो उठे।
तप्त जगती को मिली शान्ति
महा क्रान्ति से।
महावीर—महावीर !
तुमने स्वात्म बल से
बदल दिया चोला ही
धर्म और जीवन का।
मानव ने पाया प्राण,
त्राण मूक प्राणियों ने।
सत्य शिव सुन्दर का
रूप हुई मानवता;
मृत्यु से पाया अमरत्व-बल
जगती ने।
ढीला हुआ बन्धन
मदमत्त पशु सत्ता का।
परिणत से हुई मानो
अमंगल की मंगल में,
हिंसा की अहिंसा में,
बन्धन की मुक्ती में;
पाप हुआ पुण्य—और
अशुभ हुआ था शुभ।
फूंका वह प्राण मन्त्र
प्राणियों के प्राण में;
जीवन में शान्ति, सुख, शक्ति
शुचि साधना दे,
अभय किया था इस सारे आर्त्त जग को।
धन्य तुम, धन्य, धन्य !
धीरता तुम्हारी वह,
तुम ही थे सच्चे एक
धर्म्मवीर, कर्म्मवीर,
ज्ञानवीर, दानवीर,
महावीर—महावीर !
आज भी तुम्हारी ज्योति
जगती है गान्धी में।
वह ही चिर शान्ति कभी
देगी विश्व भर को।

—

संजय उवाच

"संजय ! अब तुम्हें अपनी दिव्य-दृष्टि से क्या दिखलाई देता है ? एक दिन तुमने मुझ नेत्रहीन के पास बैठकर उस 'महाभारत' के बारे में सब कुछ बतलाया था जिसमें उस समय के 'सभ्य' समझे जाने वाले संसार के अधिकांश भागों से शक्तिशाली लोग यहाँ के युद्धक्षेत्र में आये थे। वह युद्ध भी मानवता और दानवता, सभ्यता और बर्बरता, धर्म और अधर्म, लोकशक्ति और निरंकुश शक्ति के बीच एक महायुद्ध कहा गया था। जान पड़ता है, सभी बड़े युद्धों के लिए दोनों ओर के दल ऐसा ही कहा करते हैं। फिर भी उनमें तुलनात्मक दृष्टि से एक ओर ही कुछ प्रगतिशीलता होती है। पर संजय, इतना बड़ा युद्ध तो कभी नहीं हुआ ! विज्ञान ने सारे संसार को एक छोर से दूसरे छोर तक बेहद जोड़ दिया है किन्तु मानव हृदयों को जोड़ने में वह समर्थ क्यों नहीं हो सका ? संसार के लोग किधर बढ़े जारहे हैं ? फ़ौज़ी शासन की ओर ? सोने की शासन की ओर ? मैशीनों द्वारा शासित होने की ओर ? या सच्चे और विशाल हृदय वाले व्यक्तियों के शासन की ओर ?'

संजय ने कहा—क्षमा कीजिएगा, कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय से अब तक इतना परिवर्तन होगया है कि मैं आज आपको 'महाराज', या 'राजन् ' न कहना चाहूँगा। विकास, क्रान्ति और प्रतिक्रिया—इन तीनों—के नियम संसार में व्यक्ति के लिए और समूह के लिए, देश के लिए और दुनिया के लिए, प्राय: एक से ही काम कर रहे हैं। हाँ, उनका लोगों का वैसा ही बहुत अपूर्ण ज्ञान है जैसा अन्य नियमों का। दानव और मानव, खूंख्वार जानवर और आदमी में एक ओर बहुत अधिक अन्तर है और दूसरी ओर बहुत थोड़ा। जिस प्रकार कोई युग ऐसा नहीं हो सकता जिसमें लोगों को तरह तरह की तालीम देने की ज़रूरत न रहे, वैसे ही कोई युग ऐसा नहीं होता, न हो सकता है, जिसमें सम्पूर्ण मानव समाज विश्व-बन्धुत्व के योग्य बन जावे। फिर भी हमारा यह विश्वास अनुचित नहीं कि चाहे जितनी प्रबल प्रतिक्रियायें हो, अन्त में व्यक्ति और समाज—दोनों—को प्रगतिशीलता की ओर बढ़ना ही पड़ता है जो सीधी तरह नहीं बढ़ पाते उन्हें मजबूरी के साथ ऐसा करना पड़ता है। इस दृष्टि से हम संसार को देखें तो सभी 'महाभारतों' के रहस्य हम बहुत कुछ समझ सकते हैं। तब इस महायुद्ध के फल के बारे में भी ऐसी बेचैनी न रहेगी।'

"पहेली मत बुझाओ संजय ! बिल्कुल सीधी सादी भाषा में ऐसी बातें बतलाओ जिन्हें जानकर साधारण लोग अपने उद्धार का कुछ उपाय कर सकें। उन्हीं बातों को जानकर मुझे भी धीरज हो जावेगा !"

"बातें बतलाने वालों की कमी नहीं हैं; सच पूछा जाय तो इस युग का सब से बड़ा दुर्भाग्य यही है कि बातें बतलाने वाले बेहद हो गये हैं। अगर किसी मरीज़ को सैकड़ों डाक्टरों के सिपुर्द कर दिया जावे और उन डाक्टरों की चिकित्सा-प्रणाली ऐसी अलग अलग क़िस्म की हो कि वे किसी तरह एक मत न हो सकें तो उस मरीज़ की कैसी दुर्दशा होगी ? अगर किसी फ़ौज के कई सिपहसालार बना दिये जावें और उन सबकी युद्ध-योजना अलग अलग प्रकार की हो, तो उस फ़ौज की क्या हालत होगी ? आज 'स्वतन्त्र विचार' के नाम से लोकतन्त्र की, संघतन्त्र की, जन्मजात वर्णाश्रम समाज की, पाकिस्तानी समाज की, विशेष विशेष धर्मों और समाजवादों की विशेषज्ञता के नाम से ऐसी ही धाँधलीबाज़ी सब जगह मची है। इसमें भी जो देश स्वतन्त्र नहीं हैं, या जो चीन की भाँति, दुनिया के और मुल्कों से कहीं बड़े हैं, उनमें तो ऐसे डाक्टरों, ऐसे सिपहसालारों और ऐसे विशेषज्ञों की बाढ़ आई हुई है। उनमें सबसे बड़ी कोशिश यही हो रही है कि किसी तरह उस मुल्क के कुल आदमी एक झण्डे के नीचे न खड़े हो

जावें, किसी एक को ही अपना सबसे बड़ा नेता न मान लें क्योंकि ऐसा होते ही फिर इन सब लोगों की दाल कैसे गलेगी ?

"लेकिन ये बड़े बड़े देश यूरुप और अमरीका के बनिस्बत बहुत पिछड़े हुए भी तो हैं। सम्पूर्ण यूरुप और अमरीका मशीन-युग के साथ है, पर ये बड़े मुल्क अभी उन्नीसवीं सदी की तरक़्क़ी में भी नहीं पहुंच पाये।"

"वे इस तरह कभी बीसवीं सदी की वैज्ञानिक उन्नति में तो पहुंच ही नहीं सकते, क्योंकि सारी कोशिश तो यही है कि वे ऐसा न कर पावें। पहले विजेता जाति दूसरी जातियों को उन्नति का अवसर न देती थी, अब विजेता देश दूसरे देशों को ऐसा अवसर नहीं देते। विज्ञान की कोई सीमा नहीं है। जरमनी कह सकता है कि वह विज्ञान में यूरुप के अन्य देशों से बढ़ा चढ़ा है इसलिए कुल यूरुप पर उसी का शासन होना चाहिए। वह वहाँ अमरीका की तरह ही संघ-शासन स्थापित करने का मनमाना प्रचार कर सकता है। वह यूरोपियन तो है ही। ऐसे ही जापान भी चीन में संघ-शासन स्थापित करने की बातें बना सकता है। वह भी चीन की तरह एशियाई तो है ही। अमरीका संसार भर को सोने के सिक्के में बाँधने की बात कहता है, क्योंकि उसके पास संसार का 'साठ फ़ीसदी' सोना मौजूद है और उसे दूसरे देशों से सोना लेने की ही इच्छा है—दूसरे चीज़ें बहुत कुछ वह स्वयम् पैदा कर लेता है; बल्कि गेहूँ आदि जिन्सों को जला देने की भी नौबत आ जाती है। वह अपने को संघ शासन का विशेषज्ञ भी मानता है। इंगलैण्ड अपने को 'लोकतन्त्र की माता' कहता है—यद्यपि संसार में उसके लोकतन्त्र के हज़ारों साल पहले उससे कहीं अच्छे लोकतन्त्र मौजूद थे। यद्यपि उस छोटे से टापू की आबादी पाँच करोड़ के क़रीब ही है पर दुनिया के वाणिज्य, व्यवसाय की कुंजियाँ उसी के हाथ में सौ सवा सौ साल से रही हैं। उसका साम्राज्य आधी दुनिया के क़रीब पर फैला रहा है। अब इन कुंजियों के दावेदार दूसरे हो रहे हैं, उसके साम्राज्य के विरोधियों की संख्या भी बहुत बढ़ गई है। यह युग साम्राज्यवाद का विरोधी है। साम्राज्यवाद राजनीति के विज्ञान के अनुसार फैसिस्टवाद की चरम सीमा है। इंग्लैण्ड ने अब साम्राज्य को अपने 'कामनवेल्थ' में शामिल कर उसे अपनी समझ के अनुसार प्रगतिशीलता की सीमा तक पहुँचाने का निश्चय कर लिया है, पर उसके इस निश्चय का लोग तात्कालिक प्रमाण चाहते हैं। उसे व्यवहार में दूसरी ओर जाते देख लोग उसके इस 'निश्चय' पर सन्देह और अविश्वास करते हैं।

"पर यह तो लड़ाई का समय है, संजय ! ऐसे समय में कोई प्रमाण कैसे दिया जावे ?"

"लोग इसका उल्टा समझते हैं। उनका कहना है कि यही अवसर इसके लिए सबसे अच्छा है। वे भी जी जान से फासिस्टी शक्तियों से लड़ने को तैयार हैं, पर जब अपने यहाँ पूंजीपति-प्रणाली का लोकतन्त्र (Capitalish Democracy) और अनुदार दल की पार्टी का आधिपत्य रखकर भी यहाँ के लिए प्रत्येक ऐसे देशभक्त पूंजीपति को—जिनकी संख्या अमरीका, इंग्लैण्ड आदि के मुक़ाबले नगण्य सी ही है—फैसिस्टी ठहराया जाता है और प्रत्येक ऐसे देशभक्त नेता को जिनके त्याग से और कष्ट सहन से लोग प्रभावित हैं प्रतिक्रियावादी कहा जाता है, तब जन साधारण किसी बात का विश्वास करने योग्य अपने को नहीं पाते। अब भी समय है कि ऐसा अदूरदर्शी व्यवहार तुरन्त बन्द कर दिया जावे।"

"किन्तु संजय, जापान ने जो नया मन्त्रि-मण्डल बनाकर जरमनी और रूस से और जापान और चीन से सुलह करवा देने की आयोजना करनी चाही है, इसका उचित उत्तर क्या यह नहीं है कि सम्पूर्ण एशिया, सम्पूर्ण यूरुप और सम्पूर्ण अमरीका फासिस्टी शक्तियों के विरोध के लिए तुरन्त एक हो जावें ?"

"यही तो मैं भी कह रहा हूँ, पर कठिनाई तो यही है कि यहाँ सभी शक्तिशाली एक दूसरे को लुटेरा कह रहे हैं और अपने को बचाने को दूसरों को उल्लू बना रहे हैं। इस पर अब मैं दूसरे दिन निवेदन करूंगा।

अमरीका क्या चाहता है ?

श्री विजय वर्मा

आज सारी दुनिया की आँखें अमरीका की ओर लगी हुई हैं, सभी यह जानना चाहते हैं कि अमरीका क्या चाहता है। राजनीतिक विज्ञान (Political Science) प्रत्येक देश को मानव शरीर के समान एक शरीर समझता है और जिस प्रकार हम अपने आपसे या किसी दूसरे व्यक्ति से यह प्रश्न करते हैं कि हमारा या उसका लक्ष्य क्या है, इसी प्रकार आज प्रत्येक देश अपने आपसे और दूसरे देशों से यह प्रश्न पूछ रहा है। किन्तु जिस तरह व्यक्ति के लिये उसी तरह समष्टि एवं देश के लिए भी इस प्रश्न का उत्तर एकसा या साधारण नहीं हो सकता। सभी देशों के सामने अपनी भीतरी और बाहरी जटिलतायें और उनसे उत्पन्न अनेक समस्यायें हैं। अमरीका में यूरुप के सभी देशों से लोग आकर बसे और उन सबने अपने में अमरीकन भाव तथा अभिमान उत्पन्न कर लिया है, फिर भी वहाँ के डेढ़ करोड़ हब्शियों के प्रति और आपस में भी एक दूसरे के प्रति पूरी तरह सभी स्वार्थों का ऐक्य वहाँ भी नहीं हो पाया। हाँ, इस मशीन युग में यूरुप के छोटे छोटे देशों की कमियों और एशिया तथा अफ़रीका के कई देशों की पराधीनता से उन्हें ऐसा अवसर मिल गया कि वे संसार में सबसे बढ़े चढ़े धनी हो गये हैं—दुनिया का अधिकांश सोना अपने यहाँ जमा कर सके हैं और कई एक वस्तुओं पर एकाधिपत्य सा प्राप्त कर लिया है। जो लोग यह समझते थे कि सभी देशों में सब कामों में मशीनों का प्रयोग होने लगे तो जनता को स्वतन्त्रता और ऐश्वर्य प्राप्त हो जावेंगे वे ग्रेट-ब्रिटेन और जापान, तथा यूरुप और अमरीका में मशीनों के प्रयोग और उनके द्वारा दुनिया भर में अपनी अपनी बनाई वस्तुओं का आधिपत्य प्राप्त करने के लिए जो कुछ हो रहा है वह सब देखकर डा० ओसवाल्ड स्पेंग्लर (Dr. Oswald Spengler) आदि विद्वानों की बातों पर ध्यान देने को मजबूर हो रहे हैं, जो यह स्वीकार करते हैं कि 'हम अपनी आत्मा को शैतान के हाथ बेंच रहे हैं।' इतना ही नहीं, मशीनों ने देहातों को उजाड़ कर शहरों को ऐसा घना कर दिया है कि इसमें भी अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं; किन्तु अब बमों की लगातार वर्षा होने पर कितने ही शहर फिर टूट गये और कई कल कारख़ानों को कई हिस्सों में अलग अलग जगहों में बँट जाना पड़ा है। फिर भी इंग्लैण्ड ऐसे छोटे और व्यवसायप्रधान देश के लिए अब भी यह असम्भव ही है कि वह अपने खाने भर का सामान अपने यहाँ के गाँवों में उत्पन्न करले। अमरीका अपने को खाने पीने आदि में 'पूर्ण' समझता है। इसलिये वह बाहर के देशों से अधिकतर सोने की ही माँग करता है। पर इससे और भी कठिनाई उत्पन्न हो गई है; यदि दूसरे देश अपना अपना सोना अमरीका को दे दें तो वे अपनी साख कैसे रखें और अपना काम किस तरह चलावें? इन सबसे बढ़कर एक ओर साम्राज्यवाद और दूसरी ओर समाजवाद की समस्यायें हैं जिन पर सभी देशों को गम्भीरता से विचार करना पड़ रहा है। साम्राज्यवाद कुछ मुल्कों को 'स्वशासन' के योग्य नहीं समझता, वह वहाँ की क़ौम या क़ौमों को दुनिया की 'सभ्य' और स्वराज्य के योग्य क़ौमों के बनिस्बत पिछड़ी हुई कहता है और उनमें एकता करने, उन्हें सभ्य तथा स्वशासन के योग्य बनाने का 'बोझा' उठाने के योग्य कुछ ख़ास मुल्कों को ही मानता है। इसके विरुद्ध रूस का समाजवाद साम्राज्यवाद को फासिस्टीवाद तथा नाज़ीवाद का अन्तिम रूप मानता है और इसका एकमात्र इलाज उन पराजित देशों में वहाँ की ही जनता की शक्ति से जनता की सरकार की स्थापना करना समझता है। किन्तु ऐसा करना कोई ठट्ठेबाज़ी

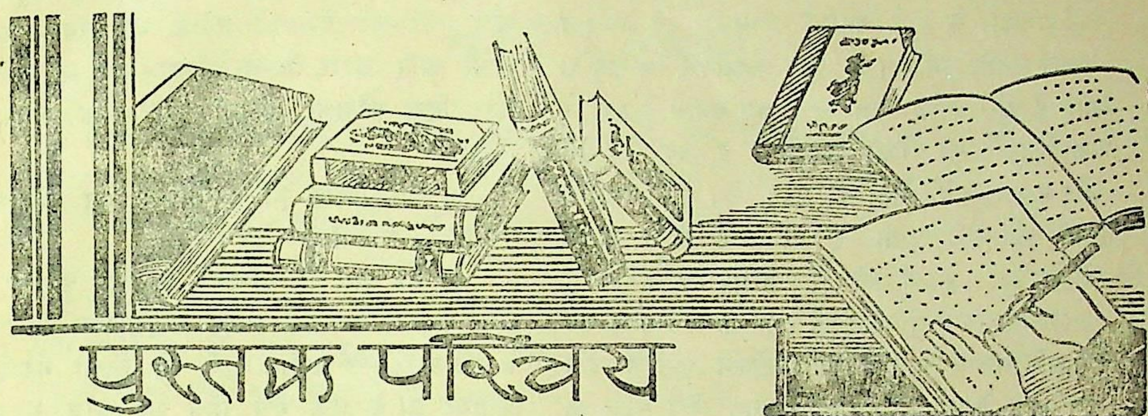
की बात नहीं है। अच्छाई की तरह बुराई भी जीवित रहना चाहती है और इसके लिए तरह तरह के साधनों का उपयोग करती है। ये ही सब कारण हैं जिससे अमरीका भी अपने शान्ति-उद्देश्यों को बहुत स्पष्ट कर उनके अनुसार तुरन्त कार्य करने को तैयार नहीं है। वहाँ के भूतपूर्व प्रेज़िडेन्ट हूवर साहब ने छः 'शान्ति-उद्देश्य' बताये हैं—(१) विचारों की बेहद असमानता न हो (२) आर्थिक दबाव से कोई देश दूसरे को लूट न सके (३) फ़ौजी दबाव या अत्याचार से कोई देश दूसरे देश को न लूट सके, न दूसरे देश पर आधिपत्य जमा सके (४) साम्राज्य-वाद न रहे (५) संकीर्ण राष्ट्रीयता न रहे (६] एक दूसरे के प्रति भय और अविश्वास के भाव न रहें। वर्तमान प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट साहब ने 'जेफ़रसन-मन्दिर' खोलते समय अपनी योजना की बातें बतलाईं। और अभी मेक्सीको के तेल के प्रश्न पर बोलते हुए स्पष्टतः कहा कि अब कोई देश दूसरे देश का शोषण नहीं कर सकता। फिर भी इससे अगर हम यह आशा करें, जैसा कि कुछ लोगों ने की है, कि अमरीका हिन्दुस्तान को वही पद दिला सकता है जो स्वतन्त्र राष्ट्रों को प्राप्त है तो यह वैसी ही भयानक भ्रमपूर्ण भूल होगी जैसी यह समझ कि रूस की लाल फ़ौज या अन्य देशों की इस्लामी या बुद्धमत वाली, या स्वस्तिका झण्डावाली फ़ौजों में से कोई ऐसा कर सकती है या करना चाहती है।

विज्ञान के द्वारा अपने अपने यहाँ की मशीनों से तैयार करा कराके सैकड़ों, हज़ारों वस्तुओं को हमारे गले मढ़ना ही आज सभी 'उन्नत' और 'शक्तिशाली' समझे जाने वाले देशों का लक्ष्य है। इसी की दौड़ में भाँति भाँति के संघर्षों और युद्धों का सामना उन्हें करना पड़ रहा है। हमें तो 'मज़दूर राज्य' के नाम से भी पूरी तरह मज़दूर बना देने की ही कोशिशें हो रही हैं। सफ़ेद जाति को अन्य जातियों का बोझ उठाना चाहिए, यह सिद्धान्त अभी तक सफ़ेद 'शक्तियों' के हृदय और मन में अपना आधिपत्य जमाये हुए है। इसीलिए दक्षिण अफ़रीका में दिन दहाड़े हिन्दुस्तानियों को उस जगह से अलग कर देने का क़ानून बन गया जो हिन्दुस्तानियों के हाथ अधिक से अधिक मूल्य में बेंची गई थी। अंग्रेज़ बहादुर या अमरीका इसमें दख़ल क्यों नहीं दे सके? अफरीका के अधिकारियों ने डाट कर कहा—'हिन्दुस्तान के भूतपूर्व एजेन्टों का यह ख़्याल सर्वथा ग़लत है कि वे इस बात में हस्तक्षेप करने या इस बात की आलोचना करने के अधिकारी हैं कि दक्षिण अफ़रीका का समाज किस तरह का हो और उनसे कैसा बर्ताव करे।' वे हमारे एजेन्टों को यह आलोचना करने तक का अधिकारी नहीं मानते कि हमसे वहाँ कैसा व्यवहार किया जावे! उनकी 'यूनियन' (इत्तिहादी या सम्मिलित) गवर्नमेंट है और हम में ऐसे ऐसे नेता हैं जो अपने को एक राष्ट्र या एक देश का निवासी भी नहीं समझना चाहते। इसी का लाभ उठाकर वे मन माना काम करते हैं। अंग्रेज़ या अमरीकन लोग इसमें कुछ दख़ल नहीं दे सकते—दूर दूर से चाहे जो कह लें।

अमरीका ऐसे मामलों में पूरी तरह बोलता है जैसे चीन में अन्य मुल्कों की गवर्नमेंटों की कितनी और कैसी शक्ति रहे।* यूरुप के छोटे छोटे देशों या 'राष्ट्रों' को किस तरह 'स्वतन्त्र' रखा जाये। पर इनमें भी अब वहाँ विशेष मतभेद हो गया है। अमरीका के बीच में पड़ने से ही जरमनी पर पिछले युद्ध के बाद जब जरमनी के सिक्के, मार्क, की क़ीमत एक पौंड स्टरलिंग में एक हज़ार तक पहुंच गई और बराबर गिरती ही गई, तब डौव्स स्कीम (Dawes Scheme) के अनुसार १४४० लाख पौंड की जुरमाने की रक़म घटते घटते १२५ लाख पौंड (125 millions of pound) पर आ गई। इतना ही नहीं, जरमनी के पास क़र्ज़ अदा करने को इतना भी धन न था, अतः अमरीका ही उनका 'महाजन' बना और क़रीब चार अरब पौंड तक उसे दे दिया।

(शेष 'सम्पादकीय' के अन्त के बाद)

* इस पर पिछले लेख, 'राजनैतिक शतरंज की चालें' —द्वारा काफ़ी प्रकाश पड़ चुका है—लेखक



'आवारा'—नाटककार पाण्डेय बेचन शर्म्मा 'उग्र', प्रकाशक सत्साहित्यिक सेवक-समाज, भारती-भवन, उज्जैन (मालवा) पृष्ठ संख्या १२८ मूल्य १)

श्री 'उग्र' जी का यह नाटक 'हृदय'—श्रद्धाञ्जलि का पहला 'सुमन' है। इस श्रद्धाञ्जलि में १२ पुस्तकें 'उनके परिवारियों को भेंट की जायगी।' ऐसा श्री उग्र जी ने अपनी 'भूमिका और झपकी' में लिखा है। इस भूमिका की तारीख़ १९ मार्च १९४२ है। पर अब तक और कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकी। श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', डा० रामकुमार वर्मा, डा० हेमचन्द्र जोशी, पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय, पण्डित देवीदत्त शुक्ल और श्री प्रभाकर माचवे के नाम इसमें और 'सुमनों' के लिए दिये हुए हैं। ये सभी लोग बधाई के पात्र हैं, क्योंकि हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में यह अपने प्रकार की पहली ही योजना है। सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ने अपनी देखरेख में पुस्तकें छपाकर निजी निरीक्षण में इनकी बिक्री और विस्तार की व्यवस्था की है।

उग्र जी का नाटक सामयिक है। पहले अङ्क में हिन्दू मुसलमान बच्चों के लड़ने-झगड़ने के बाद तुरन्त मिलकर खेलने और इस तरह अपने बिगड़े हुए 'बुज़ुर्गों' को लड़ाई बढ़ाने से बचा लेने का सुन्दर पहला दृश्य है। दूसरे दृश्य के अन्त में एक पात्र, दयाराम, कहता है—'मैं ग़रीबों, नासमझों को लालच से बहका कर किसी भी मज़हब में मिलाने के खिलाफ़ हूँ। हद से हद अच्छी तरह समझाकर आदमी को इस लायक़ बनाना चाहिए कि वह अपना धर्म या मज़हब अपने दिल से पहचान सके।' तीसरे दृश्य में यह और स्पष्ट किया गया है कि 'रोटियों के लिए 'हम अपने खुदा, मज़हब और ईश्वर को हरगिज़ नहीं छोड़ सकते।' और इसको स्पष्ट कराने वाला पात्र 'बच्चों का पेट, बूढ़ों के दान्त दिखाकर' 'ईमान की भीख' माँग कर अपने दल की गुज़र करता है! वह कहता है—'मैं सत्रह भाषाओं में भीख माँग सकता हूं और माँगता हूँ। कहूँ तो मैं आर्टिस्ट भिखारी हूँ।' फिर इसी दल की अपने रूप और यौवन पर रिझा कर राहगीरों से पैसे गाँठने वाली पन्द्रह वर्ष की एक लड़की लाली और चन्द्रसेन गवैया की लड़की, लीला के कामों के दृश्य हैं। ये भिखारी ऐसे वैसे नहीं; एक दृश्य में दिखाया है कि एक 'सात कोने का बाँका मुंह बना, पशुओं की तरह विचित्र आवाज़ में बोलता है—मुझको दे, तुझ को अल्ला देगा।' दूसरा झटपट अपनी रान में नकली ज़ख्म बनाता है और ज़मीन पर बैठकर रोने लगता है और तीसरा 'जब चले शिवा जी रण को, लोहा देने दुश्मन को, रखने हाँ—हिन्दूपन को।' आदि गाता है। इनके नेता 'आर्टिस्ट भिखारी' जी सार्टिफिकेट देते हैं—'ख़ूब! घी खाना शक्कर से,

और सबको ठगना मक्कर से।' दयाराम जी, जो एक ऐसे ज़मींदार के छोटे भाई हैं जिनकी सब सम्पत्ति उनका मुनीम ठग रहा है, इसी लाली पर मोहित हो जाते हैं और लाली उन पर। इस मुनीम के यहाँ से पचीस हज़ार की गिन्नी उड़ाने में ये सब भिखमँगे और लाली अपने नेता को मदद देते हैं। दयाराम रुपये लौटालने जाता है पर उन्हें लेकर वापस आ अपनी भाभी को दे पुलीस द्वारा पकड़े जाकर जेल में चला जाता है। लीला को उसका बाप इसलिये निकाल देता है कि महाजन क़र्ज़ के बदले उसे पकड़ ले गया और रात भर वह वहीं रहने को मजबूर हुई। अन्त में दयाराम जेल से लौटते हैं, उनके भाई को ख़ज़ाना मिल जाता है और यह सब दल दयानगर में 'सुख के सब साधनों के साथ' रहता है। पर दयाराम एक दिन चल खड़ा होता है, क्योंकि बुद्ध, ईसा, राम, कृष्ण के बावजूद आदमी ज्यों का त्यों 'फौलादी ठोस' बना हुआ है। वह मनुष्य के प्रति खोये हुए विश्वास को प्राप्त न कर सका—यह न समझ सका कि बुद्ध कैसे लोग हममें कभी न होते तो मानव समाज न जाने कब कैसे दानव समाज में परिणत हो गया होता।

'उग्र' जी ने अपने देश और अपनी समाज को करुणापूर्ण, भावुक हृदय से आँख खोलकर देखा है, और अनेक धक्के भी सहे हैं। वे हिन्दी के इने-गिने प्रतिभाशाली लेखकों में हैं। ऐसे लेखकों से हम यह आशा कैसे न करें कि वे इस समय की सबसे बड़ी दुर्दशा—एक ओर अति संकीर्ण राष्ट्रीय और दूसरी ओर देश की तनिक भी परवा न करने वाली अति उदार अन्तर्राष्ट्रीयता—पर भी लिखें और दिल खोलकर अपनी पूरी शक्ति के साथ लिखेंगे ?

अर्चन—लेखक श्री हरगोविन्द गुप्त, प्रकाशक प्रेम मन्दिर चिरगाँव, झाँसी।

यह २४ पृष्ठों की पुस्तिका, प्रतापी 'प्रताप' के अमर शहीद सम्पादक श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने को लिखी गई है। विद्यार्थी जी के एक ऐसे मित्र जो आज भी यह विश्वास नहीं कर सकते कि विद्यार्थी जी का देहावसान हो गया है, श्री वृन्दावन लाल वर्मा, ने इसकी भूमिका लिखी है। श्री जैनेन्द्रकुमार की लिखी कुछ पंक्तियाँ प्रारम्भ में है और श्री सियारामशरण गुप्त के 'दो शब्द' तथा एक कविता भी हैं। 'हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की मानवता की वेदी पर अपने नश्वर शरीर की आहुति भेंटकर अमरता को प्राप्त हुए बारह वर्ष बीतने आये, जिसकी एक अवधि मानी जाती है। इस 'विशाल' देश के चालीस करोड़ सन्तानों की गुलामी ज्यों की त्यों बनी है। पर क्या इसीलिए ऐसे शहीदों को भी हमें अभी ऐसी ही श्रद्धाञ्जलि देकर सन्तोष कर लेना चाहिए ? कवितायें अच्छी हैं, यद्यपि उनमें देशभक्ति की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना दिया जाना चाहिए।

—वि०

लड़ाई के हालात

मार्च और अप्रेल के महीनों में रूसी हमले की रफ़्तार सुस्त रही। दकनी रूस में, वक्त से पहिले बर्फ़ पिघलनी शुरू हो गयी और तब रूसियों के क़दम उत्तर में बढ़ने लगे। उन्होंने रेज़ेफ़ और वियाज़्मा की ज़बर्दस्त फ़ौजी चौकियों को ले लिया और स्मोलेन्स्क की ओर बढ़ना शुरू कर दिया। यह जर्मनों का सबसे बड़ा क़िला है और इसके बचाव का प्रबन्ध बहुत ही मज़बूत है। एक एक चप्पा ज़मीन के लिये लड़ाई हुई और उस पर लाल सेना के अधिकार की अभी कोई सम्भावना नहीं। इस मोर्चे की सैनिक स्थिति यह है कि स्टार्या-रूसा—स्मोलेन्स्क—ओरियल यह कमानी जर्मनों के हाथ में है और कालूगा-वियाज्मा—वेलिकी-लुकी यह कमानी रूसियों के पास। मास्को का बचाव रूसियों की पिछली प्रगति से ज़्यादा आसान हो गया है, इसमें शक नहीं।

उधर दकन में जर्मनों ने पलट कर जो हमला किया है, उसमें ख़ारकोफ़ का महत्त्वपूर्ण ठिकाना फिर उनके क़ब्ज़े में आ गया। जाड़े का मौसम इतनी जल्दी ख़त्म होने से रूसी घाटे में रहे। वह नीपर नदी की तरफ़ बढ़ ही रहे थे कि जर्मनों ने उन्हें दोनेत्स नदी के पार धकेलना शुरू कर दिया। अब तक जर्मन दोनेत्स पार पहुंचने में कामयाब नहीं हुए हैं। यों समझिये की रूसी मोर्चे पर आज क़रीब क़रीब वही स्थिति है जो साल भर पहिले थी। अगर रूसियों ने मास्को के मैदान में अपना पोज़ीशन सुधार लिया है तो उधर काकेशिया में काले समुद्र के किनारे नेवोरोसिस्क की बन्दरगाह के आसपास जर्मनों के पाँव जमे हुए हैं। अब हर तरफ़ लड़ैत गर्मी के अभियान के लिये कमर कस रहे हैं। लेनिनग्रेड में लड़ाई ज़ोरों से चल रही है। इसे और स्टार्या रूसा, स्मोलेन्स्क, ओरियल, दोनेत्स की घाटी और नेवोरोसिस्क—इन छः मोर्चों को अगली लड़ाइयों के केन्द्र समझना चाहिए।

रूसियों का कहना है कि मौसम के उलट फेर से उनके मन्सूबे में कोई अन्तर न पड़ा और उनमें अपना हमला जारी रखने की सकत बाक़ी है। इस दावे का समर्थन किसी हद तक जर्मन भी कर रहे हैं। उनके एक पत्रकार ने लिखा है कि रूस की ताक़त बेहदो हिसाब है, उसे कुचलने के लिये जरमनी को एड़ी चोटी का ज़ोर लगाना होगा।

जो भी हो, जर्मनी इस समय उस सङ्कट से निकल आया जिसने हिटलर, गोरिंग और गोबल्स के औसान उड़ा दिये थे। नाज़ियों की महान् सङ्गठन-शक्ति आड़े आयी और सारा यूरोप अपना जानो-माल बलि देने के लिये मजबूर हो गया। हिटलर का यह कथन झूठ नहीं कि इस प्रयास के कारण लाखों नये सैनिक उसे मिल गये। इस तबदीली का दूसरा खुला हुआ सबब मित्र-राष्ट्रों की किंकर्तव्यविमूढ़ता प्रतीत होती है। रूस की अमली मदद में वह जितनी देरी कर रहे हैं, जर्मन अपनी बिगड़ी हुई हालत को उसी तेज़ी से सुधार रहे हैं। और उनकी तैयारी का रंग बतला रहा है कि गर्मियों में वह तीसरी बार रूस पर हल्ला बोलेंगे। रूस किस हद तक इस हमले को सह सकेगा यह तभी कहा जा सकता है जब यह मालूम हो सके कि जापान और मित्रराष्ट्र कुछ करेंगे या अलग बैठे यूरोप की लड़ाई का तमाशा देखते रहेंगे। इंगलिश चेनल के किनारे की फ्रांसीसी आबादी को जर्मन जिस तरह ख़ाली करा रहे हैं उससे पता चलता है कि वे दूसरे मोर्चे के खटके को भूले नहीं।

रूस के शुभचिंतकों को यह देखकर दुःख हुआ कि उस महीने उनके साथी देशों में उनके विरोध की हवा चल पड़ी। दकनी अफ्रीका की पार्लमेंट में रूस के ख़िलाफ़ प्रस्ताव पेश हुआ जो पास तो न हुआ पर

उसके पक्ष में दो तिहाई वोट आये। उधर मास्को के अमेरिकन एलची एडमिरल स्टेंडले ने बैठे बिठाये रूस पर कड़ी टीका-टिप्पणी कर डाली। उन्हें यह शिकायत है कि रूसी जनता को यह नहीं बतलाया जाता कि उसे अमेरिका से क्या मदद मिल रही है। इस शिकायत के बेबुनियाद होने का सुबूत मास्को के ब्रॉडकास्ट हैं जो बाक़ाएदगी से अमेरिका की भेजी हुई तोपों से लेकर मक्खन के डिब्बों तक का हिसाब गिनाते रहते हैं। लेकिन अगर यह एलची रूसियों से यह कहलाना चाहता है कि लड़ाई के मैदान में कोई और उनके साथ लड़ रहा है तो यह बड़ी बेकार बात है। न अमेरिकन पांचवे शहीदों में अपना नाम लिखाना पसंद करेंगे और न रूसी उन्हें यह पद दे सकते हैं। सबसे अफ़सोसनाक हरकत पोलैंड की उस उस पार्लमेंट की तरफ़ से हुई जो लंदन में पाई जाती है। उसने वही दावा दोहराया कि लड़ाई जीतने के बाद पोलैंड उन रूसी इलाक़ों पर भी राज करेगा जो उसने सन् १९२० में रूस से ले लिये थे। इसका मुंहतोड़ जवाब मास्को की ओर से दिया गया है। लेकिन पोलैंड की प्रतिक्रियावादी सरकार पर इसका कोई असर न हुआ और उसके नेता जनरल सिकोर्स्की ने पोलैंड की अखंडता का राग फिर अलापा है। हम सबको यूरोप के पददलित लोगों से हमदर्दी है लेकिन उनकी सरकारों से कोई सहानुभूति नहीं हो सकती। अपनी जन-विरोधी नीति से इन्होंने अपने देशों को मुसीबत में फँसाया और आज भी इनकी औंधी खोपड़ी उसी जगह है। एक और मिसाल यूगोस्लाविया के जनरल मितलोविच की है जिनकी वीरता के गीत रायटर गाया करता था। कहा जाता था कि यूगोस्लाविया में विजेताओं के विरुद्ध जो छापामार आन्दोलन चल रहा है यह जनरल उसका नेता है। सोवियट सरकार ने इस पर यह सनसनीपूर्ण अभियोग लगाया है कि वह जर्मनों से मिल गया है। और छापामारों को कुचलने में उनकी मदद कर रहा है।

यह सब बातें बतला रही हैं कि हवा का रुख़ किधर है। खुद मित्रराष्ट्रों के कैंप में फ़ेसिस्ट ताक़तें मौजूद है और फल-फूल रही हैं! दूसरे मोर्चे और अटलांटिक चार्टर की जनप्रिय माँगों का ज़िक्र अब बहुत कम हो गया है और जब होता भी है तो सैकड़ों अगर-मगर के साथ।

ट्यूनिस में इस समय मित्र-सेनाएँ आगे बढ़ रही हैं और कड़े मुक़ाबले के बावजूद जर्मन पीछे हट रहे हैं, उनकी बचाव की लाइन सकुंचित होती जाती है और ऐसा लग रहा है कि अगर मेडिटेरिनियन में हिटलर कोई नया पाँसा न फेंक सका तो वह देर-सवेर ट्यूनिस की लड़ाई हार जायेगा।

कूटनीति की बिसात पर भी मोहरे चल-फिर रहे हैं, प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के दोस्त न्यूयार्क के आर्क-बिशप कोई ख़ुफ़िया सन्देसा लेकर पोप के पास रोम पहुँचे। इसी समय गोरिंग और रिबेनट्रप भी वहाँ आये और शायद पादरी साहिब से मिले। पोप के राजनीतिक महत्त्व का अन्दाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि मुसोलिनी का दामाद चियेनी अब धर्म-गुरु के पास इटली के एलची की हैसियत से रहेगा। इस गुप्त मन्त्रणा का अर्थ समझ में न आया। पादरी साहिब भारत होते हुए चीन भी जायेंगे पर रूस जाने का अवकाश उन्हें न मिलेगा। उधर ब्रिटेन के परराष्ट्र-सचिव मि० ईडन अमेरिका गये हुए थे।

मि० ईडन ने एक भाषण में चीन को यक़ीन दिलाया कि उसके हितों के विरुद्ध कोई गुप्त अभि-सन्धि नहीं हो रही है। पर यह अभियोग किसने और क्यों लगाया यह छपी हुई ख़बरों से न मालूम हो सका। जनरल तोजो ने कहा कि लड़ाई को कड़ी मंज़िलों से गुज़रना है पर उसे इसी साल ख़तम करने की कोशिश की जायेगी। प्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार मि० एडगर स्नो ने अपने एक लेख में उस तैयारी का थोड़ा सा हाल बतलाया जो जापान अपने साम्राज्य को अजीत बनाने के लिये कर रहा है। उनका बयान है कि जापान ने रंगून से रबोल तक जल-थल में क़िलाबन्दी का ज़बर्दस्त सिलसिला शुरू कर रखा है। अपने नये साम्राज्य में जापानी रेलों और सड़कों का जाल बिछा रहे हैं और उपनिवेशों

सम्पादकीय-विचार

कांग्रेस बनाम साम्राज्यवाद—फ़ेडरल कोर्ट का फ़ैसला—दक्षिण अफ्रीका का काला क़ानून—काग़ज़ी नोटों की भरमार—मुस्लिम लीग का अधिवेशन—अमेरिका और भारत—अमेरिका और ब्रिटेन—तीसरे महायुद्ध की तैयारी—हमारे तुर्क मेहमान—साहित्य और नैतिकता—एकता का रास्ता।

कांग्रेस बनाम साम्राज्यवाद

भारतीय समस्या के समाधान के लिये जो लोग सरकारी दफ़्तरों के चक्कर काटा करते हैं, उनके सीधेपन पर हर प्रत्यक्षवादी को तरस आता है। जब तक काल के महाबली हाथ दस्तक न देंगे, इनके दरवाज़े न खुलेंगे। अगर किसी सुबूत की ज़रूरत हो तो 'निर्दल-सम्मेलन' के प्रतिनिधियों को वायसराय का जवाब और मि० फ़िलिप व मि० जिन्ना के बयान पढ़िये। निर्दल सम्मेलन सिर्फ़ यह चाहता था कि जेल के अन्दर कांग्रेस नेताओं से उसके प्रतिनिधि मिल सकें। इस मामूली सी दरख़ास्त को ठुकरा दिया गया। इसी तरह अमेरिका के एलची मि० फ़िलिप को भी महात्मा जी से मिलने की इजाज़त न दी गयी।

मि० जिन्ना ने अपने अभिभाषण में यह माक़ूल सवाल किया कि अगर ब्रिटिश सरकार को अपने इस दावे पर यक़ीन है कि कांग्रेस के साथ देश का बहुमत नहीं है, तो राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने के लिये उसने ख़ुद कुछ क्यों नहीं किया। और अगर उसका यह दावा ग़लत है तो वह कांग्रेस से दूसरों को बातचीत करने का मौक़ा क्यों नहीं देती?

सच्ची बात यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद युद्ध-काल में—और हो सके तो इसके बाद भी—उपनिवेशों का मुंह बन्द रखना चाहता है। उसे मालूम है कि भारतीय राजनीति की रौनक़ कांग्रेस के दम से है, और उसके दमन से साम्राज्यवाद का रास्ता बड़ी हद तक निष्कंटक हो जाता है। इस सूरत में हर हिन्दुस्तानी का कर्त्तव्य यही है कि कांग्रेस से अपने उचित या अनुचित मतभेद को इस समय भूल कर उसके नेताओं की रिहाई के लिये काम करे। क़ौमी एके का एक यही रास्ता है।

फ़ेडरल कोर्ट का फ़ैसला

हम इस उसूल के क़ायल नहीं कि कोई क़ानून इसीलिये न्यायपूर्ण है कि उसे अमुक सरकार ने बनाया है। दुनिया की सब हुकूमतें सङ्गठित हिंसा पर क़ायम हैं और शासकों के स्वार्थ के लिये क़ानून गढ़ा करती हैं। लेकिन आमतौर पर यही आशा की जाती है कि क़ानून बन जाने के बाद सरकारी कारिन्दे उस पर अमल करें।

युद्धकाल में नई दिल्ली की धारा परिषद ने सरकार के कहने से 'डिफ़ेंस आफ़ इण्डिया' नामी क़ानून बनाया है। इसके मुताबिक़ वायसराय को ख़ास हालात में आर्डिनेन्स बनाने का हक़ दिया गया है। ऐसे ही एक आर्डिनेन्स की २६ वीं धारा के नाम पर कोई आठ हज़ार आदमी महीनों से नज़रबन्द किये गये हैं। अब भारत की सबसे बड़ी अदालत फ़ेडरल कोर्ट ने अपने फ़ैसले में कहा है कि यह दफ़ा क़ानूनन नाजायज़ है। यानी यह आठ हजार हिन्दु-

---

की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उनसे अच्छा बर्त्ताव कर रहे हैं। उनकी फ़ौज़ें भी बनायी जा रही हैं और मलायी सिपाही को कोरिया में और कोरिया के सिपाही को मलाया में रखने की नीति पर अमल हो रहा है। पत्रकार ने उन लोगों को ख़ूब लताड़ा है जो जापान की ओर ध्यान नहीं देते।

इस पश्चाद्भूमि में यह महायुद्ध अपने चरम बिन्दु को पहुँच रहा है। ऐसा लग रहा है कि अगले चन्द महीनों में धुरी राष्ट्र अपना सर्वस्व होम कर कोई निर्णय प्राप्त करने का यत्न करेंगे।

स्तानी—जिनमें से अधिकतर कांग्रेस नेता और कार्यकर्त्ता हैं—ग़ैरक़ानूनी तौर पर जेलों में बन्द हैं। इसी फ़ैसले का हवाला देते हुए कलकत्ता हाईकोर्ट के आगे एक दरख़्वास्त आई है। जज ने बंगाल सरकार को लिखा है कि अमुक अमुक नज़रबन्दी या तो बाक़ायदा अदालतों के आगे पेश किया जाये और या रिहा किया जाये। आशा है कि इस तरह की बहुत सी दरख़्वास्तें हर हाईकोर्ट के आगे आयेंगी। जब भारत सरकार मौक़ा बेमौक़ा 'क़ानून' की दोहाई देती है, तो यही सही। ऐसी हालत में हमें भी बिला-तकल्लुफ़ क़ानून की दोहाई देना चाहिए।

दक्षिण अफ्रीका का काला क़ानून

दक्षिण अफ्रीका और 'भारतीयों का अपमान' यह दोनों शब्द समानार्थक हो गये हैं। जब से महात्मा गान्धी ने वहाँ सत्याग्रह आंदोलन आरम्भ किया था, यही सुना जाता है कि वहाँ की सरकार ने असहाय हिन्दुस्तानियों को तंग करने के लिये कोई नई हरकत की है। दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मन्त्री मार्शल स्मट्स आये दिन नाज़ियों के जाति-द्वेष और रंग-द्वेष पर जो बातें बनाया करते हैं, अगर उन्हें जमा किया जाये तो एक पोथी तैयार हो जाये। पर ख़ुद उनकी सरकार एशिया वालों के लिये जो मन्सूबे रखती है, उसका थोड़ा सा अन्दाज़ा उस काले क़ानून से होता है जो दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों पर नये प्रतिबन्ध लगाने के लिये बनाया जा रहा है। भारत-सरकार का बस तो हम ग़रीबों पर चलता है, दक्षिण अफ्रीका वालों को उसकी क्या परवा। वह अगर चाहे तो उन्हें तुर्की ब तुर्की जवाब दे सकती है। हम प्रतिकार और प्रतिहिंसा के क़ायल नहीं; पर क्या किया जाये जब कि इस ज़माने में दो देशों का सम्बन्ध उनकी ताक़त के अनुपात पर निर्भर है। हमें ग़ुलाम देखकर सभी धुतकारेंगे और हमारी चीख़ पुकार से कुछ न होगा। शक्तिहीन लोकमत सिरफिरी सरकारों को सीधे रास्ते नहीं ला सकता।

काग़ज़ी नोटों की भरमार

करेंसी नोटों की बहुतायत किसी देश की ख़ुशहाली का पैमाना नहीं। अगर ऐसा होता तो पिछले महायुद्ध के बाद हर जर्मन को करोड़पति हो जाना चाहिये था—क्योंकि दीवालिया जर्मन सरकार ने अन्धाधुन्ध नोट छापना शुरू कर दिया था और एक एक डबल रोटी दस लाख रुपये का काग़ज़ी नोट देने पर भी न मिलती थी। सिक्का हो या नोट उसकी असली क़ीमत उसकी क्रय-शक्ति पर निर्भर करती है। इस नज़र से देखिये तो हमारे दरिद्र देश में काग़ज़ी नोटों की भरमार ने क़यामत मचा रखी है। उनकी क्रय शक्ति आमतौर पर चवन्नी रह गयी है; इसी ऐतबार से लोगों की आमदनी भी एक-चौथाई रह गयी है।

देश के बीस अर्थ-नीतिज्ञों ने सरकार की करेन्सी-नीति के ख़िलाफ़ एक बयान निकाला है। इसमें कहा है कि धड़ल्ले से नोट छापकर सरकारी ख़र्च पूरा करने के बदले, टैक्स और क़र्ज़ के ज़रिये आमदनी बढ़ाना चाहिये। पर वह यह कहना भूल गये कि लगभग तीन अरब रुपये के नोट उस माल के बदले छापे गये हैं जिसका मोल ब्रिटेन में पौंड की सूरत में जमा है। अगर यह सोना नहीं तो माल की ही शकल में लौटा दी जाये तो करेन्सी की क्रय-शक्ति सुधर जाये। रह गयी नये टैक्स की बात। हमारी राय में यह उन लोगों पर लगाया जाये जो लड़ाई से बेहिसाब फ़ायदा उठा रहे हैं। इन पर जो अतिरिक्त इनकम टैक्स लगाया गया है वह बिल्कुल काफ़ी नहीं। ख़ुद इनकम टैक्स के मोहकमें की रिपोर्ट बतलाती है कि यह लोग टैक्स से बचने के लिये कैसे दाँव-घात करते हैं। इसके साथ उन लोगों पर 'मृत्यु-कर' भी लगाया जा सकता है जो अपने सामयिकों को लूटकर, पोतों पड़पोतों को लखपती बनाने का प्रबन्ध किया करते हैं।

मुस्लिम लीग का अधिवेशन

यह ग़नीमत है कि मुस्लिम लीग ने इस बार देश की समस्याओं पर भी सोच-विचार करने की मेहरबानी की। मि० जिन्ना के अभिभाषण के सिवा प्रस्तावों के तेवर भी बदले हुए थे। इस परिवर्तन के कई सबब हैं। एक तो यह कि लीग समझ गयी है कि ब्रिटेन का मुंह ताकने से कुछ न होगा, अपनी सूबाई सरकारों की मदद से उस पर दबाव डाला जा सकता है। दूसरे, लीग की अकर्मण्यता से मुस्लिम जन-साधारण तंग आगये हैं। पाकिस्तान की रट और हिन्दुओं को भला बुरा सुनते उनके कान पक गये हैं। वह यह देख रहे हैं कि पूर्वी एशिया, अरब और उत्तरी अफ्रीका के मुस्लिम उपनिवेशों की क़िस्मत हिन्दुस्तान से बँधी हुई है। आज़ादी मिलेगी तो सबको वरना किसी को नहीं। 'सूत न कपास जुलाहों में लट्ठमलट्ठा' की कहावत को चरितार्थ करने से किसी को कुछ न मिलेगा। अगर मुस्लिम लीग सरकार की दमन-नीति का समर्थन न करके कांग्रेस नेताओं की रिहाई का समर्थन करती, तो केवल मुस्लिम जनता ही नहीं बल्कि दूसरों की भी प्रशंसा-पात्र बनती। अभी तो उससे भी वही शिकायत हो सकती है जो वह दूसरों से कर रही है—यानी राजनीतिक सङ्कट से लाभ उठाकर वह सूबों में अवसरवादी मंत्रिमंडल क़ायम करा रही है।

अमेरिका और भारत

मि० वेन्डल विल्की ने One World के नाम से एक नयी किताब लिखी है जिसमें सभी उपनिवेशों, विशेषतः हिन्दुस्तान की आज़ादी की माँग की है। उन्होंने लिखा है कि—अफ्रीका और एशिया के दौरे के बाद मुझे पता चला कि भारत से बुरा बर्ताव करके ब्रिटेन ने मित्र राष्ट्रों की नैतिक स्थिति को कितना नुक़सान पहुँचाया है। इसमें शक नहीं कि भारतीय प्रश्न को लेकर इस युद्ध में प्रजातंत्रों की आज़ादी के दावे उपहासप्रद होकर रह गये। उनके आदर्शवाद पर से लोगों का भरोसा उठ गया। जैसे हो उनकी सैनिक शक्ति में मशीनों की कमी पूरी हो गयी, उन्हें इंसानों के नैतिक बल की कोई परवा न रही।

यह सच है कि अमेरिकन जनता को भारत से हमदर्दी है, पर वहाँ की सरकार ने अब तक कोई ऐसी बात नहीं कही जिससे इस हमदर्दी का आभास मिल सके। मि० समनर वेल्स ने प्रोफ़ेसर पेरी को साफ़ लिख दिया है कि उनकी सरकार इस मामले में दख़ल न देगी। सभापति रूज़वेल्ट ने दुनिया के दिमाग़ को आज़ाद कराने की क़सम खायी है—काश वह हमारे जिस्म की तरफ़ ध्यान देते तो देखते कि साम्राज्यवाद की जोंक ने इसमें लहू की एक बूंद भी नहीं छोड़ा।

अमेरिका और ब्रिटेन

अमेरिका के एक समाचार पत्र 'शिकागो ट्रिब्यून' ने इंग्लैंड, कनेडा और आस्ट्रेलिया को राय दी है कि वे संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ में शामिल हो जायें। ऐसे कनेडा और आस्ट्रेलिया पर तो अमेरिका का आर्थिक प्रभुत्व पहिले से है; इस लड़ाई ने ब्रिटेन को भी अमेरिका का आर्थिक आश्रय लेने के लिये मजबूर कर दिया। अब कई अमेरिकन कहने लगे हैं कि अगर ब्रिटेन अमेरिका की ताक़त से फ़ायदा उठाना चाहता है, तो वह उसका एक हिस्सा क्यों नहीं बन जाता!

एक विचारधारा यह भी है कि इस युद्ध के बाद जब संसार का पुनर्संगठन हो, तो छोटे छोटे देशों की सत्ता ख़तम कर दी जाये और एक भाषा, एक संस्कृति, एक राज्य के सिद्धान्त पर उन्हें संघबद्ध कर दिया जाये। ब्रिटेन, कनेडा आदि देश अमेरिका, भारत, रूस और चीन के मुक़ाबले में छोटे छोटे देश हैं। वे अमेरिकनों की तरह अंग्रेज़ी बोलते हैं और धर्म व संस्कृति में भी उनके निकट हैं। इसलिये वे अगर संयुक्त राज्य अमेरिका में घुल-मिल जाने का निर्णय करें तो उनका और सभी का कल्याण हो।

तीसरे महायुद्ध की तैयारी

बर्नर्ड शा ने 'न्यू लीडर' अख़बार में भविष्य-वाणी की है कि धुरी राष्ट्रों को हराने के बाद अमेरिका और ब्रिटेन—रूस और चीन से लड़ने की तैयारी करेंगे।

ट्राटस्की ने अपने आत्म-चरित में कहा है कि जो लोग बीसवीं सदी में शान्ति की आकांक्षा करते हैं, उन्होंने बड़े ग़लत मौक़े पर जन्म लिया—यानी जब तक संसार भर में सामाजिक क्रांति न हो जायेगी, लड़ाइयों का सिलसिला जारी रहेगा। एक महायुद्ध ख़तम होते ही दम लेने और अगली लड़ाई के लिये तैयारी करने के लिये 'शांति' की घोषणा कर दी गयी। अब दूसरा महायुद्ध अपने चरमबिंदु पर पहुँच रहा है और लड़ाई इसलिये हो रही है कि दुनिया पहिले जैसी बुरी रहेगी या उससे भी बदतर हो जायेगी।

बर्नर्ड शा की भविष्यवाणी का समर्थन अमेरिका के उपसभापति मि० वेलेस ने भी किया है। उन्होंने एक लम्बे-चौड़े भाषण में कहा कि अगर मित्र राष्ट्रों ने अपनी साम्राज्यवादी नीति न तज दी तो कुछ समय बाद फिर तीसरा महायुद्ध होकर रहेगा।

यह कितनी बड़ी ट्रेजेडी है! किसी ज़माने में आदर्शों और विचारों के लिये मानवता ने इतना बलिदान नहीं किया जितना पिछले बीस वर्षों में। पर आज आदर्शवाद कहाँ है, मानवता का विवेक कहाँ है? फ़ासिस्ट और साम्राज्यवादी शासकवर्ग की हिंसा का ताण्डव-नृत्य देखते देखते दुनिया थक गयी है और उसे अपने भविष्य पर भरोसा नहीं रहा है।

पोलेण्ड और रूस

पोलिश सरकार और सोवियट रूस के मतभेद पर हम पहिले प्रकाश डाल चुके हैं। अब इसी सरकार ने—जिसके पास फ़िलहाल कोई रिआया नहीं है और जो ब्रिटेन के आश्रय में रहती है—रूस से एक नई छेड़ शुरू की है। जर्मन रेडियो ने ऐलान किया कि स्मोलेन्स्क के पास दस हज़ार पोलिश अफ़सरों की क़ब्रें मिली हैं जिन्हें रूसियों ने मार कर समाधिस्थ कर दिया था। हालांकि ख़ुद यह सरकार जर्मनों पर लाखों पोलेण्ड-निवासियों की हत्या का अभियोग लगा चुकी है, पर रूस का नाम आते ही उसने बर्लिन रेडियो की बात पर ऐतबार कर लिया। और रेड क्रास से इस मामले की छानबीन की प्रार्थना की। रेड क्रास ने इस दरख़्वास्त को रद्द कर दिया और यह अच्छा हुआ। जब तक स्मोलेन्स्क का इलाक़ा जर्मनों के क़ब्ज़े में है, कोई निरपेक्ष तहक़ीक़ात नहीं हो सकती। लड़ाई ख़तम होने पर इस क़िस्म के अत्याचारों की छानबीन उन सब देशों में होगी जिन पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा कर लिया गया है—

जो चुप रहेगी ज़बाने ख़ञ्जर
लहू पुकारेगा आस्तीं का।

हमारे देश ने जो दूसरों की सहायता में आगे और निज हित के मामले में पीछे रहने का आदी है, पोलेंड से हमदर्दी का अमली सुबूत दिया है। पर उसकी सरकार दुनिया के सबसे प्रगतिवादी देश रूस का जैसा विरोध कर रही है, उससे हर भारतीय को दुःख हुआ है। क्या पोलेंड ने इतिहास से कोई सबक़ नहीं सीखा?

हमारे तुर्क मेहमान

हाल ही में भारत सरकार के निमन्त्रण पर कई तुर्क पत्रकार यहाँ आये थे। सरकारी मेहमान होने पर भी जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया क्योंकि वे नवीन तुर्की के प्रतिनिधि थे। जब वे लौट गये तो हमें इंतज़ार रहा कि देखें, वे हमारे विषय में क्या कहते और लिखते हैं। पर रायटर या सरकार के प्रचार-विभाग ने अब तक इसकी सूचना न दी। यह तो असम्भव है कि इन पत्रकारों ने अपने दौरे का हाल तुर्कों को न बताया हो। अन्दाज़ा यही होता है कि उनकी कही हुई बातें सरकारी संसार और रायटर के लिये रुचिकर न थीं। चार लाइन की इस ख़बर के अलावह कि उनमें से किसी ने हिन्दुस्तानी प्रेस की आज़ादी को सराहा, आज तक और कुछ

न बताया गया। सरकार को कम से कम आतिथ्य-धर्म का ही ध्यान रखकर इनके भारत-सम्बन्धी लेखों को हम तक पहुँचा देना चाहिए।

साहित्य और नैतिकता

'विश्ववाणी' के इसी अङ्क में हमारी एक कहानी छप रही है। एक भाई की राय में वह नैतिकता के आदर्श से गिरी हुई है। यह बात हमारी समझ में न आयी, शायद इस सबब से कि नैतिकता के विषय में हम दोनों का दृष्टिकोण विभिन्न है। यह तो सब मानेंगे कि वेश्यावृत्ति एक शर्मनाक संस्था है। साहित्यकार की नज़र उस पर जायेगी और वह उस पर लिखेगा, यह भी कोई अजीब बात नहीं। देखना यह है कि लिखता क्या है? अगर उसकी कृति ऐसी है जिसे पढ़ने के बाद इस संस्था को मिटा देने का जी चाहता है तो बेशक वह नैतिकता और समाज की सेवा कर रहा है और उसका प्रयत्न स्तुत्य है। अगर ऐसा नहीं हुआ और पाठक पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा तो यह 'घासलेटी साहित्य' है। वेश्या-वृत्ति पर रूसी उपन्यासकार कुपरिन की 'यामा' और फ्रांसीसी नाविल 'लेडी आफ़ कमेलिया' में यही अन्तर है।

हमारी समझ में आधुनिक हिन्दी साहित्य की अवनति का कारण वह सन्यासवाद है जो लेखक या कवि को कुछ लिखने से पहिले यह सोचने के लिये मजबूर करता है कि पढ़ने वाले क्या कहेंगे। अगर लेखक अपनी आत्मा से कह सके कि उसने ईमान-दारी और सचाई से लिखा है तो उसे किसी से न डरना चाहिए। इसके बाद लोगों का जी चाहे उसे पढ़ें या न पढ़ें।

एकता का रास्ता

हमारे आदरणीय मित्र पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक निजी पत्र में यह प्रश्न छेड़ा है कि सांप्रदायिक समस्या वास्तव में राजनीतिक समस्या है और कामन कल्चर के थोथे तीरों से उसका समाधान नहीं हो सकता।

जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'विश्व-वाणी' किसी समझौते के पक्ष या विपक्ष में नहीं। सबब जो भी हो, यह सच है कि लोग आज एक दूसरे की बात सुनने को भी तैयार नहीं। हम ऐसा वातावरण पैदा करना चाहते हैं जिसमें लोग एक दूसरे को बेईमान समझे बिना ठण्डे दिल से अपने रोग और उसके निदान पर विचार कर सकें। अगर अपने काम में हमें कबीर और अकबर की लिबरल मानवतावादी मिसाल से मदद मिलती है तो क्या हर्ज है। सूफ़ियों की प्रेमवाणी से समाजवादियों को जिस जगह मतभेद हो सकता है, वह सांप्रदायिकता के क्षेत्र से हट कर है। वहाँ रहस्यवाद और भौतिक वाद के सिद्धान्तों में टक्कर होती है। 'विश्ववाणी' सूफ़ियों की पत्रिका नहीं; समाजवाद के लिये उसका दरवाज़ा खुला हुआ है। अगर समाजवादी अपने मत का प्रचार न करके जंगी प्रोपेगेंडा करने लगें तो कोई क्या कर सकता है? 'विश्ववाणी' की ओर से तो उन्हें यही आश्वासन दिया जा सकता है कि जब वह क्षणिक आवश्यकताओं को छोड़कर मुक्त मार्ग की ओर आयेंगे, तो उन्हें हमारा सहयोग प्राप्त होगा।

रह गया यह सवाल कि एकता के सन्देश को कोई सुनेगा या नहीं। जवाब में कविवर 'जोश' का यह शेर पढ़ देना काफ़ी होगा—

कल बफ़ैज़े अक़्ल हो जायेगा ख़ालिस आदमी।
आज हिंदू है तो क्या परवा मुसलमा है तो क्या?

राज-हठ

भारत मंत्री ने पार्लमेंट में साफ़ कह दिया कि सरकार की नीति नहीं बदलेगी। गृह मंत्री की कार्यावधि बढ़ने का मतलब यह है कि उनकी पालिसी की उम्र भी बढ़ गयी है। उपनिवेश-मंत्री मि० स्टेनले ने दो टूक बात कह दी कि ब्रिटिश साम्राज्य के मामलों में किसी को दख़ल देने का अधिकार नहीं। यह ब्रिटेन का काम है। वह जैसे चाहे निबटे और

उपनिवेश भुगतें। कितने ही लोग इसे उसी क़िस्म की दलील करेंगे जो कसाई मुहल्ले वालों को सुनाया करते हैं। जब वह घरों में भेड़ों को काटते हैं और उनकी चीख़-पुकार से पसीज कर पड़ोसी कुछ कहते हैं तो कसाई कहते हैं कि घर मेरा और भेड़ मेरे बाप की, आप दख़ल देने वाले कौन होते हैं? मि० स्टेनले के इस ऐलान को मि० चर्चिल ने पार्लमेंट में सराहा और कहा कि अंग्रेज़ों को दब्बूपन की नीति छोड़ देना चाहिये!

ग़रज़ यह कि भारत की हालत को लड़ाई के ज़माने में न बदलने की नीयत साफ़ हो जाती है। तब तक हमारे नेता जो भी करें पर सरकार का दरवाज़ा न खटखटायें। जब तक काल के बली हाथ आकर दस्तक न देंगे यह दरवाज़ा न खुलेगा।

मि० फ़ज़्लुलहक़

जिन प्रान्तों में मुसलमानों का बहुमत है, वहाँ मुस्लिम लीग की सरकार क़ायम करने के लिये नई दिल्ली के धनीधोरी आतुर हो उठे हैं। मि० अल्लाह-बख़्श और मि० फ़ज़्लुलहक़ अलग अलग क़िस्म के आदमी हैं पर दोनों का अंजाम एक ही हुआ। जब वोटों की गिनती में उन्होंने हारी मानने से इनकार कर दिया तो गवर्नरों ने उन्हें निकाल बाहिर किया। और इस तरह दुनिया ने फिर पार्लमेंटरी हुकूमत का खोखलापन देख लिया। बहुत से सूबों की तरह बंगाल पर भी वहाँ के गवर्नर का राज हो गया। तीन हफ़्ते के बाद वहाँ मुस्लिम लीग की सरकार बन सकी। फिर भी पार्लमेंटरी शासन-पद्धति का स्वांग तो बेनक़ाब हो गया।

हमें इस किस्से के क़ानूनी पहलू से कोई दिल-चस्पी नहीं। सवाल यह है कि हुकूमत मुस्लिम लीग को वज़ारत की गद्दी दिलाने के लिये बेचैन क्यों है। क्या यह किसी राजनीतिक समझौते का परिणाम है? यानी अगर मुस्लिम लीग कुछ न करने और कुछ न होने देने की नीति चलाती रहे, तो इनाम के बतौर उसे उन सूबों का शासनसूत्र मिल जायेगा जिसे वह चुनाव के मैदान में न ले सकी थी!

अपने बारे में

'विश्ववाणी' के प्रधान सम्पादक, भाई अख़्तर-हुसेन रायपुरी, एम० ए० ओ० कॉलेज अमृतसर के वाइस-प्रिंसपल हो गये हैं। पिछले मास दिल्ली से वहाँ जाकर उन्होंने चार्ज ले लिया। मास के अन्त में उनकी तबीयत ठीक न थी। इसी से उनके लिखे 'लड़ाई के हालात' और 'सम्पादकीय' समय पर न आ पाये। इस मास 'लड़ाई के हालात' में कोई ख़ास तब्दीली नहीं हुई इसलिए पिछले मास जो कुछ उन्होंने लिख भेजा था उसे ही दे दिया गया है। सिर्फ़, पहिली लाइन में 'अप्रेल' बढ़ा दिया गया है। और लेनिनग्रेड में लड़ाई ज़ोरों से होने की बात जोड़ दी गई है। इस मास उन्हीं का लिखा 'सम्पादकीय' है। इसमें उनके 'राजहठ' और बङ्गाल के मन्त्रि-मंडल संबन्धी नोट शामिल कर दिये गये हैं।

हमें हर्ष कि 'विश्ववाणी' से उनका सहयोग ज्यों का त्यों बना हुआ है। यह सहयोग हमारे लिए विशेष शुभकर, अत्यन्त आवश्यक और सर्वथा अमूल्य है, इसे सब समझते जा रहे हैं। उनका पता अब है—

डा० अख़्तरहुसेन,
वाइस प्रिंसिपल, एम० ए० ओ० कॉलेज,
व्रजमोहन विला, मक़बूल रोड,
अमृतसर

२—'विश्ववाणी' के सम्पादक, भाई बैजनाथ सिंह 'विनोद' नैनी सेन्ट्रल जेल से छोड़ दिये गये और वे फिर हम में से उनमें आ मिले जो इन सरकारी जेलों के बाहर हैं। श्रद्धेय पण्डित सुन्दरलाल जी और भाई विश्वम्भरनाथ जी नैनी जेल के भीतर हैं—बस—उनके बारे में और एक शब्द भी नहीं।

'विनोद' जी ने इस छै मास के जेल-प्रवास में अपनी अनुभूति के लिए खुला क्षेत्र पाकर अनेक कविताओं की रचना की है। इनमें से कुछ का रसास्वादन अगले मास से 'विश्ववाणी' के पाठकगण भी कर सकेंगे।

३—श्री रघुवीरशरण दिवाकर जी ने लिखा है कि उनका जो लेख इस अङ्क में प्रकाशित हो रहा

है वह उनकी पुस्तक 'पाकिस्तान' का एक अंश है। यह पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होगी और इसमें आर्थिक तथा अन्य पहलुओं पर भी काफ़ी प्रकाश डाला गया है।

४—'विश्ववाणी' की नीति के बारे में दो साल बाद अब भी किसी के मन में सन्देह उठना आश्चर्य की बात है। इसके सबसे पहले अङ्क में ही इसकी सुनिश्चित नीति के बारे में यथेष्ट लिख दिया गया था। उस मूल नीति में कोई हेर-फेर नहीं हो सकता। जिस नीति के अनुसार यह पत्रिका प्रारम्भ से चलती आई है वैसी ही चलेगी। हाँ, मत-भेद को उचित स्थान देने में वह सदैव उदार रही है और रहेगी। 'विश्ववाणी' के लेखकगण और पाठकगण इसका विश्वास रखें। इन पंक्तियों के लेखक को, पिछले एक युग—बारह साल—से अधिक पण्डित सुन्दरलाल और भाई विश्वम्भरनाथ के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने के फल स्वरूप स्वयं ऐसा विश्वास न होता तो वह 'विश्ववाणी' के पास भी न फटकता या 'माया' की भाँति इससे भी अपना सम्बन्ध बिल्कुल अलग कर लेता।

जो लोग जान बूझकर या अनजान में आजकल के किन्हीं एक पक्षीय एवं कट्टर विचारों के अनुयायी हो गये हैं और वेदान्त या तसव्वुफ़ के नाम से ही परेशान हो जाते हैं, क्योंकि उन्होंने इनको वैज्ञानिक ढङ्ग से समझने की कभी सहानुभूति के साथ कोशिश नहीं की, उन्हें यह विश्वास कैसे दिलाया जावे कि ये किसी संकीर्ण धर्म या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के आवश्यक और अनिवार्य सिद्धान्तों के पृष्ठपोषक हैं? उनसे 'सांस्कृतिक एकता' के महत्व के बारे में भी क्या कहा जावे? 'विश्ववाणी' के प्रधान सम्पादक स्वयं 'कम्यूनिस्ट' विचारों के हैं और इसे सदैव प्रकट करते आये हैं किन्तु वे कट्टरता के शत्रु हैं। ऐसा न होता तो उन्हें 'विश्ववाणी' में इन महीनों में धर्म, ईश्वर—ख़ुदा—धार्मिक नैतिकता आदि के, या कबीर, सन्तों, अकबर आदि के बारे में जो कुछ गया है वह सब रोक लेने को मजबूर होना पड़ता। मौलाना आज़ाद, सर राधाकृष्णन्, पण्डित सुन्दरलाल, श्री मज़्हरअली सोख़्ता आदि आदि के दृष्टिकोण को तो तब किसी तरह इस पत्रिका के ज़रिये प्रकट ही न किया जा सकता, न भारतीय राष्ट्र के बारे में इस तरह कुछ लिखा जा सकता। 'विश्ववाणी' ईश्वर या ख़ुदा को अर्थ-शास्त्र का विषय नहीं मानती। अगर 'ईश्वर' 'धर्म' 'संन्यास' आदि शब्दों का दुरुपयोग हुआ है तो 'लोकतन्त्र' 'सोवियत्' 'जनतन्त्र', 'कम्यूनिज़्म' 'मानवता' आदि की भी ऐसी ही दुर्दशा हो रही है। हम ऐसे 'शब्दों' के विरोधी कहाँ तक बनेंगे?

५—'विश्ववाणी' का आगामी विशेषांक 'भावी संसार' के बारे में रखने को हम लोग सोच रहे हैं, क्योंकि भूतकाल और वर्तमान के बारे में जितना प्रकाशित हो चुका है उससे बिना भविष्य के विचार के हम अपने आप में वैसा सामञ्जस्य कैसे ला सकते हैं जिसकी हमें सबसे अधिक ज़रूरत है? महात्मा भगवानदीन जी 'संस्कृति' को 'मंझन' कहना ठीक समझते हैं। (इसके बारे में वे 'विश्ववाणी' में एक लेख लिख चुके हैं।) अगर 'भावी मंझन' पर ही हमारा यह विशेषांक रहे तो कैसा हो? आशा है, 'विश्ववाणी' के विद्वान् लेखक और पाठक गण इस पर अपने विचार प्रकट कर हमें उचित सहायता देने की कृपा करेंगे।

—विजय वर्मा

'ये बात ग़लत कि दायरे इस्लाम है हिन्द,
ये झूठ कि मुल्के लछमनो राम है हिन्द,
हम सब हैं मुती वो ख़ैरख़्वाहे इङ्गलिश,
यूरुप के लिए बस एक गोदाम है हिन्द ॥'

(३१० पृष्ठ से आगे)

'हिटलरी गवर्नमेंट' क़ायम होने पर इस सब धन को देने से इन्कार कर दिया गया !

अब दुनिया में भारत की आर्थिक स्थिति 'सबसे मज़बूत' समझी जाती है। चाँदी में तो यह 'देश' अमरीका की बराबरी करता है। शायद इसीलिए यहाँ की जो चाँदी इंग्लैण्ड में जमा है उसमें से मनमानी ख़रीद वहाँ हो रही है और वह भी यहाँ के आधे भाव पर !

सोना यहाँ से तीन अरब से ऊपर अमरीका गया था। अमरीका में दुनिया भर के साठ फ़ी सदी टेलीफ़ोन, रेडियो सेट आदि बनते हैं। इनके अलावा तरह तरह की १ करोड़ ९९ लाख ५४ हज़ार मोटरें आदि प्रति वर्ष बन रही हैं। इन्हें कौन लेगा ? अपने यहाँ के लिए तो वे लोग पहले ही काफ़ी से अधिक संख्या में सब बना चुके हैं। अब अगर पिछड़े हुए देश अपनी अपनी केन्द्रीय शक्ति बना लें, उसे यथेष्ट प्रभावशाली कर लें और अपने यहाँ स्वयं मशीनें बनाने लगें तो फिर इन मशीनों और वस्तुओं का क्या हो ? यह तो उनकी 'सभ्यता' के लिए वास्तव में 'महान विपत्ति' ही होगी। इसी लिए नोबल पुरस्कार विजयिनी श्रीमती पर्ल बक ने स्पष्टतः कहा है—'धुरी राष्ट्रों के ऊपर विजय पाने से ही फ़ासिज्म (निरंकुश शक्तियों) पर विजय नहीं मिल जाती। हमें इसे स्वीकार करना चाहिए। यदि हम इस युद्ध को स्वतन्त्रता का युद्ध न बना पाये तो हमारा जीवन दूभर हो जावेगा। यदि ऐसा ही होना हो तब भी हमें कायरता और चुप्पी का सहारा न लेकर वीरता के साथ सत्य को प्रकट करते रहना चाहिए। हमारे लिए शब्द ही शस्त्र हैं। ('For us words are weapons'.)

जनता में वास्तविक संगठन और शक्ति सत्य के अधिक से अधिक प्रसार के द्वारा ही सम्भव हैं। हमें जनता को यह बता देना चाहिए कि दूसरे देशों की ओर ऐसी सहायता की आशा से देखने से काम नहीं बन सकता—अमरीका की ओर देखने से भी न बनेगा। वहाँ हमारे विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है—हममें सैकड़ों दल हैं, हज़ारों भाषायें और धर्म हैं, हम कभी एक नहीं हो सकते, उस सब का उत्तर हमें ऐसा कहने वालों में भी जो ये सब बातें मौजूद हैं और फिर भी आर्थिक और समस्त देश के स्वार्थ से वे एक हो गये हैं उसे दिखलाकर अवश्य देना चाहिए पर अपने आप में एक केन्द्रीय शक्ति के आधार पर काम करने के लिए ही हमें असिल में बहुत कुछ करना धरना है। इसके लिए हूवर साहब ने जो छः बातें कही हैं उन्हें हमें भी अपनाना पड़ेगा।

'भूलता जाता है यूरुप आसमानी बाप को
बस ख़ुदा समझा है उसने बर्क़ को और भाप को;
बर्क़ गिर जायेगी इक दिन और उड़ जायेगी भाप
देखना 'अकबर' बचाये रखना अपने आप को !'

× × ×

'क्या नाज़ हो ऐसी साअ़त पर,
अफ़सोस है ऐसी हालत पर।
या झूठ कहे या कुछ न कहे,
या कुफ़्र करे या कुछ न करे !'

(२९८ पृष्ट से आगे)

एक मर्मभेदनी निश्वास त्याग कर कौशिल्या चुप हो रही। पर उसकी आँखें बहुत कुछ कह रही थीं।

बसन्त छटपटा रहा था। वह पचास साल का बूढ़ा ज्योति का पति! ज्योत्स्ना का पति! वह तेज़ी से अपने कमरे में घुस रहा था!

× × ×

बसन्त के हृदय में बड़ी व्यथा है। उसका हृदय उसे धिक्कार रहा है, तू व्यर्थ ही अपने को उदार कहता है। व्यर्थ ही तू दीन दुखियों का कष्ट दूर करने वाला अपने को समझता है। तेरे देश में, तेरे मुहल्ले और पड़ोस में ही प्रतिदिन कितने नंगे भूखे रहते हैं। तू ने आज तक उनमें से कितनों को अन्न वा वस्त्र दिया? अच्छा से अच्छा प्रतिदिन खाना और सुख की नींद सोना! तुझे क्या पता कि संसार में कितना अन्याय हो रहा है, कैसे कैसे जाल लोगों को तरह तरह से लूटने और चूसने के लिये बिछाये गये हैं और और भी फैलाये जा रहे हैं। फिर भी तू अपने को उदार-हृदय कहता है! किसके साथ आज तक तैने 'उदारता दिखाई? तेरे सामने ही एक बेकस गुनाह का बलिदान हो रहा है और तू क्या कर रहा है? क्या तुझ में साहस नहीं कि तू उसकी सहायता करे? उसके प्रति मानवोचित्त कर्तव्य पालन करे? 'धिक' 'धिक' उसके कानों में गूंजने लगा। वह बूढ़ा धन के बल से, समाज के अन्याय से, ज्योत्स्ना का पति होना चाहता है। यदि वह इस अन्याय से, युवकों की इस बुज़दिली से आत्महत्या कर ले, या घर से भाग खड़ी हो? जैसा कि अनेक बालायें ऐसी अवस्था में कर चुकी हैं, तो यह दोषी समाज उल्टा उसे ही दोषी कहने का दुस्साहस करेगा और इसका फल? टिकटिक करती हुई घड़ी मानो करुण स्वर में यही प्रश्न दुहरा रही थी।

बसन्त ने अपने कानों पर हाथ रख लिया। आँखें भी बन्द कर लीं। उसे जान पड़ा वह ज्योत्स्ना के पास खड़ा है और वह करुणा की मूर्ति उसके सम्मुख खड़ी है। इतने में कोई कह उठा—बसन्त और ज्योत्स्ना की युगल जोड़ी क्या ही अच्छी होती! काश बसन्त उससे ब्याह करने का साहस करता!

बाजे बजने लगे, लोग इकट्ठा होने लगे, एक सजे सजाये मोटर पर दूल्हा बैठकर आया। ज्योत्स्ना के द्वार पर मोटर रुक गई। बाजे और ज़ोर से बजने लगे। बसन्त किसी अज्ञात शक्ति से वहीं गया। धड़कते हृदय से देखा, वह बूढ़ा दूल्हा मोटर से उतरा। कई स्त्रियाँ मिलकर ज्योत्स्ना को लाईं और दूल्हे के गले में जयमाल डालने का संकेत किया। ज्योंही ज्योत्स्ना ने जयमाल पहिनाने के लिए हाथ उठाया उसके नेत्र भी उठे। उसने उस वर को देखा और उसके पास ही बसन्त को खड़े देख कर उसने बसन्त के ही गले में जयमाल डाल दी। सब लोग चिल्लाते हुए उनकी ओर दौड़े। वह भी वीरता से चिल्ला उठा।

नेत्र खोलकर देखा—सामने माँ खड़ी है!

माँ ने स्नेह से उसके सर पर हाथ फेरते हुए कहा—कोई बुरा स्वप्न देख रहे थे क्या बेटा? क्यों चिल्ला पड़े?

आँख मलते मलते बसन्त उठ खड़ा हुआ; बोला—माँ, एक स्वप्न देखकर मैं चौंक उठा, पर स्वप्न बुरा न था!

बसन्त ने माँ से ज्योत्स्ना का स्वप्न नहीं बतलाया, पर उसका हृदय स्वप्न को याद कर ज़ोरों से धड़कता रहा।

बसन्त के सुस्थिर होने पर माँ बोली—बेटा! बाबू जी तेरी शादी करना चाहते हैं।

बसन्त चुप रहा।

माँ फिर बोली—बेटा, शरमाने की कोई बात नहीं। यदि तू छोटा होता तो पूछने की बात न थी, हम लोगों की इच्छा पर सब कुछ होता। पर नहीं, अब तू बड़ा और समझदार है। अपना उत्तरदायित्व समझता है। तुझसे पूछना हम लोगों का कर्तव्य है। तेरे पिता जी तेरी शादी श्रीकान्त जज की लड़की,

गिरिजा से करना चाहते हैं, जिसे शायद तूने देखा होगा। ख़ूब पढ़ी लिखी है, देखने में बहुत ही सुन्दर है।

बसन्त फिर भी चुप रहा।

माँ—शर्म मत कर, तेरा सुख ही हम लोगों के जीवन का एक मात्र लक्ष्य है, अपनी इच्छा तू निः-संकोच होकर कह।

इस बार बसन्त ने माँ की ओर देखा, फिर नत-मुख होकर बोला—विवाह के लिए जल्दी क्या है माँ ?

माँ—नहीं, अब विलम्ब करने का समय नहीं है, तू पढ़ लिखकर अब योग्य हो गया है, हम लोग शादी करके निश्चिन्त हो जायेंगे।

'माँ, मैं जैसा योग्य या अयोग्य हो गया हूँ, उसे मैं ही नहीं, सब देख रहे हैं। एम० ए० ही नहीं, एम० एस-सी० और फिर एल०एल-बी० कर कर के अत्यधिक दौड़ धूप और परेशानी के बाद पैंतीस चालीस रुपयों की जगहें लोग पा सकते हैं—वे भी थोड़े से ही। माँ, मैं ऐसी लड़की से तो शादी कर ही न सकूंगा।

'क्यों ?'

'इतने बड़े धनी घराने की लड़की का बोझ मैं सँभाल न सकूगा !'

माँ—सँभाल क्यों न सकेगा ? आख़िर तुझे क्या कमी है ? उनसे कहीं अधिक वैभव ईश्वर ने तुझे प्रदान किया है।

बसन्त—धन से किसी के सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। माँ, तुम मेरा स्वभाव जानती ही हो, मैं बनाव शृङ्गार को तुच्छ समझता हूँ, धन-गरिमा को तुच्छ समझता हूँ, मैं अपना जीवन ग़रीबों की सेवा में लगाना चाहता हूँ। सादा खाना, सादा पहिनना पसन्द करता हूं। बताओ माँ, मेरे साथ ऐसी लड़की सुखी रह सकती है ? फिर, जिसने कभी यह जाना ही नहीं कि दुख क्या चीज़ है, वह लड़की क्या मेरा साथ दे सकेगी ?

माँ—तो किसी ग़रीब लड़की से शादी ठीक करना चाहते हो ?

'अभी जल्दी कुछ नहीं है माँ ! मैं तुम से ख़ुद ही बता दूँगा और तुम्हारी ही सहायता से कुछ हो सकेगा। धनी लड़की आयेगी तो बँगले की क़दर करेगी। सिनेमा, मोटर-यात्रा आदि का सुख भोगना चाहेगी। वैभव में ही जीवन का रस समझेगी। वह तुम्हारे निर्मल स्नेह का क्या आदर करेगी ? क्या मूल्य समझेगी ? वह दुःख और कष्ट में मेरा साथ देने की कल्पना तक न सह सकेगी। जिसके पैरों पर वैभव लोट रहा है, जिसको इसीलिए अनेक लोगों के स्नेह का आदान प्रदान मिल रहा है, वह हम लोगों की क्या क़द्र करेगी ? हमारे यहाँ आकर उसे क्या नई चीज़ मिलेगी ? मैं तो उसे कुछ दे न सकूंगा।

कौशिल्या को ये बातें रुचीं। सुनकर चुप रही।

× × ×

टन टन टन—

ज्योत्स्ना ने गिना तीन बज गये।

'ओह, अभी तक मुझे नींद न आई।' वह करवट बदलकर सोने का उपक्रम करने लगी। किन्तु फिर भी उसे नींद न आई। उसके हृदय में एक तूफ़ान मचा हुआ था।

'ख़ूब ! समाज और शासन के अधिकारियों ने प्रत्येक परिवार को कैसी बुरी तरह कस दिया है। मेरे पिता ने अपना सारा जीवन उच्च आत्म सम्मान और मानवता से प्रेरित होकर इस देश के लिए, इसके चालीस करोड़ लोगों को पराधीनता से उद्धार पाने के लिए ही दे दिया था—'वह रुक गई—'तो क्या मैं उनकी सेवाओं के बदले में यह चाहती हूँ—

'नहीं, यह तो प्रत्येक देश के प्रत्येक जाग्रत अंग का कर्तव्य होता है कि वह ऐसी उपेक्षा न दिखावे जिसका फल हानिकारक हुए बिना नहीं रह सकता ! उसके युवकों का—' वह फिर रुक गई। जान पड़ता है कुछ निकम्मे किन्तु भड़कीले युवकों के चित्र उसके मानस-पट पर खिचकर मिट गये—और तब बसन्त

का चित्र आया। वह अपने आप फिर बोली—परिस्थितियाँ—हाँ, क्या ये भी परिस्थितियों को ही दोषी ठहरा स्वयं निर्दोष नहीं बने रह सकते हैं ?

'माँ के आँसू तो अब थमते ही नहीं। मुझसे छिपा कर माँ एकान्त में रोया करती हैं। उनको देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानो वर्षों की बीमार हो। ऐसा दुखी चेहरा तो पिता जी की मृत्यु के बाद भी न था। भगवान्, मैं अभागिनी हूँ, पर तुम तो कष्ट हरण करने वाले हो। हम लोगों का कष्ट हर लो।' ज्योत्स्ना रो उठी। बिछौने पर चुपके रोते रोते न जाने कब सो गई।

उसने स्वप्न देखा—वह अथाह जल में बही जा रही है। एक सौम्य सुन्दर मूर्ति दिखलाई दी। उसने सहायतार्थ अपना हाथ बढ़ा दिया। उस मूर्ति ने भी अपना हाथ बढ़ाकर उसका हाथ अपने हाथों में ले लिया। धीरे धीरे किनारे की ओर बहने लगे। किनारे पहुँचकर उसको कुछ चैतन्यता आई। उसने अपने रक्षक को पहचाना। अपना हाथ छुड़ाना चाहा। बसन्त ने उसके दोनों हाथों को दृढ़ता से पकड़ लिया और कहा—मैं इन हाथों को कभी न छोड़ूंगा।

माता की आवाज़ ने उसे चौंका दिया। वह जग पड़ी। देखा काफ़ी दिन निकल आया है। अपने आप से पूछा—क्या यह स्वप्न सत्य होगा ?

दिन भर उसके कानों में इसी स्वप्न की बातें गूँज रही थी—"मैं इन हाथों को कभी न छोड़ूंगा।"

× × ×

व्याह को केवल एक मास रह गया। फूलबाला का दिल ज्यों ज्यों व्याह का दिन निकट आता जा रहा है, त्यों त्यों बैठा जा रहा है। उसे न रात को नींद आती है न भूख लगती है। दिन दिन भूखी प्यासी रहने से क्लान्त हुई जा रही है। एक तो ग़रीबी की मार दूसरे समाज की यह क्रूरता। 'मैं अपनी फूल सी बेटी को बलि देने जा रही हूं। उसने अभी तक दुनिया का मर्म भी न जाना। उसी का भविष्य अन्धकार में डूब रहा है। मैं माँ होकर उस अबोध का सर्वनाश कर रही हूँ।

'उसका मुंह देखते ही कलेजा मुंह को आ जाता है, उसका गुलाब सा सुन्दर मुख मुरझा गया है। ओह, कितनी सहनशील लड़की है वह, कभी किसी बात के लिए एक शब्द भी न कहा। पर हाय, जननी होकर मैं उसकी हत्या करने जा रही हूं। किसने हमें ऐसी विवशता में डाल दिया है ? क्यों हम में इसे समझकर इस अन्याय के मूल को चकनाचूर कर देने की शक्ति नहीं है ?

बच्चा रो उठा; फूलबाला की विचारधारा टूट गई।

× × ×

बसन्त बहुत खिन्न रहने लगा, उसे रह रह कर स्वप्न याद आने लगता। वह दिन रात इसी उधेड़-बुन में पड़ा रहता कि जब मुझे शादी करनी ही है तो क्यों न तुरन्त ज्योत्स्ना के ही साथ करूँ। यदि उसकी शादी मनोहरदास के साथ हो गई तो क्या वह सुखी रह सकेगी ? क्या यह उसके पिता के प्रति हमारी घोर कृतघ्नता, अत्यन्त नीचता न होगी ? उसके पिता के प्रति ही नहीं बल्कि अपने प्रति ! नहीं, नहीं, मैं ऐसा न होने दूंगा। मैं माँ से कहूँगा, पिता जी तो शायद राजी न होंगे। ख़ैर, इसकी चिन्ता नहीं, माँ का हृदय ऐसे लोगों के प्रति ममत्व से भरा है। वह सब ठीक कर लेगी। मेरे सामने कर्तव्य आया है मैं उससे विमुख न होऊँगा। मैं कायर न बनूंगा। जो मैंने स्वप्न में देखा है वही प्रत्यक्ष हो जावेगा।

ऐसा सोचते सोचते बसन्त ज़ोर से टहलने लगता।

एक दिन वह अपनी ऐसे ही उधेड़बुन में था, उसे यह भी पता न चला कि माँ कब आई। कौशिल्या के शब्दों ने उसे चौंका दिया—बेटा, क्या सोच रहे हो ?

अप्रतिभ सा बसन्त माँ का मुख देखने लगा।

'बेटा ! मैं तुमसे कुछ कहने आई हूँ। तुम्हें अवकाश है ?

बसन्त ने कहा—क्या है माँ, ऐसी विह्वल सी क्यों हो ?

एक कुर्सी पर बैठते हुए कौशिल्या ने कहा—कोई विशेष बात नहीं, पर हाँ तुम सुस्थिर होकर बैठ जाओ।

माँ के सामने बसन्त एक कुर्सी पर बैठ गया।

गंभीर भाव से कौशिल्या कहने लगी—बेटा, मैंने तुमसे एक दिन शादी का प्रसंग छेड़ा था। तुम्हारे उत्तर से मैं तुम्हारा भाव जान गई थी। तुम जैसी सहधर्मिणी चाहते हो वैसे ही पा लेने का उपयुक्त अवसर तुम्हारे सम्मुख आया है। तुम असहाय की सहायता करना चाहते हो। और इस देश में ऐसे असहायों की कमी नहीं है। तुम्हारे आँखों के सामने एक बाला का बलिदान हो रहा है। क्या तुम उसे बचा नहीं सकते ?

बसंत का हृदय ज़ोरों से धड़कने लगा। उसने प्रश्नसूचक दृष्टि से माँ की ओर देखा।

कौशिल्या ने उसी शान्त स्वर से कहा—मैं तुमको अधिक उत्सुकता में क्यों डालूं ? मैं चाहती हूँ तुम ज्योत्स्ना की बाँह पकड़ो। वह ग़रीब होगई है। इसीलिए इस समाज का कोई युवक उसका पाणिग्रहण करने को तैयार नहीं हो रहा है। धन ही उनका सर्वस्व हो गया है। चार दिन के बाद इस निर्दोष लड़की का जीवन भविष्य के अंधकारमय पर्दे में ढक जायगा। फिर हम क्या कर सकेंगे ? इसके पिता को तुम नहीं जानते, मैं जानती हूँ। इसका सर्वनाश न होने पाये ऐसा काम बेटा, तुम्हें स्वीकार है ?

बसंत—तुम्हारी आज्ञा मुझे कब स्वीकार नहीं है माँ ! सच तो यह है माँ, कि तुम्हारा गौरव मैं तुम्हारा पुत्र होकर भी कुछ समझ नहीं पा सका ! पर पिता जी—

इसके लिए तुम चिन्ता न करो। मैंने उन्हें समझा बुझाकर राजी कर लिया है। बेटा, तुमने मेरा मुख उज्ज्वल कर दिया। तुमसे मुझे ऐसी ही आशा थी। आज मेरा हृदय आनन्द से पुलकित है कि मैं तुम्हारे ऐसे सच्चे विचारवाले पुत्र की माता हूँ। तुम पर मुझे गर्व है। ज्योत्स्ना को तुम अपनी जीवनसंगिनी बनाकर मानव हृदय का परिचय दो। वह सब तरह तुम्हारे योग्य है।

सच्ची श्रद्धा की दृष्टि से बसंत ने माँ की ओर देखा। फिर मधुर शब्दों में बोला—माँ, यह सब तुम्हारी ही देन है। आशीर्वाद दो माँ, जिससे अपनी जीवन-यात्रा हम सफल कर सकें। हम भी उस पथ पर चलने में समर्थ हो सकें जो एकमात्र जीवन-पथ है।

उसने झुककर माँ के पैर छू लिये।

× × ×

'ज्योत्स्ना रानी, इधर देखो, मेरे साथ कष्ट उठाते हुए जीवन-पथ पर चल सकोगी ? इस सब सम्पत्ति का कोई भी भाग मैं अपना नहीं मानता।' प्यार से बसंत ने ज्योत्स्ना से कहा। ज्योत्स्ना लज्जा से गड़ी जा रही थी। उसका हृदय हर्षातिरेक से वेग के साथ धड़क रहा था।

उसको चुप देखकर बसंत ने उसके लज्जा से झुके मुख को अपने हाथों से ऊपर उठाया और उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में लेकर स्नेहविगलित स्वर से कहा—डरती हो रानी ! देखो तो मेरी ओर। मैंने एक स्वप्न देखा था ज्योति ! उसकी तुमने पूर्ति कर दी।

इस बार ज्योत्स्ना हँस पड़ी। कृतज्ञता भरी दृष्टि से बसंत की तरफ़ देखा। फिर धीरे से बोली—मैंने भी एक स्वप्न देखा था। मैं आपके साथ साथ अवश्य चलूंगी।

———

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

विश्ववाणी



संरक्षक
परिडत सुन्दरलाल (जेल में)

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख़्तर हुसेन रायपुरी

जून १९४३

इस अंक के कुछ लेख

(१) नैतिक विश्व-व्यवस्था और अर्वाचीन दृष्टि—श्री कन्हैयालाल म० मुंशी
(२) वर्षा की कोई आशा नहीं—आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
(३) सम्प्रदाय और साम्प्रदायिकता—श्री रघुवीरशरण दिवाकर
(४) सोवियत् विज्ञान और उसका प्रयोग—श्री महादेव साहा
(५) ग़लत फ़हमी का डर—पं० देवीदत्त शुक्ल

इनके अतिरिक्त श्री जैनेन्द्रकुमार का धारावाहिक उपन्यास, अनेक सुप्रसिद्ध कवियों, कहानी-लेखकों और विचारकों की कवितायें, कहानियाँ और विचार-धारायें।

वार्षिक मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद एक अङ्क का ।।~)

विषय-सूची

जून १९४३

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काशमीर के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ५	जून, १९४३	अङ्क ६, पूरे अङ्क ३०

गीत

डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित

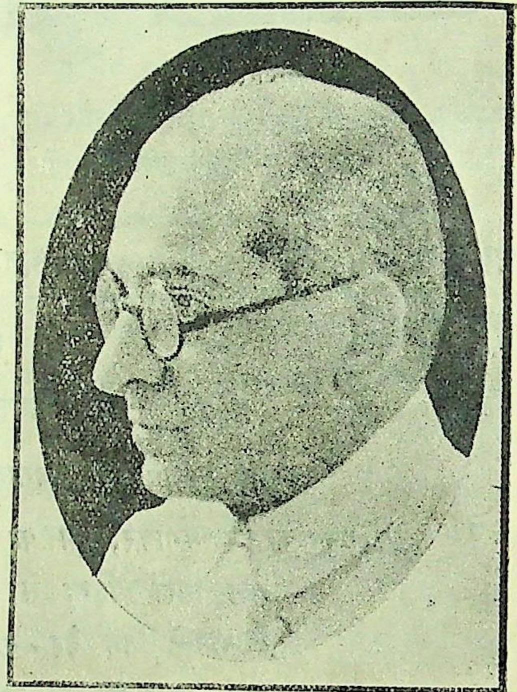
मैं सोया देश जगाता हूँ।

द्वेष, दम्भ को दूर भगाकर, प्रेम का राग सुनाता हूँ।
गले मिलें हिन्दू से मुसलिम, ऐसी ईद मनाता;
होली के दिन वैर-भाव को, होली बीच जलाता,
शब-बरात को मन ठाकुर की करता हूँ मैं शादी—
दीपावलियों से घर-घर में, जीवन-ज्योति जगाता।
मैं नवयुग, नवजीवन लाता; मंज़िल तक पहुँचाता हूँ।
मेरी मसजिद की मीनारें, गातीं प्रेम-तराने;
मेरे मन्दिर की दीवारें, स्नेह-भरे नव गाने,
रुनझुन-रुनझुन नाच रहे हैं, मेरी दुनिया वाले—
मेरा है संसार निराला, सब जाने-पहचाने।
मैं क़ुरान को, मैं पुराण को, साथ-साथ ही गाता हूँ॥
कौन भला मेरे स्वदेश के सन्मुख आ पाता है?
मेरा गढ़ चित्तौर आज भी अनुपम कहलाता है,
मेरा है कश्मीर 'जगत का स्वर्ग' जिसे कहते हैं—
मेरा 'ताज' आज 'दुनिया का ताज' कहा जाता है।
मेरी काशी, मेरा काबा, सबको यही बताता हूँ॥

———

नैतिक विश्व-व्यवस्था और अर्वाचीन दृष्टि

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी



चारों ओर पशुबल अपना अधिकार जमा कर बैठा हुआ है। कोई नहीं कह सकता कल क्या होगा। देश देश के फूल से कोमल बालकों का आर्त क्रन्दन सुनकर कलेजा काँप उठता है। जगत् भर के नौजवान मृत्यु के मुख में धँसे जा रहे हैं। विनाश की तरंगे, प्रलय की लहरों की तरह चारों ओर घूम चुकी हैं। जगत् का नरोत्तम कारावास में पड़ा पड़ा सड़ रहा है। मुझे प्रतीत होता है कि इस समस्त विनाशकता, इस समग्र दुःख, और इस सारी अशांति का मूल पाश्चात्य संस्कृति की भूमिका में निहित दृष्टि-स्वरूप में ही है।

रेल, तार, डाक और रेडियो द्वारा संसार संकीर्ण हो गया है। इन समस्त साधनों द्वारा अर्वाचीन यूरोप ने सारे जगत् पर आक्रमण किया है। जगत् की स्वतन्त्रता पर नहीं, बल्कि सारे संसार की संस्कृति पर! सण्डासी में जकड़े हुए पिल्ले की तरह हम तड़प रहे हैं, चीख़ मार रहे हैं, परन्तु सण्डासी में से छूटने का मार्ग नहीं मिल रहा। जब तक इससे हम मुक्त नहीं होते तब तक तड़पना ही पड़ेगा।

तो हमें यूरोप की संस्कृति की पृष्ठभूमिका में निहित दृष्टिकोण का दर्शन करना चाहिए और उसके कलंक का निरूपण करना चाहिए। किसी अज्ञात अन्धकार की ओर हम धँसे चले जा रहे हैं। जब तक उस दृष्टिकोण के भयानक परिबलों का हमें ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक हमें त्रस्त रहना ही पड़ेगा।

यूरोप प्रारम्भ से ही प्रचण्ड पशुत्व की लीला-भूमि रहा है। रोमन साम्राज्य के समय से इसने विनाशकता को प्रसारित करने की वृत्ति पर शायद ही अंकुश रक्खा हो।

अर्वाचीन यूरोप के प्रारम्भ होने से पूर्व वहाँ पर रोमन कैथोलिक ईसाई सम्प्रदाय की प्रबलता थी। मानव की महत्वाकांक्षा के ऊपर ईश्वरीय नियमों की सर्वोपरिता मानी जाती थी। धर्म, नीति, नियमन आदि को मानवशक्ति से परे और अधिक बलिष्ठ माना जाता था। इस मान्यता के कारण पशुता कुछ अंशों में वश में रहती थी। उन दिनों नीति (सदाचार) को सुविधा की वस्तु नहीं माना जाता था। राजा और प्रजा, देव और दानव—सभी को योग्य आचार और व्यवहार में रखने वाली विश्वव्यवस्था विद्यमान थी।

युद्ध होते थे, विनाशक उपक्रम होते थे, दुःख देने वाले दुःख देते थे, सहन करने वाले को सहना पड़ता था, परन्तु सर्वव्यापी और अनियन्त्रित विनाशकता के मार्ग में आकर यह विश्वव्यवस्था की भावना खड़ी हो जाती थी और निर्दोष बच जाते थे।

यह विश्वव्यवस्था कुछ एक अंशों में भारतवर्ष में प्रवर्तित दशा की प्रतिकृति थी। हमारे यहाँ राजा

लोग लड़ते थे परन्तु गाँव के बाहर। न वे ब्राह्मण को छूते थे, न वे मन्दिर तोड़ते थे और न वे गाय तथा स्त्री का बाल बाँका होने देते थे। स्वच्छन्दी लोग भी थे, परन्तु आचार पर नीति का अंकुश विद्यमान था। नैतिक विश्वव्यवस्था सनातन मानी जाती थी। इस व्यवस्था की मर्यादा में से भले ही बहुत से निकल भागें, परन्तु भाग निकलने में सुख है या मोक्ष है—ऐसा कोई नहीं मानता था। दुष्ट से दुष्ट राजाओं को भी धर्म द्वारा निर्मित व्यवस्था को स्वीकार करना पड़ता था। निष्ठुरता थी, महत्वाकांक्षा थी, परन्तु उनको कोई मोक्ष का साधन नहीं मानता था।

ईस्वी सन् १५०० के आसपास की बात है कि इस विश्वव्यवस्था के आधाररूप ईसाई संप्रदाय का प्रभाव घटने लगा और अर्वाचीन यूरोप का दृष्टि-स्वरूप पहली बार व्यक्त हुआ। इस परिवर्तन का नतीजा यह हुआ कि इस नैतिक विश्वव्यवस्था में से लोगों की श्रद्धा विचलित होने लगी। सत्य और असत्य को तौलने का आधार पशुबल को माने जाने लगा। इस नवीन दृष्टिस्वरूप के प्रतिनिधि रूप दो व्यक्ति उल्लेख योग्य हैं—मेकियावेली और फ्रान्सिस बेकन।

मेकियावेली ने राज्यशक्ति के पशुबल को जीवन-व्यवस्था की अन्तिम कक्षा माना। राजा की इच्छा को ही सर्वशक्तियों का मूल मान लिया—अनियन्त्रित शक्ति ही न्यायासन! रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में उसने अधर्म को देखा, नीति में केवल सुविधा को निहारा।

पुराने ज़माने में छोटे बड़े सब ईश्वर के आधीन थे। अर्वाचीन यूरोप में थोड़े से मनुष्यों ने इन्द्र का वज्र प्राप्त करके अन्य मनुष्यों को अपना ग़ुलाम बनाना प्रारम्भ किया। राजा लोग नैतिक व्यवस्था को स्वीकार तो करते थे, परन्तु केवल लोगों को वश में रखने के एक इन्द्रजाल के रूप में। वह नैतिक व्यवस्था एक राजा तथा दूसरे राजा में या अपने तथा अपनी प्रजा के बीच में नहीं थी।

नैतिकता एक विश्वव्यवस्था के बदले पाशव-शक्ति का एकमात्र शस्त्र बन गई! इस प्रकार अर्वाचीन यूरोप का प्रारम्भ हुआ।

फ्रान्सिस बेकन भी अर्वाचीन यूरोप का एक सूत्रधार है। वह अर्वाचीन युग का अधिष्ठाता है—ऐसा हमें कॉलेजों में सिखाया जाता है। इस युग के बड़े से बड़े प्रतिभाशाली महापुरुष के रूप में उसकी पूजा आज चार सौ वर्ष से हो रही है।

इसने प्रतिपादन किया कि संयमवाद भीरु लोगों का वाद है। यह मानता था कि शरीर को स्वच्छन्दता और संयम, दोनों का समान अनुभव कराना चाहिए। सत्य और असत्य, दोनों का बुद्धिमतापूर्ण मिश्रण करते रहना चाहिए। अर्वाचीन विज्ञान के इस पैग़म्बर ने घोषित किया कि मैं सम्प्रदाय को नहीं स्थापित करना चाहता। मुझे तो उपयोगिता और शक्ति प्राप्त करने के साधन प्राप्त करने हैं। विज्ञान को मनुष्य के उपयोग में लाना चाहिए, जिस से प्रकृति पर विजय प्राप्त हो और मनुष्य का बल बढ़े। यह उसके समस्त जीवन का स्वप्न था। इसने जगत् को सिखाया कि वैज्ञानिक प्रयोगपद्धति ही सत्यान्वेषण का एकमात्र सीधा मार्ग है। यह मानता था कि जिस वस्तु को मैं प्रयोगशाला में ला सकूँ, जिस पर मैं वहाँ प्रयोग कर सकूँ और दूसरे को स्पष्टतया विश्वास करा सकूँ, उसी में सत्य विद्यमान है।

इसने मेकियावेली के सिद्धांत-सूत्रों को अपनाया! इसके अतिरिक्त इसने बाह्य जगत् पर प्रभुत्व प्राप्त करने में ही मानवशक्ति की आत्मसिद्धि को निहारा। मनुष्य स्वयं कैसा भी हो, परन्तु यदि वह प्रकृति के नियमों को वशवर्त्ती बनाकर उनका उपयोग कर सके तो वह सचमुच शक्तिशाली बन सकता है—इस सिद्धांत को उसने वेगवान् बनाया।

ईसा मसीह ने कहा था कि जगत् का राज्य मिल जाय और आत्मा चला जाय तो उससे क्या लाभ? जीवन में ईसा मसीह को जुडा ने धोखा दिया। चार सौ वर्ष बाद ईसा मसीह को बेकन ने फिर से धोखा दिया। उसने कहा—आत्मा जाय तो भले जाय,

जगत् का राज्य जीतना ही मुझे अभीष्ट है। अन्य वस्तुओं से मुझे क्या ?

बेकन ने तथा बेकन सदृश अन्य विचारकों ने यह दृष्टिस्वरूप प्रस्तुत किया कि जीवन की सार्थकता आत्मसिद्धि में नहीं बल्कि साधन-प्राप्ति में है।

इस दृष्टिस्वरूप का मर्म जानना चाहिए। जहाँ तक नैतिक विश्वव्यवस्था में श्रद्धा थी, वहाँ तक विनाशकता एक गले पड़ी विपत्ति के समान थी! जब शक्ति ही व्यवस्था की अन्तिम कक्षा बन गई तब विनाशकता ही सत्यासत्य की अन्तिम कक्षा बन गई!

इस प्रकार अर्वाचीन यूरोप में वैज्ञानिक युग शुरू हुआ। मैं झूठा होऊँ, पापाचारी होऊँ तो कोई परवाह नहीं, मैं अपने रागद्वेष को पुष्ट करने के लिए जो कुछ भी करूं उसमें किसी विश्वनियम को अन्तराय नहीं डालना चाहिए। मुझे तो इस नवीन दृष्टि द्वारा इतना ही देखना है कि विज्ञान की सहायता से मैं इतनी शक्ति प्राप्त कर सकूँ कि मैं अपनी इच्छा का भार समस्त जगत् पर डाल सकूँ!

इस प्रकार नियम के बदले स्वेच्छा प्रकट हुई। नैतिक विश्वव्यवस्था के स्थान पर पाशविक प्रभुता की कक्षाएँ प्रकट हुईं। इसके परिणाम में दो मान्यताएँ उत्पन्न हुईं। (१) राज सत्ता की इच्छा ही जीवन व्यवहार का नियम है (२) जिस राजसता के पास विनाशकता के साधन अधिक हों, उसकी इच्छा ही अन्तिम विश्वनियम है।

आत्मा की सिद्धि छोड़कर मनुष्य विज्ञान के बल से प्रकृति को शस्त्र बनाने लगा। बारूद का आविष्कार हुआ। तोप गोले बने। बन्दूकें बनीं। तोपों के माप अधिक हुए। विनाशकता की सीमा बढ़ी। जल, स्थल और वायु को वशवर्ती बनाने वाले साधनों के आविष्कार हुए। विमानों ने दूरी को कम कर दिया! टैंक और बम्बड्राईवर ने सहस्रार्जुन से भी अधिक विनाशकता फैलाने की शक्ति प्राप्त कर ली। यूरोप की प्रजाएँ आज चार सौ वर्षों से शान्त-भाव से बैठ नहीं सकी हैं। उन्होंने शेष संसार को भी शान्त भाव से बैठने नहीं दिया। विनाश के साधनों को लेकर महाभारतस्थल रचा रक्खा है। निर्दोषों को चकनाचूर कर दिया है। नैतिक विश्वव्यवस्था का परिहास करना सिखाया है। मनुष्य के आत्मा का नीलाम किया है और कराया है।

इस दृष्टिस्वरूप का एक अंग है—जड़वाद। खाना पीना और मौज उड़ाना—इसी को जीवन की सिद्धि माना गया है। इतिहास का भी जड़वादात्मक स्पष्टीकरण किया जाने लगा है। पारस्परिक वर्गविग्रह में ही जीवन का रहस्य विद्यमान है ऐसा माना जाने लगा। कौन किसकी अपेक्षा अधिक अच्छा खाना खाता है और पीता है, इसी में श्रेष्ठता मानी जाने लगी।

मनुष्य स्वयं क्या है, उसकी अपेक्षा वह क्या कर जाता है, क्या भोग भोग सकता है, इसी में उस की महत्ता मानी जाने लगी। ख़ूब कमाना, ख़ूब ख़र्चना, ख़ूब मदिरा पीना, ख़ूब घोड़े दौड़ाना, बड़ा जूआ खेलना, पैसे द्वारा जगत् को ख़रीदना—बस इन्हीं बातों में जीवन की सिद्धि मानी जाने लगी। देश अन्य देशों को खाने लगे। सन्धि-वचनों को तोड़ने में नीति, स्वाधीनता छीन लेने में राजनीतिज्ञता, तथा झूठे प्रचार में कुशलता समझी जाने लगी।

मोण्टेकार्लो अर्वाचीन यूरोप का पुण्यधाम है, अमरपुरी सा सुन्दर। वहाँ पर प्रतिदिन करोड़ों का जूआ खेला जाता है। रूपवती स्त्रियों का नीलाम होता है। विषय-लालसा बढ़ाने में तथा प्रवर्धमान लालसा को अतृप्त रखने में ही जीवन का साफल्य खोजा जा रहा है! यही आधुनिक यूरोप का धर्म हो गया है।

राज्य स्थापित करना, राज्य सत्ता की विनाशता को बढ़ाना, उसके द्वारा साम्राज्यों की प्रतिष्ठा करना, जगत् के निर्दोष और निर्बल मनुष्यों की शांति को लूटना, समस्त जगत् की समृद्धि का दोहन करना अपनी अतृप्य क्षुधा को परितुष्ट करना, या उसके द्वारा विनाशकता को फैलाने वाले साधनों को एकत्र

करना—बस इन्हीं में यूरोप के राजनीतिज्ञों ने अपनी इतिकर्त्तव्यता मान ली है। चार सौ वर्ष के इस दृष्टिस्वरूप ने आज समस्त जगत् को नष्टभ्रष्ट कर डाला है।

इस अर्वाचीन दृष्टि का नवीन स्वरूप आज हमको नया नहीं प्रतीत होता, क्योंकि हम बाल्य काल से मानते आए हैं कि यही सच्ची दृष्टि है। परन्तु इस दृष्टि में समाया हुआ भ्रम आज धीरे धीरे हमारी समझ में आ रहा है। भविष्य में और अधिक स्पष्टता के साथ समझ में आयेगा।

इस दृष्टि को आधुनिक यूरोप ने आज़माया। उसका अनुकरण करके समस्त संसार ने इसे आज़माया! क्या मानव इसके द्वारा अधिक सुखी हुआ है? इसका उत्तर सुनना चाहते हो तो जाकर पूछो जेकोस्लोवेकिया के दलितों से, पूछो समराँगण में विनाश के विकराल मुख में धँसते हुए देश देश के असंख्य युवकों से, पूछो अपने आस पास के विशीर्यमाण जीवन कुसुमों से, पूछो निर्दोष स्त्रियों और बालकों से, और पूछो उससे जो अँधेरी रात्रि में मानवबन्धु के हाथ से राख हो रही है!

चार सौ वर्ष तक बेकन के पथ पर चलकर क्या मनुष्य स्वतन्त्र हुआ है? कहाँ है पोलैण्ड आदि की स्वाधीनता? मनुष्य-व्यवस्था की निर्दय शृङ्खला में कौन बद्ध नहीं है? कहाँ है आज जर्मनी, जापान, इंगलैण्ड या अमेरिका के मनुष्यों का स्वातन्त्र्य? हमको कॉलेज में पढ़ाया जाता था कि प्राचीन भारत में स्वातन्त्र्य नहीं था। बेकन द्वारा हम जो कुछ पढ़े हैं उसके परिणाम में भी आज भारत में स्वातंत्र्य कहाँ है। मनुष्यमात्र आज एक निर्जीव और छोटा सा चक्र बनकर, आत्म विहीन होकर, पिसा चला जा रहा है।

क्या मनुष्य आज उदात्त है? उसमें कहीं भी विश्वप्रेम दिखाई देता है? आज तो एक मानव दूसरे के गले पर छूरी रखकर बैठा हुआ है। जाति-विग्रह, वर्ग-विग्रह, राष्ट्र-विग्रह, और साम्राज्य-विग्रह के रूप में द्वेष सारे जगत् का आवरण बना हुआ है!

क्या आज सत्य कहीं पर भी दृष्टिगोचर होता है? क्या आज के अख़बार सत्य बोल सकते हैं? दिन और रात को भयंकर बनाने वाला रेडियो क्या असत्य के सिवाय कुछ और बोलता है? जब विग्रह का दावानल प्रकट होता है, तब सबसे पहली मृत्यु तो सत्य की होती है!

क्या मनुष्य ने आज अस्तेय को प्राप्त किया है? आज ग़रीबों और निरपराधियों के धनों को लूटने में कौन संकोच करता है? विज्ञान को वश में करने वाली प्रजाएँ (राष्ट्र) आपस में विनाश साध रही हैं। राष्ट्रों की चोरी करना तो उनके लिए साहूकारी हो गई है! धन हरने और निर्दोषों की शक्ति को हरने में तो उनके कीर्तिगान होते हैं।

कैसे कहें कि चार सौ वर्ष के इस प्रयोग से मनुष्य उदात्त बना है? मिट्टी में से जन्मा हुआ मनुष्य मानता है कि उसने जगत् को जीता है! सच पूछो तो उसने जगत् को खोया है, साथ ही उसने अपना आत्मा भी खो दिया है!

मनुष्य को आज न तो सुख मिला है, न वह स्वातन्त्र्य का भोग कर पाया है और न उसके पास नैतिक विश्वव्यवस्था के अनुकूल रहने वाला दिव्यांश रहा है! न तो उसके पास आत्मगौरव रहा है, न उसको आत्मसिद्धि मिली है। वह आज जंगली स्वच्छन्दी वानर सा हो गया है। यह सच है कि उसके हाथ छोटे हो गए हैं, परन्तु उन छोटे हाथों में उसने विज्ञान द्वारा विश्व विनाशक वज्र पकड़ा है। इसके सामने सहस्रार्जुन और रावण निर्दोष बालक जैसे प्रतीत होते हैं। अपना स्वरूप निहारने की उसकी शक्ति नष्ट हो गई है।

एक सुन्दर दृष्टान्त याद आता है! गगन-चुम्बी हिमालय के शिखरों के बीच में, तिब्बत में, एक वृद्ध बौद्ध भिक्षु रहता था। साठ वर्ष की तपश्चर्या द्वारा उसने शान्ति प्राप्त की थी! पल पल में "बुद्धं शरणं गच्छामि" रट रट कर उसने पाशवता को वश में किया था। सतानत हिम का दर्शन करके उसकी दृष्टि निर्मल हो गई थी। वह सुखी था, शान्त

था, भावनामय जीवन का आनन्द उसने प्राप्त किया था! द्रवीभूत अनुकम्पा से उसने सब जगत् को लपेट लिया था।

उसके पास इक्कीस वर्ष की दृढ़ाङ्गिनी एक आस्ट्रेलियन विमानविहारिणी नवयुवती आई। बाल्यावस्था से ही उसने विज्ञान को तथा विज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति को अपना लिया था। गर्व के साथ वह वृद्ध साधु के पास आई! वह समझ रही थी कि पाषाण सा जड़ वह साधु निकम्मा है। वृद्ध की ओर तिरस्कारपूर्वक निहारते हुए इस युवती ने अपना परिचय दिया—

"मैं इक्कीस वर्ष की तरुणी हूँ। मैं विमान विहारिणी हूँ! इस विषय में मेरे इतना योग्य और कोई नहीं।"

वृद्ध ने पूछा—तुमने क्या किया?

तरुणी ने कहा—मैं उन्नीस वर्ष की थी तब एक घण्टे में दो सौ मील की गति से मेलबोर्न से उड़कर मुम्बई आई थी। बीस वर्ष की हुई तब तीन सौ मील प्रति घण्टे की चाल से मेलबोर्न से लन्दन गई। और अब चार सौ मील प्रति घण्टे के वेग से समस्त संसार के आसपास उड़ आई हूं।"

शान्त और संयमी वृद्ध ने साठ वर्ष के भावनामय जीवन से प्रेरित होकर प्रश्न किया—"इतनी शीघ्रता किस लिए?"

इस प्रश्न द्वारा मेकियावेली और फ्रांसिस बेकन द्वारा रचे हुए चार सौ वर्षों का बुलबुला फूट जाता है। इतना उतावलापन किस लिए? एक दूसरे का विनाश करने के लिए? मानव का स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान छीन लेने के लिए? जगत् के प्रभु ने मानव को जो सुख दिया है उसे हर लेने के लिए? मैं भी उस वृद्ध भिक्षु का प्रश्न पुनः पूछ लेता हूँ—

"यह सब किस लिए?"

जो जो साधन हैं, जो कुछ समृद्धि है, उसमें बड़ी से बड़ी में से केवल एक का ही नाम कहें तो वह सम्पत्ति है—हमारी मानवता! एक लक्षण ऐसा है जिसके द्वारा हम पशु की भूमिका छोड़कर देवांश को स्पर्श कर सकते हैं—वह है हमारा आत्म गौरव!

जगत् का नाथ तो वह है जो अपनी मानवता का मालिक हो, जो अपने जीवन का विश्वकर्मा बन सके—स्वधर्म के पन्थ पर विचार कर स्वयं अपना शासनकर्ता, स्वमेव अपना नियन्ता बन सके। बाक़ी तो सब झूठ मूठ है!

जिस संस्कृति या साधन सम्पत्ति को मानव गौरव के लिये मान न हो, जिसकी बनाई व्यवस्था में मानव-गौरव स्वतन्त्रता पूर्वक स्वधर्म का आचरण न कर सके, उस व्यवस्था को "संस्कृति" कहना भ्रम है। वह तो देवों को पशु बनाने का यन्त्र है। मनुष्य के उद्धार के लिए उसका विनाश करने में ही समग्र मानव जाति की मुक्ति समाई हुई है!

आइए, हम क्षण भर के लिए रुककर अपने अन्तर में दृष्टिपात करें। जिसके द्वारा मानव को सुख नहीं मिला, आत्मशक्ति न मिली, उसका आत्म गौरव न बढ़ा, नैतिक विश्वव्यवस्था का साम्राज्य न स्थापित हुआ, वह विज्ञानवाद तो मानव का कट्टर शत्रु है! प्राचीन आर्यों ने मानव देह को देवों के लिए भी दुर्लभ माना है। दुर्लभ इस कारण माना है क्योंकि इस देह से ही आत्म-सिद्धि शक्य है।

यह किया, वह किया, इस प्रकार सन्तोष मानने में मनुष्यत्व नहीं है। मनुष्यत्व तो मानव बनने में है। करने की अपेक्षा बनने में ही मोक्ष है।

मानव-प्रयत्न का ध्येय मानव ही है, वह साधन नहीं। उसकी आत्मनिष्ठ महत्ता जगत् की बड़े से बड़ी समृद्धि है। विज्ञान उस महत्ता का दास हो सकता है, ब्रह्मराक्षस बनकर उसको निगल नहीं सकता! यह सचाई जब समझ में आ जायगी तब अर्वाचीन यूरोप का ज़हर उतर जायगा और मानव जाति देवत्व के पन्थ की ओर मुड़ जायगी।

इस विज्ञान के बिना भी गौतम बुद्ध और ईसा मसीह ने मानवता की चोटी का स्पर्श किया था। इस विज्ञान के साहाय्य से आज जगत् के पशुश्रेष्ठ एक दूसरे को फाड़कर खाये जा रहे हैं। आज हम

विज्ञान को भूल तो नहीं सकते, परन्तु विज्ञान के इस प्राबल्य की विषमता को अवश्य तोड़ सकते हैं!

निस्सन्देह मनुष्य सृष्टि का स्वामी है, यदि वह मानवता का साम्राज्य सुरक्षित रख सके, यदि वह नैतिक विश्वव्यवस्था को पहचान सके।

इस विज्ञान का विष उतारना सरल है। मानव व्यक्तित्व का गौरव हम दुर्जेय रख सकते हैं। उसकी रक्षा के लिए अपने प्राण अर्पण कर हम मानवता की सर्वोपरिता सिद्ध कर सकते हैं!*

अनुवादक—श्री शंकरदेव विद्यालंकार

* साहित्य संसद्, मुम्बई का वार्षिक व्याख्यान।

परिवर्तन

श्री लक्ष्मण भट्ट, साहित्य रत्न

यह कैसा परिवर्तन आया

जब अचेत निष्प्राण पड़ा था,
जग घुटनों पर चलने वाला,
प्राणों का पीयूष मिलाकर,
जिसने उसमें जीवन डाला,
क्रूर बन्धनों में वह जकड़ा, यह कैसी दुर्दिन की माया!

पशुता भी स्वच्छन्द खेलती,
जग-प्रांगण में जीवन-होली,
नृत्य कर रही है बर्बरता,
रँगे रक्त से अपनी चोली,
जहाँ जीव ने जीना सीखा, उस पर दुख-दानव की छाया!

मानवता के दीन पुजारी,
आज शून्य आँखों से रोते,
दलित हृदय के घावों को नित,
खारे पानी से हैं धोते,
सहज मनुजता पर पशुबल ने है निर्मम अधिकार जमाया!

कहाँ शेष मानव में ममता?
आज कहाँ वह भाई-चारा?
जीवित अरे प्राणमय मानव—
टुकड़ों पर है मारा मारा!
शान्ति? कहाँ है शान्ति? अभागे, जब तक जग की कलुषित काया!
जग में नव परिवर्तन आया!

सोवियत् विज्ञान और उसका प्रयोग

श्री महादेव साहा

नाज़ी आक्रमण के ख़िलाफ़ सोवियत् के लोग जिस दृढ़ता, हिम्मत और कामयाबी से लड़ रहे हैं उसकी कितनी ही वजहें हैं। राजनीतिक, सामाजिक, सामरिक कारणों को छोड़कर यहाँ हम उसके एक विशेष अंग पर ही रोशनी डालना चाहते हैं, और वह है सोवियत् में विज्ञान की प्रगति और उसका प्रयोग। इस बात को सभी जानते हैं कि विज्ञान की उन्नति और प्रयोग के बग़ैर उस विशाल कृषिप्रधान महादेश के लिए सिर्फ़ पन्द्रह सालों में दुनिया के पहिले दर्जे के उद्योगप्रधान देशों के बराबर हो जाना, और किसी किसी बात में तो उन्हें पीछे भी छोड़ जाना, सम्भव नहीं हो सकता था!

साम्यवाद "गुहा मानव" का नारा लगा कर दुनिया की समस्याओं को हल करने का दावा नहीं करता है। वह मानता है कि आज तक विज्ञान की जितनी उन्नति हो चुकी है, उसे अगर व्यक्तिगत या वर्ग स्वार्थ के लिये नहीं बल्कि जनता की उन्नति के लिये नियुक्त किया जाय, तो सभी लोगों का जीवन शान्तिपूर्ण और सुखमय बनाना कोई बड़ी बात नहीं है। मार्क्स से लेकर स्तालिन तक सभी लोगों ने विज्ञान के प्रयोग की ओर काफ़ी ध्यान दिया है। लेनिन ने १९२० में लिखा था—"सोवियत् शासन के साथ सारे देश को बिजलीमय बना देना ही साम्यवाद है।......जब हम देश के कोने कोने में बिजली का प्रचार कर देंगे—जब उद्योग-धन्धे, खेती-बारी और आवागमन के साधनों को आधुनिक विशाल उद्योग-धन्धे के आधार हम क़ायम कर सकेंगे, तभी हमारी आख़िरी जीत होगी।"

आज के युग में सामरिक शक्ति विज्ञान और उसके प्रयोग पर निर्भर करती है। आज सोवियत् जनता जिस बहादुरी से नाजियों की सेना के छक्के छुड़ा रही है, वह सिर्फ़ मार्क्सवाद के महान सिद्धान्तों से ही कदापि सम्भव न होता। सोलह महीने तक घिरे रहने पर भी लेनिनग्राड का बाल बाँका नहीं हुआ, मास्को के बीस मील के अन्दर हिटलरी सेनाओं के पहुंचने और तीन तरफ़ से शहर को घेर लेने पर भी 'मास्को के चित्र से ही हिटलर को सन्तुष्ट रहना पड़ता', (लोजोवस्की)* । सेवास्तोपोल के ध्वंशस्तूप के लिये तीन लाख जर्मनों का सफाया किया जाना और आठ महीने वीरता के साथ उसकी रक्षा करना, कोहकाफ़ से तेल के कुओं पर क़ब्ज़ा करने के नाज़ी सपने को चूर करना; वोल्गा के किनारे चालीस मील तक फैले हुए स्तालिनग्राद को सवा तीन लाख सेनाओं से हाथ धोकर भी नहीं ले सकना, ये सब बातें कैसे सम्भव हुईं ? 'दस हफ़्तों' में ही सोवियत् ख़त्म क्यों नहीं हुआ ?

आज से एक साल पहिले प्रो० हालडेन के सभापतित्व में लन्दन में प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की एक सभा हुई थी। इसमें अधिकारी विद्वानों ने सोवियत् विज्ञान की चतुर्मुखी उन्नति और उसके प्रयोग पर प्रकाश डाला था।

भौतिक विज्ञान की प्रगति के बारे में प्रो० जे० डी० बार्नल ने कहा कि सोवियत् में इस विषय में बहुत से बुनियादी काम किये गये हैं और रास्ते में आने वाली क़रीब सभी रुकावटों को दूर किया गया है। १९२० में सारे देश में सिर्फ़ बीस ट्रेनिंगशुदा भौतिक वैज्ञानिक थे। अब उनकी संख्या हज़ारों तक पहुँच गई है। भौतिक विज्ञान ने देश की उन्नति की साधारण योजना तथा आक्रमण से देशरक्षा की तैयारी के लिये भी काफ़ी काम किया है। सोवियत् अर्थनीति की आवश्यकताओं ने ही इसका अध्ययन

---

* Lenin 1920, Selectrd works Vol. VIII, P. 276.

अनिवार्य बना दिया है। उदाहरण के लिये बिजली को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के सवाल को ही लीजिये। रंच मात्र नुक़सान का मतलब है करोड़ों किलोवाट का नुक़सान—क्योंकि सोवियत् में जितनी बिजली ख़र्च होती है, उतनी दुनिया के किसी भी देश में नहीं। इससे बचने के लिये पृथग्न्यासकों (Insulators) के अध्ययन की ज़रूरत थी, इसके लिये मणिओं (Crystals) के अन्दर से बिजली के जाने की क्रिया और घन स्थिति के क्वान्तम सिद्धान्त को जानने की आवश्यकता थी। धातु के उद्योगों में भी समस्यायें दिखाई पड़ीं जिससे जोफे के नेतृत्व में मणिभ भौतिक विज्ञान का विकास हुआ और नभ्र के अनिर्माण के गतिशील सिद्धान्त की स्थापना हुई। आस पास के माध्यम के अनुसार धातुओं की कठोरता बढ़ती है। रेबाइण्डर का यह सिद्धान्त बुनियादी है। इससे धातु सम्बन्धी अनुसन्धान पद्धति में कितने ही परिवर्तन हुए हैं।

सोवियत् में विज्ञान को अर्थनीति के एक अंग के रूप में इस आधार पर योजनायुक्त बनाया जाता है, जिसमें किसी भी विशेष क्षेत्र में प्रयास के अनुपात में सफलता भी अवश्य मिलती है। अपेक्षित सामग्री दे दी जाती है और सोवियत् विज्ञान परिषद् अपने ढंग से काम शुरू कर देता है। हर एक गवेषणालय के कार्यकर्त्ता अपने अपने सवालों और उन्हें हल करने के तरीक़ों का फ़ैसला ख़ुद करते हैं। आज समग्र सोवियत् में विज्ञान को लड़ाई जीतने के लिये काम में लाया जा रहा है; उसका उत्पादन की समस्याओं, नये हथियारों, नये अंचलों में उद्योग धन्धों के निर्माण, नई सामग्रियों के आविष्कार और पूर्ति के साधनों का पता लगाने में उपयोग किया जा रहा है।

एच० पी० वावेलेस ने सोवियत् में बिजली के प्रसार के सम्बन्ध में कहा कि विशेष परिस्थितियों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों को प्रयोग करने की अद्भुत प्रतिभा लेनिन में थी। उद्योग धन्धों की पिछड़ी हुई दशा में सोवियत् को भीतर बाहर दोनों से ख़तरा था। बिजली के फैलाव के बिना विशाल उद्योग-धन्धों का निर्माण सम्भव नहीं था। इसीलिये लेनिन की तत्परता से बिजली प्रसार परिषद् बना और विशाल उद्योगों की ओर सोवियत् ने पहिली सफलता प्राप्त की।

आगे वावेलेस ने कहा कि फ़ी आदमी के हिसाब से दुनिया में सबसे अधिक बिजली बनती है संयुक्तराष्ट्र अमरीका में। लेकिन बिजली के प्रसार और उन्नति की बहुत सी बातों में सोवियत् उसकी बराबरी में है और बिजली के विस्तार की गति, उत्ताप और बिजली-उत्पादन केन्द्रों के निर्माण, खेतीबारी में मशीनों और बिजली के प्रयोग, तथा योजना के अनुसार बिजली के उत्पादन और खपत में तो सोवियत् ने संयुक्त राष्ट्र से भी बाज़ी मार ली है। बिजली बनाने की प्रक्रिया सोवियत् ने अधिकांश में संयुक्तराष्ट्र से ही सीखी। लेकिन बीस ही साल के अन्दर इसने इतनी उन्नति कर ली है कि आज संयुक्त राष्ट्र भी इस विषय में उससे बहुत कुछ सीख सकता है।

डा० एन० एफ० एम० हेनरी ने भूगर्भ विज्ञान की उन्नति पर प्रकाश डाला। ज़ारशासित रूस में कई विश्वविख्यात भूगर्भवैज्ञानिक थे। फिर भी रूस में १५ फ़ीसदी भूमि का भी ३/४ इंच प्रति मील के पैमाने पर नक़्शा नहीं बन पाया था। बिजली और उद्योग धन्धों के प्रसार के लिये कोयले, लोहे तथा दूसरी धातुओं की ज़रूरत थी। विशाल देश होने के कारण जगह जगह पर पूर्ति के केन्द्रों का निर्माण ज़रूरी था। ब्रिटेन में १०० सालों में हर एक वर्ग मील ज़मीन की जाँच पड़ताल की गई थी। लेकिन ८० लाख वर्ग मील के सोवियत् देश में या तत्काल सम्भव नहीं था। सोवियत् के भूगर्भशास्त्रियों ने नौजवान भूगर्भशास्त्रियों को शिक्षित किया और उन्हें काम में लगाया। इस काम के लिये उन्होंने भूगर्भ-रसायन के सिद्धान्त का निर्माण किया। सोवियत् भूगर्भशास्त्रियों ने अपनी सभी समस्याओं को सफलता के साथ सुलझाया। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि आज सोवियत् के वैज्ञानिक भूगर्भ-रसायन शास्त्र में दुनिया का नेतृत्व कर रहे हैं।

सोवियत् अर्थनीति को इसकी उन्नति की शख़्त ज़रूरत होती है।

१९३६ में भूगर्भशास्त्र सम्बन्धी काम के लिये ५७ करोड़ रुपये ख़र्च किये गये। मार्च १९३८ में सरकारी तौर से घोषित किया गया है कि यह रक़म दूनी की जायगी। केन्द्रीय भूगर्भशास्त्रपरिषद् में ५०० आदमी काम करते हैं। लेकिन इसके नियन्त्रण में काम करने वाले भूगर्भशास्त्रियों की संख्या दस हज़ार है। इससे इसके महत्व का पता चल जाता है। स्कूलों के लाखों विद्यार्थी मैदानों तथा 'पाओनीयर महलों'[1] के गवेषणालयों में अध्ययन करते हैं। आम लोग भी भूगर्भशास्त्र सम्बन्धी आधुनिक आविष्कारों के बारे में पढ़ते हैं और मुख्य भूगर्भशास्त्री लोग बहुत ही जनप्रिय हैं।

एच० रोज़ ने रसायन की इञ्जीनियरिंग, विशेष रूप से कोयले के गैस बन जाने की क्रिया और रबड़-उद्योग के विषय में कहा कि मेण्डेलीफ ने इस विषय में सबसे पहिले गवेषणा की और सर विलियम रैमज़े ने ब्रिटेन में इसके अनुसार काम किया, लेकिन लेनिन ने ही पहिले पहिल इधर पूरा ध्यान काम में लगाया। १९४० में कैपीतजा को इस सम्बन्ध में आविष्कार के लिये स्तालिन पुरष्कार[2] दिया गया।

नई उन्नति का अर्थनैतिक और सामाजिक महत्व भी महान है। अब एक कोयला खोदने वाला दस का काम कर सकता है। रोज़ साहब का विश्वास है कि इस्पात के ब्लैस्टफर्नेस की उन्नति के धातुओं के गलाने के लिये 'कोक' कोयले की भी ज़रूरत नहीं पड़ेगी और तब ज़मीन के अन्दर पैठ कर कोयला खोदने का भी अन्त हो जायगा।

कोंडाकोफ और लेबेडफ ऐसे महान विद्वानों ने जार के ज़माने में रबड़ के बारे में गम्भीर अध्ययन किया था। लेकिन क्रान्ति के बाद ही इस दिशा में भी व्यापक उन्नति हुई और रसायनिक प्रक्रिया से विशाल पैमाने पर १९३१ से रबड़ बनाना सम्भव हुआ। आज सोवियत् ही दुनिया में सबसे अधिक रसायनिक रबड़ तैयार करता है, और उसकी ८०% आवश्यकता रसायनिक रबड़ से ही पूरी होती है। इसके अलावा कोक-सागिज़ और तौ-सागिज़ में प्राकृतिक रबड़ भी ज़ोरों से पैदा हो रहा है।

डा० एम० रुहेमैन* ने मन्दताप के अनुसन्धान-सम्बन्धी गवेषणा और उसके विकास के विषय में बोलते हुये प्राकृतिक और औद्योगिक गैसों पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि अब गैसों के कठोर और द्रव मिश्रणों पर वहाँ काफ़ी अनुसन्धान हो चुका है। अब इन अनुसन्धानों का प्रयोग गैस के कोयले वाले चूल्हे में किया गया है और सफलता भी मिली है। अब ९७% शुद्ध ऑक्सजन और क्रीप्टन का निकालना सम्भव है। इन अनुसन्धानों का ही फल है कि आज दुनिया में सबसे अधिक गैस विभाजन उद्योग सोवियत् में ही है। भारी रसायनिक उद्योगों के लिये यह बहुत ज़रूरी है।

पो० हालडेन ने बताया कि सोवियत् में जीव-विज्ञान की कैसी उन्नति हुई है। बायोकेमिस्ट्री सम्बन्धी अनुसन्धानों में प्रोटीन के "स्वतः अनुकरण" की प्रक्रिया के विषय में अध्ययन किया गया है। भेड़ों के प्रजनन विज्ञान में सोवियत् सबसे आगे है और अब भेड़ों के क्रोमोसोम नक़्शे के प्रारम्भ का पता चल गया है। नये तरह के पौधे उत्पन्न किये गये हैं तथा उपजाये जाने वाले पौधों का सम्बन्ध वैवीलफ के अनुसन्धानों के अनुसार अब ऐसे पौधों का निर्माण सम्भव है जो उस विशाल देश के विभिन्न भागों के लिये उपयुक्त हैं।

उमान्स्की ने आविष्कार किया है कि कैन्सर की झिल्लियाँ संगठनकारी का काम कर सकती हैं

१ सोवियत् किशोर किशोरियों की एक संस्था

२ यह पुरष्कार क़रीब दस लाख रुपये का होता है और प्रति वर्ष विज्ञान साहित्य तथा कला के विभिन्न विषयों पर दिया जाता है।

* डा० रुहेमैन लिखित सोवियत् में विज्ञान की योजना और संगठन नामक एक पाण्डित्यपूर्ण लेख 'विश्ववाणी' के 'सोवियत् अङ्क' में छपा है—लेखक।

और इस विषय में अनुसन्धान जारी है चिकित्सा-विज्ञान की पद्धतियों में भी बहुत प्रगति हुई है। कैडेवर के ख़ून को दूसरे शरीर में अब आसानी से प्रवेश कराया जा सकता है और देखा गया है कि ज़िन्दा लोगों के ख़ूनों से यह अधिक काम का होता है। मृत लोगों की झिल्लियों को अब जीवित लोगों पर चढ़ाया जा सकता है। इस प्रक्रिया से फिलातोफ तथा उनके सहकारियों ने इतने लोगों को आँख से देखने के लायक़ बनाया है जितना कि दुनिया के सारे सज्जनों ने मिलकर भी नहीं बनाया होगा।

सोवियत् जीव विज्ञान कृषि से ही सम्बन्धित नहीं हैं। बल्कि मछली मारने, शिकार करने, लकड़ी के उद्योग तथा दवाइयों से भी इसका गहरा सम्पर्क है।

जे० एल० फाइफ ने प्रजनन विज्ञान सम्बन्धी सोवियत् में होने वाले तर्क-वितर्कों पर प्रकाश डाला। प्रजनन शास्त्रियों तथा शरीर वैज्ञानिक लाइसनेको में विचार-संघर्ष की उत्पत्ति का कारण यह है कि विज्ञान तथा प्रयोग सम्बन्धी आवश्यकता में घनिष्ट सम्बन्ध है। सोवियत् में पौधों को जलवायु, तापमान आदि के अनुकूल बनाने की ख़ास ज़रूरत पौधों के कलमों से भी अधिक है। १९३१ में स्तालिन ने कहा था कि सोवियत् उन्नतिशील देशों से पचास या सौ वर्ष पिछड़ा हुआ है, दस साल में हमें इस कमी को पूरा करना होगा। फाइफ साहब ने प्रजनन-विज्ञान तथा लाइसेनको के विचारों का वर्णन किया। ये बातें प्रजनन विज्ञान के कितने ही मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। लेकिन यह विशेष महत्व की बात है कि हाल का प्रजनन विज्ञान भी बहुत कुछ वैसा ही कर रहा है।

श्रीमती बियात्रिस किंग ने सोवियत् के स्कूलों में विज्ञान की पढ़ाई पर प्रकाश डाला। स्कूलों की शिक्षा में ऐतिहासिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से काम लिया जाता है। विज्ञान का आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से सीधा सम्बन्ध है। अतएव बच्चे छोटी अवस्था से ही वैज्ञानिक तरीक़े से सोचना सीख लेते हैं। वे विज्ञान को एक अलग अलग विषय नहीं समझते हैं। विज्ञान की प्रयोगात्मक शिक्षा उन्हें दी जाती है। स्कूल के अतिरिक्त असंख्य संस्थाओं के अन्दर से करोड़ों बच्चे गवेषणालयों, पाओनीयर भवनों, सफरों आदि में विज्ञान की शिक्षा पाते हैं।

डा० रुहेमैन ने 'सोवियत् समाज और विज्ञान के कार्यकर्ताओं' के विषय में कहा—सोवियत् के वैज्ञानिक कार्यकर्त्ताओं का अन्य जनता से घनिष्ट सम्बन्ध है। वे एक दूसरे से कितनी ही बातें सीखते हैं। चुनीदे विद्यार्थी अनुसन्धान का काम करते हैं। एक ही जगह काम करने वाले वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता, दफ़्तर का काम करने वाले तथा दूसरे लोग एक ही ट्रैडयूनियन के सदस्य होते हैं और उनका पारस्परिक सम्बन्ध समानता का होता है। सोवियत् का कर्ममय जीवन, असली सवालों को हल करने के लिये अबाध सुविधायें, समाज की उत्पादक शक्ति को बढ़ाने वाली मार्क्सवादी वैज्ञानिक धारणा तथा पद्धति वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता को चेतनामय तथा उत्साहपूर्ण नागरिक बना देती हैं।

लेख के प्रारम्भ में हम सोवियत् की अजेयता के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे। अब ऊपर के विद्वानों के कथनों से इस पर किंचित् प्रकाश पड़ा होगा। इसके अलावा हम सोवियत् के सैकड़ों आविष्कारों की बात कह सकते थे। विज्ञान ने सोवियत् का निर्माण किया है और सोवियत् ने विज्ञान का क्योंकि वहाँ वास्तविक जनतंत्र है।

साम्यवादी विज्ञान को जीवन का अभिन्न अंग मानते हैं। पिछले २०-२२ वर्षों में जिस वैज्ञानिक उन्नति और प्रयोग ने सोवियत् को इतना महान बनाया है, वही आज नाज़ियों को ध्वंस करके पुनः शान्ति और समृद्धि की स्थापना करने की गैरण्टी है। इसीलिये आज सोवियत् को कितना भी नुक़सान क्यों न उठाना पड़ा हो विज्ञान उसको विजयी बना सकता है।

नन्दी का मोह

श्री हरिशंकर बी० ए०

"काका !" कहता हुआ आठ वर्ष का बुद्धू अपने पिता के सामने खड़ा हो गया !

खेलावन अपने झोपड़ी के आगे बैठा हुआ था।

"काका !" बालक ने दुहराया।

"क्या है रे ?" खेलावन बोला !

"काका ! तुम लाये नहीं न ?"

"क्या ?"

"भूल गये काका ?"

"बोलेगा भी क्या ?"

"काका, तुम तो हर बार भूल ही जाते हो; तुम्हीं ने तो कहा था काका, कि तुम्हारे लिये एक अच्छी सी छोटी सी गाय ला दूँगा।" कहकर बालक ने गाल फुला दिया।

"ला देंगे बेटा, ज़रा हाथ में पैसे तो आने दे।" खेलावन ने ढाड़स दिया।

"तुम तो आज चार साल से ऐसा ही कर रहे हो, काका ! पता नहीं कब तुम्हारे हाथ में पैसा आयेगा।"

"चार रुपया तो चार साल में बचा लिया है बेटा ! दो तीन रुपये और हो जायें, बस तुम्हारे लिये एक अच्छी बछिया ला दूंगा।"

"ला दोगे न काका ?"

"ज़रूर ला दूंगा बेटा।"

"काका, तुम बड़े अच्छे हो।" कहकर बुद्धू चला गया !

खेलावन चुपचाप बैठा रहा।

आज क़रीब तीस साल पहले ठीक इसी तरह खेलावन—बालक खेलावन—ने भी अपने पिता से कहा था। 'काका मेरे लिये एक गाय ला दो।' खेलावन के पिता हर साल प्रतिज्ञा करते। पर एक दिन भी वे यह इच्छा पूरी न कर सके। और अपनी आशा लिये ही मिट्टी में मिल गये। खेलावन पहले तो कुछ भी नहीं समझता था पर जब ब्याह हुआ, बहू आई उमर बढ़ी, जवानी चढ़ी और अपने ऊपर बोझ आया तब उसने सब समझा। पहले तो वह समझता था उसके पिता लाना ही नहीं चाहते गाय। पर अब उसने समझा कि इस देश में ग़रीब मज़दूर के लिये जिसके पास एक हाथ खेत तक न हो गाय ख़रीदना और उसका पालना असम्भव होगया है। तब से उसने कभी अपने पिता से गाय के लिये नहीं कहा। पर उसके पिता सर्वदा, अपने जीवन भर एक गाय दरवाज़े पर बाँधने का प्रयत्न करते रहे। फिर भी उनकी इच्छा पूरी न हो सकी।

उनकी मृत्यु के बाद जब खेलावन ने गृहस्थी सँभाली और नई सन्तानों का पिता हो गया तब उसकी फिर इच्छा हुई, दरवाज़े पर एक गाय बँधी रहती तो कितना अच्छा होता।

आज चार साल से, जबसे उसके पुत्र ने बछिया के लिये कहा, तब से वह पैसे जमा करने पर लग गया। हर महीने बड़ी कठिनता से दो चार पैसे बचा पाता और इस तरह उसने चार रुपये जुटा लिये थे। उसने कमर कस ली थी चाहे जैसे हो एक बछिया बाँधनी ही होगी। आज अपने पुत्र की बात सुनकर खेलावन ने सोचा, चाहे जैसे हो एक गाय लाना ही होगा। नहीं होगा तो कहीं से उधार रुपये लेकर लाऊँगा, पर अपनी अभिलाषा, अपने पिता की अभिलाषा, अपने पुत्र की अभिलाषा पूरी किये बग़ैर न रहूँगा।

× × ×

इस तरह एक वर्ष व्यतीत हो गया; किन्तु खेलावन की चाह पूरी न हो सकी।

इसी समय एक दिन कुछ पठान रुपया वसूल करने आ पहुँचे। खेलावन के घर के पास ही एक

किसान ने रुपये ले रक्खे थे। तीन साल हो गये थे पर वह देने में असमर्थ था। हर साल किसान सूद वसूल कर ले जाते पर इस साल उन सब ने कमर कस ली थी कि रुपये वसूल करके ले जायेंगे!

"रुपये देता है कि नहीं!" दरवाज़े पर बैठता हुआ लाठी ठोक कर उनमें से एक बोला।

"दे दूँगा भइया, कोई सिरसों छोड़कर भाग तो जाता नहीं हूँ।"

खेलावन का पड़ोसी खेलू बोला।

"हम यह सब नहीं जानते, तुम देगा कि नहीं?"

"देंगे क्यों नहीं?"

"देगा तो; पर हम अभी लेंगे।"

"पर अभी हम नहीं दे सकेंगे। कुछ रोज़ की मुहलत दो भइया, हम लोग ग़रीब आदमी हैं, बन्दो-बस्त होने पर दे देंगे।"

"नहीं देगा तो हम तेरी यह बछिया ले जायेगा।"

"जैसी तुम्हारी मर्ज़ी।" कह खेलू ने एक साँस ली।

गाँव में इन पठानों से सभी डरते थे, इसी कारण वे जो कुछ कहते, जितना अत्याचार करते सहना पड़ता। सब जानते थे उनकी सख़्ती और अत्याचार को। फिर भी कभी कभी भूखों मरने से तो उधार लेना अच्छा है यह सोचकर लेना ही पड़ता।

पठानों को देखकर गाँव के और लोग भी आ गये। लोगों ने कहा—अरे भाई, किसी को लेना हो तो गाँव ही में ख़रीद ले बछिया। नहीं तो ये तीन ही रुपये के लिये इसे खोल ले जायेंगे।

अन्त में पञ्चायत हुई। सात रुपये दाम तय हुये और खेलावन ने छः रुपये देकर, एक रुपया फिर कभी देने का वादा किया।

खेलू ने आँखों में आँसू लेकर बछिया का पगहा खेलावन के हाथ में दे दिया। खेलावन का हृदय बासों उछल रहा था। बछिया दस से कम की नहीं थी। फिर उससे बढ़कर बात तो आशा की पूर्ति थी। आज उसकी बहुत दिनों की आशा पूरी गई।

बछिया को लेकर खेलावन दरवाज़े पर पहुँचते ही बोला "अरे ओ बुद्धू की माँ, यह लो बछिया आई है, पूजा कर लो।"

बुद्धू की माँ पहले ही से नहा धोकर तैयार हो गई थी। गोबर, सिन्दुर इत्यादि लेकर उसने पूजा की, फिर एक खूँटा गाड़ कर बछिया बाँध दी गई।

बुद्धू तो देखते ही पागल हो उठा—प्रसन्नता से। उसे ऐसा प्रतीत होता मानो उसके पर लग गये हैं और वह उड़ता चला जा रहा है।

खेलावन की स्त्री ने एक पैसे का तेल ख़रीदा। और उस रोज़ तेल लगाकर रोटी बनी। कैसे न बनती, इतनी बड़ी बात हुई। भगवान ने वह चीज़ दिखाई जिसके लिये घर के पुरखे तरसते ही रह गये थे! और उसी रात बड़ी देर के बाद उसका नाम रख दिया गया—नन्दी।

× × ×

बुद्धू को तो मानो और कोई काम ही नहीं था। बस नन्दी को खिलाना, उसी के पीछे घूमना यही उसका काम हो गया। प्रातः उठते ही कहता—"नन्दी!" छोटी सी बछिया अपना मुंह उठाकर उसकी तरफ़ देखने लगती। उसके पास आकर बुद्धू कहता—"क्यों नन्दी, रात अच्छी तरह सोई थी न?"

गाय उसकी तरफ़ देखने लगती।

बुद्धू जल्दी से घास वग़ैरह रख देता। जब नन्दी खा लेती तब वह कहीं कुछ खाता पीता। फिर नन्दी को लेकर चराता। पहले तो वह स्कूल भी जाता था पर अब नन्दी के कारण उसने सब कुछ छोड़ दिया था। ऐसा प्रतीत होता मानो बुद्धू नन्दी के बग़ैर जीवित ही नहीं रह सकेगा।

और नन्दी भी जब उसे देखती आकर उसके पास खड़ी हो जाती! बुद्धू उसके सिर पर हाथ फेरने लगता।

बुद्धू पूछता—"अच्छा दादा, नन्दी कब बचा देगी?"

"जल्दी ही बेटा, एक दो साल में।"

"तब तो दादा, खूब दूध खायेंगे ?"

"हाँ, क्यों नहीं बेटा !"

"अच्छा काका, नन्दी का बच्चा भी ऐसा ही सुन्दर होगा नन्दी की तरह ?"

"हाँ बेटा, उससे भी सुन्दर।"

"तब तो बड़ा अच्छा रहेगा।"—कहकर वह नन्दी को पुचकारने लगा।

बुद्धू की माँ और खेलावन उसे बेटी की तरह मानते। बुद्धू की माँ तो कभी कभी कहती—"बेटा, भगवान ने मुझे बेटी नहीं दी थी। अब मुझे एक बेटी मिल गई—ऐसी बेटी जो घर छोड़कर कभी नहीं जायेगी।"

इस तरह स्नेह प्यार में दो वर्ष व्यतीत हो गये।

× × ×

बरसात के दिन बीत चुके थे। गुलाबी जाड़ा पड़ रहा था। खेतों में घास की कमी नहीं थी। नन्दी खूब मौज से घूम घूम कर घास चरा करती। सिरसों गाँव गोरखपुर के निकट, क़रीब एक कोस पर है। बुद्धू कभी कभी नन्दी को चराते चराते गोरखपुर सड़क के पास शहर तक पहुँच जाता। उसके साथ और भी चरवाहे होते; वहाँ वह सड़क के बाहर आती हुई मोटरों को देखता।

एक दिन इसी तरह सन्ध्या को चराते चराते वह सड़क के पास बैठा हुआ था। नन्दी और भी गायों के साथ सड़क के नीचे चर रही थी। इसी समय एक साहब और मेम एक कुत्ते को लिये गिटपिट करते चले आ रहे थे।

कुत्ते ने गायों को देखा, फिर भों भों करता हुआ उनकी तरफ़ दौड़ा। नन्दी सबसे निकट थी। वह उस पर टूट पड़ा। नन्दी भागी। भागते भागते सड़क पर आ खड़ी हुई। बुद्धू ने यह सब देखा और मारे गुस्से के उसने कुत्ते पर अपनी लाठी चला ही तो दी।

लाठी कुत्ते के पाँव में लगी, वह भों भों करता हुआ और भी नन्दी की तरफ़ दौड़ा। नन्दी ने उसे देखा और वह सड़क के ऊपर दौड़ने लगी।

इतने में साहब भी पास ही आ पहुँचे। उन्होंने अपना हन्टर उठाया और दो तीन हन्टर बुद्धू की पीठ पर जमा दिये। बुद्धू एक टक साहब बहादुर की तरफ़ देखने लगा। साहब कहता जा रहा था—तुम हमरा कुत्ता को मारटा है। हम टुमे जेल भेज देगा।

इतना कहकर साहब आगे बढ़ गया।

बुद्धू एक टक उसकी तरफ देख रहा था। उसकी हिम्मत नहीं हुई कि वह कुछ बोले।

इसी समय बुद्धू ने देखा—दूर से एक फट फट गाड़ी चली आ रही है, उस पर एक साहब बैठा है। नन्दी भी भाग रही थी कुत्ते के भय से। उसी समय मोटर नन्दी से लड़ने लड़ने को हुई। बुद्धू ने देखा, चिल्लाया और बेतहाशा उसी की तरफ़ दौड़ा। वह अपनी सारी मार भूल गया। नन्दी किनारे खड़ी थी फिर भी साहब की मोटर-साइकिल उससे टक्कर खा गई और नन्दी धम से सड़क के नीचे गिर पड़ी।

साहब गिटपिट करता उतरा और पास के पुलिसमैन से बोला—"टुम क्या कर रहा है ? डेखटा नहीं यह ! इसका नाम नोट कर लो। इसको हम सज़ा देगा।"

पुलिसमैन सब कुछ देख रहा था। वह जानता था कि साहब नशे में है। उसके मुंह से साफ़ शराब की बू आ रही थी। फिर भी सिपाही काँपता हुआ बोला—जी सरकार !

साहब भों भों करता हुआ आगे बढ़ गया।

बुद्धू दौड़ा दौड़ा नन्दी के पास जा खड़ा हुआ। उसका सिर गोदी में रखकर रोने लगा "नन्दी ! आह मेरी नन्दी को साहब ने मार डाला।"

बुद्धू चिपक कर फूट फूट कर रोने लगा। ऐसा प्रतीत होता मानो उसका कोई सगा मर गया है। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा प्रबल वेग से बह रही थी।

इसी समय सिपाही ने आकर बुद्धू को दो तीन तमाचे लगाये और बोला—"बेवकूफ़ तुम लोग सड़क

पर गाय चराते हो ! भागो यहाँ से !" और बुद्धू का नाम नोट कर सिपाही चलता बना।

बड़ी कठिनता से उसके साथियों ने उसे वहाँ से हटाया और नन्दी की लाश को टाँग कर घर लाये !

× × ×

बुद्धू ने उसी दिन चारपाई पकड़ ली। तीन दिन हो गये! कभी कभी उसे होश आता और बोलता "नन्दी !"

खेलावन अपने आँखों का आँसू रोककर कहते "क्या है बेटा ?"

बुद्धू की चेतना लौट आती पूछता—'दादा नन्दी को चमारों को तो नहीं दिया न ?'

"नहीं बेटा! नहीं बेटा! अपनी बेटी को भी चमारों को दूँगा! उसे मैंने गाड़ दिया है! जल्दी अच्छे हो जाओ, बेटा! उसका श्राद्ध भी करूँगा! बेटी थी न! दो चार ब्राह्मण भी खिलाना ही पड़ेगा।" खेलावन आँसू रोककर कहता।

अचानक बुद्धू बोल उठता "गाड़ दिया! राम राम कैसे रहेगी नन्दी वहाँ ? चलो न दादा, देख लें ज़रा नन्दी को।"

खेलावन आँसू रोककर कहता—दूसरी नन्दी ला देंगे बेटा !

बुद्धू चिल्ला उठता "दूसरी ? और मेरी नन्दी, नन्दी कहाँ है ! ओह ? हाय नन्दी !" और वह बेहोश हो जाता !

एक महीने तक बुद्धू बिस्तर से न उठा। खेलावन और उसकी स्त्री ने जी जान से कोशिश की पर वे बुद्धू को न बचा सके—एक दिन बुद्धू उन्हें छोड़कर चल बसा !

बुद्धू और नन्दी का श्राद्ध एक ही दिन हुआ।

× × ×

इस घटना को हुए पचासों वर्ष हो गये हैं पर आज भी यदि कोई सिरसो गाँव में जाय तो उसे रात को किसी की आवाज़ सुनाई देती है— "नन्दी" !

फिर कोई कहता है "साहब ने मेरी नन्दी को मार डाला।"

गाँव के लोगों ने भूत समझकर कितनी ही पूजा चढ़ाई पर यह आवाज़ आज तक बनी हुई है और आज भी यही आवाज़ अन्धेरी रात में कई बार सुनाई देती है।

कौन जाने कौन बोलता है !

सर्व धर्म समभाव

हिन्दुओं से मेरा कहना है कि तुम हर दिन पूजा करते हो तो करो, पर एक दिन, शुक्रवार को, ज़रा नमाज़ का मज़ा भी तो लो, रविवार को गिरजाघर की प्रार्थना में भी तो शामिल हो जाओ। तुम्हारा ईश्वर आजकल की अपेक्षा उस समय ज़्यादा ख़ुश होगा। इसी प्रकार मैं मुसलमानों से कहता हूँ कि हर दिन एक सी नमाज़ पढ़ते पढ़ते तुम्हारा दिल नहीं ऊबता ? ज़रा 'पूजा' और 'प्रार्थना' का मज़ा भी तो चखो, देखोगे कि अल्लाह तुम्हारी इस उदारता से दूना ख़ुश हो गया है, क्योंकि तुमने उसे आज की अपेक्षा ज़्यादा महान रूप में देखा है। इसी तरह ईसाइयों से कहता हूँ कि नमाज़ और 'पूजा' में शामिल होने से 'प्रार्थना' का स्वाद बढ़ जायगा।

हिन्दुस्तान का यह बड़ा सौभाग्य है कि यहाँ हिन्दू मुसल्मान, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि अनेक मज़हब हैं। यहाँ के नागरिकों को धर्म की थाली से अधिक से अधिक व्यंजन बड़ी सरलता से मिल सकते हैं। मैं इसे सौभाग्य समझता हूँ जबकि बहुत लोग इसे दुर्भाग्य समझते हैं—स्वामी सत्यभक्त (वर्धा)

जीवन-गति

"विनोद"

जीवन में गति, गति में जीवन, जीवन का सतत प्रवाह रहा।
रुक रुक आगे, आगे बढ़ना, जीवन में सबल उछाह रहा।
रजनी-सी मृत्यु इधर आई, ऊषा-सी अभिनव चाह लिये।
मादक पराग बिखराता-सा आया प्रभात नव-राह लिये।
नव-नव अरुणोदय से पुलकित बहती नव-जीवन की धारा।
अम्बर-चुम्बित जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

नभ मुक्त, मुक्त गतिमान पवन, प्राणों के स्पन्दन मुक्त चले।
मानस की मुक्त विचार-विचि, जीवन अभिनन्दन मुक्त चले।
जीवन की नव-भंगिमा लिये, नव-यौवन-गरिमा मुक्त चले।
नव-राष्ट्र-चेतना लिये सजग, नव मानव-महिमा मुक्त चले।
मुक्त मानवी धारा में प्लावित वसुधा का क्रम सारा।
अम्बर-चुम्बित जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

कुछ उलट पुलट, कुछ कुछ हलचल हाहाकारों में लीन हुई।
सुख का सम्भार लिये तृष्णा अपने पापों में पीन हुई।
मिट्टी के छूछे पुतलों में आई नव-यौवन अँगड़ाई।
नीलिमा गगन की लुप्त हुई, अम्बर में भू की लौ छाई।
उन्मुक्त गगन में गूंज उठा मानव विमुक्ति का नव-नारा।
अम्बर-चुम्बित जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

जो मृत्यु-अमरता दोनों से नित आँखमिचौनी खेल रहे।
अपने प्राणों के दीप जला, जो पवन थपेड़े झेल रहे।
पीड़ा जिनकी सहचरी, बुभुक्षा से जिनका अपना नाता।
आँखों में अजब ख़ुमारी ले, जिनको हँस हँस मरना भाता।
उन अग्निपूत अवधूतों को कब मलिन कर सकेगी कारा?
अम्बर-चुम्बित जीवन गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

नैनीजेल
बसन्त पञ्चमी
फ़रवरी १९४३ ई०

सम्प्रदाय और साम्प्रदायिकता

श्री रघुवीरशरण दिवाकर

दुनिया तो दुनिया, आज हिन्दुस्तान में ही ढेरों सम्प्रदाय हैं। यूं राजनीति के क्षेत्र में हिन्दुओं को एक सम्प्रदाय कहा जाता है, मुसलमानों को दूसरा और ईसाइयों को तीसरा, लेकिन सच यह है कि इनमें से हर एक अनेक सम्प्रदायों का समूह है। अकेला हिन्दू समाज ही दर्जनों बल्कि कोड़ियों सम्प्रदायों में बँटा हुआ है। यही हाल कुछ कम या ज़्यादह सबका है। जहाँ देखिए यही गड़बड़-घुटाला है।

अन्त यहीं तक नहीं है; सम्प्रदायों का जन्म अब भी चालू है। बरसाती मेंढकों की तरह यहाँ आये दिन सम्प्रदाय पैदा होते रहते हैं, जीते हैं और मर जाते हैं। ऐसे सम्प्रदायों की भी यहाँ कमी नहीं है जो कहने को तो ज़िन्दा हैं पर सचमुच मुर्दा हैं। बहुत से सम्प्रदाय तो ऐसे मर चुके हैं कि आज उनका न कोई नाम-लेवा है, न पानी देवा, मानो उन्होंने कभी जन्म ही नहीं लिया था। पर अभी हाल-ही में एक दो नहीं कई सम्प्रदायों ने भारतभूमि पर पदार्पण किया है। यह सब देखकर सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आख़िर सम्प्रदायों की यह बहुतायत क्यों? उत्तर सरल है। हिन्दुस्तान संसार के सबसे प्राचीन सभ्य देशों में है। कितने ही तरह के समाज-विधानों का यहाँ अनुभव प्राप्त किया गया। फिर अनेक कारणों से सदियों से हिन्दुस्तान अत्यधिक दार्शनिक रहा है, उसकी यह आदत होगई कि बैठे बैठे ज़मीन आसमान के कुलाबे मिलाया करे। उसकी कल्पना की उड़ान बेढंगी होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि नए-नए दर्शन गढ़े जाते हैं, नई नई 'थ्योरियाँ' बनाई जाती हैं, नए-नए 'वाद' खड़े किए जाते हैं और एक-एक को लेकर बनाए जाते हैं सम्प्रदाय।

फिर जब अधर्म का नग्न ताण्डव धरातल पर भयंकर रूप से होने लगता है और अन्याय व अत्याचार की चक्की में पिसकर मानव-समाज त्राहि त्राहि कर उठता है, तब जनकल्याण के लिए आगे आती है कोई महान् आत्मा। वह अपने सेवा, त्याग, और तपस्या से समाज को जगाकर उसका उद्धार करती है, उसे नवजीवन देती है। जीवन-भर उसे संघर्ष करना पड़ता है, विपत्तियों, विरोधों और अन्यायों का मुक़ाबला करना पड़ता है। इसके लिए उसे सहारा लेना होता है किसी न किसी प्रकार के संगठन का ही। वह विशेष संगठन बनाता है और उसका पीठबल पाकर आ डटता है मैदान में। जीवन के अंतिम क्षण तक एक सच्चे योद्धा की तरह लड़ते-लड़ते वह अपने प्राणों तक का विसर्जन कर देता है। उसके बाद उसके संगठन को एक सूत्र में बाँधकर रखने वाला कोई रहता नहीं है और न किसी ऐसे नेता के प्रति सब कुछ समर्पित करके निश्चिन्त रहने का वहाँ कोई सहारा ही रह पाता है। बस, इस हालत में उस संगठन में परिवर्तन होता है, तेज़ी के साथ उलटफेर होता है और जल्दी ही वह सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेता है। पर किसी भी महात्मा ने कभी किसी संगठन का निर्माण इसलिए नहीं किया कि वह सम्प्रदाय का रूप धारण करके एक ही हालत में जम कर बैठ जाय। बहुत ज़रूरत होने पर किसी ने सम्प्रदाय बनाया भी है तो उसकी रूप-रेखा ऐसी रही है कि आवश्यक विकास के लिए पूरी गुंजाइश हो। बलिदान, त्याग और तपस्या की इस देन पर खड़ा होने वाला सम्प्रदाय उस दिवंगत महात्मा के पुण्य-बल से काफ़ी काम करता है, मनुष्य जीवन को बहुत कुछ दे पाता है। लेकिन ऐसे सम्प्रदाय बहुत ही बिरले होते हैं। दुनिया भर में भी देखे जाँय तो वे उँगलियों पर गिनने लायक़ ही निकलेंगे। बाक़ी की कुछ न पूछिए। शायद उनकी गिनती असाध्य नहीं तो कष्ट-साध्य अवश्य है। पर उनकी नींव बड़ी खोखली होती है। ऊपर बताए हुए सम्प्रदायों की

देखा देखी कोई भी ऐरे-ग़ैरे-नत्थू ख़ैरे छोटी-छोटी सी बात पर या अपने निम्न स्वार्थ के लिए एक सम्प्रदाय बना बैठते हैं और उसके जन्म का औचित्य बताने के लिए किसी न किसी उद्देश्य का बहाना ढूंढ़ लेते हैं। वहाँ न सेवा की, भावना होती है न त्याग की, वहाँ तो नेतृत्व और यश की भावनाएँ और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाएँ ही खेल खेलती हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया है किसी किसी सम्प्रदाय के पीछे पुण्य-बल होता है और बहुतों के पीछे नहीं। इस पर से हम यह तो समझ सकते हैं कि कौन किस से श्रेष्ठतर है? पर जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि वे सम्प्रदाय होने से हेय हैं, दोनों एक ही कोटि मे आ जाते हैं। संगठन जब सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेता है तब उसका गौरव क्षत-विक्षत हो जाता है, भले ही उसके पीछे कोई भी पीठ-बल रहा हो।

जैसा कि कहा जा चुका है, हर एक सम्प्रदाय कोई न कोई बहाना लेकर दुनिया को अपना मुंह दिखलाया करता है। कोई कहता है वह मनुष्य को परमात्मा से मिला देने के लिए आया है, कोई आत्मा को परमात्मा बना देने का दावा करता है, कोई स्वर्ग-बहिश्त व मोक्ष-निजात का पासपोर्ट देने का आश्वासन देता है, कोई मानव और मानव समाज को सब तरह सुखी और समृद्धिशाली बनाने की शेख़ी मारता है। इस तरह जितने भी सम्प्रदाय हैं उतनी ही बातें सुनने को मिलती हैं। पर सच यह है कि सभी सम्प्रदाय प्रेम की दुहाई देते हुए भी मानव-समाज में फूट, कलह और द्वेष का बीज बोते हैं, मानव समाज को छोटे छोटे टुकड़ों में बाँध कर ग़ुलाम बनाते हैं, मानवता को खण्ड खण्ड कर क्षत-विक्षत कर डालते हैं।

किसी भी सम्प्रदाय से पूछो वह यही बतायगा कि उसमें साम्प्रदायिकता नहीं है। कोई कोई उनमें ऐसा दावा करने का भी साहस कर सकता है कि वह तो साम्प्रदायिकता को मिटाने के लिए ही आया है। वह यह स्वीकार ही नहीं करता कि 'असाम्प्रदायिक सम्प्रदाय' 'वदतोव्याघात' (Contradiction in terms) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उन्हें अपना पारस्परिक विरोध दिखाई ही नहीं देता।

सम्प्रदायों का यह असम्प्रदायिकता का दावा यहाँ तक ज़ोर पकड़ गया है कि वे विश्वप्रेम, मानवता की सेवा तथा मनुष्यत्व के उत्थान आदि की भी लच्छेदार बातें करने से नहीं चूकते, और अपने साम्प्रदायिक रूप की सफ़ाई में सहारा लेते हैं संगठन-तत्व का। संगठन के नाम का यह कैसा दुरुपयोग है!

संगठन का गौरव अपनी अपनी डेढ़ डेढ़ ईंट की अलग अलग मस्जिद बनाने में नहीं हैं। संगठन का महत्व एक अलग दल बनाकर अपनी सारी प्रवृत्तियाँ, शक्तियाँ और मनोवृत्तियाँ उस दल को समर्पित करने में नहीं है। वास्तव में संगठन की सार्थकता दूसरों का सहारा लेकर तथा दूसरों को सहारा देकर उस उद्देश्य की ओर बढ़ने में है जो अपने को और दूसरों को, दोनों को प्रिय है। जहाँ ऐसा न हो, बल्कि कोई साधारण उद्देश्य जीवन को जकड़ ले, मनुष्य की सब वृत्तियों और प्रवृत्तियों को बाँध ले, मनुष्य की सभी भावनाओं और विचार-धाराओं को ढँक ले, वहाँ वह विकृत हो जाता है। वहीं वह संगठन आत्म-समर्पण का—ग़ुलामी का—रूप धारण कर लेता है। जहाँ तक वह संगठन उस ध्येय को छोड़कर शेष से कोई टक्कर न ले वहीं तक वह औचित्य की सीमा के भीतर है। तभी तक मनुष्य उस ध्येय की ओर बढ़ता है और उसके लिए संगठन का अधिक से अधिक सहारा लेता है। इससे आगे बढ़ने पर मनुष्य ध्येय की ओर से उदासीन होकर, सम्प्रदाय-संगठन के बन्धनों में बँधकर, अपने जीवन को नष्ट कर देता है।

जीवन अनेक प्रवृत्तियों का समूह है। एक ही जगह सब प्रवृत्तियों को ठूस देने से वे वहाँ जकड़ कर बँधकर रह जाती हैं, उनका विकास नहीं हो पाता है। सबको काँट छाँट कर उस जगह फिट करने से जो एक वहाँ फिट होती है उसको छोड़कर बाक़ी सब की मृत्यु हो जाती है। सबके विकास व सदुप-

योग के लिए यह ज़रूरी है कि एक या एक-सी प्रवृत्तियों के लिए एक संगठन हो, दूसरी प्रवृत्तियों के लिए दूसरे संगठन हों। इससे हर प्रवृत्ति विकसित होगी, जीवन के सभी अंगों में प्रगति होगी और कभी कहीं उनमें टक्कर होने की सम्भावना नहीं रहेगी। तब इस बात की ज़रूरत नहीं होगी कि उन्हें काँट-छाँट कर एक ही जगह फिट किया जाय। अपने पर अत्याचार करने का उस समय प्रश्न ही नहीं रहेगा। जहाँ जो प्रवृत्ति फिट होगी, वहीं उसे फिट किया जायगा। तब जिस तरह शरीर के विभिन्न अवयव अपने अपने अनुरूप कार्य करते हुए भी—अलग अलग तरह की प्रवृत्तियों में लगे रहकर भी--एक मानव शरीर का निर्माण करते हैं, ठीक उसी तरह जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ अपने अपने अनुरूप अलग कार्य करते हुए भी एक मानव जीवन का निर्माण करेंगी।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि कोई भी सम्प्रदाय हो, उसमें साम्प्रदायिकता न होनी चाहिए। पर सम्प्रदाय हो और साम्प्रदायिकता न हो, यह हो नहीं सकता—ठीक जिस तरह यह नहीं हो सकता कि पशु हो पर उसमें पशुत्व न हो, शैतान हो पर उसमें शैतानियत न हो।

इस बात को ज़्यादह स्पष्टता से समझने के लिए सम्प्रदायवाद की कुछ मौलिक त्रुटियों पर एक नज़र डालना अनुपयुक्त न होगा—

(१) हर एक सम्प्रदाय तर्क और युक्ति की दुहाई देता है, वह कभी यह नहीं कहता है कि तुम आँख मीच कर जो वह कहे मानो, पर सच यह है कि उसके संगठन का महल खड़ा ही मानसिक ग़ुलामी पर होता है। आत्मसमर्पण सम्प्रदाय का मूल मन्त्र है। शब्दों में नहीं, पर कार्य में वहाँ अन्धश्रद्धा व अन्धानुकरण की ही सीख दी जाती है, वहाँ दिल और दिमाग़ को मज़बूती के साथ जकड़ दिया जाता है। वहाँ हर समय यही नीयत रहती है कि किसी जाल में ज़्यादह से ज़्यादह मछलियाँ फाँसी जायँ।

(२) हर एक सम्प्रदाय अपने ज़माने की किसी न किसी बड़ी समस्या को सुलझाने का दावा करता है। जिसका दावा झूठा है उसको तो जाने दीजिए, पर जिसका दावा सच्चा है उसके लिए भी यही कहना न्याययुक्त होगा कि उसने एक समय मानव समाज का कल्याण किया, पर साथ ही यह कहना भी अन्याय युक्त नहीं होगा कि वह अमुक समय तक कल्याण करते रहने के बाद फिर अकल्याणकारी बनता चला गया, सुख शान्ति बढ़ाते रहने के बाद उसे घटाने लगा। नतीजा यह होता है कि एक समय ऐसा आता है कि जब सुखशांति के धन की अपेक्षा सुखशांति का ऋण बढ़ जाता है और सामूहिक रूप से सम्प्रदाय एक अभिशाप ही सिद्ध होता है। इस स्वरूप-परिवर्तन का कारण यही है कि सम्प्रदाय में ज़माने के साथ बदलने की ताक़त नहीं होती रूढ़ियों की ग़ुलामी और लकीर की फ़क़ीरी उसे आउट-आफ़-डेट बना देती है। वह 'स्थिर स्वार्थों' में जकड़ जाता है।

(३) सम्प्रदाय की एक आदत बहुत ही ख़राब है। वह जिस उद्देश्य को लेकर खड़ा होता है उसकी तरफ़ ही ध्यान देकर उस मिशन को सफलीभूत करने की जगह हर जगह अपनी टाँग अड़ाया करता है। कोई भी विषय हो, जीवन की कोई भी प्रवृत्ति हो, उस पर वह अपना अधिकार जताया करता है। इतिहास, भूगोल, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, भाषा, लिपि आदि सभी विषयों को लेकर वही अपने मुंह मियाँ मिट्ठू' बना करता है क्योंकि उसमें यह अहङ्कार स्वभावतः आ जाता है कि वह मानव जीवन की सारी समस्याओं को सुलझाने का ठेकेदार है।

(४) हर एक सम्प्रदाय ने मानव जीवन की प्रधान समस्या को—रोटी के सवाल को—गिरी हुई नज़रों से देखा है। उसकी यह कोशिश रही है कि मनुष्य कभी इस प्रश्न को मुख्य रूप न दे। वह इसे भौतिक प्रश्न कहकर इसकी निंदा करता है और इसके फलस्वरूप आध्यात्मिक प्रश्नों में उलझ कर

रह जाता है। रोटी के प्रश्न पर नाक भौं सिकोड़ना उसके लिए फ़ैशन हो गया है। यह बात ज़रूर है कि जिन सम्प्रदायों ने हाल ही में जन्म लिया है उन्होंने इस प्रश्न की इतनी उपेक्षा नहीं की है पर रखा उन्होंने भी इस मुख्यतम प्रश्न को गौण ही है।

(५) हर एक सम्प्रदाय क्रियाकाण्ड को महत्व देता रहा है। क्रियाकाण्ड के पीछे भावना हो या न हो पर क्रियाकाण्ड ज़रूर होना चाहिए—ऐसी उसकी नीति रही है। इसका परिणाम यह होता है कि भाव नष्ट हो जाते हैं, निर्जीव क्रियाकाण्ड आने वाली सन्तानों के गले पड़ जाते हैं।

इस तरह की बहुत सी बातों को लेकर सम्प्रदाय का चरित्र-चित्रण किया व समझा जा सकता है। मूलभूत नीति सब की एक सरीखी है।

पता नहीं यह मानव समाज कब इन सम्प्रदायों के चंगुल से छूटेगा, कब वह साम्प्रदायिकता के बन्धन को तोड़कर मानवता के उद्यान में सुख और शान्ति के फल-फूल उगायेगा। पर यह युग सम्प्रदायों की संकीर्ण धाराओं का विरोधी और विश्व की व्यापक धाराओं की ओर उन्मुख है। अतः यह तो निश्चित है कि रंग, वर्ण, धर्म आदि के भेद भावों को तोड़कर सम्पूर्ण एशिया, यूरोप आदि के संगठनों का बोल बाला हुए बिना न रहेगा। यहाँ के सम्प्रदायों के दिन भी गिने गिनाये हैं। पर कुछ करना चाहिए।

अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्रकुमार

[सर पी० दयाल के साथ अनाम स्वामी की विवेचना और भी गहनतर होती जारही है किन्तु मानव-जीवन और मानव-समाज के आधारों को जानने-समझने के लिए यह आवश्यक है]

(७)

आज बात कुछ सूक्ष्म हो गई। जाने जीव-ब्रह्म और व्यष्टि समष्टि पर वह कैसे आ गयी। अब तो उसके आदि को मैं ध्यान में नहीं ला पाता हूँ। शायद मैंने उनके अतीत के विषय में पूछा था। जानना चाहता था कि मृणाल बुआ उन्हें कैसे मिलीं। पर वह कब हाथ में आने वाले हैं। मैंने तब शायद छेड़ा कि क्या किसी को यहाँ अपने को दुष्प्राप्य बनाने का हक़ आता है?

याद पड़ता है, इसी पर उन्होंने कहा कि एक बूंद दूसरी को न पा सके, समुद्र को तो दोनों ही एक साथ प्राप्त हैं। और वहाँ वे परस्पर प्राप्त भी हैं। इससे आपही उत्सुकता दुर्गुण है।

ध्यान लगता है कि यहीं से बात दुरूह हो चली। मैंने आपत्ति की कि समुद्र को बूंद की व्यथा का क्या पता? वह समुद्र से सहानुभूति की अपेक्षा नहीं रख सकती। वह उसमें खो जाने को है। समुद्र के मान में बूंद है तक नहीं। अब हम हैं बूंद से भी कम, परम-अणु। अपने मे अणु के प्रति ही हममें क्रिया-प्रतिक्रिया न हो तो क्या हो। हमारा कर्त्तव्य हम जैसों के प्रति से आगे कहाँ? जिसकी कोटि एकदम भिन्न है, उस सत्ता के साथ हमारा राग कैसा? इसलिए क्या हममें मे हर एक पर हर दूसरे का ही हक़ नहीं है? यह चाहकर कि समष्टि का होऊँ, पड़ौसी के प्रति मैं दुष्प्राप्य बन चलूँ तो क्या यह मेरा दोष ही न माना जायगा? मैं क्यों न मानूं कि आदमी पर आदमी का हक़ पहिले है, ईश्वर का बाद में?

बोले, "सो तो ठीक। पर हृदय तो वस्तु नहीं कि दूसरे को दी जा सके। दी भी जाय तो भी मुट्ठी में लेना कैसे हो? इसलिए दो व्यक्तियों के बीच मिलने को चिरकाल कुछ शेष रहेगा ही। दो होकर वे अपनी ही इकताई को कैसे पा लेंगे? इसी से प्रेम

वियोग में फलता, संयोग में उजड़ता है। हम समझ सकते हैं भेद को। अभेद तो अनुभव में ही उतरेगा। जो है, वह इससे कहने-सुनने से परे है। कहकर कितना मैं जतला सकूं? असल कहीं शब्द में बँधा है? इसलिए वैसा प्रयत्न ही वृथा है। सचाई आप मिलती है। कह सुनकर उसकी प्राप्ति में अड़चन ही पड़ती है। तभी तो जो नहीं है उस झूठ के अपने होने का हरदम दम भरते रहना होता है और जो है उस सच के होने का ही बड़े प्रयत्न से आविष्कार करना होता है। तभी तो प्रेम मौन है और ईश्वर की भाषा कानों नहीं सुन आती। शब्द सुनना रुक जाता है तब बिना वाणी की वह भाषा अनसुने सुन जाती है। इससे यह नहीं कि व्यक्ति अपने को बन्द रखने की सोचे। पर खोलने की सोचना भी उतना ही अनावश्यक है। यथावश्यक आपही होता है। भीतर के सद्भाव को क्या बाहर खोलकर बिछाया जाय? यह तो उसके सत् होने में कुछ असत् भी होने का प्रमाण हो जायगा। छाती ठोक कर जो एतबार जतलाना चाहते हैं, वे अपनी बेएतबारी ही बतलाते हैं। इसी से कहता हूं कि बन्दे के हाथ यही है कि मालिक के आगे खुला रहे। किसी और के लिए तो वह अपने जिस्म से ही बन्द है। वह इसमें लाचार है। अपना दिल चाहे तो भी कोई कैसे दिखलाए? कान, आँख की तरह दिल बाहर नहीं, सो क्यों? चाहे तो कहो कि आदमी की निगाह उस जितनी नहीं दी गई है या कहो हृदय निगाह से परे रहकर ही हृदय है। हर हालत में एक की आत्मा दूसरे को रहस्य रहेगी। यह शुभ भी है। भीतर बाहर आये, यह अरुचिकर होना चाहिए। घाव खुला बुरा लगता है, और भीतर सब में घाव है। उसे कोई खोले क्यों? पट्टी उघाड़कर उसे दिखलाते फिरने में बेहया को भी हया आती है। कठिन है तो यही सबसे कठिन है। फिर दो के बीच दोपन जितना ही अन्तर नहीं है। सभ्यता अतिरिक्त भी अन्तर डालती है। हमारे कपड़े, हमारा घर, हमारी इज़्ज़त, हमारा कहा जाने वाला सभी कुछ उस अन्तर को बढ़ाता है। हम देह में बन्द हैं; देह कपड़ों में बन्द है। इस तरह हर एक की निगाह से हम अपने को दोहरा बन्द रखते हैं, तब सभ्य व्यवहार चलता है। खुलापन असभ्यता है। सभ्यता तरह-तरह के ढँकेपन का आविष्कार ही तो है। बात वह कि खुल कर भी बन्द रहे। यही खूबी, यही कला। यानी यहाँ व्यक्त अव्यक्त को ही व्यक्त करे। व्यक्त द्वारा मानों यही अभिव्यक्त हो कि जो अनभिव्यक्ति है, वही है। आकार निराकार के लिए है। सभ्यता के विकास के साथ लोग अपने को सहारना और इसलिये कम खोलना सीखेंगे। आशय यह नहीं कि उनमें परस्पर में हितैषिता न होगी, बल्कि मुखरता न होगी। तुम्हारी मृणाल बुआ ही बताओ तुम्हें अपना कितना कुछ कह गयीं। अपना दुख क्या वे किसी को देती फिरीं? क्या इसी की विवशता न थी कि तुम उनकी व्यथा को अभ्यन्तर में प्राप्त कर सके। यथार्थ तो निमित्र मात्र है। विगत अपने आप में कुछ नहीं। क्या तुम समझते हो कि सचाई यथार्थ को विगत में पायेगी? वैसा हो तो फाइलों में शोधक सत्य को खोजा करें! लेकिन देखते तो हो कि सचाई के लिए लोगों को अपने भीतर में ही खोजना हुआ है। इससे छोड़ो, अधिक न जानना चाहो। जानना परिग्रह बटोरना है। सामान की बहुतायत में आदमी के अन्दर की दीनता दीखती है। इसी तरह उत्सुकता में अज्ञान दीखता है।......"

ऐसे ही वह कहते गये। उनके शब्दों को पकड़ना मुश्किल है। तात्विकता से अनायासता पर वह बात ले आते हैं। तब दूर की नहीं, नित्य-प्रति के उपयोग की ही वह लगती है। उनकी उस क्षमता पर मुझे अचरज है। दूभर बात जैसे अपने घर-आँगन की हो रहती है। तत्व में जो गरिष्ठ हो, जीवन की होकर वह सरल लग आती है। मैं मानूं कि सरल लोगों को प्रिय नहीं। जटिल के हम इतने आदी हैं मानों सरल तो हमें और भी जटिल हो। इसी से पण्डित प्रकृत को नहीं ले पाता। असामान्य और अप्रत्यक्ष में जिसकी बेधड़क गति है सामान्य प्रत्यक्ष में वह खो रहता है। चक्कर के आदी होने

पर सीधी गति समझ नहीं बैठती। कुछ यही मेरा हाल हो रहा है। नित प्रति के काज-व्यौहार की बात और भाषा के बीच व्यष्टि और समष्टि की समस्या मुझे खोई सी लगती है। लगता है कि व्यवहार अलग है, अध्यात्म अलग है। वैसी अलहदगी इन अनाम में नहीं दिखाई देती। विद्वान् की भाषा वह कम बोलते हैं। विद्वान् ने अपनी भाषा बनाई भी अलग है। वह रौब पर जीती है। वह जीवन की नहीं, विद्वता की है। राह बूझते आदमी को वह और भरमा सकती है। मैं भी अपनी गिनती उन बौद्धिकों में ही कर सकता हूँ। लेकिन मैं जान गया हूं कि बुद्धि के पास दिशा नहीं है, निर्णय नहीं, ऊहापोह ही है। इसी से जो निर्णीत है और जिसकी जीवन-गति में सुस्पष्ट दिशा है, ऐसा व्यक्ति बौद्धिकों के लिए पहेली है। वह उनके आश्चर्य और उपहास और व्यंग का विषय होता है। धीमे-धीमे वही उनके विवेचन, मनन, समर्थन और श्रद्धा का विषय हो जाता है! उसकी सहज बातें बौद्धिकों की व्याख्या और मीमांसा का विषय बनती हैं। सत्य का जिनमें प्राणस्पन्दन था, बौद्धिक फिर अपने तत्व का तथ्य उनमें बिठाते हैं। ऐसे ही जो सजीव है, उसे सयुक्तिक बनाया जाता है। अनुभूत चैतन्य को पीछे स्थिर व्यवस्था पहनायी जाती है।

मैंने कहा कि व्यक्ति में अहम की चेतना है। उत्तरोत्तर वह परिवार, समाज, राष्ट्र और जगत् को भी पहचान रहा है। पर इसके आकलन के लिए उसके पास अपनी निजी चेतना का माप ही है। समष्टि तक को अपने अह के द्वारा ही वह ग्रहण कर सकता है। ईश्वर को अपने रूप में देखने को वह लाचार है। ऐसी हालत में यह कैसे सम्भव है कि वह अहं संचालित अपनी जैसी अन्य इकाइयों से निरपेक्ष रह सके? यानी समष्टि-तत्व हमारे लिए अनावश्यक ठहर सकता है। हमारे विचार का क्षेत्र तो आदमी है। मैं 'अहम' हूं। इस तरह जिनमें 'अहम' हो, उनको मैं समझ सकता हूँ, या कि उनमें 'अहम' डालकर मैं समझ सकता हूँ। सूरज को और चाँद को तभी लोगों ने देवता रूप में देखा। ईश्वर को भी व्यक्ति रूप में देखा गया। नहीं तो कोई अपरम्सत्ता किसी दूसरी तरह मानव की कल्पना में जुट नहीं पाती। अनिवार्य है कि जगत् को अनेक घटकों के संघट्ट रूप में हम देखें। अणु-अणु से खिचता, हटता या मिलता है। इसी विधि जगत् के नाना तत्वों, घटनाओं और व्यापारों को जन्म मिलता है। उनके परस्पर घात-प्रतिघात से दुनिया का खेल चल रहा है। यह मानने का कोई कारण नहीं कि अणु अपने परस्पर के सम्बन्ध से नहीं, बल्कि समष्टि के साथ के अपने सम्बन्ध को पहचान कर चल रहा है। मैं व्यक्ति होकर व्यक्ति के प्रति राग विराग अनुभव करता और उन्हीं की प्रेरणा से अपने जीवन में चल रहा हूँ। क्या यह अनिवार्य ही नहीं है! व्यक्ति अपने सुख दुख को अन्य व्यक्ति के साथ जुड़ा पाता है। इसी परस्परता में से उसमें कर्म की प्रवृत्ति है। इससे उस आपसीपन के तत्व पर ही धर्म और कर्तव्य की ग्रंथि को खोलना होगा। मेरे सम्पर्क में आवें उनसे कैसे बरतूं, इस प्रश्न से बाहर जाकर क्या कोई ईश्वर और धर्म की समस्या हो सकती है!

बोले, "हाँ, होती तो है ही। नहीं तो ये शब्द क्यों बनते? ईश्वर को छोड़ो, पर नगर, प्रांत, जाति, राष्ट्र आदि शब्द जो हमारे पास हैं, और रोज़ हमारे काम आते हैं वे समुदाय-बोधक शब्द ही व्यक्ति के पास कहां से आजाते? इन संज्ञाओं के सहारे हम एक एक व्यक्ति को अलग अलग लेने को लाचार नहीं रहते। राष्ट्र भी एक इकाई ही है, पर बड़ी इकाई है। उसको लेकर वहां के करोड़ों राष्ट्रवासियों को एकता मिल जाती है। राष्ट्र को मानने से हम एक साथ उन करोड़ों के सुख-दुख के समुचय-समन्वय का बोध पाते और जतलाते हैं। अर्थात् अंश का अंश के प्रति क्या दायित्व है, यह भी पूरी तरह तभी साफ़ होगा जब अंश समस्त के प्रति अपने सम्बन्ध को समझेगा। यह तो सही है कि हम अहंकृत प्रेरणाओं को लेकर चलते हैं तो भी मूल प्रेरक-शक्ति अहंजन्य है, यह नहीं कहा जा सकता। अहं तो उपकरण है, जिसके द्वारा

मूलचित शक्ति ग्रहण की जाती और प्रयोजन में परिणत की जाती है। उस दृष्टि से जीवात्मा का निजत्व आवश्यक ही है। खंड पर अखंड की कशिश ही उसका जीवन है। वह समाप्त हो जाय तो फिर रह क्या जाय? जीवन में प्रेम की जो व्यथा और आनन्द है, उसका अर्थ यही है। प्रेम भक्ति में सार्थक होता है। भक्ति बनकर वह निर्व्यैक्तिक हो जाता है। उससे नर में नारायण का भास मिलता है। फिर वहाँ विरक्ति का प्रश्न ही क्या? नहीं तो व्यक्ति में अनुरक्ति जल्दी विरक्ति में परिणत होने लगती है। इससे व्यक्ति के प्रति कर्तव्य निबाहने की दृष्टि से भी उस परम सत्ता में श्रद्धा होना अभीष्ट है। व्यक्ति को अपने आप में अन्त और सत्य मानकर व्यवहार की उलझन नहीं सुलझेगी। मैं-तू का सम्बन्ध जहां समाप्त है, वहीं समस्या की शान्ति भी मिलेगी। हम-तुम जिसमें होकर एक हैं, जिसमें सब पृथकता 'एकता' में लय होती है, उस अखंड के स्वीकार में ही नहीं तो समाधान भला कहां पायगा? तभी धर्म उस-अखंड सत्ता में लीन होने की हमारी अमर तृष्णा का नाम है। वह विरह—चेतना हमारी पूंजी है। उस चैतन्य की जाग्रति के प्रकाश में ही व्यक्तियों के प्रति हमें अपने कर्तव्य का स्वच्छ दर्शन होगा। अन्यथा सीधे व्यक्ति के नाते अपने कर्तव्य को हम बाँधने और देखने लगेंगे, तो कभी कुछ हल न होगा।

"अणु किस नियम के अधीन दूसरे अणुओं के प्रति वर्त्तन करता है, इसकी शोध उन अणुओं के भीतर से ही नहीं की जा सकती। यह नहीं माना जा सकता कि उन द्वारा कोई अपर और बृहत् अर्थ सम्पन्न नहीं हो रहा है।

"फिर हमारा मन ही हमें असीम से जोड़ता है। हम मान नहीं सकते कि हम इतने ही हैं। प्रतीत होता है कि हम सब कुछ भी हैं। यही व्यक्ति के मन की स्वप्न की शक्ति उसे लाचार करती है कि वह व्यक्तित्व में अटका न रहे, बल्कि स्वयं अपने को भी पार करता जाय। दीखने वाले नर-नारियों में अपने रिश्तों की परिधि मानकर व्यक्ति रह ही नहीं सकता। कुछ भी वह ऐसा नहीं छोड़ेगा कि जिसमे अपनापा न बनाना चाहे। चाँद-तारों को देखकर वह पुलकित होगा, साँझ सवेरे की अरुणाई में विलसित होगा, यहाँ तक कि काली रात के अन्धकार के प्रति भी वह स्तिमित हो रहेगा। ऐसा है व्यक्ति का मन। वह घिरा नहीं है। शरीर का होकर भी वह शरीर का नहीं है। व्यक्तित्व का केन्द्र होकर भी व्यक्तित्व की परिधि उसकी परिमा नहीं है। इसीसे व्यक्तियों में रुककर भी वह न रह सकेगा। तभी तो है कि सब ज्ञान पाकर वह चुप नहीं है। उसे अज्ञान भी चाहिए। उसके पार अज्ञेय भी चाहिए। उसे ईश्वर भी चाहिए। एक एक करके सब सत्ताएँ उसे नहीं चाहिए, बल्कि उन अनेक सत्ताओं का एक ही साथ निपट एक सत्य चाहिए।

"धर्म की समस्या इसलिए व्यक्ति और व्यक्ति के बीच कर्त्तव्य की समस्या पर समाप्त नहीं है। इसी से व्यवहार के लिये धर्म को विशेषण देकर चलना होता है। कहते हैं—स्वधर्म, समाज-धर्म, पर-धर्म इत्यादि। अमुक की अपेक्षा में हमारा क्या कर्त्तव्य है, इसका निर्णय उसी दायरे में न हो सकेगा। परम-धर्म की अपेक्षा में ही सामयिक धर्मों का समीचीन निर्णय सम्भव है। और परम धर्म व्यष्टि का समष्टि में सर्वाङ्ग विसर्जन है। इसको ध्रुव मानकर ही दूसरे ऐहिक दायित्व और कर्त्तव्य की बात को समझा और खोला जा सकता है। वह ध्रुव पास नहीं तो जगद्-व्यापार सब गोरखधन्धा हो रहेगा और तब सदसद्विवेक भी क्या ठहरेगा?······"

मैंने कहा, "तो क्या पास के पड़ौसी को लाँघ जाकर धर्म की उपलब्धि होगी, यह मानना होगा?"

बोले, "चाहो तो भी क्या पास है इसीसे, किसी पदार्थ पर व्यक्ति में तुम रुक रह सकते हो? नहीं रह सकते। तब यह आग्रह क्यों कि पड़ौसी के माने गये हित की अपेक्षा में ही समस्त धर्म-विचार करना होगा?"

हिन्दी और उर्दू की ऐतिहासिक प्रगति

श्री उमाशंकर

आज हिन्दी और उर्दू का जो संघर्ष एक ओर दिन पर दिन प्रबल से प्रबलतर होता जा रहा है और जिसमें कितने ही साहित्यकों की शक्ति व्यर्थ में ख़त्म हो रही है उससे कुछ भी फ़ायदा नज़र नहीं आता—व्यर्थ आपस में मनमोटाव बढ़ता है, खींचातानी चलती है।

हिन्दी और उर्दू की प्रगति का अपना एक इतिहास है। अगर इस प्रगति के ऐतिहासिक आधार को हम समझें, तो पता लग जाय कि यह संघर्ष क्यों हानिकारक है।

इसको समझने के लिये हमें हिन्दी और उर्दू की उत्पत्ति पर विचार करना होगा। आरम्भ में हिन्दी और उर्दू में अन्तर नहीं था। सं० १९०२ तक हिन्दी को ही उर्दू के नाम से पुकारा जाता था। 'वली' हिन्दी को ही अपनी भाषा कहते थे। 'मीर' ने अपनी ज़बान को हिन्दी बताते हुए कहा था—

क्या जानूं लोग कहते हैं,
किसको सरूरे - क़ल्ब।
आया नहीं है लफ़्ज़ यह,
हिन्दी ज़बां के बीच॥

पर उर्दू भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सैयद इंशा उल्ला ख़ाँ ने कहा है—ज़मी दानद, कि मुवाए फ़साहत न मादनै बलाग़त, कि ज़बाने शाँ, मशहूर ब उर्दूस्त, सिपाये बादशाह हिन्दुस्तान कि ताजे फ़साहत बर्सए मी ज़ेवद, चन्द अमीर व मसाहिब शाँ, व चन्द ज़ने, क़ाबिल, अज़ क़िस्म बेग़म व ख़ानम व कस्बी हस्तेद—हर लफ़्ज़े कि दरीं-हां इस्तेमाल याफ़्त ज़बाने उर्दू शुद, नईकि, हरकस कि दर शाहजेहानाबाद मी बाशद, हस्ब गुफ़्गू कुनद मौतबिर बाशद। अगर चुनी बाशद शाकिनाने मुग़लपुरा, च तक़सीर करदा अन्द, कि ज़बाने एशां, मायूब व ख़िलाफ़ उर्दू शुमुर्दा शवद। [दरिया-ए-लताफ़त, दुरे दाना सिक्में, सफ़ा ६४]

अर्थात्—ऐसे सज्जनों को नहीं मालूम कि उस भाषा के जिसे उर्दू कहते हैं, सौन्दर्य्य लालित्य का उद्गम स्थान स्वयं हिन्दुस्तान के सम्राट हैं, जिनके सिर पर उर्दू भाषा की ओजस्विता का मुकुट शोभा देता है। उनके कतिपय व विशेष सेवक व उनके राज भवन की स्त्रियाँ; जिनमें बेग़में व अन्य घरों की स्त्रियाँ व क़स्बियां सम्मिलित हैं, जिन शब्दों का प्रयोग करती हैं, वही उर्दू भाषा हैं। शाह जहानाबाद का प्रत्येक निवासी जो कुछ कहे वह भाषा की दृष्टि से प्रमाणिक नहीं समझा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो, मुगलपुरा के निवासियों की भाषा को दूषित व उर्दू के विरुद्ध क्यों समझा जाता?

'दरिया-ये-लताफ़त' एक प्रसिद्ध किताब है। 'अंजुमन तरक्क़ी उर्दू' के प्राण मौलाना अबदुल हक़ साहब ने इस किताब के सम्बन्ध में कहा है, 'उर्दू ज़बान के क़वायद, मुहावरात और रोज़मर्रह के मुतल्लिक़ इससे पहले कोई किताब नहीं लिखी गई थी और अजीब बात यह है कि इसके बाद भी कोई किताब इस पायः की नहीं लिखी गयी। जो लोग उर्दू ज़बान का मुहक़्क़िक़ानः मुताला करना चाहते हैं या उसकी सर्फ़ नहो या लुग़त पर कोई मुहक़्क़ि-क़ानः तालीफ़ करना चाहते हैं, उनके लिए इनका मुताला ज़रूरी ही नहीं बल्कि नागुज़ीर है।" सैयद इंशा उल्ला ख़ाँ से खुलासा सर सैयद अहमद ख़ाँ ने अपनी पुस्तक 'आसारुस्सनादीद' में कहा है—जबकि शाहजहाँ बादशाह ने सन् १६४८ में शहर शाहजहानाबाद आबाद किया और हर मुल्कों के लोगों का मज्मा हुआ। इस ज़माने में फ़ारसी ज़ुबान

और हिन्दी भाषा बहुत मिल गई और बाज़े फ़ारसी लफ़्ज़ों में और अक्सर भाषा के लफ़्ज़ में ब सबब कसरत इस्तेमाल के तग़य्युर व तब्दीली हो गई। ग़रज़ कि लश्कर बादशाही और उर्दूये मुल्ला में इन दोनों ज़ुबानों की तरकीब से नई ज़ुबान पैदा हो गई और इसी सबब से ज़ुबान का उर्दू नाम हुआ। फिर कसरत इस्तेमाल से लफ़्ज़ ज़बान का महज़ूफ़ होकर इस ज़बान को उर्दू कहने लगे।"

इन अवतरणों से प्रकट हो जाता है कि उर्दू की उत्पत्ति शाहजहाँ के समय से हुई है, पर उर्दू भाषा का प्राथमिक नाम हिन्दी ही था। हिन्दी को हिन्दू-मुसलमान दोनों की सम्मिलित भाषा का द्योतक माना जाता था। अमीर ख़ुशरो, आतिश, ईशा, जुरअत इत्यादि ने अपनी रचनाओं में उर्दू के लिये हिन्दी शब्द का ही प्रयोग किया है। इस बात को सभी उर्दू इतिहास लेखकों ने भी स्वीकार कर लिया है। उर्दू-ए-क़दीम, 'तारिख़ नस्त्र उर्दू' इत्यादि ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों ने बहुत अन्वेषण के बाद यह प्रमाणित कर दिया है कि उर्दू का प्राथमिक नाम हिन्दी है।

अब देखिए, पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने अपनी 'हिन्दी, उर्दू, और हिन्दुस्तानी' नामक पुस्तक में लिखा है "इस हिन्दी नाम की सृष्टि हिन्दुओं ने नहीं की, और न इन्होंने प्रचार ही किया है, हिन्दू लेखकों ने तो इसके लिए सर्वत्र भाषा शब्द का ही प्रयोग किया है। भाषा के लिये हिन्दी शब्द के सर्व प्रथम नामकरण का सारा श्रेय मुसलमान लेखकों और कवियों को ही दिया जा सकता है। हिन्दुओं का इसमें ज़रा भी हाथ नहीं।'

अतः यह मानना होगा कि यद्यपि यहाँ के साधारण लोगों में एक ऐसी भाषा या ज़बान मौजूद थी, जिसमें वे एक दूसरे को समझ सकते थे पर उसका 'हिन्दी' नामकरण हिन्दुओं ने नहीं किया। हिन्दी और उर्दू दोनों प्रायः एक सी भाषा का नाम था। दोनों में विशेष अन्तर नहीं था। उर्दू को हिन्दी कहते ही थे। आतिश साहब उर्दू के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग किया करते थे और उनका प्रसिद्ध शेर है—

मतलब की मेरे यार,
न समझे तो क्या अजब।
सब जानते हैं तुर्की की,
हिन्दी ज़ुबां नहीं ॥

यहाँ हिन्दी उर्दू पर्य्यायवाची शब्द हैं। इस शेर से यह भी साफ़ हो जाता है कि यह जन-साधारण हिन्दुस्तानी की ज़बान थी पर अधिकांश तुर्की लोग इसे न समझ पाते थे। अतः पहले हिन्दी और उर्दू में कोई भेद हम नहीं पाते। अमीर ख़ुशरो को हिन्दी-वाले खड़ी बोली के प्रथम कवि मानते हैं, और उर्दू कविता का आरम्भ तो उनसे होता ही है। दोनों उन्हें अपना पहला कवि मानते हैं, उनकी एक ही कविता को अपनी अपनी कहते हैं। डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने सप्तम विहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के पद से भाषण देते हुए कहा था—"हिन्दी और उर्दू, चाहे उनकी उत्पत्ति और विकास जिस क्रम और जिस रीति से हुआ हो, दो भिन्न भाषायें नहीं हैं। इसका अकाट्य प्रमाण जिसे मुसलमान लोग उर्दू भाषा कहते हैं उसका पुराना रूप है। उर्दू के बड़े से बड़े हिमायती यही कह सकते हैं कि उर्दू की पैदाइश हिन्दुस्थान में मुसलमानी बादशाहत क़ायम होने पर हुई। अब उस समय के लेखक की भाषा पर ग़ौर करें। बहुत पीछे जाने की ज़रूरत नहीं, मुसलमानी राज्य स्थापित होने पर सैकड़ों वर्ष के बाद के मशहूर लेखक अमीर ख़ुशरो की कविताओं को लीजिये और विचार कीजिये की उनकी भाषा आज की खड़ी बोली से किस प्रकार भिन्न है। अमीर ख़ुशरो ने अनपढ़ चम्मों के लिए यह कविता लिखी थी—

"औरों की चौपहरी बाजे,
चम्मों की अठपहरी।
बाहर के कोई आये नहीं,
आये सारे शहरी ॥

इसे देखने से पता लगेगा कि आज की हिन्दी और उस समय की उर्दू में बहुत भेद नहीं है।...... इसलिये यह कह देना कि कुछ अरबी-फ़ारसी शब्दों के मिलावट से ही एक नई और स्वतंत्र भाषा पैदा हो गई युक्ति संगत नहीं है।"

दूसरे देशों के मुसलमानों के साथ सम्पर्क होने के कारण उनकी संस्कृति, सभ्यता, भाषा और उनके साहित्य का प्रभाव हमारी संस्कृति, भाषा और साहित्य पर पड़ने लगा। अरबी, फ़ारसी के अनेक शब्द, रचना-शैलियाँ और वाक्य-विन्यासादि भी हिन्दी भाषा में प्रचलित हो गये। हिन्दी के आदि-प्राप्त ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' में अरबी फ़ारसी के शब्द हैं। तुलसी और सूर की रचनाओं में भी अरबी और फ़ारसी के शब्द आये हैं। इसी तरह उर्दू में भी संस्कृत तथा प्राकृत के बहुत से शब्दों का समावेश हो गया। उर्दू के प्रसिद्ध कोष 'फरहंगे आसफ़िया' में कुल ५४ हज़ार शब्द हैं, जिनमें ३२ हज़ार हिन्दी के ही शब्द हैं। फरहंग वाले ने अपनी भूमिका में स्वयं मान लिया है कि उर्दू में ३२ हज़ार हिन्दी के ही शब्द हैं। २२ हज़ार के लगभग ऐसे शब्द हैं। जो विदेशी भाषाओं से निकले हुए माने जाते हैं, पण्डित सुन्दरलाल जी ने अपने 'हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी' शीर्षक लेख में कहा है कि अंगरेज़ों के आने के पहले हिन्दुओं को यह डर नहीं था कि 'आवश्यकता' की जगह 'ज़रूरत' लिख दिया गया तो हिन्दू-संस्कृति मिट जायगी, और मुसलमानों को यह डर नहीं था कि 'ज़रूरत' की जगह 'आवश्यकता' आ गया तो इस्लाम ख़तरे में पड़ जायेगा। यह वह समय था जबकि सचमुच उदार हिन्दू मुसलमानों को राम और रहीम में फ़रक़ नज़र न आता था, जबकि रहीम ने अपना 'मदन-शतक' श्रीगणेशायनमः से शुरू किया था, जबकि जहांगीर के ज़माने में अहमद ने सामुद्रिक शास्त्र पर अपनी किताब 'श्री गणेशाय-नमः' से शुरू की थी, जबकि अहमदुल्लाह दक्खिनी ने नायिका भेद पर अपनी पुस्तक के सबके ऊपर लिखा था 'श्री राम जी सहाय', 'अथ सरस्वती जी की स्तुति', जबकि याक़ूब ख़ां ने रस-भूषण लिखने से पहले सबसे ऊपर 'श्रीगणेश जी', 'श्री सरस्वती जी', 'श्री राधाकृष्ण जी', 'श्री गौरीशंकर जी' को नमस्कार किया था, जबकि ग़ुलाम नबी इसलिन ने अपनी दोनों पुस्तकों के शुरू में ही 'श्रीगणेशायनमः' लिखा था।......इस तरह सैकड़ों हिन्दी विद्वान अपनी रचनाओं को 'बिस्मिल्ला हिर्रहमानिर्रहीम' से शुरू करते थे।"

अंगरेज़ों के आने के बाद वातावरण में काफ़ी परिवर्तन हुआ। मुग़ल काल में जो आबोहवा थी, बदली! हमारी भाषा और उनकी ज़बान अलग अलग होने लगीं। अंगरेज़ राजनीतिज्ञ यह समझते हैं कि हमारी फूट उनकी रोटी है और अपनी रोटी के लिए फूट डालनी आरम्भ की। अगर हम कहें कि हम में फूट डालने के लिए फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई थी, तो अत्युक्ति नहीं हो सकती। सर चार्ल्स उड के शिक्षा सम्बन्धी मसविदे से, जो सन् १८५४ में पास हुआ था, देशी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध अवश्य हुआ, पर उससे हम में फूट भी फैली। हम एक से दो हुए। जॉन गिलक्राइस्ट ने दो हिन्दी के विद्वानों और दो उर्दू के विद्वानों को बुलाकर आदेश दिया कि अपनी अपनी भाषा में पुस्तकें लिखें। जॉन गिलक्राइस्ट ने यह आदेश उस समय दिया था जब हिन्दी वाले यह नहीं मानते थे कि लिपि भेद अथवा कुछ विदेशी शब्द आ जाने से उर्दू दूसरी भाषा हो सकती है और न उर्दू वाले लिपि भेद अथवा देशज शब्द आ जाने से हिन्दी को दूसरी भाषा समझते थे। यहां तक कि रानी केतकी की कहानी को, उसके फ़ारसी लिपि में लिखी जाने पर भी, हिन्दी साहित्य में स्थान मिला। 'रानी केतकी की कहानी' से ही इन दोनों भाषाओं की कहानी-कला का विकास होता है। 'रानी केतकी की कहानी' उसी समय लिखी गई थी, जिस समय गिलक्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू में अलग अलग रचना करने की आज्ञा दी थी। इसके बाद हिन्दी के विद्वानों ने विदेशी शब्दों का बहिष्कार

किया, और उर्दू के विद्वानों ने देशज शब्दों का। हिन्दी और उर्दू अलग अलग भाषायें हो गईं। गिलक्राइस्ट की ही छत्रछाया में हिन्दी उर्दू संघर्ष का श्रीगणेश हुआ। अंगरेज़ों ने हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने का प्रयास भाषा के द्वारा भी किया। वे जानते थे कि बाह्य अनेकरूपता के होते हुए भी दोनों में कैसी समानता है। यही समानता भारतीय एकता का मौलिक आधार थी। यही कारण था कि उन्होंने एकता की शृङ्खलायें तोड़ डालीं। संस्कृत के पण्डित और अरबी के आलिम भाषा का नेतृत्व करने लगे।* अरबी फ़ारसीदाँ आलिमों की मेहरबानी से उर्दू में अरबी फ़ारसी के क्लिष्ट शब्दों और संस्कृतज्ञों की कृपा से हिन्दी में क्लिष्ट शब्दों की भरमार होने लगी। थोड़े ही दिनों में दोनों भाषायें बहुत अलग जा पड़ीं।

आरम्भ में अंगरेज़ों ने उर्दू को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया। उर्दू कोर्ट की भाषा थी और कोर्ट की भाषा उनके शब्दों में 'सबसे अधिक फ़ैशनेबिल' मानी जाती है। ("Our court language in usage is Urdu and the court language has always been regarded by all nations as the most fashionable language of the day.") अंगरेज़ों का यह कार्य हिन्दी पर कुठाराघात सा हुआ। उस समय की हिन्दी की संकटमय अवस्था का वर्णन करते हुए बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने दुःख के साथ कहा है "जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, वह फ़ारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई। हिन्दी उस भाषा का नाम रहा, जो टूटी फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।"

अंगरेज़ और उनके भक्तों के कार्यों का हिन्दी के विद्वानों ने तथा हिन्दी के पत्रकारों ने काफ़ी विरोध किया। 'प्रजाहितैषी,' 'सुधाकर,' 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' आदि ने हिन्दी की रक्षा करने के लिए एक आन्दोलन चलाया पर इन पत्र-पत्रिकाओं की भाषा ध्यान से देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण संस्कृतमय था। राजा लक्ष्मणप्रसाद सिंह ने आगे बढ़कर यह कहा कि 'हिन्दी में संस्कृत के शब्द बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फ़ारसी के। कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी-फ़ारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय, और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं, जिनमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे हों।' उधर उर्दू को अंगरेज़ी सरकार ने प्रोत्साहन दिया और इधर यूरोपियन ईसाई पादरियों ने राजा लक्ष्मण सिंह और उनके साथियों की अरबी-फ़ारसी के शब्दों को हटाकर उनकी जगह संस्कृत शब्द रखने के प्रयास को सहायता पहुँचायी।

सौभाग्य से हिन्दी और उर्दू दोनों के विद्वानों ने अंगरेज़ों की चाल समझ ली। सर सैयद अहमद, मौलाना सफ़ीर आदि ने उर्दू को हिन्दी के निकट लाने की चेष्टा की, और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके लेखक मण्डल ने हिन्दी को उर्दू के निकट पहुँचाने की चेष्टा की। सन् १९०३ में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी भाषा और उसका साहित्य' शीर्षक लेख में लिखा—"उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। वह भी हिन्दी ही है। उसमें चाहे जितने फ़ारसी और अरबी के शब्द भर दें पर जब तक उसकी क्रियायें हिन्दी की ही बनी रहती हैं, उसकी रचना हिन्दी ही के व्याकरण का अनुसरण करती है। चाहे कोई जो कुछ कहे वली और सौदा के काव्यों में जो भाषा है वही तुलसीदास और बिहारी के काव्यों में है। 'मेरा बाप' के स्थान पर 'बाप मेरा' अथवा 'आपके हुक्म से' के स्थान में 'बहुक्म आपके' करने से कहीं भाषा दूसरी हो सकती है?……लिखने की प्रणाली को बदलने अथवा उसमें किसी अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग करने से मुख्य भाषा के अस्तित्व में कदापि अन्तर नहीं आ सकता।' पर गिलक्राइस्ट ने जिस फूट का 'इन्जेक्शन' दिया था उसका ज़हर

* अब फिर यही कोशिश तरह तरह से हो रही है।
—सम्पादक

धीरे धीरे हममें से बहुतों के नस नस में फैलता गया और अब भी फैल रहा है। हाँ, उन विद्वानों और आलिम फ़ाज़िलों को सफलता नहीं मिली। पं० भीमसेन शर्मा ने हिन्दी लेखकों को सलाह दी—"संस्कृत भाषा के अक्षय भण्डार में शब्दों की न्यूनता नहीं है। हमको चाहिये कि अपनी भाषा की पूर्ति संस्कृति के सहारे यथोचित करें। जिन लोगों को जिन विशेष प्रचलित अन्य भाषान्तर्गत शब्दों के स्थान में उनसे सर्वथा भिन्न संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने की रुचि नहीं है उन्हें उसी से मिलते हुए संस्कृत शब्दों का वहाँ प्रयोग करना चाहिये।" नासिक साहब ने उर्दू वालों के लिये कड़ा नियम बना कर कहा—"उसूल इसका यह रक्खा गया है कि फ़ारसी और अरबी अलफ़ाज़ जहाँ तक मुफ़ीद मिलें, हिन्दी अलफ़ाज़ न बाँधो (तज़किरा जलवये ख़िज्र, हिस्सा दोयम पृष्ट ३९२)।

इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा। विदेशी* शब्दों का बहिष्कार किया गया। शिकायत के स्थान पर 'शिक्षा यत्न' दुश्मन के स्थान पर दुःशमन, चश्मा को 'चक्ष्मा', लालटेन के स्थान पर 'हस्तकाचदीपिका' आदि आदि के प्रयोग होने लगे। इसी तरह, पण्डित पद्म-सिंह शर्मा के शब्दों में, उर्दू वाले नये नये मुअर्रब और मुसर्रफ़ अलफ़ाज़ तक से गुरेज़ करते हैं और उनके बजाय अरबी और फ़ारसी की मुस्तनद लुग़ात से इस्तलाहात नौ बनौ से अपने तर्ज़ेतहरीर में ऐसा तसौना पैदा करते हैं कि उनका एक एक फ़िक़रा ग़ालिब के बाज़ मुश्किल मिसरे की पेचीदगी पर भी ग़ालिब आ जाता है।" गिलक्राइस्ट ने हमें जिस ज़हर का घूंट पिलाया उसका परिणाम देखकर रे० एडविन ग्रविस ने अपने 'हिन्दी और नागरी प्रचारिणी सभा' शीर्षक लेख में लिखा है "भाषा की समस्या का विचार छोड़कर इतना निश्चय मानना पड़ेगा कि बाज़ारू भाषा की अवस्था चाहे जो हो किन्तु शिक्षित व्यक्तियों के लिए हिन्दी और उर्दू दोनों पृथक् भाषायें हैं। अतएव नागरी लिपि में मुद्रित हुई शब्दों से भरी भाषा हिन्दी की जगह न पढ़ाई जाकर इन दोनों भाषाओं की शिक्षा का पृथक् प्रबन्ध करना वांछनीय है।"

इस तरह हमें ग़ुलाम बनाये रखने के लिए हिन्दी और उर्दू को पूरी तरह अलग अलग करने की कोशिशें होती गईं और होती जा रही हैं। आज़ादी प्राप्त करने के लिये हिन्दी और उर्दू को एक करना भी ज़रूरी है। उनके वाह्य विभेदों को मिटाकर एकरूपता लानी है। हमें हिन्दी के दायरे को बढ़ाना है। हिन्दी केवल हिन्दुओं की सम्पत्ति नहीं, उर्दू भी मुसलमानों की ख़ास अपनी नहीं। १५ वें विहार प्रादेशिक हिन्दीसाहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से राजा राधिकारमणप्रसादसिंह ने कहा था—"अब तक हिन्दी सत्यनारायण की कथा की पंजीरी पाती रही, उसे अब मौलूद शरीफ़ की जलेबियाँ भी चखनी होगी।" इसी तरह विहार सरकार के भूतपूर्व शिक्षा सचिव डाक्टर सैयद महमूद साहब ने पटना में "अंजुमन तरक़्क़ी की नयी इमारात का संग बुनियाद रखते वक़्त कहा—"यह मुसलमानों की सख़्त ग़लती है कि वह उर्दू को अपनी ज़बान कहते हैं। ऐसा करने से उर्दू के जो सारे हिन्दोस्तान की ज़बान है नुक़सान पहुँचा रहे हैं। इस ज़बान के असूल बिल्कुल फ़ितरी हैं और मुझे यक़ीन है कि यह तरक़्क़ी करेगी।"

इन बयानों से हम देख सकते हैं कि अब भी हमें अलग करने के प्रयत्न सफल नहीं हुए। हम एक आसान आम-फ़हम ज़ुबान ही चाहते हैं और इसी को हिन्दी या उर्दू कहते हैं।

भाषाओं की समस्या राजनीतिक समझौतों और पैक्टों से नहीं सुलझ सकती, और कमेटियों के ज़रिये उर्दू व हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' का रास्ता दिखाने की कोशिशें भी बेकार साबित हुई हैं। हिन्दुस्तानी

* फ़ारसी, अरबी के ही, अंग्रेज़ी के नहीं। —सम्पादक

अकेडेमी, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, और बिहार हिन्दुस्तानी कमटी की असफलता इसका प्रमाण है। बदक़िस्मती से हिन्दी-उर्दू का सवाल साम्प्रदायिक राजनीति का एक अंग बन गया है। ख़तरे से लड़ने के लिये हिन्दी, उर्दू के लेखकों को एक मञ्च पर जमा होना और एक दूसरे को समझना है—यानी साहित्यकों में 'हिन्दुस्तानी' का आदर्श पैदा करना है। टेक्स्ट बुक कमेटियों का सहयोग प्राप्त करके उस आदर्श को बच्चों तक पहुंचाना है। समाधान लेन-देन नहीं बल्कि मनोवृत्ति का परिवर्तन है।

वर्षा की कोई आशा नहीं !

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

आज आसमान ने कुम्भक-प्राणायाम साध लिया है। किसी ओर से न हवा है न, धूप है, न फ़ुर्ती है, न आनन्द है। पसीने से व्याकुल हो रहा हूं। बरसेगा क्या? कम्बख़्त बरसता भी तो नहीं। सोच रहा हूँ कि इस अभागे देश में कुछ ऐसा ही वातावरण है। हिन्दू और मुसलमान, सरकार और जनता, धर्म और ईमान सब गुमसुम हैं। स्वभाव का लस्टम-पस्टम आदमी हूँ, कोई चीज़ तरतीब से नहीं रख पाता। जिनके ऊपर तरतीब से सजा रखने का उत्तरदायित्व विधाता की ओर से मिल गया है उनकी ओर से झिड़कियाँ प्रायः मिल जाती हैं। अब असर भी नहीं होता। संवेदन भोथा हो गया है। अख़बार चारों ओर छितराए पड़े हुए हैं। बड़े बड़े राष्ट्र-नायकों और दलपतियों के वक्तव्य दीख रहे हैं। भले आदमियों ने झूठ बोलने का व्रत ले लिया है—बना-सँवार कर झूठ बोलते हैं, सचाई के साथ झूठ बोलते हैं, ईमानदारी के साथ झूठ बोलते हैं—इस ज़माने में इस विद्या ने ख़ूब उन्नति कर ली है। मुझे बारबार अपने देश के आदमी याद आ रहे हैं, भूखे, नंगे, अधमरे। ये क्या खाकर झूठ बोलेंगे? झूठ बोलनेवालों का चेहरा और तरह का होता है। लेकिन अपने ढङ्ग के झूठ ये भी बोल लेते हैं। कहते हैं, हम आदमी नहीं हैं, हिन्दुस्तानी नहीं हैं, हिन्दू-मुसलमान हैं। हिन्दू और मुसलमान! दोनों एक दूसरे को संकुचित करके देख रहे हैं। लड़ भी तो नहीं पड़ते! संशय और अविश्वास ने दोनों को ओछा बना दिया है। लोग एकता पर लेख लिखते हैं, कहते हैं दोनों का ईश्वर एक ही है……… इत्यादि। लेकिन हिन्दू और मुसलमान क्या सचमुच मानते हैं कि दोनों के ईश्वर एक ही हैं? वे विचारे तो हिन्दुओं और मुसलमानों के भूख प्यास को भी एक मानने की ग़लती नहीं करते। पानी भी जब एक नहीं तो ईश्वर तो बहुत दूर है। इसीलिये आज दिल उदास है। दूर तक सूखा हुआ मैदान दिखाई दे रहा है। एकाध खजूर और ताड़ के पेड़ सारे दृश्य को और भी मनहूस बनाए दे रहे हैं। मैं सोचता हूँ कि ये बड़े बड़े लेख जो एकता को इतिहास से सिद्ध करते हैं, धर्म-शास्त्र से स्थापित करते हैं, युक्ति से समर्थन करते हैं, क्या सचमुच कुछ काम के हैं। मेरी बुद्धि तो थक जाती है। आसमान में बुरी तरह की ऊमस है और धरती व्याकुल और हतचेष्ट होकर पड़ रही है। मैं कुछ सोच नहीं पा रहा हूँ।

इधर पड़ोस के गाँव में पिछली गणेश-चतुर्थी को दो औरतों में झगड़ा हो गया था। मुझे निर्णायक बन जाना पड़ा था। भाग्य में जो पद लिखा होता है वह कभी न कभी मिल ही जाता है। विधाता का भी मज़ाक़ करने का अपना तरीक़ा है। सो निर्णायक मुझे बनना ही पड़ा। एक ने गणेश जी का व्रत किया था। उसके गोबर के गणेश साल भर तक पूजा पाते हैं। माघी चतुर्थी को गंगावास पाते हैं।

उसी दिन नये गणेश की प्रतिष्ठा होती है। सो इसी गणेश जी का नाम लेकर दूसरी ने कुछ अभिशाप दिया था। लड़ाई अभिशाप के मामले पर उतनी नहीं जमी, जितनी इस बात पर कि जिस स्त्री को अभिशाप दिया गया उसी के गणेश का नाम क्यों लिया गया। दुनिया में और कोई गणेश क्या नहीं थे? मुझे ईश्वर के नाम पर एकता की अपील करने वालों की बातें याद थीं। शक्ति भर मैंने समझाया कि गणेश जी एक ही हैं और सबके हैं। पर सुनता कौन! दोनों ने ही स्वीकार किया कि मैं ठीक कह रहा हूँ। गणेश जी की पुजारिन ने और भी दृढ़ता के साथ कहा कि कौन नहीं जानता कि गणेश जी सब के हैं, फिर भी उसने 'मेरे' गणेश जी का नाम क्यों लिया? क्यों नहीं 'अपना' गणेश पूजती? 'मेरे' गणेश का नाम लेगी तो उसके नाखून चू जायँगे और······इत्यादि। सो मैं हार गया। सारे देश में यही तो चल रहा है। कौन नहीं जानता कि मन्दिर के ठाकुर जी सब के हैं और मस्जिद के अल्लाह ताला भी सबके हैं, फिर भी 'हमारे' ठाकुर जी और 'हमारे' मन्दिर और 'हमारी' मस्जिद के सामने··· इत्यादि। गाँव की अनपढ़ औरतें कुसंस्कार में पली हैं, अशिक्षित हैं, पर जो लोग शिक्षित हैं वे भी तो बहुत अधिक सुसंस्कृत नहीं दीखते। आसमान बुरी तरह मुंह फुलाए बैठा है, आँधी आ भी सकती है, वर्षा की कोई उम्मीद नहीं दिखती।

इतिहास का भरोसा मुझे भी रहा है। ज़रा दर्पोद्धत भाषा में इतिहास के सत्य को संसार के सामने रखते रहने की साध मुझे बराबर रही है। साध और संकल्प में भेद है। मेरी साध अब तक संकल्प नहीं बन सकी। अब तो क्या बनेगी। मैं देख रहा हूँ कि इतिहास वह समुद्र है जिसे मथकर अमृत भी निकाला जा सकता है और विष भी, लक्ष्मी भी पाई जा सकती है और वारुणी भी। मैंने देखा है कि इतिहास वह अग्निशिखा है जिससे गृहस्थ का घर प्रकाशित भी हो सकता है और भस्म भी, जिससे प्रकाश भी मिलता है और ताप भी। परन्तु मैं ध्यान-पूर्वक देखकर समझ रहा हूँ कि इतिहास अपराजेय जीवनी शक्ति का अक्षय प्रवाह है। वह जातियों और व्यक्तियों को बराबर आगे धकेलता आया है, ठेलता आया है, घसीटता आया है। इतिहास महाकाल का ताण्डव नृत्य है, जो अपने आप के नियमों से चलता है, जिसमें मनुष्य की इच्छा गौण और नगण्य है, जो अपने आपको कभी नहीं दुहराता। हम रहें या न रहें—मनुष्य बचे या न बचे—महाकाल का ताण्डव नृत्य चलता रहेगा, इतिहास का प्रवाह जारी रहेगा, जीवनी शक्ति अपनी मस्तानी चाल से चलती ही जायगी। इस ग्रह पर नहीं तो दूसरे पर, दूसरे पर नहीं तो तीसरे पर। काल की सत्ता असीम है। इतिहास का बनना भी असीम है। हम उपलक्ष्य-मात्र हैं। प्रकृति के नियम कठोर हैं। कर्म का चक्र दुरधिगम्य है। इतिहास-विधाता का अपना ढङ्ग है।

प्रचण्ड जीवन-प्रवाह ने आज हिन्दू और मुसलमान को एक ही किनारे ला पटका है। यह हिन्दू और मुसलमान को सोचना है कि वह अपने को इस प्रवाह के अनुकूल कैसे बनावेंगे। पीछे की घटनाओं का चिट्ठा खोलना बेकार है। जीवन-प्रवाह को—निर्मम इतिहास-धारा को—रुकने की ग़रज़ नहीं है। जो उसके अनुकूल बनेगा उसे वह दुगुने वेग से उस अविज्ञात उद्देश्य की पूर्ति की ओर ले जायगी, जिसकी सूचना अमीबा से मनुष्य तक की निर्माण-योजना में मिलती है और जिसके लिये सैकड़ों प्रकार के जीव और वनस्पति बनाए और बिगाड़े जा चुके हैं, दर्जनों मानव-जातियाँ उठाई और गिराई जा चुकी हैं। हम ठीक नहीं जानते कि वह उद्देश्य क्या है। पर इतना हम अवश्य जानते हैं कि उस उद्देश्य की विजय-यात्रा श्मशानों और क़बरिस्तानों के ऊपर से हुई है, हो रही है और होगी। इस निष्ठुर सत्य का क्षणिक सफलता के गर्व से उन्मत्त होकर जो उपेक्षा करेंगे वे पिस जायेंगे। महाकाल को यह बिल्कुल परवा नहीं है कि किस जाति ने कितनी लूट खसोट और मारा मारी के बाद ऐसी कौन सी सभ्यता बना ली है, जिसकी रक्षा के लिये समस्त जगत् का गला रेता जा

सकता है। बना ली है तो बनाली है, महाकाल के नियमों की उपेक्षा करने पर उसे भी वही गति मिलेगी जो औरों को मिल चुकी है। मैं कहता हूं कि ऐ हिन्दुओ, और ऐ मुसलमानों, अपने अपने लेबिलों पर न जूझो, उस निष्ठुर प्रवाह को न हिन्दू पर ममता है न मुसलमान पर मोह। वह काट छाँट कर, गढ़ छोलकर, बना सँवार कर एक महान् सत्य को प्रकाशित कर रही है। उसकी सहायता करो, उसका साथ दो। अगर खुद तुम अपनी सड़ी गली आदतों को काटकर न फेंक दोगे तो वह प्रचण्ड प्रवाह तुम्हारे समेत उसे दबोच लेगा—कर्त्तुनेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्य वशोऽपितत् !

आसमान उसी तरह गम्भीर है। हम पर क्या बीत रही है, इसकी कोई चिन्ता उसे नहीं सता रही, उसके अपने नियम हैं। मूर्ख लोग सोचते हैं कि वह हमारे लिये पानी बरसाता है। वह तो अपने नियम से बरसता है, अपनी मर्जी पर बरसता है। बुद्धिमान लोग अपनी खेती बाड़ी उसके अनुकूल बन कर करते हैं। जो समझता है कि हमारे लिये बरसता है वे ग़लती करते हैं। उबाल देने वाली गर्मी है। न जाने कब बरसेगा। दूर का मैदान उदास है, दिशाएँ स्तब्ध हैं, खजूर और ताड़ जबदे हुए हैं, गिरगिट इस समय भी रेंग रहा है। जीव-सृष्टि में गिरगिट के सिवा और कोई नहीं रह गया क्या ! बुरी ऊमस है।

आसमान गवाह है कि प्रकृति के इस कारखाने में कैसे कैसे प्रचण्डकाय जीव बनाये गये हैं। हाथी और ह्वेल तो उनके सामने चींटी हैं। वे उस महान् सत्य को प्रकट नहीं कर सके जो महाकाल को अभीष्ट था। अपने ही देह-भार से वे बरबाद हो गये। दुर्धर्ष जीवन प्रवाह ने फिर कर ताका भी नहीं कि उसका इतना बड़ा आविष्कार किधर और कैसे फिंक गया। वह फक्कड़ाना ला परवाही के साथ आगे बढ़ गया। सृष्टि के कारखाने में नया प्रयोग हुआ। मनुष्य बना। यहाँ से इतिहास की धारा दूसरी ओर मुड़ी। अब तक जीवसृष्टि लुढ़कते-पुढ़कते बनती आ रही थी। मनुष्य ने कहा, हम स्वयं कुछ बनाएँगे। जैसा हो रहा है हम उसी को मान कर सन्तुष्ट नहीं रह सकते, हम उसे वह बनावेंगे जैसा कि होना चाहिए। दर्पोक्ति थी यह। तुम प्रकृति के दुरन्त प्रवाह के सामने खड़े होकर 'बनाने' की स्पर्धा करोगे ? मनुष्य ने कहा--हाँ, इच्छा तो ऐसी ही है।

कारण और कार्य के बीच में व्यवधान कहाँ है ? वह तो एक दूसरे से नीरंध्र ठोस परंपरा के रूप में गुंथे हुए हैं। उनके बीच में अपनी 'इच्छा' को लेकर तुम कहाँ स्थान पाओगे ? मनुष्य महाकाल की दुलारी सन्तान है। उसने प्रकृति को नाराज़ नहीं होने दिया और अपनी 'इच्छा' के लिये उसकी स्वीकृति की मुहर लगवा ली। तब से समाज बना, धर्म बना, साहित्य बना, मंदिर बना, मस्जिद बनी—मनुष्य की इच्छा बढ़ती गई। लेकिन जब कभी उस इच्छा ने प्रकृति की स्वीकृति की शर्तों की अवहेलना की तभी उसे कठोरतम दंड मिला। जड़-संचय उस स्वीकृति-पत्र का विरोधी है। जो जड़-वस्तु के मोह में उसे संचित किए रहता है वह बरबाद हो जाता है। मैं कहता हूँ, ऐ मेरे ग्रह के बाशिन्दो, पुराने संस्कारों के मलबे के नीचे मत दबो, वे जड़ हैं; फौलाद और पैट्रोल की ताक़त से गर्वित मत बनो, वे जड़ हैं; सोने और चांदी की चमक पर न भूलो, वे जड़ हैं। वे सड़ा करते हैं, वे मृत्यु के हथियार हैं। लेकिन मेरी सुनेगा कौन ? सोने के सिंहासन ऊंचे हो गए हैं। युग युग से महापुरुष पुकार कर हार गए हैं, उन तक आवाज़ नहीं पहुंचती। हाथी और ऊँट जिस बाढ़ में डूब गए हैं उसमें चींटी की क्या बिसात है ! मैं निराश हूँ और आसमान मनहूस की भाँति ताक रहा है। क्यों वह इतना गम्भीर बना है ? मैं सोच रहा हूं कि आकाश के पेट में जो रहस्यमय उथल-पुथल मची हुई है—लाख लाख प्रकाशवर्षों की दूरी में कोटि-कोटि नक्षत्र ब्रह्माण्डों का जो भंजन-सर्जन चल रहा है—वह क्या व्यर्थ का आयोजन है ? हम जब चप्पे चप्पे स्थान के लिये अपनी दुरन्त जड़-शक्ति को लेकर पृथ्वी का वक्षःस्थल कम्पित करते

रहते हैं तो उस विराट् विश्व का क्या कोई भी प्रभाव हमारे ऊपर नहीं पड़ता ? क्या क्षुद्रतम परमाणु में विद्युत्-अणुओं का जो रहस्यमय आवर्त नृत्य चल रहा है वह हमारे जीवन को कुछ भी रूप नहीं दे रहा है ? क्या हम इस 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के बाहर हैं ? क्या बार बार असीम अरूप सत्ता की ओर अंगुलि उठाते रहने वाले फ़क़ीर सचमुच पागलख़ाने के जीव हैं ? क्या दुनियादार कहे जाने वाले वास्तव में चतुर होते हैं ? मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि दुनिया का इतिहास बनाने या बिगाड़ने का खेल खेलने वाले सचमुच उस टिटहरी से अधिक अहमियत रखते हैं जो आसमान को टूटने से बचाने के लिये एक टाँग उठाकर सोती है ? आसमान को मालूम है दीर्घकाल से वह मनुष्य को अपनी गोद में खेलाता रहा है। वह मनुष्य के भाग्य को जानता है, वह हिन्दू और मुसलमान को ठीक ठीक समझता है, वह स्तब्ध है, वह उदास है। वर्षा होने की कोई आशा नहीं है ? मैं उदास हूँ।

नयी उर्दू कविता का नमूना

बंदी का सपना

जोश मलीहाबादी

क्या हिंद का ज़िन्दा[1] काँप रहा है गूंज रही हैं तकबीरें[2],
उकताये हैं शायद कुछ क़ैदी और तोड़ रहे हैं ज़ंज़ीरें।
दीवारों के नीचे आ आ कर यों जमा हुए हैं ज़िनदानी[3],
सीनों में तलातुम[4] बिजली का आंखों में झलकती शमशीरें।
भूखों की नज़र में बिजली है तोपों के दहाने ठंडे हैं,
तक़दीर के लब को जुम्बिश है दम तोड़ रही हैं तदबीरें।
आंखों में गदा[5] की सुर्ख़ी है बेनूर है चेहरा सुलतां का,
तख़रीब[6] ने परचम[7] खोला है सिजदे में पड़ी हैं तामीरें।
क्या उनको ख़बर थी सीनों से जो ख़ून चुराया करते थे,
एक रोज़ इसी बेरंगीं से झलकेंगी हज़ारों तसवीरें।
क्या उनको ख़बर थी होठों पर जो कुफ़्ल[8] लगाया करते थे,
एक रोज़ इसी ख़ामोशी से टपकेंगी दहकती तक़रीरें।
सँभलो—के वह ज़िन्दां गूंज उठा,—झपटो, के वह क़ैदी छूट गये,
उट्ठो—के वह बैठीं दीवारें; दौड़ो के वह टूटीं ज़ंजीरें।

---

१ क़ैदख़ाना २ जयजयकार ३ क़ैदी ४ तड़प ५ भिखारी ६ बरबादी ७ झंडा ८ ताला।

मनुस्मृति में नारी-चित्र

बैजनाथसिंह "विनोद"

मनुस्मृति हिन्दू-समाज-व्यवस्था की मुख्य क़ानूनी किताब है। मनुस्मृति के अलावा इस सम्बन्ध में जो ग्रन्थ हैं, वे प्रायः सभी मनु के आधार पर ही हैं। मौजूदा मनुस्मृति को "भार्गवीय मनुसंहिता" भी कहते हैं। कहा जाता है कि—मूल मानव धर्मशास्त्र के आधार पर भृगु, नारद, बृहस्पति और अंगिरा ने पृथक् पृथक् चार संहिताएं बनाई थीं, जिनमें से यह 'भार्गवीय मनुसंहिता' प्रधान है। कुछ विद्वान मनु को आर्य नहीं भारत की मूल जाति का मानते हैं। विद्वानों का मत है कि—मनुस्मृति के आरम्भिक ४ श्लोकों तक महर्षियों के आगमन और प्रश्न तथा मनु द्वारा उसके बचन की प्रतिज्ञा की जाने की बात है। अनन्तर के पचपन (५ से ५९ तक) श्लोकों में भगवान मनु ने महर्षियों के प्रश्नों का यथेष्ट, पूर्ण और समीचीन उत्तर दे दिया है। बस इतना ही मूल मानव धर्मशास्त्र है। ये श्लोक किसी न किसी रूप में सभी प्राचीन—वैदिक, जैन, बौद्ध—वाङ्मयों में मिलते हैं। बाक़ी मनुस्मृति—भार्गवीय मनुसंहिता—पुष्यमित्र के काल की रचना है। यह भृगु कोई वैदिक ऋषि नहीं हैं। डा० जायसवाल का मत है कि यह भृगु सुमति भार्गव हैं, जिन्होंने पुष्यमित्र के काल में पाटलिपुत्र में बैठकर मनुस्मृति का मौजूदा संस्करण तैय्यार किया है। 'मनु' शब्द ब्रह्मवाचक भी है; और मनुस्मृति के अनुसार महर्षियों ने मनु जी से प्रधानतः 'वर्ण धर्म' के विषय में प्रश्न किया है और मनुस्मृति में इसी को आधार मानकर सारी व्यवस्था है। मनुस्मृति में 'ब्राह्मण वर्ण' को बहुत से अपराधों से मुक्त रखा गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में शूद्रों के और दासों के सम्बन्ध में जो कुछ उदार व्यवस्था है, मनु में उसका भी परिहार किया गया है। मनु शूद्रों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक कटु हैं। बौद्धों के विरुद्ध भी वह अनुदार हैं। इसीलिये विद्वानों का मत है अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या करने वाले पुष्यमित्र के पक्ष में यह स्मृति जाती है और इसमें ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात के साथ ही शूद्रों के प्रति द्वेष भी है: मनु जन्मजात वर्णव्यवस्था की विचार धारा के कट्टर समर्थक हैं, अतः मनुस्मृति ब्राह्मण्य-वादी व्यवस्था है और सामाजिक दृष्टि से यह अपने समय की क्रान्ति विरोधी व्यवस्था है।

मनु के ऐसा होने के कई कारण हो सकते हैं। उस काल में शकों का प्रभाव सारे देश पर छा गया था। साकेत और काशी तक उनके प्रभाव-क्षेत्र में था। शक बौद्ध थे। बौद्ध 'वर्णव्यवस्था' और 'वेद प्रामाण्य' के विरोधी होते ही हैं। मौर्य सम्राट् भी बौद्ध थे। उस समय ब्राह्मण राजकीय प्रभाव से च्युत थे—उनके हाथ में कोई महत्व का राजा नहीं था। पर समाज में उनका प्रभाव था; और अपने उसी प्रभाव का प्रयोग उन्होंने सेनापति पुष्यमित्र को मगध की गद्दी पर बैठाने में किया। पुष्यमित्र के बाद से ही भारतीय समाज में 'ब्राह्मण्यवाद' का पुनरुत्थान काल शुरू हो जाता है।

स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु के जो विचार हैं, उसके पीछे भी ऐतिहासिक कारण हैं। विदेशी शकों को अपने अनुकूल बौद्ध धर्म लगा और सभी शक बौद्ध होने लगे। बौद्ध धर्म में वर्णव्यवस्था और जाति-व्यवस्था नाम की कोई चीज़ नहीं थी; इसीलिए बौद्ध धर्म के ज़रिये शक पूर्ण रूप से भारतीय होते जाते थे। शादी-विवाह, खान-पान इत्यादि सभी मामलों में वे भारतीय होते जाते थे। साथ ही नए जोश के कारण वे ब्राह्मण-व्यवस्था के तीव्र विरोधी भी थे। इसीलिये मनु ने ख़ास तौर से जन्मजात वर्ण-व्यवस्था पर ज़ोर दिया। मनु की वर्णव्यवस्था

में कर्म की प्रधानता संदिग्ध और बहुत ही विवादास्पद है—व्यवहार में उसका कुछ भी महत्व नहीं है। बहुमत मनु की वर्णव्यवस्था को जन्मना मानता है। और कम से कम कुल की विशुद्धि या यों कहिये कि रक्त-शुद्धि की बात तो मनु में निःसन्दिग्ध रूप से है। उन दिनों शील का मूल कुल माना जाता था और कुल का मूल कामिनी—'कुले च कामिनी मूले।' इसीलिये शील और कुल को पवित्र रखने के लिये स्त्रियों पर मनु ने कड़े प्रतिबन्ध लगाए।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि मनु ने 'कुल शील' को नष्ट होने से बचाने के लिए ही इस व्यवस्था को क़ायम किया। इस प्रकार की रक्तगत कुलीनता का अन्त बहुत पहले ही हो चुका था। मनु की इस व्यवस्था से बहुत पहले धर्मराज युधिष्ठिर ने स्पष्ट कह दिया था—सब वर्ण के पुरुष, सभी वर्णों की स्त्रियों में सदैव अपत्य जनमते हैं, इस तरह सब वर्णों का संकर हो गया है, अतः मेरे मत से 'जाति' कुल गत सन्तति परम्परा दुष्परीक्ष्य है।',[1] यही नहीं पाण्डु ने अपनी पत्नी कुन्ती को नियोग का आदेश देते हुए श्वेतकेतु कृत विवाह मर्यादा का जो इतिहास सुनाया है, उससे तो और भी साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि महाभारत के ज़माने में ही कितना रक्तमिश्रण हो चुका था।[2] इसीलिये बुद्ध ने शील (धर्म) का मूल कुल को न मानकर चरित्र को माना है। पर चूंकि मनु को अपनी व्यवस्था द्वारा पुष्यमित्र की ताक़त को बढ़ाना था; शकों और बौद्धों के हाथ से शासन-सत्ता छीननी थी; इसलिये उसने ऐसी व्यवस्था बनाई, जिसका सम्बन्ध बुद्धि से नहीं, भावुकता से था। साधारण जन को रक्तशुद्धि के नाम पर उभाड़ना आसान था। ऐसी अवस्था में रक्तशुद्धि के आन्दोलन के लिए अपने को शुद्धरक्त का घोषित करना और फिर रक्त को शुद्ध रखने के नाम पर विरोधियों का दमन करना ज़रूरी माना जाता है।

किन्तु फिर भी स्त्रियों के सम्बन्ध में सारे अन्यायों को मनु पर ही नहीं लादा जा सकता। मनु से बहुत पहले स्त्रियों का दर्जा नीचा हो चुका था। मनु ने तो अपने पक्ष में आने लायक़ व्यवस्थाओं को एक जगह करके अपना पक्ष मज़बूत किया है। मनु से बहुत पहले ही जैनाचार्यों ने स्त्रियों को मोक्ष के अधिकार से वंचित इसलिये कर दिया था कि स्त्रियों को वह नंगा (दिगम्बर) न रख सके। बुद्ध ने बहुत विवाद के बाद यद्यपि स्त्रियों को संघ में शामिल किया, परन्तु उन पर कड़ा अनुशासन लगा दिया। दरअसल भारतीय संस्कृति और साधना अपरिग्रह मूलक है और स्त्री प्रकृति का सीधा एजेन्ट है; इसलिये वह परिग्रह का मूल है; यह एक ख़ास कारण है भारतीय धर्म-साधना में स्त्री का दर्जा नीचा होने का। पर भारतीय समाज में स्त्री का दर्जा नीचा होने का कारण आर्थिक और राजनैतिक भी है।

मनु के काल में स्त्रियों को शिक्षा होती थी; पर उसकी सामूहिक व्यवस्था नहीं थी। बड़े बड़े सामन्तों के घरों में उनके परिवार की लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था थी। ऐसे परिवारों में नाचना, गाना और चित्रकला की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। बौद्ध मठों में, जहाँ बौद्ध भिक्षुणियाँ रहती थीं, वहाँ प्रायः सामूहिक रूप से शिक्षा की व्यवस्था रहती थी और इन मठों में लड़कियों के लिये उच्च शिक्षा भी सुलभ थी। पुरोहितों और ब्राह्मणों के घरों में भी लड़कियों की शिक्षा का इन्तज़ाम था। पर्दा की प्रथा नहीं थी; पर आमतौर से स्त्रियों को पुरुषों के सम्पर्क से अलग रखा जाता था।

साधारण तौर से लड़कियों की शादी १५ साल की उम्र में होती थी। २० साल की उम्र तक लड़कियों की शादी न होने पर पिता की निन्दा शुरू हो जाती थी। मनु ने शादी के सम्बन्ध में व्यवस्था दी है कि—"ऋतुमती कन्या तीन वर्ष तक (पिता के दान की—शादी की—) बाट देखे, इसके बाद अपने तुल्य वर को स्वयं वर ले। पिता आदि के दान (शादी) न करने पर यथा समय कन्या किसी

१—म० भा०, वन०, अ० १८०, ३१-३२।
२— ,, आदि०, अ० १२२।

पुरुष को पति रूप में वर ले, तो उसे वा जिससे वह शादी करे, कुछ पाप नहीं होता।" (मनु० ९।९०-९१) पर इसी के आगे मनु ने यह भी कहा है कि—"इस प्रकार स्वयंवर करने वाली कन्या पिता, माता अथवा भाई के दिये हुए आभूषण आदि न ले; क्योंकि उनके लेने से वह चोर गिनी जायगी।" (मनु० ९।९२) इस तरह की व्यवस्था मनु से पहले कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी है; इससे यह साबित होता है कि उस काल में लड़कियों को इतना अधिकार देने के लिये समाज बाध्य था और इसके कारण का पता बताता है मनुस्मृति के ९ वें अध्याय का ८८, ८९ श्लोक, जिसमें लिखा है कि—"ऋतुमती होने पर भी चाहे कन्या जन्म भर घर में ही रहे, परन्तु उसे किसी निर्गुण पात्र को कभी न दे।" और इस गुणी-निर्गुण का चुनाव कन्या के हाथ में नहीं था। इसके साथ ही यह भी था कि—"सुन्दर श्रेष्ठ और रूपवान वर मिल जाय तो कन्या के विवाह योग्य न होने पर भी उसे विधि पूर्वक दे दे।" और इसीलिये ३० साल के पुरुष के साथ १२ साल की कन्या और २४ वर्ष के पुरुष के साथ ८ साल की कन्या तक की शादी की भी व्यवस्था मनु ने की है। (९।९४) इसका रहस्य खुलता है समसामयिक बौद्ध साहित्य से; जिससे पता चलता है कि उस काल में कन्याएँ बेची तक जाती थीं। कौटिल्य में तो इसकी व्यवस्था तक है। मनु में कन्या बेचने की निन्दा भी है और व्यवस्था भी। निन्दा करते हुए मनु कहते हैं—"बुद्धिमान पिता को चाहिये कि कन्या का थोड़ा सा भी शुल्क (मोल) न ले, लोभ से शुल्क लेने वाला मनुष्य सन्तान बेचने वाला होता है।" (३।५१) और व्यवस्था देते हुये मनु कहते हैं—"यदि कोई पुरुष किसी कन्या का शुल्क देकर विवाह के पहले मर जाय, तो कन्या के सहमत होने से शुल्क देने वाले के छोटे भाई के साथ उसका विवाह करदे।" (९।९७) पर आमतौर से मनु का रुझान कन्या विक्रय के विरुद्ध है। और बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण मनु को ऐसा करना पड़ा।

मनु के समय में ८ तरह के विवाह प्रचलित थे। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पिशाच। (३।२०) इनमें से ६ का प्रचलन ज़्यादा था, बाक़ी २ निन्दित माने जाते थे। आमतौर से माता पिता की सहमति से होने वाले ब्राह्म विवाह को ही ज़्यादा पसन्द किया जाता था। रक्त-शुद्धि के ख़्याल से स्त्री के जननेन्द्रिय पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसीलिये मनु ने कहा है कि—"मनुष्यों में विवाह विषय के सब मन्त्र केवल कन्या के ही लिये कहे हैं, क्षत योनि के लिये नहीं; क्योंकि वे धर्महीन होती हैं।" (८।२२६) मनु ब्राह्मणयवादी व्यवस्था का जनक था; इसीलिये उसने शादी में ब्राह्मणयवादी तरीक़े को अनिवार्य रूप से आवश्यक करार दिया है—यहाँ यह याद रहे कि उस काल में समाज के अन्दर बौद्धों की काफ़ी संख्या थी और बौद्ध शादी के लिये आडम्बर मय ब्राह्मणयवादी तरीक़े को नहीं मानते थे, जिसका असर ब्राह्मणों की आमदनी पर गहरा पड़ता था। शायद इसीलिये मनु ने सप्तपदी को बहुत ज़रूरी ठहराया। मनु ने कहा है—"विवाह के मन्त्र ही, निश्चय करके, स्त्री के लक्षण हैं, और उन मन्त्रों की सिद्धि कन्या के सातवें पद में पण्डितों को जाननी चाहिये (सातवाँ पाँव रखने के पहले नहीं होती)।" "शादी के सम्बन्ध में मनु की यही सप्तपदी की व्यवस्था हिन्दू-विवाह क़ानून की आधार शिला है।

स्त्री धन के सम्बन्ध में मनु का मत है—"ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्रजापत्य इन पाँच प्रकार के विवाहों में मिला हुआ छः प्रकार का जो स्त्री धन है, वह स्त्री के सन्तान रहित मर जाने पर उसके पति को मिलता है।" (९।१९६) यह स्त्री-धन छः प्रकार का होता है—"(१) अध्याग्नि, (२) अध्यावाहिक, (३) प्रतिदत्त (४) माता का दिया, (५) पिता का दिया और (६) भाई का दिया हुआ। (९।१९४) अध्यग्नि वह धन है जो अग्नि की साक्षी में बधु के माता पिता देते हैं; अध्यावाहिक वह धन है, जिसे ससुराल जाते समय कन्या को अपने माता पिता से

मिलती है, और प्रतिदत्त उस धन को कहते हैं, जिसे अन्य स्त्री-पुरुष करनी, मुंह दिखाई, पहले पहल वधू के हाथ का खाना खाते समय या नाना रस्मों के अनुसार देते हैं। इस स्त्री-धन पर स्त्री का अधिकार कहा गया है। पर उसमें भी ख़ास विधान है। मनु की व्यवस्था है—"कोई भी स्त्री बहुत कुटुम्बियों के साधारण धन में से और अपने भी धन में से बिना पति की आज्ञा के (आभूषण आदि के लिये) धन संग्रह या व्यय न करे।" (९।१९९) ऐसा मालूम होता है कि सम्मिलित कुटुम्ब की शान्ति के लिए ऐसी व्यवस्था का जन्म हुआ था। इसके आगे स्त्री-धन के सम्बन्ध में मनु कहते हैं—"विवाह के अनन्तर पिता या पति के कुल से जो धन मिले और प्रीति पूर्वक जो पति से मिले, वह स्त्री के मर जाने पर उसकी सन्तान का होता है।" (९।१९५)

मनु की राय है कि स्त्रियाँ पुत्रों को उत्पन्न करती हैं, इसलिये भाग्यवती, सत्कार के योग्य और गृह की शोभा हैं। घर में श्री और स्त्री में कुछ भी विशेषता नहीं है; अर्थात् जैसे लक्ष्मी बिना घर की शोभा नहीं, वैसे ही स्त्री के बिना घर की शोभा नहीं। सन्तानोत्पत्ति, उसका पालन और घर के धन्धों की देख भाल करना भार्या के लिये ज़रूरी है—इन्हीं कारणों से भार्या की ज़रूरत है। सन्तानोत्पत्ति, (अग्निहोत्रादि) धर्म कार्य, सेवा, उत्तम रति और पितरों के तथा अपने स्वर्ग प्राप्ति के कार्य केवल पत्नी के ही आधीन हैं। (१।२६, २७, २८) मनु ने समाज को आदेश दिया है कि—"धन संग्रह, व्यय, शरीर आदि की शुद्धि, धर्म कार्य, रसोईं बनाना और घर की चीज़ों के देख भाल में स्त्रियों को लगावे।" (९।११) मनु स्त्री की कोई अपनी स्वतन्त्रत स्थिति नहीं मानते। उनकी राय में—"बालक, युवती या बूढ़ी स्त्री को भी घर में कोई कार्य स्वतन्त्र होकर न करना चाहिये।" (५।१४७) "स्त्रियों के विवाह की विधि वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीत) कहा गया है। पति सेवा ही गुरुकुल में वास और घर का काम ही अग्नि की सेवा है।"[3] (२।६७) "बाल्यावस्था में स्त्री पिता के वश में, यौवन में पति के और पति के मरने पर पुत्र के वश में रहे; स्वतन्त्र कभी नहीं।" (५।१४८) फिर आगे है—"स्त्रियों को पति के बिना अलग व्रत, यज्ञ और उपवास करने का अधिकार नहीं है। स्त्री तो केवल पति की सेवा से ही स्वर्ग में आदर पाती है।" (५।१५५) शायद इसीलिये मनु को यह भी कहना पड़ा कि—"स्त्रियों का संस्कार मन्त्रों से नहीं होता, यही शास्त्र की मर्यादा है। स्मृति तथा धर्म शास्त्र में और किसी मन्त्र में भी इनका अधिकार नहीं है, इसलिये ये झूठ के समान अशुभ हैं।" (९।१८) इस तरह की बात शतपथ ब्राह्मण में भी है—'स्त्रियानृतम्।" आचार्य क्षितिमोहन सेन की राय है कि इस देश में आगमन के समय आर्यों के पास स्त्रियों की कमी थी, इसलिये वह यहाँ की स्त्रियों से शादी-विवाह आदि करने लगे; पर इस तरह यहाँ की चारु और सभ्य स्त्रियों के द्वारा आर्यों के समाज में यहाँ की अवैदिकी सभ्यता का प्रचार हो चला, जिसे रोकने के लिये ही आर्य ऋषियों ने स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वञ्चित करके उनको शूद्रों की श्रेणी में डाला।[4] पर नितान्त यही बात नहीं है। आर्य अपने से पूर्व के समाज में खपकर ऐसी व्यवस्था के क़ायल होंगे। मनु का भी कहना है कि—"कन्या, जवान स्त्री, थोड़ा पढ़ा हुआ, मूर्ख, रोगी और यज्ञोपवीत रहित मनुष्य ये अग्निहोत्र के कर्ता नहीं हो सकते।" (११।३६) यह तो हुआ धर्म कार्य में उसके अपने अधिकार की बात। अब उसकी व्यक्तिगत आशा आकांक्षा के सम्बन्ध में कुछ कह दिया जाय। मनु कहते हैं—"पतिव्रता स्त्री को शीलरहित, परस्त्री-गामी वा गुणहीन पति की भी सदा देवता के समान पूजा करनी चाहिये।" (५।१५४) स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु की राय है कि वह "न रूप की परीक्षा करती

३—'विशाल भारत' जुलाई १९४२ में 'बौद्ध संस्कृति में नारी' शीर्षक मेरे लेख के 'गृह-अग्नि' के रूपक से इसकी तुलना करें।—लेखक

४—भारतवर्ष में जाति भेद—आचार्य क्षितिमोहन सेन।

हैं न अवस्था की विशेष पर ध्यान देती हैं, परन्तु सुरूप वा कुरूप चाहे जैसे पुरुष को पाकर उसके साथ सम्भोग करती हैं।" (९।१४) शायद इसीलिये स्त्रियों के लिए चिरन्तन बेड़ी की रचना की गई--"बाल्यावस्था में पिता युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र स्त्रियों की रक्षा करे, स्त्री कभी स्वतन्त्र न रहे।" (९।३) और शायद इसीलिये कहा गया कि—"स्त्री को चाहिये कि पिता वा पुत्र कुल से अपना वियोग न चाहे; क्योंकि स्त्री इनको छोड़कर दोनों कुलों (पितृ कुल और पति कुल) की निन्दा कराती हैं।" (५।१४९) यहाँ यह याद रहे कि मनुस्मृति के रचना के समय बहुत सी स्त्रियाँ पितृ-कुल और पति कुल के अन्याय से बचने के लिये बौद्ध भिक्षुणी हो जाती थीं। मेरी गाथा में इसका बहुत प्रमाण भरा है। शायद उसी को रोकने के लिए इस व्यवस्था की ज़रूरत महसूस हुई हो। क्योंकि इस व्यवस्था के पहले कोई भी ऐसी व्यवस्था नहीं थी।

मनु ने स्त्रियों को जिन सख़्त बन्धनों में बांधा है, उसमें स्त्रियों के लिये आकर्षण की, सम्मान की कोई भी बात न होती यदि मनु ने पुरुषों के लिये यह हिदायत न दी होती कि वह उनका आदर भी किया करे। पर एक दृष्टि और भी हो सकती है कि मनु ने स्त्रियों के लिये जिस सख़्त व्यवस्था की रचना की, उससे स्त्रियों में असन्तोष का पैदा होना स्वाभाविक था; इसलिये मनु ने स्त्रियों का आदर करने की बात कह कर उस असन्तोष को दूर करने की कोशिश की—क्योंकि उस आदर के अन्दर भी उनके स्वाभिमान का ख़्याल नहीं है। मनु का कहना है—"जहाँ स्त्रियों का आदर किया जाता है, वहाँ देवता रमण करते हैं; और जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं। जिस कुल में जायि (स्त्री, पुत्र वधू) स्त्रियाँ शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, और जहाँ यह शोक नहीं करतीं वह कुल निश्चय करके बढ़ता है। जिन स्त्रियों का आदर नहीं होता है, वे जिन कुलों को शाप देती हैं, वे मारण (एक तरह का मन्त्र) से मारे जाने के समान चारों ओर से नष्ट हो जाते हैं। इसलिये सम्पत्ति चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि आदर के अवसरों पर और उत्सवों में वस्त्राभूषण और भोजनों से सदा स्त्रियों का आदर करें। जिस कुल में स्त्री से पति प्रसन्न रहता है और उसी प्रकार पति से स्त्री प्रसन्न रहती है, वहाँ निश्चय करके अचल कल्याण होता है।" (३।५६ से ६०) यह साफ़ है कि इस व्यवस्था से स्त्रियों के अधिकार में कुछ भी वृद्धि नहीं होती। इस व्यवस्था से यही ज़ाहिर होता है कि दुधारी गाय को चारा-पानी, चुमकार-पुचकार से रखना चाहिये; मारना पीटना नहीं चाहिये।

बहु विवाह की प्रथा हिन्दुस्तान में बहुत पुरानी है। वैदिक काल में भी राजाओं को दस स्त्रियाँ तक रखने का क़ानूनी हक़ था। पर ग़ैर भारतीय आर्यों में बहु विवाह की प्रथा नहीं पाई जाती। भारतीय आर्यों में ही यह प्रथा क्यों जारी हुई, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। महाभारत काल में विजित शत्रु की स्त्रियाँ, जो पसन्द हों—हरम में डाल ली जाती थीं। बहु-विवाह के पीछे आर्थिक कारण भी निहित है। जीते हुए प्रदेश पर अपना अधिकार अक्षुण्ण रखने के लिये और वहाँ के लोगों की सहानुभूति पाने के लिए वहाँ की स्त्रियों को रानी बनाया जाता था। जीते हुए प्रदेशों और बहुत सी ज़मीन पर अपना आधिपत्य जमाने के लिये अपनी सन्तान का होना उस काल में ज़्यादा अच्छा समझा जाता था, जिसके लिये एक स्त्री से १० सन्तान तक की आशा की जाती थी—और बहुत सी सन्तानों के लिये बहुत सी स्त्रियों से शादी करना अच्छा समझा जाता था। पर आगे चलकर यही कलः का भी कारण होने लगा। बाद में जैनों और बौद्धों के प्रचार ने इस भोगवाद के विरुद्ध त्याग और संयम का वातावरण पैदा कर दिया, इसीलिये चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में बहु विवाह के प्रति जन-मत में एक तरह की उपेक्षा का भाव था—अर्थात् संयम का आदर्श कौटिल्य अर्थशास्त्र से मालूम होता है। मनु ने भी

इस आदर्श का निर्वाह किया है। मनु ने बहु विवाह को प्रोत्साहन नहीं दिया। इसीलिये मनु ने ख़ास हालतों में बहु विवाह की व्यवस्था दी। जैसे—"मद्य पीने वाली, दुश्चरित्र, पति से द्वेष करने वाली, असाध्य रोग वाली, नौकर आदि को ताड़ना करने वाली और सदा धन नष्ट करने वाली स्त्री के होते भी दूसरा ब्याह कर ले।" (९।८०) "जो रोगिणी स्त्री अपने पति में रत और सुशील हो, तो स्त्री की अनुमति लेकर पति दूसरा विवाह करे और उसकी कभी अवज्ञा न करे।" (९।८२) यह क़ानून कितना ढीला है इसे लोग अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस व्यवस्था में पुरुषों के निकास के लिये काफ़ी गुञ्जाइश है। तुलनात्मक दृष्टि से इस जगह मनु की व्यवस्था स्त्रियों के प्रति बहुत ही अन्याय जनक है। मालूम होता है मनु के काल में ही इस तरह के बहु विवाह से स्त्रियाँ कभी कभी बहुत असन्तुष्ट होकर विद्रोह कर बैठती थीं। ऐसे विद्रोह को दबाने के लिये मनु ने जो व्यवस्था दी, उसमें उन्होंने निर्ममता की हद कर दी। मनु कहते हैं—"दूसरा विवाह करने पर यदि स्त्री क्रोध के वश होकर घर से निकलने को तैयार हो, तो तत्काल उसे बाँधकर रखे अथवा स्वजनों के सामने उसे त्याग दे।" (९।८३) "स्वामी को चाहिए कि द्वेष करने वाली अपनी स्त्री की (ठीक होने के लिये) एक वर्ष तक राह देखे, वर्ष के बाद उससे आभूषण आदि छीनकर उसका संग छोड़ दे।" (९।७७) यह तो हुई पति के दूसरी शादी करने के कुछ ही बाद की बात। मालूम होता है बहु विवाह में सन्तान की समस्या बहुत भीषण थी; इसीलिये मनु को कहना पड़ा कि—"जिन स्त्रियों का एक ही पति है (अर्थात् जिन महापुरुषों ने सहर्षचुम्बी बनने का गौरव प्राप्त किया है, उनकी स्त्रियाँ) उनमें से यदि एक भी स्त्री पुत्रवती हो तो उस एक पुत्र से सब स्त्रियाँ अपने को पुत्रवती जाने।" (९।१८३) पर स्त्रियों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था जहाँ वर्ण भेद से मिल जाती है—अर्थात् जब मनु की यह व्यवस्था एक ऐसे व्यक्ति के लिये लागू होती है, जिसने अपने से नीचे वर्ण की स्त्री से शादी की हो, तो फिर मनु मनुष्यता को भी भूल जाते हैं। मनु ने यहाँ तक कहा है कि—"सब वर्णों में स्वामी के शरीर की सेवा और नित्य का धर्मकार्य केवल स्वजातीय स्त्री ही करे, विजातीय कदापि नहीं—ना स्वजातिः कथंचन।', (९।८६) क्या इससे साबित नहीं होता कि नीच वर्ण की स्त्रियों को रखेली दासी की तरह रखे? ज़रा और आगे चलिये—"जो ब्राह्मण मोह से स्वजातीय स्त्री के होते अन्य जाति की स्त्री से इन कर्मों को कराता है, वह ब्राह्मणी में शूद्र से उत्पन्न हुआ ब्राह्मण—चाण्डाल के समान है।" (९।८७) यदि ब्राह्मण के चार वर्ण की चार स्त्रियाँ हों तो "·········उनसे उत्पन्न हुए पुत्रों में विभाग नियम यह है—'हल जोतने वाला बैल और साँड़, सवारी, आभूषण और घर; ये जहाँ तक हो सकेगा ब्राह्मणी के पुत्र को दिये जायँगे। बाक़ी में—ब्राह्मणी के पुत्र को तीन हिस्सा, क्षत्रिया के पुत्र को दो हिस्सा वैश्या के पुत्र को डेढ़ हिस्सा और शूद्रा के पुत्र को एक हिस्सा।" (९।१४१-५१) और यदि कोई ब्राह्मण आचार्य महोदय किसी छबीली चमारिन पर रीझ कर (ज़रा सचाई से) उसे अपने घर में रख लें, तो मनु ने कहा है कि चेला लोग उसको प्रणाम न करें—यद्यपि उदाहरण रूप में इसी अध्याय में मनु महाराज ने बताया है कि "अधम योनि में उत्पन्न हुई अक्षमाला का वसिष्ठ के साथ विवाह होने से और शारंगी का मन्दपाल ऋषि के साथ विवाह होने से वे परम पूज्य हुईं थीं।"

पुराने समय में नियोग की व्यवस्था थी। पाण्डु के पाँचों पुत्र नियोगज सन्तान थे। धृतराष्ट्र और पाण्डु भी नियोग से ही इस धरती पर आये—और यह नियोग हुआ भगवान वेदव्यास के साथ। लेकिन इस काल में मनु का रुझान नियोग के विरुद्ध जाता है। मनु का रुझान नियोग के विरोध में क्यों जाता है, इस प्रश्न के उत्तर में उस काल का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा देखना होगा। मनु के काल में सामन्तवाद का विकास अपनी चरम

सीमा पर था, नियोग की प्रथा से कौलीन्याभिमान को धक्का लगता था, जिसका असर जन्मना वर्ण व्यवस्था पर जाता था; और इसका परिणाम समाज की उच्च श्रेणी—जिनका प्रभाव था और जो शक्ति सम्पन्न थे—के विरुद्ध जाता था; यही सब कारण है, जिससे मनु का रुझान नियोग के विरुद्ध जाता है। लेकिन तात्कालिक समाज में नियोग को एक दम त्याज्य करार देना असम्भव था, इसलिये मनु को कुलीनता और वर्ण व्यवस्था का ख़याल रखते हुए नियोग की अनुमति देने के लिये बाध्य होना पड़ा। मनु ने व्यवस्था दी है कि—"निज स्वामी से सन्तान न होने पर स्त्री पति की आज्ञा से अपने देवर वा अन्य सपिण्ड पुरुष से इच्छित पुत्रलाभ कर सकती है।" (९।५९) पर सम्पत्ति के बटवारे के सम्बन्ध में मनु ने झगड़ा लगा दिया—"यदि छोटा भाई जेठे भाई की स्त्री में पुत्र उत्पन्न करे, तो वह पुत्र अपने चाचा लोगों के समान अंश का भागी होगा, यही धर्म की व्यवस्था है। छोटे भाई से जेठे भाई की स्त्री में उत्पन्न होने पर भी वह पुत्र जेठे की भाँति अंश का भागी नहीं हो सकता; निज क्षेत्र में सन्तान उत्पन्न करने में क्षेत्र ही प्रधान है; इसलिये पहले निर्णित दायभाग ही ठीक है।" (९।१२०-२१) और नियोग की निन्दा में मनु के शब्द इस प्रकार हैं—"जो स्त्री सन्तान के लोभ से भर्ता का अतिक्रमण करती है (अर्थात् पर पुरुष से सन्तान उत्पन्न करती है) वह इस लोक में निन्दा पाती है और परलोक से भी भ्रष्ट हो जाती है। इस संसार में दूसरे से उत्पन्न हुई संतान और दूसरे की स्त्री में उत्पन्न की हुई सन्तान शास्त्र रीति से सन्तान नहीं कहाती और पतिव्रता स्त्रियों को दूसरा पति कहीं भी नहीं कहा है।" (५।१६१-६२) आगे मनु ने विवाह के मन्त्र का हवाला देते हुए लचर दलील पेश कर कहा है कि "विवाह के मन्त्र में कहीं भी नियोग नहीं कहा गया है", किन्तु पता नहीं विवाह के मन्त्र में नियोग का प्रसंग कहाँ है ?

मनु के काल में स्त्रियों की सार्वजनीन स्थिति क्या थी, यह बताना कठिन है। पर मनुस्मृति के विधान से ऐसा लगता है कि मनु के विचार इस दिशा में भी स्त्रियों के प्रति उदार नहीं थे। मनु महाराज कहते हैं—"......ये (जड़ आदि) अपमानित होने से तथा (शुक सारिका) पक्षी और विशेष कर स्त्रियाँ (अस्थिर बुद्धि होने से) मन्त्र का भेद खोल देते हैं; अर्थात् दूसरों के सामने कहते फिरते हैं, इसलिये राजा इन्हें यत्नपूर्वक हटा दे।" (७।१५०) "मूर्ख, गूँगे, अंधे, बहिरे, बहुत बूढ़े (शुक सारिकादि) पक्षी, स्त्री, म्लेच्छ (उस काल में शक आदि को कहते थे) रोगी और विकलांग, इनको राजा सलाह के समय हटा दे।" (७।१४९) साफ़ ज़ाहिर है कि उस काल के सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों का ज़रा भी महत्वपूर्ण स्थान नहीं था।

पति के परदेश जाने पर स्त्रियों के गुजारे के लिये मनु ने भी विधान बनाया है। पर उसके पहले कौटिल्य ने भी इस सम्बन्ध में व्यवस्था दी थी। किन्तु कौटिल्य और मनु में काफ़ी फ़र्क़ है। मनु की राय है—"पति धर्मकार्य के लिये विदेश जाय तो आठ वर्ष तक, विद्या पढ़ने या यश प्राप्ति के लिये जाय तो ६ वर्ष तक और इन्द्रिय उपभोग के लिये जाय तो तीन वर्ष तक, स्त्री उसकी बाट देखे।" (९।७६) फिर यह भी है कि—"निर्वाह के योग्य वृत्ति देकर जब जब पति परदेश में रहे, तब तब स्त्री नियमपूर्वक अपना निर्वाह करे; और जो पति जीवन निर्वाह का प्रबन्ध बिना किये परदेश चला जाय, तो स्त्री (सीना पिरोना आदि) अनिन्दित शिल्पों से अपना निर्वाह करे।" (९।७५) यहीं यह भी है—"कार्यवान् पुरुष पत्नी को पोषण के योग्य वृत्ति देकर विदेश जाय, क्योंकि जीविका का उपाय न रहने पर मर्यादा में स्थिर स्त्रियाँ भी दुष्ट हो जाती हैं।" (९।७४) शायद यदि स्त्रियों के दुष्टा हो जाने का डर न होता, तो मनु पुरुषों को स्त्रियों के लिये जीविका निर्वाह जुटाने का कष्ट भी न देते।

मनुस्मृति की रचना के पहले तो विधवा विवाह होता ही था, मनु के बहुत बाद सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने रामगुप्त की पत्नी अपनी विधवा भाभी

ध्रुवस्वामिनी को अपनी पटरानी बनाया था, यह इतिहास सिद्ध बात है। किन्तु मनुस्मृति से ऐसा मालूम होता है कि उस काल में ही ब्राह्मण आचार्यों का रुझान विधवा विवाह के विरुद्ध हो गया था। मनु का कहना है कि—"शास्त्र जानने वाले द्विजातियों ने इस पशु धर्म (विधवा विवाह) को निन्दित कहा है, मनुष्यों में इसका प्रचार वेणु राजा के राज्य में हुआ। सम्पूर्ण पृथ्वी के पालक तथा राजर्षियों में मुख्य उस वेणु ने काम से नष्ट बुद्धि होकर इस वर्णशंकरपने को फैलाया।" (९।६६-६७) इस तरह मनु ने विधवा विवाह की घोर निन्दा की है। ऐसा लगता है कि मनु की यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई। यही कारण है सती-दाह की प्रथा के प्रवर्तित होने का। सती-दाह के सम्बन्ध में सबसे पहला प्रमाण मिलता है ५१० ई० में भानुगुप्त के सेनापति गोपराज के मरने पर उसकी पत्नी के सती होने का। इन सारी बातों से सिद्ध होता है कि मनुस्मृति के बाद से ही उन सारी रूढ़ियों और प्रथाओं का जन्म हो जाता है, जिनके कारण भारतीय समाज त्र्याकान्त हो गया।

सभी भारतीय विद्वान् इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि आज हिन्दू समाज जिन नियमों और रूढ़ियों द्वारा अनुशासित होता है, उन सब का पचासी प्रतिशत ईसा की पहली से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक में प्रवर्तित हुआ। इस काल में हिन्दू समाज में जितने विधान बने, वे सब मनु की व्यवस्था को आधार मानकर बने। याज्ञवल्क्य और नारद स्मृति तथा शुक्र नीति पर भी मनु का गहरा प्रभाव है। यही कारण है कि मनुस्मृति से लेकर गोस्वामी तुलसीदास तक ने स्त्रियों के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, उन सब में एक गम्भीर समता है। यह सच है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु की अपेक्षा याज्ञवल्क्य और नारद स्मृति उदार है, और इसका कारण है सम सामयिक स्थिति; पर इसमें शक नहीं कि सब में एक ही भावधारा प्रवाहित है।

विदेशी अंग्रेज़ों के हाथ में हिन्दुस्तान का शासन सूत्र जाना, विज्ञान का विकास और दुनिया के सम्पर्क में हिन्दुस्तान का आना, क़रीब क़रीब एक ही काल की घटना है। इसी काल में स्व० राजाराम मोहनराय प्रवर्तित हुए। समाज में स्त्रियों के सम्बन्ध में कथित क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाले सबसे पहले व्यक्ति राजाराम मोहनराय थे। इसके बाद स्व० स्वामी दयानन्द जी ने स्त्रियों सम्बन्धी सामाजिक नियमों में वैदिक कालीन सुधार करने की कोशिश की। पर स्वामी दयानन्द की कोशिश वर्ण व्यवस्था को मानकर और उसकी एक अपनी व्याख्या के आधार पर थी। यही कारण है कि इन सारी कोशिशों के बावजूद भी स्त्रियों के सम्बन्ध में भारतीय समाज मनु की व्यवस्था से आज भी बँधा है। विवाह में सप्तपदी आज भी ज्यों की त्यों स्थान रखती है। १८८६ से १९०९ तक बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के हाईकोर्टों ने सप्तपदी न होने के कारण तीन विवाह को नाजायज़ करार दिया है। हिन्दू विवाह क़ानून में बहु पत्नीत्व आज भी जायज़ है। 'दि प्रिंसपल्स आफ़ हिन्दू लॉ' के दूसरे अध्याय में सर दीन शा फ़िरोज जी मुल्ला ने कहा है कि भारतवर्ष का कुल क़ानून और ख़ासकर हिन्दुओं पर लागू होने वाला क़ानून मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और नारद स्मृति के आधार पर बने हैं। और उसमें भी मनुस्मृति ही प्रधान है। यहाँ यह याद रहे कि ब्रिटिश हुकूमत स्त्रियों और शूद्रों के सम्बन्ध में तो हिन्दू शास्त्रों को मानती है, पर हिन्दुओं की ऐसी किसी बात को वह मानने के लिए तैयार नहीं, जिसके कारण उसके किसी स्वार्थ पर धक्का लगे। विज्ञान के युग में लोकतन्त्र का नाम लेने वाली ब्रिटिश सरकार का मनु की एक दो प्राचीन व्यवस्था से चिपके रहना और बाकी को सफाई के साथ अलग हटना यह सिद्ध करता है कि ब्रिटिश हुकूमत जानबूझ कर हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति नहीं होने देना चाहती। जिन स्वार्थों से देशी नरेशों का समर्थन किया जाता है, उन्हीं के लिये इस सामन्तयुगीन और सड़ी हुई व्यवस्था को भी जीवित रखने के लिए क़ानून का रूप दिया गया है। यह है गूढ़ प्रतिगामी नीति।

विचार-तरंग

श्री चारवाक

नव जीवन

मानव जाति एक विश्वपरिवार है। मानव-समाज में, चाहे वह कहीं किसी भी देश में हो, कुछ ऐसी बातें, रवैये, ऐतिहासिक घटनायें और विचार-धारायें हैं जो सभी देशों में यथावत् या कुछ कमी वेशी या हेर फेर के, साथ पाई जाती हैं। पर दुनिया में दो ऐसे देश हैं जिनके इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, जीवन-आदर्श, समाज-संगठन इत्यादि में बहुत बड़ी समता है। ये दो देश हैं—भारतवर्ष और चीन। इनके उत्थान, पतन, विदेशियों के क्रीड़ास्थल बनने और उनके शोषण-क्षेत्र हो जाने में भी बहुत कुछ समता है। इसीलिए चीनी जीवन के सामाजिक पतन की तुलना अपने देश के पतन के साथ करके अपने देशवासियों को भारत के पुनरुत्थान के लिये उन उपायों का अवलम्बन करने का परामर्श दिया जा सकता है जो च्यांग-काइ-शेक ने चीन निवासियों के सामने रखे हैं।

चीनी जनता भी हमारे देश के जनसमूह की तरह उत्साहहीन और जीवनहीन, अकर्मण्य और स्वार्थी हो गई थी। अपने भले बुरे की पहचान की विवेक बुद्धि कनफूशियस की सन्तानों में भी ऋषियों की सन्तानों की तरह से ही लुप्त हो रही थी। स्वार्थ, वैमनस्य, संकीर्णता, मूढ़ता, भ्रांत-धर्म, और हीनबुद्धि का दौरा, हमारे समाज की तरह चीनी समाज में भी हो गया था।

उस राष्ट्रीय क्षय रोग को दूर करने के लिये च्यांग-काइ-शेक ने दवा की चार गोलियाँ बनाई जो हरेक चीनी को खाना लाज़िमी है—(१) लि (२) इ (३) लिउन और (४) चिह। इस लि-इ-लिउन-चिह औषधि के द्वारा चीनी जनता में कर्मनिष्ठता, संयम, सदाचरण, सद्विवेक, ईमानदारी, आत्म-चेतना और आत्म-सम्मान का संचार होने लगा।

इसका असर यह हुआ कि चीनी समाज में आन्दोलन और संगठन की महत्वाकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ। इससे चीन के विभिन्न प्रांत अपनी प्रांतीय स्पर्द्धा और खींचातानी—अपनी अपनी डफ़ली अपना अपना राग—बन्द करने लगे। कृषकों के, मज़दूरों के, आंदोलनकारियों के और समाज सुधारकों के संघ स्थापित होने लगे। और वे इन संघों के द्वारा कार्य करने लगे।

इन आन्दोलनकारी प्रचारकों की धारणा है (और यह धारणा सही है) कि आन्दोलन अपने घर और गाँव से शुरू होना चाहिये। जनता का सुधार करने और उसमें सद्भाव उत्पन्न करने के लिये सरकारी कर्मचारियों में आन्दोलन और सुधार की आकांक्षा का प्रचार सबसे पहले होना चाहिये। परिवर्तन, आन्दोलन, क्रान्ति अथवा सुधार छोटी छोटी बातों में या उनसे शुरू होने चाहिये। समाज सुधारकों को छोटी छोटी बातों में सुधार व परिवर्तन करने चाहिये।

संसार के प्रत्येक देश के पतन और उत्थान के कारण अपनी अन्दरूनी ख़राबियाँ और विदेशियों के साथ निम्न स्वार्थपूर्ण संसर्ग हैं। पर जिस तरह चीन को विदेशियों ने ग़ारत किया उसी तरह विदेशियों को ही उसके उत्थान का कारण होना पड़ रहा है। सुनयातसेन ने एक विदेश (अमेरिका) में ही शिक्षा पाकर और प्रजासत्ता राजव्यवस्था के फ़ायदे देख कर अपने देश चीन में शाही शासन को जड़ से उखेड़ कर प्रजातन्त्र की स्थापना का आयोजन किया। चीन की जनता की सेवा रूस के सोवियत् राज्य ने भी अपने ढंग से की। उन्होंने चीन की बिखरी हुई शक्ति को साम्यवाद के झण्डे के नीचे एकत्रित करने की कोशिश की।

जनता अथवा जनसमुदाय को सुख पहुँचाने, पेट भर खाना देने वाली शक्ति, प्रत्येक स्त्री पुरुष में अपने देश की उन्नति व रक्षा के लिये ख़ून बहाने की तैयारी करने वाली शक्ति, हरेक बालक बालिका युवक वृद्ध को बताती है कि "तुम्हारे देश की भूमि, खानों, धन दौलत, हरेक चीज़ में तुम में से प्रत्येक का हिस्सा है। उस राष्ट्रीय सम्पत्ति का उपभोग करना तुम सब का नैसर्गिक, जन्मसिद्ध स्त्त्व (हक़) है। सब मिलकर उसका उपभोग करो। उसकी वृद्धि करो! उसकी रक्षा करो।"

यही मन्त्र रूस ने चीन को सिखाया। यही नव-जीवन, नई ज़िन्दगी है। नई ज़िन्दगी की लहर चीन में लहरा उठी। नई ज़िन्दगी की हवा भारतवर्ष में भी पहुँची। इस हवा का वेग किसी के रोके नहीं रुकेगा। आज नहीं तो कल सही, चीन की तरह हिन्दुस्तान की जनता भी अपने समाज की कुरीतियों, कमज़ोरियों, जाति पाँति के भेद, ऊँच नीच, छुवाछूत, हिन्दू मुसलिम के भेदभाव के ख़यालों को तर्क कर, सब भारतवासियों को रूसियों की तरह, अपने भाई बहन समझ कर, चीन की तरह अपने देश व समाज की रक्षा और उन्नति करेगी।

हरेक युग में प्रत्येक देश व जाति को कोई न कोई नेता, सूत्रधार, मिलता है। नवीन जीवन का प्रादुर्भाव सबसे पहले चीन में १९११ में डा० सनयात सेन के द्वारा हुआ। उन्हीं के विचार तथा आदर्श को सामने रखकर च्यांग-काइ-शेक ने चीन में नई ज़िन्दगी का संचार और चीन का उत्थान करने का प्रयत्न किया। १९१७ में रूस में लेनिन ने नई ज़िन्दगी का मन्त्र रूस निवासियों के कानों में फूँक कर रूस का कायाकल्प किया।

१९२० में महात्मा गान्धी ने नवीन जीवन का सिंहनाद हिन्दुस्तान में किया। महात्मा गान्धी का जीवनोत्थान मन्त्र नया नहीं है। इस मन्त्र को महात्मा जी ने १९२३ में काशी विद्यापीठ के स्नातकों को ऋषियों के इन शब्दों में दिया —

"अपने पूर्वजों की ओर तुम्हारा कर्तव्य है—मानव जाति से अन्याय, कायरता और दरिद्रता को हटाओ। उनकी जगह भ्रातृभाव, आत्मगौरव और सत्य स्थापित करो। ऋषियों की ओर तुम्हारा फ़र्ज़ है—अविद्या को हटाना, ज्ञान का प्रचार कर अधर्म को नष्ट करना, धर्म को फैलाना, स्वार्थ का त्याग करना और परोपकार का अवलम्बन करना। देश के प्रति तुम्हारा फ़र्ज़ है—मानव जाति में धर्म का प्रचार करना, प्रकृति की शक्ति और निधि का संग्रह करके उनको मनुष्य की सेवा में लगाना। संसार में अपने कर्तव्य को पूरा करके जीवन के अन्तिम समय को ईश्वर की उपासना में ही व्यतीत करो।" और अन्त में महात्मा जी ने नव युवकों को परामर्श दिया—"हमारा सारा जीवन कर्तव्य (ड्यूटी) है—अर्थात् अपने देश व समाज के प्रति हमारा फ़र्ज। तब तक तुम विश्राम नहीं कर सकते जब तक तुम अपने देश के लिये स्वाधीनता प्राप्त न करो।" यही इस समय एकमात्र कर्तव्य व धर्म हम सब का है।

देश के उत्थान और उसकी स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक है कि युवक लोग ऋषियों के यानी त्यागी विद्वानों के उपदेशों पर आधुनिक काल की स्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार अमल करें।

संस्कृत भाषा में शास्त्रों के पठन पाठन से, पूजा पाठ करने, देवी देवताओं को बलि देकर पूजन करने आदि से धर्म की रक्षा नहीं होती। हमको ईश्वर, ख़ुदा, अल्लाह को, हरेक आदमी में ढूंढ़ना और पाना होगा। हमको नर में नारायण की पूजा करनी होगी। अर्थात् मनुष्य की आराधना और सेवा करना ही नवयुवकों का धर्म है। हमारा नारायण नर है। उसके लिये जीवन सुख से व्यतीत करने के आवश्यक साधन पाना, मानसिक भोजन को यथार्थ विद्या देना, उसे अपने सत्व और शक्ति का प्रयोग करने को पूरा पूरा अवकाश देना और उसकी राह से उन्नति की रुकावटों को हटाना हम सबका परम कर्तव्य, परम धर्म है। इसीसे नव जीवन की सच्ची लहरें फैलती हैं।

आठ पत्र

श्री विजय वर्मा

श्रीमती जी,

वन्दे०। जिस अद्‌भुत घटना का रहस्य तुम समझना चाहती हो उसे मैं समझा सकता तो अवश्य समझाता। 'कर्म-गति' की गहनता सभी अधिकारी लोग स्वीकार करते आये हैं और यह भी मानते आये हैं कि उसके बहुत थोड़े रहस्यों को हम मानवीय ज्ञान को सीमा के भीतर पाते हैं। वस्तुतः ऐसी स्वीकृति विज्ञान के सभी क्षेत्रों के लिए अनिवार्य हो जाती है और कर्म-विज्ञान तो इनमें सबसे अधिक दुरूह विज्ञान है।

हाँ, जो लोग विज्ञान का नाम ले लेकर ही मनमाना चिल्लाते हैं और अपने प्रचारवाद में इस नाम से सहायता लेते हैं, उनके विरुद्ध मेरा कुछ लिखना लिखाना बिल्कुल व्यर्थ है। पर मेरा यह विश्वास है—और इस विश्वास के सबल कारण हैं—कि यह सब धाँधलीबाज़ी अब अधिक समय चल नहीं सकती। सच्चे त्यागी और विद्वानों का दल इतना आगे बढ़ चुका है और इतनी अधिक शक्ति संचित कर चुका है कि अब तरह तरह के 'स्थिर स्वार्थ' नये नये रूप धर कर उनकी प्रगति में कोई वास्तविक बाधा डालने में असमर्थ होंगे।

तुम 'कुमार' जी की बातों का उत्तर प्रकाशित करा देना ज़रूरी समझती हो, क्योंकि उनकी इन बातों को पढ़कर तुम आवेश में आ गई हो, पर मैं तो उन्हें पिछले दस साल से जानता हूँ। उनकी बातों का जवाब मौन ही है। वे अपनी बातों का उत्तर हमसे भी बढ़ कर स्वयं ही लिख सकते हैं। किन्तु इस समय तो उन्हें अपना मनमाना काम बनाना है और जिस तरह वे ठीक समझते हैं उसी तरह इसे कर रहे हैं। अगर उनकी बातों से वह काम वैसा न बना जैसा वे चाहते हैं, या भविष्य में घटनायें और ही प्रकार की हुईं तो तुम देखोगी, वे स्वयं ही फिर हमारी ओर आ जावेंगे और उन्हीं सिद्धान्तों का समर्थन अपनी पूर्ण विद्वता के साथ करने लगेंगे जिन्हें हम मानते हैं। इस समय वे अद्‌भुत जाल में फँसे हुए 'कामकामी' हैं।

मोहिनी में जैसी आकर्षण शक्ति इस समय उनके लिए है उससे वे अपने आपको बचा नहीं सकते और जान पड़ता है मोहिनी भी अपने को उनसे अलग नहीं कर सकती। प्रतीक्षा और भविष्य में विश्वास ही हमारे लिए उचित सहारे हैं।

तुम्हारा शुभेच्छु
राजेन्द्र

[२]

श्रीमन्

वन्दे०। आपका पत्र मिला। यह सब आपने क्या लिखा है ! क्या ऐसा लिखना आपके लिए किसी तरह भी शोभाप्रद है ! 'प्रतीक्षा और भविष्य में विश्वास !'—नहीं, नहीं, सौ बार नहीं, हज़ार बार नहीं। हमें इसी समय काम करना है। अगर घर में सेन्ध लग गई हो, माल लुट रहा हो, या डाकू घुस आये हों तब भी क्या आप ऐसी ही सलाह देंगे ? ऐसा न कीजिए, नहीं तो मैं आपके प्रति भी अपना विश्वास खो बैठूंगी। उत्तर लिखिए और ख़ूब कड़ा। सत्य की अनेकरूपता पर आपने एक दो पृष्ठ मेरे लिए नहीं लिख डाले, यही ग़नीमत है। महोदय ! यह सत्य की विरूपता है—यह घोर असत्य है। क्या असत्य को भी हम सत्य का एक रूप समझें ? जैसे अंधकार प्रकाश का एक रूप है !

यह नहीं है कि ये लोग इधर-उधर की थोड़ी सी अधकचरी बातों को पढ़कर बहक गये हों। इनका 'वैज्ञानिक' साहित्य उससे कई गुना है जितना चीन में स्त्रियों के पैर छोटे रखने के 'वैज्ञानिक' महत्व पर मौजूद है। और इनके दो उद्देश्य हैं—(१) भूत और

वर्तमान में अपने देश को सब तरह गया-बीता साबित करना और (२) भविष्य में किसी दूसरे देश की सेना और पूँजी से अपने दल भर का उद्धार। अन्य प्रत्येक देश में यह घोर विश्वासघात और देशद्रोह माना जाता है—सज़ा होती कठोर कारावास तथा जब तब मृत्युदण्ड तक। पर यहाँ तो उसी के लिए सभी सुभीते मिले हुए हैं, और तरह तरह पुरस्कार पाने की ही आशा है। क्या रूस में एकराष्ट्रीयता का भाव नहीं है ? अमरीका की अड़तालीस रियासतें—जिनमें रूस की भाँति ही तरह तरह की जातियों, नस्लों और ज़बानों के समूह तो हैं ही; इनके अलावा तरह तरह के धर्म भी मौजूद हैं—क्या आपस में मिल जुल कर एककेन्द्रीय सत्ता के अधीन नहीं है ? और क्या वहाँ के प्रेज़िडेन्ट को मज़दूरों की हड़ताल की दशा तक में कारख़ानों पर गवर्नमेन्ट का क़ब्ज़ा कर लेने तक का अधिकार प्राप्त नहीं है ? फिर हमारे ही यहां ऐसी एक सत्ता न हो, हम तरह तरह से बँटे रहें, इसके लिए जो सैकड़ों प्रकार से मनमानी कोशिशें हो रही हैं और जिनमें 'कुमार' जी मोहिनी के बहकाने में आकर इस तेज़ी से शामिल होगये है, उन के विरुद्ध हम क्यों न बोलें और कुमार जी से हम अपना अब तक का सम्बन्ध कैसे बनाये रखें ? मेरे जो निकट सम्बन्धी अब तक जेल में पड़े हुए हैं उनके प्रति मेरा यही कर्तव्य है क्या ?

व्यथिता
रमा

[३]

श्रीमती जी,

घटना-चक्र, जैसा कि मैंने समझा था, 'कुमार' जी के ख़िलाफ़ जा रहा है और इस मास मोहिनी से उनकी तनातनी शुरू हो गई है। यह अनिवार्य था। कुमार यह समझते थे कि वे मोहिनी में 'वर्ग-चेतना' ला रहे हैं और इस तरह उसे सभी 'उच्च' कही जाने वाली जातियों, धर्मों और व्यवस्थाओं की विरोधिनी बनाने में समर्थ हो सकेंगे और उसके धन का उपयोग अपने मत के प्रचार या अपने दल के संगठन में कर सकेंगे, उधर मोहिनी उनमें ऐसी 'वर्गचेतना' लाना चाहती थी कि पुरुषों ने स्त्रियों पर सदैव अन्याय किया है और अब संसार की सुव्यवस्था इसी तरह चल सकती है कि सभी जगह शासन-शक्ति केवल स्त्रियों के हाथ में हो !

उसका कहना है कि मज़दूरों और किसानों की क्रांति संसार भर में किसी तरह सफल नहीं हो सकती, क्योंकि अधिकांश शक्तिशाली देशों में मज़दूर और किसान-दल पूँजीपतियों और सैनिकों के विरुद्ध अपना संगठन करने का अवसर अब पा नहीं सकेगा—सभी पूँजीपति लोग सुसंगठित होकर सैनिकों के सहारे अपना राज्य चलाते रहेंगे और आपस में मिलकर किसी समय रूस को भी बिलकुल चकनाचूर कर देंगे। वैसे भी रूस में स्टैलिन को जनता जो चन्दा दे रही है और कुछ लोगों ने जो लाखों सिक्के लड़ाई के अस्त्र-शस्त्रों के लिये दिये हैं उनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि वहाँ भी इसी थोड़े समय में ही फिर पूँजीवाद अपना पैर जमाने लगा है। और व्यवसायों को बदलने की भी पहले की तरह स्वतन्त्रता नहीं रह गई है। यही जाति-पाँति की स्थापना का मूल होता है ! अतः संसार के सच्चे उद्धार के लिए यह अत्यन्त ज़रूरी है कि सभी श्रेणियों की स्त्रियाँ एक दल में, एक भाव से संगठित हों और संसार के प्रत्येक देश का शासन अपने सुचारु हाथों में लेकर अपनी मातृ-शक्ति की विश्व-दृष्टि द्वारा, संसार-शासन का केन्द्र इस देश हिन्दुस्तान में ही बनावें !

इस देश में हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, बुद्ध, जैन, ईसाई आदि और हिन्दुओं से शोषित और दलित हिन्दू तथा मुसलमानों से शोषित और दलित मुस्लिम आदि इतनी अधिक संख्या में मौजूद हैं कि वे संसार भर के इन धर्मों और दलित जातियों का उचित प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। एक यहूदिस्तान भर यहाँ न बन सकता था, सो अधिकारियों की दूरदर्शिता को धन्यवाद कि वे इसके लिए भी प्रबन्ध करने का निश्चय कर रहे हैं। अब स्त्रियों के सुसंगठित रूप

से आगे बढ़ने की ही देर है। शेष क्षेत्र तैयार हो चुका है ! इन्हीं पर संसार की आँखें लगी हुई हैं।

'मोहिनी' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो गई और उसके पहले अंक में ही ये सब बातें मौजूद हैं। स्त्रियों के ऐसे दल को पाँचवाँ अन्तर्राष्ट्रीय दल (Fifth International) कहा गया है।

किन्तु इस देश में तो स्त्रियों की सबसे बड़ी संस्था भी हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों की संस्थाओं में विभाजित सी होने लगी है। हाँ, यह सम्भव है कि इन प्रगतिशील स्त्रियों के दल की स्त्रियाँ दूसरे प्रकार की हों—वे 'साम्प्रदायिक' भावना से सर्वथा हीन हों।

मैं 'कुमार' से मिला। उन्हें ख़ूब चिढ़ाया। पर अभी उन पर मोहिनी का ही नशा है। 'त्याग का भ्रम' सबसे जबर्दस्त भ्रम होता है। इसको छोड़ना प्राय: असम्भव है क्योंकि इसे छोड़कर कोई व्यक्ति खड़ा हो तो कहां हो ? इसे पूरी तरह 'भ्रम' कहना ठीक भी नहीं। मनुष्य भावुक प्राणी है, भावुकता के आधार पर ही जीता है। यह आधार बिलकुल खींच लो तो वह निर्जीव हो जाता है और जब तब आत्महत्या तक कर लेता है। बहुत सँभल सँभल कर चलना है। पर विश्वास मानो अब कुमार अधिक समय तक बेहोश नहीं रह सकते।

राजेन्द्र

[४]

श्रीमन्

'मोहिनी' के दर्शन हुए। उसी डाक से आप का पत्र भी आया। आपने कुमार जी के लेख के बारे में तो एक शब्द भी नहीं लिखा ! मेरी तो समझ में ही नहीं आया कि वे मोहिनी देवी से क्या आशा रखते हैं। उनका एक अलग क्षेत्र था, वे अपने ढंग से काम कर रहे थे, फिर अकस्मात् मोहिनी देवी को देखते ही उन पर कैसा जादू चल गया है ! क्या वे नहीं जानते कि मोहिनी उन्हें कभी किसी तरह न अपनावेगी ? वह चाहे तब भी ऐसा कर नहीं सकती। अपनी परिस्थिति, आज तक के संस्कारों, सगे सम्बन्धियों और मित्रगणों को वह एक दम धता कैसे बता सकती है ? वे क्यों इस तरह मोहिनी के पीछे पागल बनकर अपनी इतनी अधिक समय की प्रतिष्ठा धूल में मिलाये दे रहे हैं ? मोहिनी उन्हें पूरी तरह अपना ले, वह अपना सब कुछ उन्हें दे दे, तब भी वे कहाँ खड़े होंगे ? मेरी समझ में नहीं आता आप इस मामले में ढील क्यों दे रहे हैं ? वे आपकी बातें श्रद्धा के साथ सुनते रहे हैं, उनसे प्रभावित होकर काम भी करते रहे हैं, फिर भी ऐसे कठिन अवसर पर आप उन्हें पूरे ज़ोर के साथ अपनी ओर क्यों नहीं खींचते ? कौनसी रस्सी टूट जावेगी ? अगर कोई रस्सी टूट भी जाये तो वह भी अच्छा ही होगा। कुछ दिखलाई तो देगा। मुझे तो भय है कि कहीं अपने इस भयानक प्रलोभन से अपना कारबार छोड़ वे व्यर्थ बकवादी दल के या बाबू क्लास के साहित्य-सेवी न बन जावें। या कहीं इनसे भी बदतर दलदल में न फँस जावें ! मुझे अपनी सखी के लिए बेहद दुःख है। वह उन्हें देवता मानती आई है। मैंने उससे कई बार कहा था कि हम चालीस करोड़ में चार व्यक्ति भी देवत्व वाले हों और वैसे रह सकें तो सम्पूर्ण देश का और संसार भर का बेड़ा पार हो जाये। देवत्व की प्रति की साधना सबसे महत्वपूर्ण है, इसलिए वह सबसे कठिन भी है। हिमालय की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचने वाले अब तक कौन कौन हैं ? योग से या कर्मयोग से अपने आप पर विजय पा जानेवाले कितने हैं ? ये सब काम बच्चों के खिलवाड़ नहीं, और हँसी उड़ाने की चीज़ें तो हैं ही नहीं। आप इन विचारों से सहमत हैं न ? एक दिन 'कुमार' ने कहा था जो 'पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में; अपने आपको ज्ञान, कर्म और भक्ति के सामञ्जस्य से हम जीत सकें तो संसार भर पर अपना आधिपत्य जमा सकते हैं।" यह आधिपत्य की अत्यधिक चाह ही उन्हें अब इस ओर खींचे लिए जा रही है। अपने पर विजय नहीं पा सके, तो अब मोहिनी पर ही विजय पाना चाहते हैं; पर उसमें भी हो रहे हैं पराजित ! जिन आदर्शों को उन्होंने अपने जीवन का सर्वस्व बनाया था उन्हें ही

छोड़ दिया तो फिर रहेगा क्या ? मोहिनी कह सकती है कि 'मुझे वह सब प्राप्त है जिसके लिए भौतिकवादी मानव जीवन की स्थिति चाहते या समझते हैं।' पर कुमार का दृष्टिकोण तो ऐसा नहीं था, वे तो सम्पूर्ण संसार का राज्य पाकर ही ऐसा नहीं कह सकते थे। किन्तु आज 'संसार के राज्य' का बात ही व्यर्थ है, अब तो वे जिस हृदय पर अपना राज्य जमाना चाहते हैं वह स्पष्ट ही दीख रहा है। किन्तु है यह केवल मृग-मरीचिका। मोहिनी तो साफ़ साफ़ कह रही है कि पुरुष लोग असफल हो गये, अब उन्हें स्त्रियों का शासन मानना चाहिए। अतः जैसे भी हो, उन्हें सावधान कर दीजिए। मैंने सुना था कि पच्चीस साल तक की ही अवस्था 'गदहा पच्चीसी' में आती है, पर जान पड़ता है अब इसमें संशोधन की ज़रूरत है—कुछ प्रगति हो गई है !

दुःखिनी
रमा

[५]

श्रीमती जी,

पत्रोत्तर देने में विलम्ब हुआ। मैं 'मोहिनी' का दूसरा अङ्क देखकर तब कुछ लिखना चाहता था। वह कल मिला। अब कुछ नहीं हो सकता। मोहिनी और कुमार अभिन्न हृदय, अभिन्न मन बन रहे हैं। विश्व व्यवस्था को चलाने में, संसार को शांति और सुख से रखने में पुरुष असफल हो गये—अब तो यही कुमार जी भी मानते हैं ! अपनी ही असफलता से उन्होंने आत्म विश्वास खो दिया है। किन्तु बात यहीं तक नहीं है। जब हमें ऐसा जान पड़ने लगता है कि संसार में कूटनीति की, तिकड़म की ही जीत होती है, न कि न्याय, सत्य, सदाचार आदि की—और इस पिछले डेढ़ सौ साल के अस्वाभाविक जीवन के फलस्वरूप हम में से बहुतों को आज ऐसा जान पड़ता है—तब अपने आप में विश्वास जमाना बहुत कठिन हो जाता है। मनमाने पथ पर चलने वाले व्यक्ति के भीतर जिस तरह हम अस्वाभाविक जीवन और भीतरी सड़न को कुछ भी देख नहीं पाते और ऊपर से उसे स्वस्थ देखकर तथा उसकी गर्वपूर्ण मनमानी बातें सुनकर उसके भयंकर रोग को समझ नहीं पाते इसी तरह ऐसे राष्ट्रों और अन्तर्राष्ट्रीय गुटों की भी दशा हो जाती है। और तब यह व्यापक अस्वस्थावस्था अपना बहुत बुरा प्रभाव सब पर डालती है। इसीलिए समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र के लिए अन्तदृष्टि वाले विशेषज्ञों की और साधकों की ज़रूरत होती है। और उन्हें वैसा बने रहने के लिए चाहे जिस तरह भी हो सुअवसर देना पड़ता है। हाँ, कभी कभी वे अपने आश्चर्यमय ज़ोर से ऐसा अवसर अपने लिए और अन्य बहुतों के लिए स्वयं बना लेते हैं। हमारा काल भी ऐसा ही है।

हमें घबराने की आवश्यकता नहीं। अब समय की धारा उल्टी नहीं बहती रहेगी—अब वह सीधी बहेगी। प्रत्येक देश अपने अड़ोसी पड़ोसी देशों से मिलेगा, सम्मिलित स्वार्थों के आधार पर कई एक ऐसे देश मिलकर अपना संघ बना लेंगे। और फिर अमरीका की भाँति सम्पूर्ण यूरुप और सम्पूर्ण एशिया के भी संघ बने बिना न रहेंगे। यही स्वाभाविक है। एशियाई संघ, युरोपीय संघ और अमेरिकन संघ ठीक तरह बन जाने पर अफ़रीका का भी एक संघ बनाना होगा और तब ये चारों मिलकर सच्चा संसार-संघ बना सकते हैं, जिसका केन्द्र यूरुप में नहीं बल्कि एशिया में ही रखना होगा। दुनिया में न खाने-पहरने की वस्तुओं की कमी है, न इनके उत्पादन और विवरण के साधनों की। तब यह झगड़ा कैसा ? महा युद्ध पर महायुद्ध क्यों ? केवल अपनी अपनी अत्यधिक महत्वकांक्षा की पूर्ति के लिए ही न ? रूस दुनिया भर में एक प्रकार की गवर्नमेंट चाहता है और अमरीका आदि दूसरे प्रकार की। अमरीका आदि का व्यक्तिगत लाभ इसी में है कि पिछड़े हुए देशों में उत्पादक मशीनें न बनें, मोटर, जहाज़ आदि न बनें। अमरीका से तीन हज़ार मोटरों की आमद तो अभी होने वाली है !

इतने पर भी जो लोग हमें यह सिखाना चाहते हैं कि पहले यहीं के गिने गिनाये पूँजीपतियों, नेताओं

और व्यवस्थापिकों को ख़तम कर देना चाहिए उनकी बुद्धि पर तरस क्यों न आवे ? सबसे बड़ा चढ़ा अभागा वही है जो अपने प्रति 'संशयात्मा' बन गया है, या उससे भी आगे बढ़कर 'कट्टर-वादी' हो गया है। कुमार ने भी अब इन्हीं रास्तों को अपनाया है। उन्हें अपने यहां चारों ओर धूर्त, छद्मवेषी और तिकड़मी ही दीखते हैं और दूसरे जगह एक दम बहादुर और पूर्ण पुरुष दिखलाई देते हैं। जिस जिस को भी हम सत्युग, स्वर्णयुग या ऐसे ही कुछ श्रेष्ठतासम्पन्न समय समझते थे वे सब उन्हें नितान्त पतन और शोषण के काल जान पड़ते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसा न हो तभी आश्चर्य है। पर जिसने इस युग में भी हममें अद्भुत आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया उसी की ओर शेष सारा संसार अत्यन्त आश्चर्य से देख रहा है। कुमार स्वस्थ होंगे—मृग-मरीचिका हट जावेगी, वे खोये नहीं रह सकते। शेष फिर—

अगले पत्र में कुछ विशेष बातें दे सकने की आशा करता हूँ।

राजेन्द्र

[६]

महोदय,

बन्दे०। मैं आपके पत्र की अधिकांश बातों से सहमत हूं; केवल दो बातों से सहमत नहीं हो सकी। मैं भी ऐसा समझती हूँ कि इस समय के 'उन्नत' संसार में ऐसे चार 'देवतागण' हर समय अवश्य मिल सकते हैं, और उनकी, विश्व-व्यवस्था को ठीक तरह क़ायम करने और बनाये रखने के लिए, अनिवार्य आवश्यकता है। किन्तु मैं 'देवता' के स्थान पर उन्हें 'इन्सान' कहना चाहती हूँ—सच्चे इन्सान। कुछ लोग उन्हें ही सच्चे 'विज्ञानवेत्ता' कहें और कुछ लोग उन्हें 'संसार के सच्चे नेता' आदि कहें तो मैं समझती हूँ, हम में से किसी को कुछ भी आपत्ति न होगी। हम इन शब्दों के लिए व्यर्थ की लड़ाई में अपनी शक्ति क्यों नष्ट होने दें ? एक बात इस सम्बन्ध में यह भी ज़रूरी है कि ऐसे लोग हिमालय की सबसे ऊँची चोटी के समान हों तब भी हमें यह न भूलना होगा कि वह चोटी अन्य चोटियों के सहारे ही ऐसी बनी है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता। ऐसा न समझने से ही वे 'मानव' से 'देवता' भर रह जाते हैं। हाँ, जो लोग अपने महलों में तो ऐश कर रहे हैं और वैसे ही बँधे बँधाये रस्तों पर ही चलते जा रहे हैं और फिर भी दम भरते हैं ग़रीबों के साथ हमदर्दी का, समाज की बेहतरी के लिये बेचैनी और छटपटाहट का, उनका ढोंग हमें किसी तरह सहन न करना चाहिए—उनकी पोल खोल देने का काम कितना ही अरुचि क्यों न हो किन्तु वह हमें करना ही पड़ेगा, नहीं तो बेढब हानि होगी।

कुमार और मोहिनी—दोनों—आज इसी ढङ्ग के व्यक्ति हैं। मैं मानती हूँ कि उनकी तरह के लोगों की संख्या इस समय कम नहीं और विविध कारणों से यह बाढ़ पर है। पर इससे क्या !

क्या आप मेरी सखी को नहीं जानते ? आज हमारी वे सभी व्यवस्थायें नष्टप्राय हैं जिन्हें हमने सदियों नहीं हज़ारों साल में, अनेक 'वैज्ञानिक' अनुभवों, अनेक कष्टों और अनेक समझौतों के फल-स्वरूप क़ायम किया था। उनमें आज छिद्र ही छिद्र दिखलाई दे रहे हैं। कुटुम्ब-व्यवस्था, समाज व्यवस्था ग्राम-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था आदि की, और अन्त में विवाह-व्यवस्था तक की ऐसी ही दुर्गति हो रही है।

देखिए, पहले कितनी आसानी से विवाह हो जाते थे ! अभी पचीस-तीस साल पहले—बल्कि दस-पन्द्रह साल पहले तक—लोगों में पारस्परिक सहानुभूति, सहृदयता आदि के ऐसे काफ़ी भाव थे कि धन को ही सर्वस्व मानकर कोई भी काम न होता था—विवाह की तो बात ही क्या ! पर आज क्या हो रहा है ? मैं मानती हूं कि इस समय भी अनेक युवकों में सच्चे त्याग, सच्चे प्रेम और सच्चे गौरव के भाव मौजूद हैं और वे उनके अनुसार बहुत कुछ करने

में समर्थ भी हो जाते हैं, पर उनकी संख्या कितनी हृदयबेधक गति से घट रही है! 'कुमार' ऐसे लोग मोहिनी के पीछे दौड़ने लगे—अपने सब उच्च सिद्धान्तों, जीवन-तत्वों को तिलाञ्जलि देकर! इसे कैसे सहन किया जावे? क्यों सहन किया जावे? मुझे जान पड़ता है, मेरी सखी लज्जा और दुःख से काँटा हो गई होगी। ऐसे मनुष्य का ऐसा पतन!

आप उनमें तनातनी देखते हैं, पर मुझे तो यह सब प्रेम-लीला सी ही जान पड़ती है। आपका यही कहना ठीक है कि अब वे 'अभिन्न हृदय' हो रहे हैं। अब मैं चाहती हूँ कि मैं भी एक पत्रिका निकालूँ—वह सब तरह 'मोहिनी' की दूनी रहे! पर यह तभी हो सकता है जब आप उसका सम्पादन-भार लेने की कृपा करें। मैं जानती हूँ कि नाम से आप दूर भागते हैं, इसलिए नाम चाहे जिसका रख सकते हैं। पर उसे आपको चलाना होगा अपने सिद्धान्तों के अनुसार। इसके साथ तीस हज़ार रुपयों का चिक भेज रही हूँ। काम तुरन्त प्रारम्भ करवा दीजिए। अब तनिक भी विलम्ब करने का अवसर नहीं है। इस पत्रिका के पहले ही अङ्क में मैं 'मोहिनी' की आलोचना दस पृष्ठों में चाहती हूं और कुमार जी के लेखों के उत्तर में, बिना उनका कहीं भी उल्लेख किये, चार पाँच लेख। दो तीन कविताओं में भी उनकी हँसी उड़ाई जावे—दो चार व्यंग चित्र भी अवश्य बनवा लीजिए। अपने साहित्य-गुरु को यह सब लिखकर आज मुझे कुछ शांति मिल गई है। आप मुझे नई बातें लिखना चाहते थे, मैंने ही ऐसी बातों का आरम्भ कर किया।

आभार-अवनता
रमा

[७]

श्रीमती रमा,

मैं जो कुछ लिखना चाहता था वह सब अब न लिखूंगा। कल मैंने देखा कि जितने पत्र तुमने मुझे भेजे हैं वे सब ग़ायब हो गये हैं। आज मुझे कुमार और मोहिनी—दोनों—ने बुलवा भेजा। मैं नहीं गया। वे स्वयं आये और कुमार के हाथ में न केवल तुम्हारे भेजे हुए पत्रों की किन्तु उन पत्रों की भी जो मैंने तुम्हें भेजे हैं पूरी पूरी प्रतिलिपियाँ मौजूद थीं! उन्होंने मुझसे हँसकर कहा कि रमा को तार भेजकर बुलवा लीजिए, हम दोनों अपना विवाह इसी सप्ताह करने जा रहे हैं। मैं झल्ला उठा। मैंने उत्तर दिया—एक आवश्यक काम में व्यस्त होने के कारण रमा देवी इस समय यहाँ नहीं आ सकतीं—मुझे खेद है।

कुमार ने जो उत्तर दिया उसे मैं न लिखूंगा। इतना ही कहूँगा कि तुम जल्दी से जल्दी यहाँ आ जाओ। मैंने तार नहीं भेजा पर यह पत्र अधिक डाक महसूल देकर इस तरह भेज रहा हूँ कि तुम्हारे पास जल्दी से जल्दी पहुँच जावे।

शुभैषी
राजेन्द्र

[८]

रमा दीदी,

इस पत्र के लेखक तुम्हारे शुभैषी और हितेच्छु 'राजेन्द्र' जी नहीं, बल्कि इसका लेखक है वह जो तुम्हारी दृष्टि में सब तरह लांछनीय और दोषी है—'कुमार', हाँ कुमार! वह जानता है कि यहाँ आते ही तुम यह अपना सब दर्शनशास्त्र एक ओर रख हम दोनों को आशीर्वाद दोगी। मैं उन्हीं महोदय से विवाह करने जा रहा हूं जिन्हें तुम अपनी सखी कहती हो और जिनके बारे में तुम्हें भय है कि वे 'लज्जा और दुःख से सूख कर काँटा' हो गई होंगी। यहाँ आकर देखोगी कि ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। यहाँ आकर यह भी देखोगी कि जहाँ तुम्हें घोर असामञ्जस्य जान पड़ता है, आकाश पाताल या पूर्व पश्चिम का सा अन्तर समझ पड़ता है वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है। हमारे उद्देश्य बिल्कुल एक हैं, और इससे भी बढ़कर तुम्हें आश्चर्य मेरी इस बात से होगा कि हमारे साधन भी बिल्कुल एक ही हैं। हम सचमुच कुछ नामों के पीछे ही लड़ रहे हैं। क्या हम ऐसा ही करते रहेंगे? विश्वास मानो, मोहिनी

तुम्हारी वही सखी है—केवल वह नाम बदल देने से, एक नया नाम रख लेने से वह दूसरी नहीं हो गई। इसी तरह केवल इसलिए कि हम तुम्हारे सिद्धान्तों को अपने युग की नवीन भाषा में कहते हैं तुम इस तरह हमसे 'महायुद्ध' न कर सकोगी। इसमें उन्हें ही लगने दो जिनके लिए इसमें लगने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं। जल्दी आ जाना नहीं तो तुम्हारा चेक भी मैं उड़वा लूँगा और 'मोहिनी' को ही तिगुनी कर दूंगा। अगर मेरी बातें न रुचें तब भी आना, मैं तुमसे और तुम्हारे शुभैषी राजेन्द्र से भी सब कुछ सीखने सिखाने को अब भी तैय्यार हूँ।

तुम्हारा ही

कुमार

संस्कृति

"पुराना ईरानी धर्म यानी अवस्ता का धर्म उसी सोते से निकला है, जिससे हिन्दुस्तान के ऋषियों का धर्म; यानी दोनों उस धर्म से निकले हैं, जिसका ईरानियों और हिन्दुस्तानियों दोनों के पूर्वज पालन करते थे।

तीन हज़ार साल पहले ईरानी वरुण, इन्द्र, अग्नि, वायु, सोम, मित्र आदि वैदिक देवताओं की पूजा करते थे। वेदों का 'असुर विश्व वेदस्' या 'असुर मेधा' अवस्ता का 'अहुरमज़्द' है। 'मित्र' का नाम अवस्ता में मिथ्र है। दोनों भाषाओं में एक ही अर्थ है। अवस्ता में ठीक उन्हीं शब्दों में मिथ्र की स्तुति की गई है, जिन शब्दों में ऋग्वेद में मित्र की। संस्कृत में 'मित्र' का अर्थ 'सूर्य' भी है। ईरानी भी सूर्य के रूप में मिथ्र की पूजा करते थे।—पण्डित सुन्दरलाल

इस बात की अनन्त मिसालें दी जा सकती हैं कि जिसे हम हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता कहते हैं वह कोई ख़ास वैदिक चीज़ें नहीं हैं बल्कि, आर्यों से पहले की शुद्ध भारतीय चीज़ों, आर्य चीज़ों और बहुत सी विदेशी चीज़ों से मिलकर बनी हैं। यहाँ तक कि यह सवाल उठाया जा सकता है कि वैदिक संस्कृति में से कितना अंश 'इण्डो-एर्यिन' था और कितना 'इण्डो-यूरोपियन'। मानव-जाति-विज्ञान और समाज-विज्ञान के निश्पक्ष पढ़ने वालों के लिये सारी मनुष्य जाति एक है। अलग अलग समूह या क़ौमें केवल एक ही तने की शाखें हैं।—डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त

इस देश के सिन्धम् हिन्द अथवा इण्डिया आदि नाम विदेशियों ने रखे हैं। सिन्धु नदी को प्राचीन ईरानी 'हिन्दु' कहा करते थे और यूनानी उसे 'इण्ड' कहा करते थे, इसी से बिगड़ कर हिन्द या इण्डिया शब्द बने।—डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी, एम०ए०, डी० लिट्०

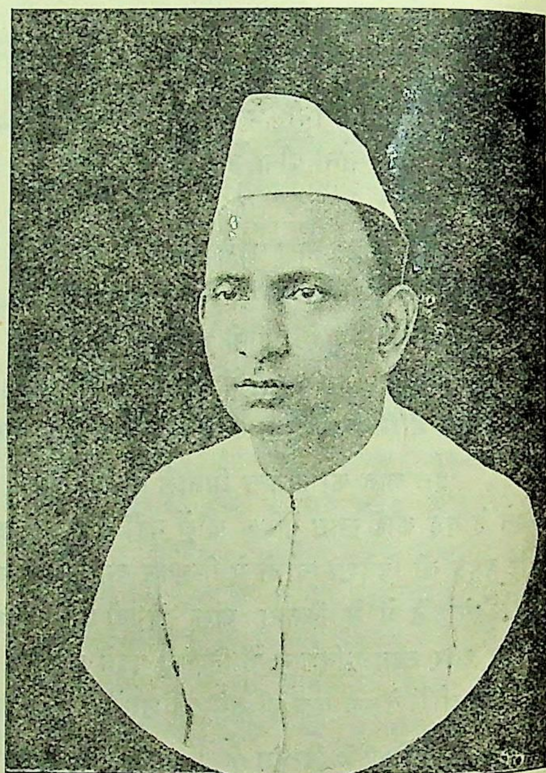
हिन्दुओं का धर्म बहुत ही प्राचीन है। हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि यह बहुत से मज़हबों का सम्मिश्रण है, तो ग़ालिबन बेजा न होगा।

इस मज़हब की नींव किसी एक शख़्स ने एक वक्त में नहीं डाली। बल्कि मुख़्तलिफ़ ऋषियों और मुनियों ने, जो मुख़्तलिफ़ ज़माने में पैदा हुए, हज़ारों साल के अरसे में इसे बनाया है। अगर इस मज़हब के सूक्ष्म सिद्धान्तों और इसकी महानता को जानने के लिये हम दिव्य ऋषियों और देवताओं के इल्म और अमल के तरीक़ों पर ग़ौर करें, तो उनमें हमें ईश्वरोपासना की पूरी शान और एकेश्वरवाद की पूरी तसवीर नज़र आयगी।—डाक्टर सैयद महमूद भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, बिहार

प्रयाग महिला विद्यापीठ

श्री प्रयागदत्त शर्मा

'अंकुर में वृक्ष निहित है' यह सत्य शिक्षा-संस्थाओं पर ख़ास तौर पर लागू है। हमारे देश में स्त्री-शिक्षा की ओर जब से लोगों का ध्यान गया, तब से बराबर इस दिशा में विविधता के साथ उन्नति के पथ सोचे गये। इनमें अपने स्वतन्त्र ढङ्ग से काम करने के लिए दो विचारकों के नाम सुप्रसिद्ध हैं—एक तो दक्षिण भारत के प्रो० कर्वे का और दूसरा उत्तर भारत के केन्द्र प्रयाग के श्री संगमलाल जी अग्रवाल का। प्रयाग-महिला-विद्यापीठ के पहले कोई भी स्त्रियों की शिक्षा संस्था परीक्षा प्रधान नहीं थी। लेकिन आमतौर से बिखरे रूप में स्त्रियों में शिक्षा का धरातल ऐसा हो चुका था, जिस पर ऐसी संस्था का विकास सम्भव था। स्त्रियों के इस मानसिक विकास का अन्दाज़ा श्री संगमलाल जी अग्रवाल ने पहले पहल लगा लिया। उन्होंने प्रोफ़ेसर कर्वे के भारतीय महिला विश्वविद्यालय को ध्यान में रख कर अपने ढङ्ग पर स्त्रियों की विशेष ज़रूरतों की पूर्ति के लिए २ फ़रवरी १९२२ में प्रयाग महिला-विद्यापीठ की स्थापना की। हिन्दू समाज में जाति-पाति, पर्दा प्रथा और बाल-विवाह आदि तथा देश की वर्तमान दुर्दशा के घात-प्रतिघात ने मिल जुल कर औरतों की स्थिति को बहुत ही दमनीय कर दिया है। इसलिये, १९२१ की राजनैतिक जाग्रति के बावजूद भी अपनी परीक्षाओं के प्रचार में प्रयाग-महिला-विद्यापीठ को अनेक दिक्कतों का सामना करना पड़ा। पर जहाँ रूढ़िजन्य दिक्कतें थीं, वहीं समाज के साधारण पढ़े लिखे लोगों के अन्दर अधकचरी शिक्षा-प्राप्त अपनी बहुओं-बेटियों को अपने घरों में और प्राइवेट तौर से एक क्रमबद्ध शिक्षा दिलाने और कोई डिगरी प्राप्त कराने का प्रलोभन भी आ चुका था। इसने इस संस्था की मदद की। इस संस्था ने जो ४ परीक्षाएँ क़ायम कीं वे मैट्रिक से एम० ए० तक के स्टैण्डर्ड पर हिन्दी में हैं। पाठ्य पुस्तकों का चुनाव स्त्रियों के मौजूदा विकास तथा उनकी विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है। यदि यह कहा जाय कि ये परीक्षाएँ इस संस्था के

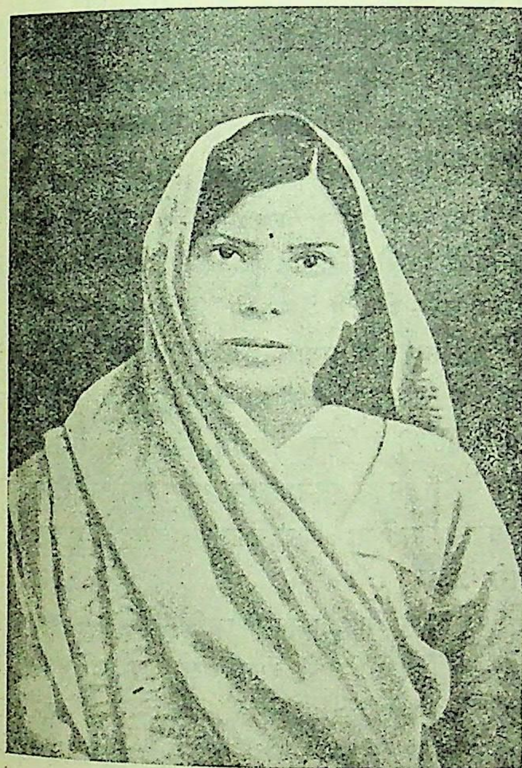


श्री संगमलाल अग्रवाल

प्रचार और शक्ति का स्रोतस्वरूप सिद्ध हुईं तो अतिशयोक्ति न होगी।

'उपन्यास-सम्राट्' श्री प्रेमचन्द जी ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवा सदन' में अपने ढङ्ग से एक विशेष संस्था की कल्पना की थी। श्री संगमलाल जी अपने विशेष ढङ्ग से ऐसी कल्पना को व्यावहारिक रूप देकर संस्था के विकास में दत्तचित्त हैं।

प्रयाग महिला विद्यापीठ का एक खास अङ्ग है महिला सेवा सदन। यह ख़ास तौर से उन स्त्रियों के हित को ध्यान में रखकर खोला गया है, जो बहुत ग़रीब हैं, विधवा हैं या किसी तरह भी लाचार हैं। इस विभाग में उन्हें पढ़ा लिखा कर इस क़ाबिल कर देने का उद्देश्य है जिससे वे सम्मानपूर्वक अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। जो इतनी लाचार हैं कि



श्री महादेवी वर्मा

पढ़ते समय अपना खर्च भी नहीं चला सकतीं, उनके खाने और रहने का प्रबन्ध विद्यापीठ की ओर से ही होता है। इस तरह से बहुत सी दीनहीन, मूक और अबला स्त्रियों को सेवा सदन के ज़रिये प्रयाग महिला विद्यापीठ ने स्वावलम्बी और स्वाभिमानिनी बना दिया है। इसके द्वारा अब तक शिक्षाप्राप्त बहुत सी महिलाएँ—विशेषकर ग्रामों की—अध्यापनकार्य से अपनी रोज़ी कमाकर सुखपूर्वक जीवन बिता रही हैं। इनके अलावा सेवासदन से मध्य श्रेणी की बहुत सी प्रौढ़ा औरतें भी फ़ायदा उठाती हैं। इस तरह से यह सेवा सदन ग़रीब और असमर्थ औरतों के लिये तो एक अवलम्ब है ही, साथ ही प्रौढ़ उम्र की औरतों में शिक्षा प्रचार का एक बहुत उत्तम साधन भी है। ऐसी संस्थाएँ बंगाल और महाराष्ट्र में तो हैं; पर हिन्दी भाषा भाषी सूबों में प्रयाग का यह सेवासदन ही है।

सेवासदन की स्थापना के बाद कॉलेज १९३२ में खोला गया। इस में हिन्दू यूनिवर्सिटी की परीक्षाएँ दिलाने की योजना हुई। इस काम में बिना एक सुयोग्य लेडी प्रिंसपल के बड़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता। पर इसी समय १९३३ में विद्यापीठ की ओर से एक महिला कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया। श्रीमती महादेवी वर्मा उसकी स्वागताध्यक्षा हुईं। इस अवसर पर बहुत सी महिलाओं का ध्यान विद्यापीठ की ओर ख़ास तौर से गया। स्वयं महादेवी जी इससे बहुत प्रभावित हुईं। और जब श्री संगमलाल जी ने श्रीमती महादेवी वर्मा से विद्यापीठ की आचार्या (लेडी-प्रिंसपल) होने का अनुरोध किया तब अपनी रुचि के अनुकूल कार्य-क्षेत्र देखकर उन्होंने यथेष्ट त्याग के साथ उसे मंज़ूर कर लिया। इस तरह १९३३ में वे विद्यापीठ में आचार्या के रूप में आगईं। अब श्री महादेवी जी को हिन्दी जगत एक सर्वश्रेष्ठ कवियित्री के रूप में जानता है। पर श्री महादेवी जी के असली जीवन और उनके इस काव्य-जगत में जिन्हें बहुत कम सम्बन्ध दीख पड़ता है वे अभी उन्हें समझ नहीं पाये। अपने जीवन के प्रारम्भ में ही उन्होंने महान सामाजिक क्रान्ति की दीक्षा ले ली थी। फिर जब उनकी शिक्षा में भी अनेक बाधाएँ पड़ीं—जब उन्होंने संस्कृत में वेदादि पढ़ना चाहा तब स्त्री होने के कारण ही अनेक पण्डितों ने इसका निषेध किया; इलाहाबाद में भी उनके सामने शुरू में ऐसी ही रुकावटें आईं—तब वे अपने आप और प्रगतिशील हो गईं। श्री महादेवी जी ने कहा—'या तो आप नियमानुकूल मुझे पढ़ावें अथवा लिखकर दें कि नहीं पढ़ा सकते, तभी मैं हटूंगी।' बाध्य होकर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

ने उनको पढ़ाना मंज़ूर किया। इस समय भी वह कवियित्री थीं। और अपने आदर्श के अनुसार जीवन बिताने की चाह ने ही उन्हें घर के जीवन के प्रति भी विद्रोहिनी बनाया। घर का सामञ्जस्य सम्पूर्ण समाज, सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण संसार से जोड़ने को, भारतीय महिलाओं के लिये और वस्तुतः सभी स्त्रियों के लिये, अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए वे बाध्य हो गईं। इसे उन्होंने आवश्यक समझ लिया।

श्रीमती महादेवी वर्मा के आने के एक साल बाद तक विद्यापीठ का कॉलेज विभाग अपने पुराने भवन में ही था। पर वहाँ लड़कियाँ न अंट सकीं, तो दूसरी जगह जो और अधिक विस्तृत थी लेकर नया प्रबन्ध किया गया। चित्रकला, संगीतकला और घरेलू विज्ञान आदि की शिक्षा भी लड़कियों को दी जाने लगी। विद्यापीठ की अपनी परीक्षाओं के साथ साथ हिन्दू विश्वविद्यालय का कोर्स पढ़ाकर लड़कियों को वहाँ की मैट्रिक परीक्षा दिलाई जाती है। इसके बाद वहाँ के ही एफ़० ए०, बी० ए० और एम० ए० तक की शिक्षा का प्रबन्ध है। पिछले साल एम० ए० का परीक्षाफल शत प्रति शत था। स्वयं महादेवी जी ने एम० ए० कक्षा को पढ़ाया था। उनकी पढ़ाई का कहना ही क्या! इन्हीं सब कारणों से विद्यापीठ की शिक्षा की ख्याति दूर दूर तक फैल चुकी है। इस ख्याति का एक ख़ास कारण यह भी है कि यहाँ और सभी जगहों की अपेक्षा कम ख़र्च में उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है। और वह उच्च शिक्षा भी अनेक विषयों में—हिन्दी, संस्कृत, पाली, अंगरेज़ी, चित्र-कला और संगीत कला आदि में। विद्यापीठ की प्रिंसपल महादेवी जी हिन्दी, संस्कृत, पाली, अंगरेज़ी और चित्रकला की पण्डिता हैं ही। वह ख़ुद विद्यापीठ में रहती हैं। बोर्डिंग में रहकर पढ़ने वाली लड़कियों को और वैसे पढ़ने वाली लड़कियों के जीवन को निकट से देखती और सँवारती हैं। यही कारण है कि प्रयाग महिला विद्यापीठ पर हर तरफ़ महादेवी जी के जीवन की सादगी, सुरुचि, संस्कृति और आदर्श की उसी तरह छाप है, जैसे शान्तिनिकेतन पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जीवन की।

प्रयाग महिला विद्यापीठ के इस प्रबन्ध और शिक्षा के ढंग के तथा उसकी मौजूदा परिस्थिति के अनुकूल अच्छे स्टैण्डर्ड का यह फल है कि आज हिन्दी भाषा भाषी और प्रेमी लोगों में उसकी अपनी परीक्षाएँ भी बहुत लोकप्रिय होती जा रही हैं। अनेक जगह के स्कूलों में तो इसी का कोर्स पढ़ाया जाता है और इसी की परिक्षाएँ दिलाई जाती हैं। इस साल १५०० लड़कियों ने विद्यापीठ की परीक्षाओं में भाग लिया है। कम ख़र्च वाले और अनुशासित जीवन से आकर्षित होकर सुदूर मालाबार तक की लड़कियाँ जो हिन्दी भी पढ़ना चाहती हैं इस विद्यापीठ में आती हैं। और इस तरह काफ़ी बड़ी संख्या में विद्यापीठ के बोर्डिंग में रहकर शिक्षा प्राप्त करती हैं।

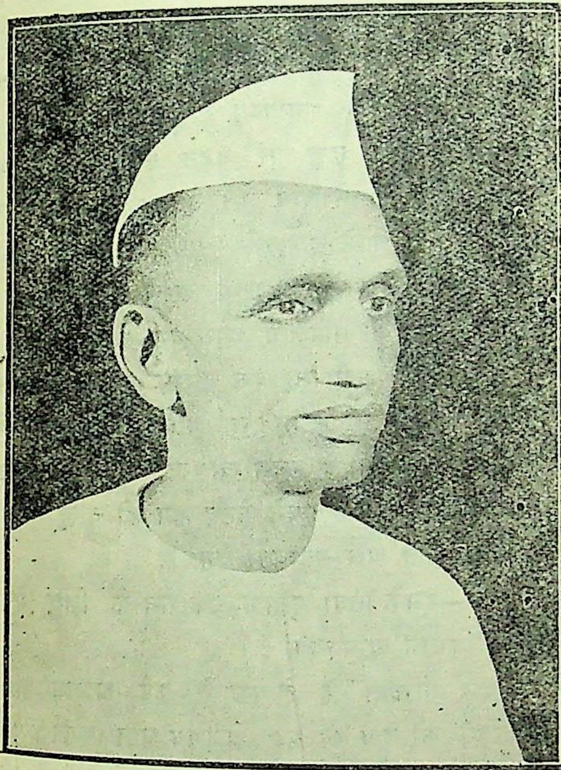
यह सब कार्य प्रयाग महिला विद्यापीठ ने अपने अब तक के अपने जीवन में किया है और कर रहा है। किसी भी अखिल भारतीय शिक्षा संस्था के २० साल के जीवन में इतना काम यथेष्ट गर्व की बात है। पर प्रयाग महिला विद्यापीठ का आदर्श इससे कहीं आगे है।

पर ऐसे सार्वजनिक शुभचिन्तन का दृष्टिकोण लेकर स्थापित की जाने वाली संस्थाओं की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि देश के धनी-मानी महानुभावों की ओर से मुक्त हस्त से उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाये। धन के अभाव में किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था की बड़ी से बड़ी योजनाँयें केवल कल्पनायें ही रह जाती हैं; वे कभी साकार नहीं हो पातीं। इस दृष्टिकोण से सेठ रामकृष्ण जी डालमिया ने इकतालीस हज़ार की जो आर्थिक सहायता प्रयाग महिला विद्यापीठ को इस वर्ष प्रदान की है वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

इस दान से प्रयाग महिला विद्यापीठ में अध्ययन करने वाली उन छात्राओं को १५ रु० मासिक की छात्रवृत्ति दी जायगी, जो मैट्रिक में उत्तीर्ण होने के बाद अपनी शिक्षा जारी रखना चाहती हों। 'विदुषी'

और 'सरस्वती' नामक दो परीक्षायें तो विद्यापीठ स्वयं लेती है और अब इन परीक्षाओं को विश्व-विद्यालय तथा इन्टर०-बोर्ड ने भी स्वीकार कर लिया है। जो छात्रायें एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० की डिग्री लेने की आकांक्षा रखती हों उन्हें भी यह छात्रवृत्ति प्रदान की जायगी।

आज से बारह वर्ष पूर्व सेठ रामकृष्ण डालमिया



सेठ रामकृष्ण डालमिया

की स्थिति चाहे जो हो रही हो लेकिन सर्वसाधारण में अथवा साहित्यिक जगत् में वे सर्वथा अज्ञात थे। जो थोड़ी बहुत जानकारी लोगोंको थी वह यही कि आप किसी शक्कर फैक्टरी के अध्यक्ष थे और अपने परिमित कार्यक्षेत्र में ही पूरी तरह संलग्न थे। लेकिन आज हम देखते हैं कि श्री डालमिया जी का कार्यक्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो चुका है। कागज़ मिल, सीमेन्ट फैक्टरी, बैङ्क, कोयले की खानें, बिजली घर, बीमा कम्पनियाँ, रेलवे आदि कितने ही कारबार वे सफलतापूर्वक संचालित कर रहे हैं। और हाल में ही एक विशाल अखिल भारतीय बैङ्क—भारत बैङ्क—खोल दिया गया है। इन सब कारबारों की तरफ़ दृष्टिपात करने पर हम यह कह सकते हैं कि श्री डालमिया जी निस्सन्देह आत्म-विश्वास, उत्साह और साहस की साकार मूर्ति हैं। प्रयाग महिला विद्यापीठ की अर्थ समिति के आपही अध्यक्ष हैं।

यों तो श्री डालमिया जी ने अब तक कितनी ही संस्थाओं को दान दिया है और विद्यापीठ को भी सहायतायें देते रहे हैं, लेकिन अब अपने उच्च आदर्श से अपने ढङ्ग की इस निराली संस्था को इकतालीस हज़ार का यह दान देकर आपने जिस सहृदयता, उदारता और स्त्री-शिक्षा के प्रति अपने जिस असीम अनुराग का परिचय दिया है वह देश के धनिकवर्ग के लिये निस्सन्देह अनुकरणीय कहा जा सकता है।

इस समय जबकि इस विद्यापीठ के कार्यकर्तागण इसे हिन्दू यूनिवर्सिटी की भाँति एक करोड़ चन्दा लाकर सर्वाङ्ग पूर्ण बनाना चाहते हैं ऐसे अनेक लोगों को स्वयं ही इसे अपना सहयोग देने के लिये आगे बढ़ना चाहिए।

हमारी दुर्गति चतुर्मुखी है—(१) स्वास्थ्य-सम्बन्धी (२) शिक्षा-सम्बन्धी (३) समाज और देश सम्बन्धी तथा (४) घरेलू। यह विद्यापीठ प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय भावों से पूर्ण एवं इन सभी प्रकार की दुर्गतियों के निराकरण के प्रति सजग रहा है। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और पं० जवाहरलाल नेहरू इसके प्रधान रहे हैं और अब पन्द्रह साल से डा० कैलाशनाथ काटजू इस पद पर हैं।

अब यह विद्यापीठ महिलाओं के लिए सर्वांगपूर्ण हिन्दीभाषाभाषी विश्वविद्यालय का रूप लेना चाहता है। उसके अब तक तीनों विभाग—परीक्षा विभाग, कॉलेज विभाग और सेवा सदन पूर्ण विकसित होकर एक ऐसे ही पूर्ण महिला विश्वविद्यालय की ओर जा रहे हैं। अतः इन का और अन्य आवश्यक

शिक्षा के विभागों का यथेष्ट विकास करने की योजना बनाई जा चुकी है।

१—स्त्रियों का स्वास्थ्य शहर और देहात सभी जगह बुरी तरह गिरता जा रहा है। पुराने औद्योगिक कार्य और कुटी व्यवसाय तक नष्टप्राय हो गये हैं। आटे की सैकड़ों हज़ारों चक्कियों तक का स्थान गिनी-गिनाई फ्लोवर-मिलों को मिल गया है। ऐसे समय 'महिला-व्यायाम मन्दिर' में शिक्षा पाई हुई स्वास्थ्य तथा सफ़ाई के नियमों में निपुण बहनें स्वास्थ्य-संस्कृति (Physical culture) की ओर सर्वसाधारण स्त्रियों को जितना अधिक ले जा सकें उतना ही अधिक लाभदायक होगा। लड़कियों को व्यक्तिगत और सामूहिक आत्म-रक्षा के लिए तैयार करना इन स्वास्थ्य-उपदेशिकाओं (Health Missionaries) का मुख्य कर्तव्य होगा। और ये जो शिक्षा पावेंगी उससे अपनी बहनों को इस तरह स्वावलम्बी बनने में तरह तरह से सहायता दे सकेंगी।

२—घरेलू विज्ञान (Domestic Science) की मैट्रिक में ही नहीं बल्कि एम० ए० तक में पढ़ाई होनी ही चाहिए। पर अभी तक किसी भी विश्व-विद्यालय में ऐसा प्रबन्ध नहीं हो पाया। यह विद्यापीठ कुछ वज़ीफ़े देकर इस विषय की स्कूल और कॉलेज, दोनों के लिए ऐसी शिक्षिकायें भी तैयार करना चाहता है जो इस विज्ञान को इस ढङ्ग से पढ़ा सकें कि हमारी घर-गृहस्थी में इसे व्यावहारिक रूप मिल जावे।

३—शिक्षा का एक और रूप है जो अभी तक बङ्गाल और महाराष्ट्र में तो दिखलाई देता है पर हमारे यहाँ उसका अभाव ही रहा है। यह है सुरुचि-पूर्ण संगीत और चित्रकला। इसकी पूर्ति ऐसे कला-भवन से होगी जिसमें मैट्रिक कक्षा के बाद एम०ए० कक्षा तक ठीक तरह से इनकी पढ़ाई का प्रबन्ध हो। इन विषयों में भी शिक्षिकायें तैयार की जावेंगी और उनकी ट्रेनिंग का ठीक इन्तज़ाम होगा।

४—इन तीनों प्रकार की अत्यन्त आवश्यक शिक्षाओं के सिवा औषधि-विज्ञान की शिक्षा के लिए भी ऐसा प्रबन्ध होगा जिससे देहातों में पुरुषों द्वारा वैद्यों, डाक्टरों आदि के रूप में जो कुछ हो रहा है या हो सकता है उससे आगे बढ़कर ये स्त्रियों में सेवा-सुश्रूषा में दक्ष एक अच्छी दाई, एक लेडी डाक्टर आदि की पूर्ति कर सकें। होमियोपैथी की औषधियाँ दे सकने के योग्य भी इन्हें होना चाहिए। तीन साल में ऐसी शिक्षा दी जा सकती है।

५—इनके साथ स्त्री सेविका कॉलेज और स्त्री शिक्षा सहायक विभाग ज़रूरी हैं। स्त्री सेविका कॉलेज में उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियाँ शिक्षित होकर भारत-सेवा समिति और 'प्यूपिल्स सोसाइटी' (Peoples' Society) के ढङ्ग पर बहुत अधिक काम कर सकेंगी और अपने कार्य का महत्व शहरों के एक कोने से दूसरे कोने तक और ग्राम ग्राम में अंकित कर सकेंगी। इस क्षेत्र में काम करने के लिए अनेक बड़े बड़े घरों की महिलाएँ आगे बढ़ सकती हैं।

६—स्त्री शिक्षा सहायक संस्था का काम होगा दूसरी जगहों में अपने सुविकसित पाठ्य क्रम के अनुसार लड़कियों के स्कूल खोलना, और खुलवाना तथा अन्य स्कूलों में अपने पाठ्य क्रम को चालू करना, उन्हें स्वीकृति और सहायता देना।

७—इनके सिवा पुस्तक प्रकाशन के लिए एक अलग विभाग आवश्यक है।

इन पंक्तियों के लेखक ने कई आश्रमों और संस्थाओं को देख कर यह अनुभव प्राप्त किया है कि बुद्धि बल, प्रबन्ध बल और धन बल ये तीनों ही किसी भी संस्था के स्तम्भ होते हैं। प्रयाग महिला विद्यापीठ का यह सौभाग्य है कि उसे श्री महादेवी वर्मा, श्री संगमलाल अग्रवाल और सेठ रामकृष्ण डालमिया के रूप में ये तीनों प्राप्त हैं। ये तीनों बल सम्मिलित रूप में और इनमें से प्रत्येक जितना अधिक सात्विक होगा उतना ही अधिक सुफल अवश्यम्भावी है। यह विश्वास किया जा सकता है कि ये लोग अपने उच्च उद्देश्यों की इस संस्था के पूर्ण विकास द्वारा ही ठीक तरह पूर्ति कर अन्य अनेक लोगों के सामने एक आदर्श रखने में सफल हो सकेंगे।

ग़लतफ़हमी का डर

पण्डित देवीदत्त शुक्ल, सम्पादक 'सरस्वती'

हिन्दी की एक पत्रिका के सम्पादकीय में एक टिप्पणी छपी थी, जिसमें कवियों, कहानी लेखकों, उपन्यासकारों की नाम-सूची देकर यह आग्रह किया गया था कि आलोचकों को चाहिये कि अपनी आलोचनाओं द्वारा हिन्दी के इन उपेक्षित कलाकारों को प्रकाश में लावें। आलोचकों ने तो उस निवेदन की ओर ध्यान न दिया, पर उसके छपने के बाद अबोहर में सम्मेलन का जो वार्षिक अधिवेशन हुआ, उसके विद्वान् सभापति पण्डित अमरनाथ झा ने हिन्दी के उन उपेक्षित लेखकों का उल्लेख प्रशंसा के साथ किया। उल्लेख क्या किया, उन सबको सर्टीफ़िकेट-से दे दिये। एक यूनीवर्सिटी के वाइस-चैन्सलर इससे अधिक कर भी क्या सकते हैं! परन्तु झा जी से भी कुछ उल्लेख योग्य नाम छूट गये थे। इस पर फिर कुछ लोग चिढ़े, पर यह सोच समझ कर कि झा महोदय हिन्दी के सम्पर्क में उतना नहीं रहे हैं, आप ही आप शान्त भी हो गये।

अब सम्मेलन हरिद्वार के अधिवेशन में उसके अध्यक्ष पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी ने भी अपने भाषण में झा जी की ही भाँति हिन्दी के कुछ लेखकों को दिल खोलकर सर्टीफ़िकेट बाँटे हैं! चतुर्वेदी जी हिन्दी के हैं और यदि वे भी झा जी की सी भूल करते हैं, तो उसको कोई कैसे तरह दे सकता है? उन्हें यह कहने का अधिकार है कि उन्होंने जिन्हें योग्य समझा, उनको सर्टीफ़िकेट दे दिया। परन्तु ऐसी बात कहकर कोई 'आलोचक' भले ही अपना पीछा छुड़ा सकता हो, पर ऐसी संस्था का अध्यक्ष ऐसा नहीं कर सकता।

देखिए, चतुर्वेदी जी ने दैनिकों में हिन्दी-मिलाप, संसार; सप्ताहिकों में अभ्युदय, राजस्थान, हिन्दू, नवयुग, सिद्धान्त, आर्य; मासिकों में चाँद, माधुरी, सुकवि, व्रज भारती, सुधा, कर्मयोगी, गुलदस्ता, सन्मार्ग, स्वाध्याय, क्षत्रिय मित्र, कान्यकुब्ज आदि का नामोल्लेख तक नहीं किया है। क्या यह समझा जाय कि इन पत्र-पत्रिकाओं का हिन्दी में अपना कोई स्थान नहीं है?

इसी प्रकार लेखकों के नामोल्लेख में भी हुआ है। अध्यक्ष महोदय ने अपने प्रान्त के तथा मध्य भारत के प्रायः सभी लेखकों का नामोल्लेख किया है। परन्तु अपने प्रान्त के श्रीयुत पदुमलाल बख़्शी, पण्डित देवीदयाल चतुर्वेदी, श्रीमती हीरादेवी, पण्डित बनमाली प्रसाद शुक्ल का तथा मध्य भारत के स्वर्गीय सूर्यकुमार वर्मा और श्री भालेराव का कहीं नाम तक नहीं लिया है। बिहार के लेखकों में श्री आरसीप्रसादसिंह, पण्डित दिनेश झा आदि, कलकत्ता के लेखकों में आचार्य क्षितिमोहन सेन, श्री श्यामसुन्दर खत्री, डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त आदि, पञ्जाब के लेखकों में पण्डित आत्मस्वरूप शर्मा, श्री धर्मवीर एम० ए०, श्रीमती सरस्वती मल्लिक आदि का नाम नहीं है। वयोवृद्ध लेखकों में जासूस-सम्पादक श्री गोपालराम गहमरी जी आज भी लिखते रहते हैं, पर वे भुला दिये गये हैं। और जहाँ हिन्दी के चुने चुने महारथियों का नामोल्लेख हुआ है, वहां महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पण्डित रामनारायण मिश्र आदि के नाम छोड़ दिये गये हैं। और भिन्न भिन्न लेखकों का उनके विषय के अनुसार जहाँ उल्लेख है, वहाँ इतिहास लेखकों में पण्डित सुन्दरलाल जी, श्री सत्यकेतु विद्यालंकार आदि का नाम नहीं है। कवियों में ठाकुर गोपालशरण सिंह, पण्डित अनूप शर्मा, श्री अम्बिकेश, श्री सिरस जी आदि के नाम छूटे हैं। एकांकी नाटककारों में पण्डित गणेशप्रसाद द्विवेदी, कहानी तथा उपन्यासकारों में पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल, श्री पदुमलाल बख़्शी, डा० अख़्तरहुसेन रायपुरी, श्री विजय वर्मा,

२—(वर्मा जी हिन्दी-क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय कहानियों और उपन्यासों के अब तक अकेले मौलिक लेखक हैं) श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह, श्री ऋषभचरण जैन आदि आदि कितने ही लेखकों के नाम छूट गये हैं।

'युग की कलम रखने वाले तरुणों' में ऊपर लिखे कई लेखकगण तथा पण्डित उमेश मिश्र, पण्डित विश्वम्भरनाथ, प्रो० राजाराम शास्त्री, श्री महादेव प्रसाद साहा, श्री बैजनाथ सिंह विनोद, श्री भगवती प्रसाद चन्दोला एम० ए०, श्री सुरेन्द्र बालूपुरी, और श्री मोहनसिंह सेंगर आदि रह गये हैं।

मैं मानता हूं कि अध्यक्ष महोदय ने जान बूझकर ऐसा न किया होगा, परन्तु इस भूल से इन लेखकों, पत्र-पत्रिकाओं और साहित्य के साथ अन्याय हुआ है। क्या ही अच्छा हो यदि सम्मेलन के अध्यक्ष अपने भाषणों में इस प्रकार की व्यक्ति-प्रशंसा किया ही न करें और यदि करें, तो यह बताकर करें कि किस दृष्टिकोण से वे वैसा कर रहे हैं, अन्यथा बड़ी ग़लतफ़हमी फैल जाने का डर है।

समालोचना

बिखरे हुए फूल—(कविता-संग्रह) श्री रघुवीर-शरण दिवाकर। पृष्ठ ५२, मूल्य ।≈); प्रकाशक श्री चिरंजीलाल बड़जाते, वर्धा।

सर्व प्रथम प्रकाशक ने लेखक के शब्द भण्डार की कमी की ओर समालोचक का ध्यान सहानुभूति के लिए खींचा है। पर लेखक ग़ैर हिन्दी भाषा भाषी है या हिन्दी भाषा भाषी? यह प्रश्न समाधान के लिए जहाँ का तहाँ रह गया। फिर स्वागत के पहले पैरा में श्री रामेश्वर दयाल जी दुबे ने हिन्दी के पिछले २५ साल की प्रगति की ओर ध्यान खींचा है। इस स्वागत शैली से मालूम होता है कि हिन्दी काव्य-साहित्य के विकास की धाराओं के साथ साथ 'दिवाकर' जी चले होंगे। इसके बाद 'तीन बातें' लिखते हुए लेखक ने खुद लिखा है"......वह यह नहीं जानता कि वह कवि है या नहीं!" और दर असल हिन्दी काव्य-साहित्य के विकास से लेखक का कविताओं में कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता।

वर्धा में पण्डित दरबारीलाल जी सत्यभक्त हैं। उन्होंने 'सर्वधर्म समभाववाद' की प्रतिष्ठा की है। इस वाद के अनुसार सभी धर्मों के अन्दर एक सत्य है, उसे देखना चाहिए, मतभेद सम्बन्धी बातें ऊपरी और ग़लत हैं, उनकी ओर से अपने को अलग कर लेना चाहिए और इस तरह सभी धर्मों में समभाव, समता का भाव रखना चाहिये। इसी वाद की बातें 'दिवाकर' जी के पद्यों में हैं। काव्य के ज़रिये सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता रहा है—वाल्मीकि, कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक ने किया है। पर वह काव्य तो रहे। काव्य की वह सब शर्तें तो उसमें कमोवेश रहें, जिनसे किसी पद्य को काव्य की संज्ञा मिलती है। यदि सन्तों की अटपटी वाणियों को देखकर कोई वैसी बातें बनाकर उसे काव्य की संज्ञा देना चाहे, तो वह भी ग़लत है। क्योंकि सन्तों की अटपटी वाणियों में साधनासुलभ रस धार है।

'बिखरे हुए फूल' में विचार हैं, अच्छी सूझ है; पर वही नहीं है, जिससे पद्य को काव्य की संज्ञा मिलती है; इसलिये इसे अच्छे विचारों का पद्य-संग्रह कहा जा सकता है।

× × ×

मातृ-वन्दना (कविता)—श्री भगवत प्रसाद शुक्ल, साहित्यशास्त्री। प्रकाशक, भारतीय ग्रन्थमाला वृन्दावन। पृष्ठ ७८; मूल्य ।≈)।

किसी भूमि खण्ड को मातृभूमि होने के लिए बहुत शर्तों को पूरा करना होता है—जैसे एक भूमि-खण्ड, एक इतिहास, उसके निवासियों में सर्वत्र एक रस्मरिवाज, एक-सा सभी तरफ़ संस्कार, जीवनयापन सम्बन्धी उपकरणों में एकता और इन सबके ऊपर एक आर्थिक आधार। इन सब शर्तों के साथ हिन्दुस्तान हमारी मातृभूमि है। पर जब इन सब शर्तों की हम काव्यगत व्यञ्जना करेंगे, तब इन सब शर्तों का वाह्याकार नहीं, इनका मानसिक संस्कार अनुभूति

की तीव्रता के साथ व्यक्त होगा। और प्रस्तुत कविता संग्रह में वाह्याकारों की ही भरमार है। इसके अलावा प्रस्तुत कविता-संग्रह में राष्ट्रीयता की शर्तों के अनुपात में भी भूल है। सारे मध्यकाल को व्यक्त करने में अनुपात की कमी ज़ाहिर है। "षष्ट दर्शन" में समाज के भविष्य की कल्पना मालूम होती है, पर यहीं ऐसा लगता है कि लेखक समाज के मौजूदा विकास और विकास क्रम को अनदेखा करना चाहता है। यद्यपि उसमें "प्रजातन्त्र" शब्द है।

प्रस्तुत कविता संग्रह में व्यंग्य और ध्वनि से कुछ सम्बन्ध नहीं मालूम होता है। ऐसी कविता में ओज गुण पाठक ढूंढ़ना चाहेंगे, पर उसका भी यहाँ अभाव मिलेगा।

× × ×

जीवन-प्रदीप (कविता)—श्री नगीनचन्द्र "प्रदीप", पृष्ट ५४; मूल्य १) प्रकाशक श्री हिन्दी-निकेतन, दरियागञ्ज, देहली।

किसी स्वागत, भूमिका या परिचय के बग़ैर अपनी कविताओं में ज़ाहिर है कि "प्रदीप" जी आधुनिक काव्य-साहित्य के साथ हैं। कविताओं में मौजूदा समाज में चलने वाला संघर्ष भी अनुभूति की गहराई के साथ है। कुछ कविताओं के अन्दर हमारा मौजूदा राष्ट्रीय संघर्ष और उसके साथ ही विश्व संघर्ष भी प्रकट है। "चितेरे" "आगे" बीसवें पेज का गीत और "परीक्षा" कविताएँ मर्मग्राहिणी हैं।

इन कविताओं में दो विचार स्पष्ट हैं। एक समाज-क्रान्ति और दूसरी प्रेम की प्यास। क्रान्ति की दिशा में "जगत की सब मेल धोती, आज शोणित धार देखूं" लाइन में कवि स्पष्ट ही श्रेणी-संघर्ष का पक्षपाती इसलिये मालूम होता कि जिससे श्रेणीहीन समाज कायम हो, पर सजगता की कमी से कहीं कहीं वह श्रेणी संयोग की ओर भी खिंच जाता है। और इस प्रकार कवि के दृष्टिकोण में अस्पष्टता झलक जाती है। इस अस्पष्टता के साथ क्रान्ति की दिशा में कवि साम्यवादी है। पर उसका खोया प्यार भी है और उस प्यार के प्रति उसमें मोह भी है। कवि के विप्रलम्भ में रूढ़िग्रस्त समाज की रूढ़ियाँ और उसकी विषमताएँ प्रेरक शक्तियाँ हैं; पर इनकी ओर कवि का ध्यान कम और खोये प्यार की ओर मोह अधिक है। कवि का यह मोह मानसिक अस्वस्थता की सीमा पार कर गया है—जैसे 'याचना' कविता के अन्दर। कुछ शब्दों के प्रयोग बहुत खटकने वाले हैं जैसे "अथच" "महत" "इव" "सु" आदि। व्यंग्य की ओर कवि का कम ध्यान मालूम होता है।

"जीवन-प्रदीप" की जिन त्रुटियों का ऊपर उल्लेख है, ऐसी त्रुटियाँ आज के प्रौढ़ माने हुए कवि में भी हैं और बुरी तरह हैं। इसलिये "प्रदीप" जी के इस प्रथम प्रयास में ये त्रुटियाँ क्षम्य हैं। कवि "प्रदीप" में काव्यगत प्रतिभा, अनुभूति और प्रवाह है। उनका प्रवाह साधारण पाठक को अपनी साथ खींच ले जाने में समर्थ है। सरस्वती के मन्दिर में "प्रदीप" जी स्वागत पाने के अधिकारी हैं।

× × ×

धर्म दूत—वैशाखी पूर्णिमा का विशेषाङ्क—वार्षिक मूल्य १) इस प्रति का ||) पृष्ठ संख्या ५४। "धर्मदूत" कार्यालय, सारनाथ, बनारस।

कुछ दिनों से 'धर्मदूत' का सम्पादन सिंघली भिक्षु धर्मरत्न जी और महानाम जी करते हैं। इन दोनों महानुभावों का हिन्दी पर यह अधिकार निश्चय ही सिंघल के लिए गर्व की चीज़ है। महान तपस्वी धर्मपाल जी की तपस्या का बल प्रकट हो रहा है।

प्रस्तुत अङ्क में २० रचनाएँ हैं। बौद्धों का अनात्मवाद (श्री शान्ति भिक्षु शास्त्री) प्रतीत्य समुत्पाद (श्री मामराज दत्त कपिल, विद्यार्थी, एम० ए०) बुद्ध कालीन सुविख्यात श्रावक और श्राविकाएँ (आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी) लेख गौरवपूर्ण और ऐसे हैं कि जिन्हें हर जिज्ञासु को पढ़ना चाहिए। इसके अलावा और भी लेख संग्रहणीय हैं। बुद्ध के जन्म, सिद्धि और मृत्यु समय के तीन चित्र भी अच्छे हैं। लेखों का संग्रह और उनका प्रदर्शन सभी कुछ सुन्दर है। अङ्क संग्रहणीय है।

—विनोद

लड़ाई के हालात

मई में ट्यूनिस की लड़ाई ख़तम हो गयी बल्कि यह कहना चाहिये कि अफ़्रीका की लड़ाई ख़तम हो गयी। एक पूरे महाद्वीप में धुरी राष्ट्रों की सैनिक और राजनैतिक सत्ता का अन्त हो गया। ट्यूनिस में डेढ़ लाख से अधिक जर्मन और इटैलियन सैनिकों को हथियार डाल देने पड़े। स्टेलिनग्रेड को छोड़कर इस युद्ध में जर्मनों की यह सबसे बड़ी हार है।

इस लड़ाई ने दो ऐसी पहेलियाँ पैदा कीं जो अब तक बूझी न जा सकीं। एक तो यह कि छः महीने पहिले जब अमेरिका और ब्रिटेन ने मराको और अलजीरिया में फ़ौजें उतारीं तो लगे हाथों ट्यूनिस में भी फ़ौजें क्यों न लायी गयीं। उस समय ट्यूनिस में जर्मन या इटालियन फ़ौजें न थीं और उन पर आसानी से क़ब्ज़ा हो सकता था। ऐसा न करने से यह लड़ाई कई महीने के लिये खिंच गई। दूसरी पहेली यह कि धुरी राष्ट्रों ने समय पर रोमेल को पूरी कुमक क्यों न भेजी? क्या रूसी अख़बार 'प्रावदा' का यह बयान ठीक है कि हिटलर की सारी ताक़त रूस में फँस गयी थी? यह तो कुछ अतिशयोक्ति है; क्योंकि मित्रराष्ट्रों के सब नेता मानते हैं कि जर्मनी के पास अब भी बड़ी ताक़त है।

जो भी हो, इस हार ने लड़ाई का नक़शा बदल दिया। एक तो मेडिटेरेनियन का रास्ता खुल गया। दूसरे इटली पर हमले की सम्भावना पैदा हो गयी। उसके दक्षिणी द्वीपों और ठिकानों पर ज़बरदस्त हवाई हमले हो रहे हैं। और ऐसा लगता है कि सिसली, सारडीनिया, क्रीट आदि द्वीपों पर पहिले चढ़ाई होगी। मि० चर्चिल, जो अपने फ़ौजी सलाहकारों के साथ अमेरिका पहुंचे हुए हैं, खुल्लमखुल्ला इटली के आत्मसमर्पण का चर्चा कर रहे हैं।

अमेरिका की यह कान्फ्रेंस भी ब्रिटेन और अमेरिका तक सीमित रही। रूस के प्रतिनिधि मोसिये लिटविनाफ़ इन दिनों स्वदेश गये हुए थे। हाँ, यह कहा जा रहा है कि शीघ्र ही चर्चिल और रूज़वेल्ट स्टालिन और चियाङ्ग-काइ-शेक से मिलेंगे। इस अवसर पर कम्यूनिस्टों की केन्द्रीय संस्था 'थर्ड इन्टरनेशनल' के बन्द कर दिये जाने को एक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना समझना चाहिये। इस तरह रूस अपने साथियों को विश्वास दिलाना चाहता है कि उसकी नीयत विश्व-क्रान्ति की नहीं है और न विदेशों के कम्यूनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलनों से उसका सम्बन्ध है। पर यह भी सोचने की बात है कि किसी ख़ास सबब से विवश होकर ही रूस ने यह किया है। इस समय दूसरे मोर्चे का फ़ैसला हो रहा है; और इस पर रूस का पूरा भविष्य निर्भर करता है। मित्रराष्ट्रों में रूस के वैरियों की कमी नहीं। पोलैंड की निर्वासित सरकार की मिसाल आंखों के सामने है, जिसने नाज़ी प्रचार की हां में हां मिलाकर रूस का ऐसा विरोध किया कि उसे इन बेमुल्क के नवाबों से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना पड़ा। यह ज़रूर मालूम हो गया कि मित्रराष्ट्रों में पूरी पूरी राजनीतिक एकता नहीं।

रूस में लड़ाई अब भी थमी हुई है, लेकिन बारूद तैयार है चिनगारी लगने की देर है। दोनों तरफ़ से अगली लड़ाई के लिये बहुत बड़े पैमाने पर जंगी तैयारी हो रही है। और ऐसा लगता है कि पहिला क़दम जर्मनों की ओर से उठेगा। यहीं दूसरे मोर्चे का सवाल उठता है। अगर अंग्रेज़ों और अमेरिकनों की ओर से पूरा दबाव पड़ा तो जर्मन और उनके साथी रूस पर पूरा ज़ोर न लगा सकेंगे और उन्हें अपने बचाव के लिये ताक़त बांट देनी पड़ेगी। उन पर दबाव तो ज़रूर डाला जायेगा, लेकिन किस हद तक, कहां और कब—यह देखना है।

यूरोप में धुरी राष्ट्रों का तख़्ता उलट रहा है। पर उनके पास एक बड़ा साधन बाक़ी है। यह जापान है। पूर्वी एशिया के साम्राज्य को साल भर में संगठित

करके उसने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली है। उसकी ख़ामोशी वैसी ही है जो तूफ़ान आने से पहिले वातावरण पर छा जाती है। वह चाहे तो आस्ट्रेलिया, हिन्दुस्तान और साइबेरिया में से किसी पर भी चढ़ाई कर सकता है। अगर वह जर्मनी की मदद करना चाहता है तो यह साइबेरिया पर हमला करके ही हो सकता है। इसकी बड़ी सम्भावना है कि इस बार जर्मनी और जापान रूस पर एक साथ हमले करेंगे। जापान के प्रधान मंत्री जनरल तोजो का साइबेरिया की सीमा की क़िलाबन्दी का निरीक्षण महत्व से ख़ाली नहीं। अगर दोतर्फ़ा हमला हुआ तो रूस की परिस्थिति गम्भीर हो जायेगी क्योंकि जापान के ख़िलाफ़ उसे कहीं से मदद नहीं मिल सकती। हां, अगर अलेशियन द्वीपसमूह को वापिस लेने में अमेरिकन कामयाब हो जाये तो तो अलास्का की राह थोड़ी बहुत मदद मिल सकती है।

जो भी हो, महायुद्ध अपने चरमबिंदु पर पहुँचने वाला है। और कुछ महीनों में जर्मनी और रूस के भाग्य का निबटारा हो जायेगा।

२६ मई

सम्पादकीय विचार

स्वर्गीय अल्लाहबख़्श—पाकिस्तान—महात्मा गांधी और मि० जिन्ना—भारत और मि० लुईफ़िशर—'निर्दल' नेताओं का नया बयान—कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल का अन्त—भारतीय कम्यूनिस्ट कांग्रेस—प्रगतिशील लेखकों की कान्फ़्रेंस—हिन्दी साहित्य सम्मेलन—'हिन्दुस्तानी' का निर्माण—शिवा जी और मुसलमान।

स्वर्गीय अल्लाहबख़्श

पिछले महीने स्वतन्त्रता और एकता की राह में सिन्ध के सर्वमान्य नेता अल्लाहबख़्श शहीद हो गये। दिनदहाड़े शिकारपुर की पुलिस लाइन के आगे उनका ख़ून हो गया। सरकारी बयान से मालूम हुआ कि कई मील तक हत्यारों के पैर के निशान मिले और फिर ग़ायब हो गये। अब तक यह भेद न खुला और यह कहना मुश्किल है कि यह ख़ून किसने और क्यों किया। अल्लाहबख़्श साहिब के नातेदारों और दोस्तों का कहना है कि किसी को उनसे निजी बैर न था। जो भी हो, हिंसा और पाशविकता के इस युग में क्या कहा जा सकता है।

उनके साथ 'हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता' का एक दीपक बुझ गया। आज जब हिन्दू महासभा 'हिन्दू राष्ट्रीयता' और मुस्लिम लीग 'मुस्लिम राष्ट्रीयता' का राग अलाप रही हैं—'भारतीय राष्ट्रीयता' के इस अग्रनायक की जगह लेने वाला कोई नहीं दिखाई देता। आज़ाद मुस्लिम बोर्ड में उन्हीं के दम की रौनक़ थी; अब तो यह निरी बेजान संस्था हो जायेगी।

पाकिस्तान

राष्ट्रीय नेतृत्व के अभाव में मुस्लिम जनमत अधिकाधिक पाकिस्तान की माँग की ओर झुकता जाता है। इस झुकाव को रोकने का यह तरीक़ा नहीं जिसे महासभा ने अपनाया है। गृह-युद्ध की धमकी या 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का नारा लगाकर पाकिस्तान के आन्दोलन को नहीं कुचला जा सकता। यह तो जले पर नमक छिड़कने की नीति है। अब तो पानी सर से गुज़र चुका है। और इस बाढ़ को रोकने का सिर्फ़ एक रास्ता है। वह यह कि सहानुभूति और प्रेम भाव से मुसलमानों का विश्वास हासिल करने की कोशिश की जाये। छुआ-छूत, अनादर और अविश्वास की दीवारें खड़ी करके संसार में आज तक किसी अल्पसंख्यक जाति को क़ौमियत का सबक़ नहीं पढ़ाया जा सका। अगर यह बात अब भी न समझी गयी तो दोनों जातियों का भविष्य अन्धकारमय है। डा० मुंजे का 'हिन्दू राज' का स्वप्न इस देश के लिये घातक है—जब तक हर हिन्दू यह कहने का साहस न करेगा,

हमारा उत्थान असम्भव है। निजी अनुभव के बल पर हम कह सकते हैं कि जब भी हिन्दू भाई यह सोचना छोड़ देंगे कि मुसल्मान 'हिन्दुस्तानी' नहीं हो सकते--एकता के रास्ते से एक बड़ी मनोवैज्ञानिक रुकावट दूर हो जायेगी।

महात्मा गान्धी और मि० जिन्ना

अभी अभी नई दिल्ली के एक सरकारी बयान से मालूम हुआ कि महात्मा जी ने जेल से मि० जिन्ना के नाम एक पत्र भारत सरकार के पास इसलिये भेजा था कि वह उन्हें भिजवा दिया जाये। पत्र में मि० जिन्ना से मिलने की इच्छा प्रगट की गयी थी। सरकार ने फ़ैसला किया है कि न तो यह चिट्ठी मि० जिन्ना को भेजी जाये और न उन्हें महात्मा जी से मिलने की अनुमति दी जाये।

पाठकों को याद होगा कि मुस्लिम लीग के पिछले अधिवेशन में मि० जिन्ना ने यह ऐलान किया था—"अगर गान्धी जी सचमुच में मुस्लिम लीग से समझौता करने पर आमादा हों, तो सबसे ज्यादा ख़ुशी मुझे होगी। वह हिन्दू मुसल्मान दोनों के लिये सबसे बड़ा शुभ दिन होगा। अगर गान्धी जी चाहें तो उन्हें मुझे पत्र लिखने से कौन रोक सकता है? वायसराय के पास जाने से क्या हासिल होगा? इस देश की सरकार शक्तिशाली हुआ करे, पर मैं सोच भी नहीं सकता कि वह मेरे नाम गान्धी जी के पत्र को रोकने का साहस करेगी? अगर यह पत्र रोक लिया गया तो बड़ी गम्भीर स्थिति पैदा हो जायेगी।

सरकार ने बतला दिया कि वह सब कुछ करने का साहस रखती है। जापानी आक्रमण की सम्भावना पर भी जब वह इतने बड़े राजनीतिक सङ्कट की परवा नहीं करती और जब वह सभापति रूज़वेल्ट के निजी प्रतिनिधि मि० फ़िलिप को महात्मा जी से नहीं मिलने देती—तो फिर मि० जिन्ना की चिट्ठी रोक लेना उसके लिये कोई बड़ी बात नहीं। उसने मि० जिन्ना की चुनौती स्वीकार कर ली है। अब देखना है कि वह क्या करते हैं। पहिली बार सरकार मुस्लिम लीग के बल-बूते की परीक्षा ले रही है। कई प्रान्तों में वज़ारत की गद्दी पर बिराजने के बाद लीग इस परीक्षा में पूरी उतरेगी?

भारत और मि० लूई फ़िशर

अमेरिकन पत्रकारों में मि० फ़िशर का बड़ा सम्मान है। सोवियत् रूस और स्पैनी प्रजातन्त्र पर उन्होंने जो कुछ लिखा है, उस पर पत्रकार-कला हमेशा गर्व करेगी। साल भर पहिले वह हिन्दुस्तान आये और कई महीने रहकर यहाँ की हालत को अपनी आँखों से देखा। सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स वाली दुर्घटना पर आज तक उन जैसी सच्ची और खरी रिपोर्ट किसी के क़लम से नहीं निकली। पिछली २१ फ़रवरी को अमेरिका के शहर सां फ्रंसिस्को में भारतीय समस्या पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा—

"भारत से मैं यह दृढ़ विश्वास लेकर लौटा हूँ कि नेकनीयती हो तो वहाँ क्षण भर में राजनीतिक एकता पैदा हो सकती है। यह आर्थिक और सामाजिक एकता की दिशा में पहिला क़दम होगा। यह मेरा ईमान है कि हिन्दुस्तान की आज़ादी की राह में असल रुकावट इङ्गलैंड है। वहाँ की बहुत सी कम्पनियाँ और घराने हिन्दुस्तान के कारण मालामाल हो गये हैं। पर बात इतनी ही नहीं। मि० चेम्बरलेन शान्तिवादी बन गये थे क्योंकि उन्हें डर था कि लड़ाई हुई तो यह सेठ-साहूकारों वाला इङ्गलैण्ड ख़तम हो जायेगा। मि० चर्चिल कहते हैं कि नहीं हम लड़ेंगे और उसी इङ्गलैण्ड को बाक़ी रखेंगे। और इस इङ्गलैण्ड में भारत भी शामिल है।"

'निर्दल' नेताओं का नया बयान

सर तेजबहादुर सप्रू, डा० सिन्हा और कई दूसरे लिबरल नेताओं ने हाल ही में एक वक्तव्य निकाला है जिसमें सरकार से मांग की गई है कि महात्मा गांधी और उनके साथियों पर लगाये गये अभियोगों

की जांच एक निरपेक्ष कमेटी के सुपुर्द की जाये। इन अभियोगों का सार यह है कि कांग्रेस नेता (१) धुरी शक्तियों के समर्थक हैं और (२) ९ अगस्त के बाद की अशांति की ज़िम्मेदारी उन पर है। यह बहुत संगीन इलज़ाम हैं। सरकार का कहना है कि उसके पास काफ़ी सुबूत मौजूद हैं। अगर यह सुबूत एक ग़ैर सरकारी कमेटी के आगे पेश हो जायें तो सारी बहस ख़तम हो जाये।

इस सिलसिले में पाठकों को हम याद दिलाना चाहते हैं कि सन् १९४० में ख़ाकसार आन्दोलन का दमन करते समय पंजाब के तत्कालीन प्रधान मंत्री सर सिकन्दर हयात ने भी ऐसी ही बात कही थी। उन्होंने खुल्लमखुल्ला कहा था कि ख़ाकसार नाज़ी एजेंट हैं और इसका सुबूत सरकार के पास मौजूद है। सर सिकन्दर मर गये और ख़ाकसार जेलों से छूट गये—पर इस सुबूत की शकल नज़र न आई। कोई अभियोग केवल इसीलिये सच नहीं माना जा सकता कि वह किसी सरकार का लगाया हुआ है।

कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल का अन्त

संसार भर की कम्यूनिस्ट पार्टियों का केन्द्र मास्को में था और इसे थर्ड 'इन्टरनेशनल' कहते थे। दुनिया के कम्यूनिस्ट इसी के फ़ैसले पर चलते थे। मास्को में होने के कारण सोवियत् सरकार की नीति का इस पर असर पड़ना स्वाभाविक था। इससे ग़ैर-रूसी कम्यूनिस्टों और रूस सरकार दोनों को नुक़सान होता था। पूंजीपति कहते थे कि रूस संसार भर में क्रान्ति करना चाहता है, इसीलिये उसने इन्टरनेशनल को पाल रखा है। हालांकि स्टालिन के नेतृत्व में रूस की नीति देश-निर्माण तक सीमित हो गयी थी और विश्व-क्रांति की ओर उसका ध्यान न था। उधर कम्यूनिस्टों के आगे यह कठिनाई थी कि इन्टरनेशनल हर मामले में सोवियत् सरकार की नीति का समर्थन करता था, जिससे उन्हें देशकाल के अनुसार काम करने में असुविधा होती थी, मिसाल के तौर पर अगस्त १९३९ की जर्मन-रूस संधि को लीजिये। यह संधि रूस ने नीतिवश की थी पर इसका समर्थन करते ही फ्रांस और ब्रिटेन के कम्यूनिस्ट मुसीबत में फंस गये। नाज़ी उस समय भी वही थे जो आज हैं। पर कम्यूनिस्ट ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों को उनसे समझौता करने के लिये उभारने लगे।

ऐसी कई मिसालें मिलेंगी। इस हालत में इन्टरनेशनल को तोड़ देना बड़ी बुद्धिमानी है। अब कोई ज़रूरत नहीं कि मार्क्सवादी हर मामले में मास्को का मुंह ताकें। उन्हें अपने अपने क्षेत्र में शोषण और दमन के चक्र को तोड़ने के लिये काम करना है।

भारतीय कम्यूनिस्ट कांग्रेस

बम्बई में इन दिनों भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का खुला अधिवेशन हो रहा है। पार्टी कांग्रेस-लीग समझौते और राष्ट्रीय एकता के लिये जो आन्दोलन चला रही है, वह अभिनन्दनीय है। पर जब तक कांग्रेस ग़ैरक़ानूनी संस्था है यह समझौता कैसे हो सकता है? यह भी ज़ाहिर है कि कम से कम लड़ाई के ज़माने में सरकार कांग्रेस पर से रोक उठाने के लिये तैयार नहीं। यह सोचना कि जनमत के दबाव से सरकार अपनी अड़ंगा-नीति छोड़ देगी, कपोल-कल्पना ही है। फिर भी देश में एकता का वातावरण पैदा करना अच्छा काम है। साथ ही साथ, पार्टी अगर साम्यवाद के मोटे मोटे उसूलों को जनप्रिय बनाने की ओर ध्यान दे, तो अच्छा हो।

प्रगतिशील लेखकों की कान्फ्रेंस

इन्हीं दिनों बम्बई में प्रगतिशील लेखकों की कान्फ्रेंस हुई। अब तक इसकी रिपोर्ट हमारी नज़र से नहीं गुज़री। फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि इस युद्ध ने साहित्य को जिन समस्याओं के आगे ला खड़ा किया है, उन पर विचार किया गया होगा। इस सम्बन्ध में यह बेहतर हो कि लेखक से अमुक 'वाद' के विरोध या अमुक पक्ष के समर्थन की आशा न की जाये। साहित्यिक को वकील क्यों बनाया जाये? हाँ, दमन और अन्याय के विरुद्ध हमेशा लड़ते रहना उसका धर्म है।

इस लेखक-सङ्घ ने भारतीय साहित्यिकों को जगाने में शुरू में ख़ासा काम किया था। फिर कई साल तक इसका काम बन्द सा रहा। अब फिर यह करवट बदल रहा है। अगर दूसरी साहित्यिक संस्थाओं की तरह उसमें दलबन्दी पैदा न हुई, तो उसके लिये बड़ा मैदान है। यह हम इसलिये कह रहे हैं कि अब तक वह कई माने हुए प्रगतिशील लेखकों की उपेक्षा केवल इसलिये करता रहा है कि सङ्घ से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

पिछले महीने हरिद्वार में सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ। यह विश्व-साहित्य के लिये बड़े संकट का समय है। और अगर साहित्य केवल आमोद-प्रमोद की चीज़ नहीं, बल्कि उसका आदर्श 'सच्चिदानन्द' की प्राप्ति है, तो संतप्त मानवता उससे किसी सन्देश की आशा रख सकती है। हमारा देश अपने इतिहास के सबसे कठिन युग से गुज़र रहा है। साहित्यिक यह बात नहीं भूल सकता।

शोक है कि सम्मेलन ने हिन्दी लेखकों को कोई दिशा नहीं दिखाई। अन्नाभाव, बर्मा से भारतीय प्रवासियों की वापसी, सांम्प्रदायिकता, दमन--इनमें से किस की ओर उसका ध्यान गया? क्या सम्मेलन का काम केवल हिन्दी-प्रचार है--उसे इससे मतलब नहीं कि हिन्दी में जो कुछ लिखा जा रहा है वह जीवन से निकट है या नहीं?

सभापति माखनलाल जी चतुर्वेदी जिन रुपयों से तौले गये, वह अगर दरिद्र लेखकों के लिये अलग कर दिये जाते तो कैसा अच्छा होता!

'हिन्दुस्तानी' का निर्माण

'हिन्दुस्तानी' ज़बान की बुनियाद मज़बूत करने के लिये अब तक जो कोशिशें हुईं वह सरकार की ओर से शुरू हुईं। पर दफ़्तरी घिसघिस के कारण उनसे कोई नतीजा न निकला। कई लाख रुपये ख़र्च करने के बाद भी हिन्दुस्तानी अकेडेमी से कुछ न बन पड़ा। बिहार हिन्दुस्तानी कमिटी का काम बट्टे-खाते में पड़ा है। उधर आल इण्डिया रेडियो ने कोई तीन साल पहिले पारिभाषिक शब्दों का जो छोटा सा हिन्दुस्तानी कोष बनाना शुरू किया था, उसकी भी कोई ख़बर न मिली।

इस नाकामी का एक सबब तो यह है कि यहाँ के सरकारी दफ़्तरों को संस्कृति और साहित्य से क्या वास्ता? दूसरे 'हिन्दुस्तानी' के लिये ज़रूरत ऐसे लोगों की है जो दोनों भाषायें जानते हैं और उनके मेल को अपना आदर्श समझते हैं। ऐसे लोग यों ही गिने-चुने हैं; और इन्हें साथ लिये बिना काम नहीं चल सकता।

शिवा जी और मुसल्मान

स्कूल में पढ़ाये जाने वाले इतिहास ने लोगों के दिमाग़ में ऐसा भर दिया है कि औरंगज़ेब का नाम आते ही हिन्दुओं की आँखें लाल हो जाती हैं और शिवा जी के नाम से मुसल्मान की नाक भौं चढ़ जाती है।

औरङ्गज़ेब ने हिन्दू मन्दिरों को जो दान-पत्र दिये थे, वह अब भी मौजूद हैं और पत्र-पत्रिकाओं में कई बार छप चुके हैं। हाल ही में इतिहास के एक ग्रन्थ में यह पढ़कर हमें आश्चर्य हुआ कि शिवा जी के दादा मालो जी अहमदनगर के मुस्लिम सन्त शाह शरफ़ के मुरीद थे। मालो जी उनके अनन्य भक्त थे। उनके कोई सन्तान न थी। जब सन्त की कृपा से उनके दो बेटे हुए, तो मालो जी ने बड़े का नाम शाह जी और छोटे का शरफ़ जी रखा। इन्हीं शाह जी के पुत्र शिवा जी थे।

मुसल्मानों पर शिवा जी के कल्पित अत्याचारों से किताबें भरी पड़ी हैं। पर यह बात, जिसे जानने से आपस की कटुता कुछ कम हो सकती है, पहिले कहीं देखने में न आयी थी।

सूचना

जिन ग्राहकों, एजेन्टों आदि को 'विश्ववाणी' समय पर न मिले वे डाकखाने से जांच करने के बाद ता० १५ के भीतर ही अपने ग्राहक नं० के साथ, शिकायत भेज दिया करें। इसके साथ डाकख़ाने का पत्रोत्तर भी जरूर भेज दिया करें—मैनेजर 'विश्ववाणी'

इतिहास संस्कृति और राजनीति की सचित्र मासिक पत्रिका

विश्ववाणी ही क्यों पढ़ें ?

'विश्ववाणी' का नामकरण स्वर्गीय कवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने किया था

'भारत में अंगरेज़ी राज' के रचयिता पं० सुन्दरलाल इसके संरक्षक हैं

'विश्ववाणी' पर लोकमत

यों तो मैं किसी को आजकल कुछ संदेश नहीं भेजता, लेकिन विश्ववाणी को मैंने चन्द मिनट दीं। 'विश्ववाणी' की विशेषता कि उसमें ज़ाहिर ख़बर नहीं ली जाती मुझे बहुत प्रिय लगी। मुझे यह भी अच्छा लगा कि 'विश्ववाणी' में सब धर्मों के लखकों के लेख भरे हैं……—महात्मा गान्धी

'विश्ववाणी' जिस महान उद्देश्य को लेकर निकली है, मुल्क को उसकी बेहद ज़रूरत है। हर हिन्दुस्तानी को 'विश्ववाणी' पढ़नी चाहिये—राष्ट्रपति आज़ाद

ऐसे महान उद्देश्य को लेकर जिस साहस के साथ आपने 'विश्ववाणी' निकालने का आयोजन किया है, उसकी प्रशंसा करता हूं—सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि हिन्दी में इतनी उच्चकोटि की कोई दूसरी मासिक पत्रिका नहीं है--आचार्य नरेन्द्रदेव

निस्संदेह 'विश्ववाणी' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है—पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी

'विश्ववाणी' का एक एक अङ्क संग्रह करने की वस्तु है

आज ही छै रुपये भेजकर ग्राहक बन जाइये

मैनेजर 'विश्ववाणी' कार्यालय, साउथ मलाका, इलाहाबाद

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

विश्ववाणी



संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल (जेल में)

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख्तर हुसेन रायपुरी

सितम्बर १९४३

इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त श्री जैनेन्द्रकुमार का धारावाहिक उपन्यास, अनेक सुप्रसिद्ध कवियों, कहानी-लेखकों और विचारकों की कवितायें, कहानियाँ और विचार-धारायें।

...कि मूल्य ६)

'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद

एक अङ्क का ।|=)

विषय-सूची

सितम्बर १९४२

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

'विश्ववाणी' पर चीन-भवन के डाइरेक्टर

प्रो० तान युन-शान की राय

MY IMPRESSIONS OF 'VISVA-VANI'

The editor of Visva-Vani has done me a great honour by asking me for my huumble opinion of the laudable magazine, the Visva-Vani, which is already very well-known to the whole country of India since its very inception although within such short time of less than two years and has been so will edited, nicely printed and properly managed. It is hardly necessary for me to say any thing about it And moreover, I am a man of not much opinion. I may simply give here a few of my impressions of this magazine—the Visva-Vani.

(1) So far as I can see, this magazine is purely a cultural and literary one. Its aim and object seem mainly to bring about a synthesis in different cultures thereby to promote intimate understanding and friendly relationship among different peoples both inside and outside India, Hindu-Muslim unity being the foremost in this direction. There is no political bickering in this magazine. It does not serve as a means of political or any other kind of propaganda. Such lofty standing and undertaking should be appreciated by all people.

(2) The special China Number, published some months ago, has gone a long way to place before the Hindi-knowing people who are generally found in the whole country of India, the various aspects of Chinese culture. Such kind of publication in Hindi will no doubt help to pave the way for a still better understanding between the two great nations, India and China, whose cultural relationship exists from time immemorial.

(3) The founder of this magazine, Pandit Sunder Lal, and the Chief Editor, Pandit Vishwambher Nath, and their co-workers have been able to keep a very high standard of the magazine. Their sublime effort should be appreciated and supported by all of us who are working in the cultural line for the good of humanity. I am sure that they will have every success in their task and the magazine itself will have a great and prosperous future!

Cheena-Bhavana,
Santiniketan,
16-8-1943.

Tan Yun-Shan

(अनुवाद पीछे)

'विश्ववाणी' पर चीन-भवन के डाइरेक्टर

प्रो० तान युन-शान की राय

'विश्ववाणी' सम्पादक के लिए एक संक्षिप्त सन्देश—

इस प्रशंसनीय पत्रिका के विषय में मेरी सम्मति की जिज्ञासा करके मेरा यथेष्ट सम्मान किया गया है। 'विश्ववाणी' पत्रिका ने अपने उत्कृष्ट सम्पादन, अपनी सुन्दर छपाई और अपने सुप्रबन्ध के कारण इन दो वर्षों के अन्दर भारत के प्रत्येक भाग में अच्छी ख्याति और प्रशंसा प्राप्त कर ली है। मुझे इस पत्रिका के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। और न मेरी सम्मति का कोई विशेष महत्व है। 'विश्ववाणी' के प्रति मैं अपने कतिपय विचार प्रकट करता हूँ।

(१) जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह केवल सांस्कृतिक और साहित्यिक पत्रिका है। विभिन्न संस्कृतियों का संश्लेषण (synthesis) इसका मुख उद्देश्य और विषय है। भारतीय सीमा के भीतर और बाहर नाना जातियों में पारस्परिक जानकारी और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का यह यथेष्ट संवर्धन कर रही है। इस दिशा में हिन्दू मुस्लिम ऐक्य संस्थापन इसकी विशेषता है। इस पत्रिका में राजनैतिक झगड़ों का स्थान नहीं। यह राजनैतिक अथवा किसी अन्य प्रकार के प्रचार का साधन नहीं। ऐसा महान उद्देश्य और ऐसा प्रयास सर्वथा प्रशंसनीय हैं।

(२) चीनी विशेषांक ने, जो कुछ महीने पहले प्रकाशित हुआ है, भारतवर्ष भर में फैले हुए हिन्दी-जानकारों के सम्मुख चीनी संस्कृति के भिन्न स्वरूपों का ज्ञान कराने में बहुत बड़ा भाग लिया है। निस्सन्देह हिन्दी का ऐसा प्रकाशन संसार के दो महान राष्ट्रों—चीन और भारत—में, जिनका सांस्कृतिक सम्बन्ध चिरकाल से चला आ रहा है, और भी अच्छे पारस्परिक समझौते के मार्ग-निर्देश में सहायक होगा।

(३) इस पत्रिका के संस्थापक पं० सुन्दरलाल, और इसके प्रधान सम्पादक पं० विश्वम्भरनाथ तथा इसके अन्य सहकारी इस पत्रिका के स्टैन्डर्ड को बराबर उच्च बनाये रखने में सफल हो सके हैं। मानवता के कल्याणार्थ सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करने वाले हम सभी लोगों को चाहिये कि इनके महान प्रयत्न को स्वीकार कर इन्हें प्रोत्साहित करें। मुझे विश्वास है कि इन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त होगी और पत्रिका का भविष्य श्रेयस्कर और उज्जवल होगा।

चीना-भवन
शान्तिनिकेतन
१६, ८, १९४३

(हस्ताक्षर) तान युन-शान

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ६	सितम्बर, १९४३	अङ्क ३, पूरे अङ्क ३३

साथी

"विनोद"

दुख जिनका सहचर साथी !
जिनके जीवन की सासें नित नव अभाव में चलतीं।
छाती की अहरह धड़कन जीवन की घड़ियां गिनतीं।
जीवन जिनका जीता शव, फिर भी जीते जाते जो—
उन जीवन के जीवन का बन जाना अनुचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

युग - युग से जिन हाथों ने मानवता को सिरजा है।
जिनके जीवन का प्रति पद, मन्दिर मसजिद गिरजा है।
होकर प्रकाश के वाहन, जो अन्ध-अमा में रोते—
उन टूटे हुए दिलों का बन जाना अनुचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

तन तोड़ काम करते जो, जिनकी क़िस्मत सोती है।
जो लाज मनुज के ढँकते, जिनकी लज्जा रोती है।
जो संस्कृति के जीवन-धन, संस्कृति से निपट अछूते—
उन श्रम के दीवानों का बन जाना अनुचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

९ अगस्त, ४३

पश्चिम में विवाह की संस्था का दिवाला

सर पी० एस० शिव स्वामी अय्यर



आजकल का ज़माना आज़ादी का ज़माना है। ज़िन्दगी के हर पहलू में और विचारों के हर क्षेत्र में इनसान आज़ादी चाहता है। यह दूसरी बात है कि आज़ादी इस सीमा तक न पहुँची हो जिससे बरट्रैंएड रसल जैसे स्वतन्त्र विचारक को सन्तोष हो किन्तु फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि बीती हुई शताब्दियों की अपेक्षा इस बीसवीं शताब्दी में विचार-स्वतन्त्रता में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। इस सम्बन्ध में मिसाल के तौर पर यौन-समस्या (Sex Problem) को ही लीजिये। पुस्तकों और सर्वप्रिय पत्रिकाओं में इस विषय पर जितनी आज़ादी से आजकल लिखा और पढ़ा जाता है पिछली शताब्दी में इसकी कोई कल्पना भी न कर सकता था। समाज में और प्लैटफ़ार्म से जिन विषयों की चरचा अभद्र समझी जाती थी उन पर आज बिला किसी रोकथाम के वादविवाद होते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज़ उपन्यासकार स्वर्गीय टामस हार्डी ने अपने एक उपन्यास की पात्री के लिये 'कामुक' शब्द व्यवहार किया था; इस पर उस ज़माने के स्वतन्त्र विचारक लेसली स्टिफ़ेन ने सम्पादक की हैसियत से हार्डी को यह सलाह दी थी कि वह 'कामुक' की जगह 'भावुक' शब्द का प्रयोग करें। आज यूरोप और अमरीका में 'सेक्स' सम्बन्धी साहित्य का दिन प्रतिदिन ढेर लगता जा रहा है। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल उन उपन्यासों और नाटकों से नहीं है जिनके कथानक की पार्श्वभूमि में १९वीं सदी का जर्जर सामाजिक सदाचार था बल्कि ऐसी पुस्तकों से भी है जिनमें सीधे सादे और साफ़ साफ़ शब्दों में सेक्स की समस्या का डाक्टरी नुक़्तेनज़र से नहीं बल्कि सामाजिक और सदाचार की दृष्टि से वर्णन किया गया है। १५-२० वर्ष हुये जब न्यायाधीश बेन लिण्डसे की पुस्तक 'आधुनिक युवक का विद्रोह' (Revolt of Modern Youth) से सारे संसार में तहलका मच गया था। यदि इस पुस्तक का लेखक कोई उपन्यासकार या पत्रकार होता तो इससे इतना हंगामा न उठता। किन्तु इस पुस्तक का लेखक एक न्यायाधीश था। उसकी सचाई पर ज़रा भी अविश्वास नहीं किया जा सकता था। उसे युवक मुजरिमों की अदालत के न्यायाधीश की हैसियत से अमरीका के युवकों के अवलोकन का ज़बरदस्त साधन मिला था। पुस्तक से तहलका मच गया और पुरानी पीढ़ी के लोगों के दिल दहल गये। पुस्तक के विरुद्ध केवल एक ही आलोचना की गई कि डेनवर शहर की अदालत के तजरुबे से हम सारे अमरीका के युवकों के बारे में राय नहीं बना सकते; हालांकि लिण्डसे ने अपनी पुस्तक में साफ़ साफ़ लिखा है कि डेनवर अमरीका के दूसरे शहरों की ही तरह है और वहां के अमरीकन युवक भी वैसे ही हैं जैसे दूसरे शहरों के। इसके बाद एक दूसरी पुस्तक लन्दन

से प्रकाशित हुई जिसका नाम है 'विवाह का दिवाला' (The Bankruptcy of Marriage)। पुस्तक के लेखक कालवर्टन ने न सिर्फ़ अमरीका में बल्कि यूरोप में भी इस समस्या की जो कैफ़ियत है उसकी ओर आग्रहपूर्वक पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। विशेष स्थितियों में तलाक़ का अधिकार होते हुये भी आजीवन एक ही पत्नी के साथ विवाहित जीवन बिताना यह एक-पत्नी-विवाह है। कालवर्टन के अनुसार विवाह की इस प्रथा का दिवाला निकलता जा रहा है। इस संस्था का एतबार उठ चुका है और दिवालियेपन की कार्रवाई शुरू हो गई है। यह सही है कि कारोबार अभी पूरी तरह बन्द नहीं हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि अनेकों अमरीकन विवाह की प्रतिज्ञा की पवित्रता और उसकी उपयोगिता पर बौद्धिक विश्वास रखते हैं और सामाजिक संस्थाओं के प्रति दक़ियानूसी भावना रखने वाले अंग्रेज़ों की संख्या भी कम नहीं है फिर भी इस बात के सुबूत तीव्र गति से इकट्ठा होते जा रहे हैं कि पश्चिमीय युवकों में सदाचार के बन्धन ख़त्म हो कर वेग के साथ टूट रहे हैं। कई वर्ष हुये इंगलिस्तान के पादरियों की एक कान्फ्रेंस लैम्बेथ शहर में हुई थी उसमें अंग्रेज़ युवकों के भीषण दुराचार का रोना रोया गया था। मिसेज़ ग्रण्डी ने अपनी एक पुस्तक में सामाजिक संस्थाओं के प्रति अपराध करने वालों की अत्यन्त तीव्र शब्दों में भर्त्सना की है किन्तु नये युग के दावेदार अपनी पुस्तकों में विवाह की संस्था और सदाचार की खिल्ली उड़ाने में कुछ कम कड़े शब्दों का प्रयोग नहीं करते। दोनों पक्षों के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन में दलील कम देते हैं, दूसरे पर कटु आक्षेप ज़्यादा करते हैं। जो पुरातन के समर्थक हैं वे कहते हैं कि आधुनिक 'सेक्स' के भावों से दबा जा रहा है और जो आधुनिक के उपासक हैं वे कहते हैं कि १९ वीं शताब्दी तो 'सेक्स' के भार से लदी हुई थी। इनकी राय में इन्द्रियनिग्रह और कामाचरण पर प्रतिबन्ध इस बात के द्योतक हैं कि कामभावना पर क़ाबू पाने के लिये ज़मीन आसमान एक किया जा रहा है। सेक्स की आज़ादी और सेक्स का आग्रह सेक्स के उससे अधिक प्रतीक नहीं जितना सेक्स का निग्रह। इनकी राय में इस निग्रह की भावना ने ही कला को कुचलकर रख दिया, स्त्रियों को ग़ुलाम बना दिया और परदे जैसी प्रथा को प्रोत्साहन दिया। पश्चिमीय युवकों में सदाचार के ऐसे स्थापित नियमों के प्रति विद्रोह की भावना उठना स्वाभाविक ही है। हम इस पर ग़ौर करना चाहेंगे कि आख़िर इस नैतिक क्रान्ति के कारण क्या हैं। कालवर्टन की राय में गत महायुद्ध के बमों के धड़ाके में और बातों के साथ साथ यूरोप के सदाचार की भी धज्जियाँ उड़ गईं; किन्तु वह कहता है कि महायुद्ध केवल नैमित्तिक कारण था, निश्चयात्मक नहीं। विशृङ्खलता की क्रिया पहले ही से शुरू हो चुकी थी। महायुद्ध ने केवल उसे जल्दी से पूरा कर दिया। वास्तव में क्रान्ति के बीज तो पहले ही बोये जा चुके थे। जो परिस्थितियाँ इस क्रान्ति में सहायक हुईं वे संक्षेप में ये हैं—स्त्रियों की आर्थिक दासता से मुक्ति, उनका राजनैतिक उद्धार, स्त्रियों और पुरुषों के लिये सदाचार के दो तरह के नियमों के विरुद्ध आन्दोलन, युवक-युवतियों की सहशिक्षा, मोटरों में दूर दूर के सैर सपाटे, युवक युवतियों के आपस में मिलने जुलने के हर तरह के सामाजिक प्रतिबन्धों का टूट जाना, गर्भ-निरोध और काण्ट्रासेप्टिव्ज़ का पूरा पूरा ज्ञान होना, सदाचार के नैतिक अनुशासन का समाप्त होना, मूढ़ विश्वासों की जगह वैज्ञानिक विचार भावना की प्रधानता, आदि, आदि। यदि १९ वीं शताब्दी के सदाचार पर यह इलज़ाम है कि वह कठोरता के साथ इन्द्रिय निग्रह और काम-प्रवृत्तियों के कुचलने पर विश्वास करता था तो आधुनिक सदाचार पर यह इलज़ाम है कि वह तूफ़ानी बाढ़ में फंसा हुआ बेबस बहा चला जा रहा है। कामाचरण की स्वतन्त्रता चाहे कठोर इन्द्रिय निग्रह का स्वाभाविक परिणाम हो किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह उच्छृङ्खलता और 'स्वतन्त्र प्रेम' का रूप ले।

हम कालवर्टन की इस राय को मानने के लिये तय्यार नहीं कि यूरोप में एक-पत्नी-विवाह के रिवाज

को सामन्तशाही आर्थिक प्रणाली के ख़ात्मे और उद्योगवाद की उन्नति के साथ साथ प्रोत्साहन मिला। विवाहित सदाचार और पति पत्नी की आजीवन एक दूसरे के प्रति भक्ति का आदर्श भारत में व्यापारिक और औद्योगिक भावना के पैदा होने से बहुत पहले मौजूद था। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्री और पुरुषों के लिये सदाचार के अलग अलग और दोहरे नियमों का विकास स्त्री पर पुरुषों के आधिपत्य और पैतृक उत्तराधिकार में केवल लड़कों का ही हक़ है इस सिद्धान्त के कारण हुआ। 'पत्नी पति की जायदाद है' इस विचार का तो निश्चय ही ख़ात्मा होना था। यहां इस बात की चर्चा करना नामुनासिब न होगा कि सन् १७९७ में स्मिथफ़ील्ड शहर के बाज़ार में औरतें बेची और ख़रीदी जाती थीं। उनके पति उनके गले में रस्सी बांधकर उन्हें बाज़ार में ले जाते थे और पशुओं के साथ साथ उन्हें बेच देते थे। पहले उनकी क़ीमत आधी गिन्नी थी जो सन् १७९७ में बढ़कर साढ़े तीन गिन्नी हो गई। लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले इंगलिस्तान में यह कैफ़ियत थी। कालवर्टन इस बात को साबित करने की कोशिश करता है कि सदाचार के नियम हर समाज और हर परिस्थितियों में एक से नहीं होते और इसीलिये कठोरता के साथ उनका फ़ैसला करना अनुचित है। किन्तु कालवर्टन इस बात को भूल जाता है कि सभ्य संसार में सदाचार के जो नियम प्रचलित और जारी रहे हैं उनका विकास हज़ारों वर्ष के अनुभव के बाद हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विवाह के क़ानून की सख़्ती और उसके यकतर्फ़ापन में हमें आवश्यक सुधार करने चाहिये। हमें आदर्श और व्यवहार में समानता रखनी चाहिये। किन्तु कालवर्टन की राय है कि हमें अपने आदर्शों को अपने व्यवहार के अनुकूल बनाना चाहिये। हमारी सभ्यताओं का इतिहास कालवर्टन की इस राय का समर्थन न हींकरता। हज़ारों वर्ष से जिस संस्था की उपयोगिता का प्रमाण हमारे सामने हैं उसे नष्ट करने में ही कल्याण देखना कुछ ऐसी बात है जो हमारी समझ में नहीं आती। यदि यही होता तो हज़ारों वर्ष पहले विवाह की यह संस्था परिस्थितियों के आघात से चूर चूर हो गई होती। कालवर्टन स्त्री पुरुषों के सेक्स सम्बन्ध में सोवियत् रूस का क़ायल है। सोवियत् रूस में और पश्चिम के स्वतन्त्र विचारकों में इस भावना का प्राधान्य है कि सेक्स सम्बन्ध को व्यवहार की ऐसी कोटि में रखा जाय जिसका सम्बन्ध सदाचार से न हो। कामाचरण को नैतिकता और अनैतिकता से परे समझा जाय। यह बिलकुल एक निजी बात समझी जाय जिसका सम्बन्ध व्यक्ति से हो समाज से न हो। विवाह की संस्था के नष्ट कर देने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट नैतिक आचार इस संस्था के मिटने के साथ साथ नष्ट हो जायँगे, परिवार की इकाइयाँ टूट जायँगी, सम्पत्ति की भावना नष्ट हो जायगी और इसके साथ साथ सारा सामाजिक ढांचा बदल जायगा। सोवियत् रूस में इसी आधार पर विकास हो रहा है। किन्तु क्या यह आवश्यक और उपयुक्त है ? 'हां' में इसका जवाब देना बहुत मुश्किल है। स्त्री पुरुषों के आपसी सम्बन्ध को नये सांचे में ढालने की दिशा में बहुत सी अबाध शक्तियां काम कर रही हैं। स्त्रियों की शिक्षा, उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता, उन्हें वोट का अधिकार और बच्चों पर उनके अधिकार का विरोध करना मूर्खता की चरम सीमा है। स्त्री के लिये यह कोई ज़रूरी नहीं कि वह राजनैतिक अधिकार पाकर विवाह की प्रतिज्ञा को न माने।

हम भारतीयों के दिल में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नैतिक क्रान्ति की जो लहरें पश्चिम को बहाये ले जा रही हैं क्या हम विचारों की उस बाढ़ से अपने आपको सुरक्षित पाते हैं ? बहुत से लोग कहेंगे कि हमारे इस देश के ज़र्रे ज़र्रे में सदाचार और नैतिकता कूट कूट कर भरी हुई है और हमें ऐसे ख़तरे से डरने की ज़रूरत नहीं। किन्तु क्या यह सच नहीं है कि सदाचार की यही भावना प्यूरिटन इङ्गलैण्ड और अमरीका में भी गहराई के साथ जड़ पकड़े हुई थी ? फिर भी पश्चिम का युवक कामा-

चरण के प्रबल प्रवाह में अबाध गति से बहा जा रहा है। आज भारत में जो नई सामाजिक शक्तियां काम कर रही हैं वे इस बेड़े को किस किनारे जाकर लगायेंगी, इसे कौन कह सकता है। इस सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना बड़ी हिम्मत का काम है। समाज की संहृति और संगठन में जिसे भी दिलचस्पी हो उसे गम्भीरता और ईमानदारी के साथ इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये।

चीन और प्रशान्त युद्ध

प्रो० तान युन-शान

क्या सम्पूर्ण युद्ध-क्षेत्र में प्रशान्त मोर्चा वास्तविक में यूरोपीय मोर्चे से कम महत्व रखता है?

अच्छा, तो हम लोग जापान और जर्मनी की वास्तविक स्थिति पर ही ग़ौर करें और इसके साथ ही प्रशान्त महासागर और यूरोप के मोर्चों पर भी। शारीरिक और मानसिक तौर से जर्मन भले ही जापानियों की अपेक्षा मज़बूत तथा शक्तिशाली हों लेकिन जापानी जर्मनों की अपेक्षा कहीं अधिक धूर्त और नृशंस हैं। नाज़ी उग्र और प्रचंड हो सकते हैं लेकिन सैनिकवादी जापानी उनसे भी अधिक नृशंस और अनिष्टकारी हैं। यूरोप में धुरी फौज मज़बूत और निष्ठुर हो सकती है परन्तु जापानी सैनिक उससे अधिक दुराग्रही और आतंककारी हैं। अगर जर्मन अभेद हैं तो जापानी दुर्दमनीय। किसी मज़बूत और शक्तिशाली आदमी से उलझना उतना कठिन नहीं होता है अगर उलझने वाला भी काफ़ी शक्तिशाली और मज़बूत हो। लेकिन धूर्त और नृशंस आदमी से उलझना अत्यन्त कठिन है। उग्र और उन्मत्त आदमी की अपेक्षा नृशंस और अनिष्टकारी आदमी से लड़ना आसान नहीं है। कठोर और निष्ठुर सिपाहियों की अपेक्षा दुर्दमनीय और आतंककारी सिपाहियों को हराना अधिक कठिन है। इसलिए जर्मनी से बहुत अधिक डरने और जापान को नगण्य समझने का कोई कारण नहीं है। रण-कौशल की दृष्टि से अगर देखा जाय कि जापान और धुरी राष्ट्रों की अपेक्षा कमज़ोर है तो पहले इसे (जापान को) ही समाप्त करना चाहिए। चीन के पुराने युद्ध-कौशल के अनुसार अगर हम लोगों को दो दुश्मनों से एक साथ ही लड़ना है तो पहले कमज़ोर दुश्मन पर चढ़ाई करनी चाहिए और मज़बूत से तरह देने या बचने की कोशिश होनी चाहिए। क्योंकि अगर कमज़ोर दुश्मन का ख़ात्मा हो जाता है तो मज़बूत दुश्मन स्वयं कमज़ोर पड़ जायगा। और तब हम लोग अपनी सभी शक्तियों को मज़बूत दुश्मन के विरुद्ध केन्द्रित कर निश्चय ही विजय प्राप्त कर सकते हैं। आर्थिक लड़ाई के लिहाज़ से हम लोग नाज़ी जर्मनी को थोड़े दिनों के लिए वर्तमान स्थिति में छोड़ सकते हैं लेकिन जापान की ओर से एक क्षण के लिए भी मुंह मोड़ना ख़तरा बुलाना है। क्योंकि नाज़ियों की प्राकृतिक सम्पत्ति और जन शक्ति दोनों ही अब सीमित हो गई हैं, वे अब अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकते। वर्तमान स्थिति में जितने ही लम्बे अरसे तक उन्हें हम छोड़ सकें उनकी उतनी ही शक्ति क्षीण होती जायगी। केवल हवाई लड़ाई के द्वारा भी उनका दिवाला निकाला जा सकता है। पर अगर हम लोग जापानियों को वर्तमान स्थिति में छोड़ दें तो नतीजा ठीक उलटा होगा। जापान के क़ब्ज़े में चीन की अधिकृत भूमि के अलावे प्रशान्त महासागर का एक बड़ा समृद्ध और विस्तृत क्षेत्र भी है। उसकी प्राकृतिक सम्पत्ति तथा जन-शक्ति दोनों ही अपरिमित हैं। अगर उसे इस जन-शक्ति को काम में लगाने का और प्राकृतिक सम्पत्ति को उन्नति करने का अवसर

मिल गया तो उसकी शक्ति बढ़कर संयुक्त राष्ट्रों की सम्मलित शक्ति की सीमा को पार कर जायगी। उसने अपने अधिकृत देशों का शोषण भी प्रारम्भ कर दिया है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सैन्य-सचिव मिस्टर स्टीमसन ने कुछ दिन पहले कहा था कि जापान डच इस्ट इंडीज के तेल कूपों से भी लाभ उठा रहा है। चीन के वैदेशिक विभाग के एक व्यक्ति ने हाल में ही बताया था कि जापानी हर वर्ष क़रीब २,५००,००० टन चावल चीन, इंडो चाइना और श्याम से बाहर ले जा रहे हैं। लोग चीन से १,७००,००० टन लोहा, तेल टीन और बलफ्रेम नामक धातु भी बाहर भेज रहे हैं। मैडम चांग काई-शेक ने कनाडा की व्यवस्थापिका सभा के सम्मलित अधिवेशन के सम्मुख भाषण देते हुए बताया है कि गत वर्ष (१९४२) जापान ने चीन की महान दीवार के पीछे के अधिकृत चीनी भूभाग से ३,२००,००० टन और मंचूरिया से २,८००,००० टन भिन्न भिन्न तरह के कच्चे मालों का निर्यात किया है। इसके अलावे उसने महान दीवार के पीछे के अधिकृत चीनी भूभाग से क़रीब २,३००,००० टन कचा माल प्रति मास मंचूरिया और एशिया के अपने अधिकृत दूसरे देशों में भेजा है ताकि उन देशों में अत्यन्त ही बड़े पैमाने पर उसके उद्योग-धन्धे चालू किए जा सकें। उपरोक्त लिखित कुल माल का टोटल १००,०००,००० टन वार्षिक होता है। इसमें वह खाद्य पदार्थ सम्मलित नहीं है जो जापानी सिपाहियों पर जो चीन में हैं, ख़र्च होता है। इससे ही अनुमान किया जा सकता है कि जापान की स्थिति प्रशान्त महासागर में कितनी मज़बूत हो जायगी अगर उसे इसी प्रकार उन देशों का और अधिक शोषण करने दिया गया। दूसरी बात यह है कि अगर वर्तमान परिस्थिति में हम लोग अपनी शक्ति को यूरोप पर चढ़ाई कर हिटलर को हराने की ओर केन्द्रित करें तो यह एकदम निश्चित नहीं है कि थोड़े समय में ही उसे हम लोग परास्त कर देंगे। लेकिन अगर इस परिस्थिति में हम लोग जापान पर धावा कर दें तो बिना अधिक कठिनाई के उसे निश्चय ही हरा देंगे। जापान के ख़ात्मा होने के बाद हम लोग केवल पूरी तरह से घेरा डाल कर ही जर्मनी को अस्त्र डालने के लिए मजबूर कर सकते हैं और उस समय हिटलर स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हो जायगा। लेकिन जर्मनी को हटाने के बाद हम लोग घेरा डालकर जापान को नहीं हरा सकते क्योंकि वह अपने अधिकृत देशों से फ़ायदा उठाकर अपनी शक्ति को असीम कर लेगा। इस तरह हम मिस्टर चर्चिल से ठीक विपरीत परिणाम पर पहुंचते हैं। हम तो इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि "जर्मनी की हार से जापान की हार कभी नहीं हो सकती बल्कि जापान की पराजय निश्चयात्मक रूप से जर्मनी को हराने में सहायक होगी तथा द्रुतगामीभी।"

अब हम लोग इस बात पर विचार करें कि इस लड़ाई में किस राष्ट्र को अधिक कठिनाइयों और मुसीबतों के बीच से गुज़रना पड़ा है और किसे मुक्त करने के लिए तात्कालिक मदद की सबसे अधिक ज़रूरत है। हम लोग पक्षपात रहित होकर निःसंकोच कह सकते हैं कि इस लड़ाई में चीन के समान कोई भी राष्ट्र मुसीबतों के बीच से नहीं गुज़रा है और इसलिये उसे ही सबसे अधिक तात्कालिक सहायता देकर मुक्त करने की आवश्यकता है। मिस्टर चर्चिल ने बार-बार उदारतापूर्वक रूस, उसकी जनता, उसकी शक्ति और उसके नेता की बड़ाई की है। सचमुच में मो० स्तालिन का योग्य नेतृत्व, लाल सेना की दृढ़ता और वीरता तथा रूसी जनता की सहिष्णुता और अध्यवसाय क़ाबिले तारीफ़ हैं। लेकिन हम लोगों को यह न भूलना चाहिए कि मो० स्तालिन एक ऐसे राष्ट्र का नेतृत्व कर रहें हैं जिसकी क्रान्ति उसके स्वर्गीय नेता लेनिन के हाथों ही पूर्ण हो चुकी थी जबकि चीन के जेनरलिस्मो एक ऐसे राष्ट्र का नेतृत्व कर रहें हैं जिसकी क्रान्ति उसके स्वर्गीय नेता डा० सन यात-सेन के हाथों पूर्ण नहीं हो सकी थी। इसके अतिरिक्त सोवियत् रूस लड़ाई में प्रवेश करने के पहले तक तीन बार रचनात्मक कार्य की पंच वर्षीय योजना पूरी कर चुका था जब कि चीन ने लड़ाई के पहले रचनात्मक कार्य प्रारम्भ ही किया था। हम

लोगों को यह भी याद रखना चाहिए कि रूस लड़ाई के मैदान में तब आया जब तक कि मित्र राष्ट्र जर्मनी से दो वर्षों तक लड़ चुके थे। परन्तु मित्र राष्ट्रों के प्रशान्त महासागर की लड़ाई में सम्मिलित होने के पहले तक चीन अकेला पाँच वर्षों तक जापान से लड़ चुका था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सोवियत् रूस ने लड़ाई के दो वर्ष ही पूर्ण किये हैं जब कि चीन सातवें वर्ष में पदार्पण कर रहा है। साथ-साथ रूस अपने शत्रुओं से आधुनिक काल के सभी वैज्ञानिक साधनों, साज सामानों—काफ़ी टैंक, वायुयान, मशीनगन आदि—से लड़ रहा है। लेकिन चीन के सैनिक तथा वहाँ की जनता को उपरोक्त लिखित साज सामानों की एकदम सहूलियत नहीं है केवल वे अपने रक्त मांस और प्रबल इच्छा के साथ दृढ़ संकल्प को लेकर लड़ रहे हैं। हम लोग प्रति दिन समाचार पत्रों में सहायता देने,—ख़ासकर चीन को, सहायता देने के बारे में देखते हैं। लेकिन चीन को सचमुच में मित्र राष्ट्रों से कितनी सहायता मिली है? यहाँ पर मैं पार्लियामेन्टरी मिशन के, जो कुछ महीने पहले चीन में आया था, एक सदस्य—लार्ड हेविस्ट—के वक्तव्य को उद्धृत करता हूँ जो उन्होंने लार्ड सभा में १६, मार्च १९४३ ई० को दिया था—"इस लड़ाई में चीन के कम से कम ५० लाख सैनिक खेत आए हैं। अमेरिका ने उन्हें १० करोड़ पौंड क़र्ज़ दिया है जब कि हम लोगों ने केवल ५ करोड़ पौंड ही। अमेरिका ने दी हुई रक़म पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा है जब कि हम लोगों ने ४ करोड़ पौंड पर प्रतिबन्ध डाल दिया है। मैं सरकार से बड़े ज़ोरों में अपील करता हूं कि वह सभी प्रतिबन्धों को तुरन्त हटा ले। जितनी रक़म चीन को क़र्ज़ में दी गई है वह वर्तमान लड़ाई के तीन दिनों के ख़र्चे के लिए भी काफ़ी नहीं है।" यहाँ मैं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के उधार-पट्टा क़ानून के व्यवस्थापक मिस्टर एडवर्ड स्टेटीनस के मित्र राष्ट्रों को उधार-पट्टा के रूप में दी हुई सहायता से सम्बन्ध रखने वाले कुछ वक्तव्यों को भी उद्धृत करता हूँ—

(१) वाशिंगटन, ११ मार्च, १९४३

उधार-पट्टा क़ानून के अनुसार तीन महीने के अन्दर निम्नलिखित क्षेत्रों में दी गई रक़म यों है :—

संयुक्त राज्य	१,१०७,५००,०००	स्टर्लिंग
रूस	४५६,५००,०००	"
आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, मध्य पूर्व और अफ़्रिका	३९३,२५०,०००	"
चीन और भारत	३३६,०००,०००	"
दूसरे क्षेत्रों में	११४,७०५,०००	"

(२) वाशिंगटन, १ मई, १९४३

१९४१ में दो तिहाई से अधिक उधार-पट्टे के रूप में जहाज़ से भेजे गए मालों का ब्यौरा यह है—

संयुक्त राज्य	३०%
रूस	३१%
अफ़्रीका और मध्य पूर्व	१६%
भारतसहित सुदूर पूर्व	१४%
दूसरे क्षेत्रों में	१०%

(३) वाशिंगटन, २ मई, १९४३

हम लोगों ने दूसरे लड़ाई के क्षेत्रों की अपेक्षा रूस को उधार-पट्टा क़ानून के अनुसार सबसे अधिक हवाई जहाज़, टैंक और मोटर गाड़ियाँ भेजी हैं—४५ फ़ी सदी वायुयान, ४४ फ़ी सदी टैंक और ४५ फ़ी सदी मोटर गाड़ियाँ।

(४) वाशिंगटन, १९ जून, १९४३

रूस को सामान इतनी जल्दी दिया जा रहा है कि अब तक कुल २१,२३०,०००,००० डॉलर का माल वहाँ पहुंच चुका है। यह उधार-पट्टा क़ानून से सभी जगह भेजे गए कुल माल का २६ फ़ी सदी है। इतने मूल्य का माल थोड़े ही समय में वहाँ भेजा गया है क्योंकि १९४१ के अन्तिम भाग तक रूस ने कुछ भी लेना प्रारम्भ नहीं किया था।

ये सब बातें साफ़ ज़ाहिर करती हैं कि कैसे और किन साधनों से चीन निर्दय जापानी आक्रमणकारियों से छै वर्ष तक लड़ता रहा है। क्या वर्तमान लड़ाई में चीन की कार्यवाही या उसकी वीरता रूस से या किसी और संयुक्त राष्ट्रों से कम है? चीन और रूस के बीच एक ही अन्तर है; वह यह है कि जब चीन

को मित्र राष्ट्रों से कुछ सहायता मिलती है—कितनी भी वह कम क्यों न हो—वह सदा इसके लिए कृतज्ञ रहा है और बार बार सार्वजनिक तौर से कृतज्ञता-ज्ञापन करता है परन्तु, जैसा कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के मास्को स्थित राजदूत एडमिरल स्टेन्डली ने कहा है, रूस किसी को यह जानने भी नहीं देता है कि उसे कितनी सहायता मित्र राष्ट्रों से मिली है! यही चीनी जाति की ख़ूबी है। चीन के पुराने दार्शनिकों ने शिक्षा दी है—"तुम्हें दूसरों से जब जो चीज़ प्राप्त होती है उसके लिए सदा कृतज्ञ रहो और जो कुछ तुमने दूसरों को दिया है उसका कभी ज़िक्र भी मत करो।" दूसरा अन्तर सोवियत् रूस और चीन के बीच यह है कि जितने ही भयंकर रूप में रूस लड़ रहा है उतनी ही ज़ोरों से वह यूरोप में दूसरे मोर्चे की माँग भी कर रहा है। परन्तु चीन हर समय अपनी तईं ही लड़ाई के मैदान में जुटा हुआ है और मित्र राष्ट्रों से दूसरे मोर्चे की माँग नहीं करता है। यह बात चीनी मनोवृत्ति का परिचायक है। चीन के पुराने ऋषियों का कथन है "अपने पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति ही बड़ा है।"

पर, आज छः वर्षों की अनवरत लड़ाई के बाद चीन की परिस्थिति क्या है? ख़राब नहीं और उतनी ख़राब तो नहीं है जितनी कि बाहरी दुनिया सोचती है। चीन के पास हवाई जहाज़, टैंक और बन्दूक़ की कमी है अन्यथा और सब बातें एकदम ठीक हैं। मैं नहीं जान सका हूँ कि क्यों हमारे उदार मित्रों ने अब तक चीन की वास्तविक स्थिति को काफ़ी तौर पर नहीं समझा है। पूज्य गान्धी जी से व्यक्ति ने भी अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के अगस्त, १९४३ वाले अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा था—'हम भारत से अंग्रेज़ों को तुरन्त हट जाने के लिए इसलिए कहते हैं कि हम चीन को बचा सकें। अगर हम छः मास की देरी कर जायेंगे तो चीन जापान द्वारा हड़प लिया जायगा।' हम गान्धी जी के चीन के प्रति प्रेम के लिए कृतज्ञ हैं परन्तु उनके चीन सम्बन्धी जानकारी के लिए नहीं। तब से आज तक दस मास बीत गए परन्तु चीन बना ही हुआ है बल्कि इस अरसे में उसने बारबार जापानियों को चंकियांग प्रान्त और यांगसी नदी की घाटी में हराया है। मैं अपने उदार मित्रों—ख़ासकर भारतीय भाइयों—से बिना किसी शिकायत के आसानी से कह सकता हूँ कि चीन सुरक्षित है और सदा सुरक्षित रहेगा। यह बात ठीक है कि बिना काफ़ी हवाई जहाज़, टैंक, बन्दूक़ के मिले चीन जापानियों को पूरी तरह अपने देश से बाहर नहीं निकाल सकता है परन्तु मौजूदा हालत में भी वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के एशियाई नौ सेना के भूतपूर्व प्रधान सेनापति रीयर एडमिरल यारनेल ने इमीग्रेशन कमिटी के प्रतिनिधि सभा को हाल ही में बताया था कि "इस बात की पूरी सम्भावना है कि अगर चीन की राष्ट्रीय सरकार को जल्दी काफ़ी सहायता नहीं दी गई तो वह ख़तम हो जायगी।' रीयर एडमिरल यारनेल का यह वक्तव्य उस समय का है जब कि जापानी सैनिक यांगसी नदी की घाटी में आगे बढ़ रहे थे। परन्तु यह भी ग़लत ही सिद्ध हुआ। शायद इस तरह का वक्तव्य देने में रीयर एडमीरल का यह आशय रहा हो कि प्रतिनिधि-सभा पर चीन को सहायता देने के सम्बन्ध में अधिक प्रभाव पड़ेगा। लेकिन हम लोग लड़ाई को सफलता-पूर्वक जीतने के लिए सहायता चाहते हैं, मित्र राष्ट्रों से दया या भिक्षा नहीं चाहते। हम लोग जापानियों को—जो सब मित्र राष्ट्रों का दुश्मन है—हराने के लिए सहायता चाहते हैं; दान स्वरूप नहीं। हम लोगों की मित्र राष्ट्रों से हर प्रकार की सुविधा और सहायता पाने का हक़ है क्योंकि हम लोग भी उन्हें लड़ाई में सहायता और सुविधा प्रदान कर रहे हैं। इस बात पर ध्यान दीजिये कि अगर चीन जापान से नहीं लड़ता और इतने दिनों तक उसे लड़ाई में नहीं फँसाये रखता तो आज दुनिया और मित्र राष्ट्रों की क्या हालत हुई होती? जब जापान ने छः महीने के अन्दर ही महासागर के सब नाकों को दख़ल कर लिया था तो इस विजय के गर्व ने भारत और

आस्ट्रेलिया विजय करने के उसके मन्सूबे को भी काफ़ी बढ़ा दिया था। परन्तु चीन ने उसे चांगसा के निकट परास्त कर उनके मनसूबे पर रोक लगा दी। कुछ ही दिन पहले जापान धोखेबाज़ी से साइबेरिया पर चढ़ बैठना चाहता था परन्तु उसकी इस इच्छा को भी चीन ने यांगसी की घाटी में उसे हराकर धूल में मिला दिया। जापानियों ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है कि बिना चीन के साथ निपटारा किए उसके लिए किसी दिशा में और अधिक बढ़ना कठिन है। इसलिए ही बेशर्मी के साथ कई बार उसने अकेले चीन से सन्धि का प्रस्ताव किया। पर चीन ने उस प्रस्ताव की ओर नज़र उठाकर भी नहीं देखा। जापान को चीन पर चढ़ाई करने के पाप के लिए निश्चय ही पश्चाताप होता होगा। पर, फिर क्यों चीन जापान के साथ तन-मन-धन लगाकर लड़ रहा है ? क्योंकि वह तो अपने स्वार्थ की लड़ाई नहीं लड़ रहा है। वह अपने शत्रुओं को केवल अपने स्वार्थ के लिए ही नहीं बल्कि अपने मित्र राष्ट्रों की भलाई के लिए भी हराना चाहता है। हमारे मित्र राष्ट्र बराबर अपने यहाँ के हज़ारों विमानों की बात बोला करते हैं परन्तु चीन चाहता है काश वह कई सौ हवाई जहाज़ों की ही बात कर सकता ! चीन में आए ब्रिटिश पार्लियामेंटरी मिशन के एक सदस्य लार्ड ऐलवन ने लार्ड सभा में कहा था कि "चीन स्थित अमेरिका की हवाई शक्ति में कभी भी १२ मध्यम बम वर्षक विमानों, ८० लड़ाकू विमानों और २ गश्ती कार्रवाई करने वाले विमानों से अधिक नहीं था। इतनी ही शक्ति ने मिशन के वहाँ से रवाना होने के समय तक निश्चयात्मक रूप से २९६ जापानी विमानों को मार गिराया। सम्भवतः २१६ और अधिक वायुयानों को नष्ट किया एवं बहुत विमानों को गहरी क्षति पहुँचाई। इसके अलावे जापानी नौ सेना और दूसरी दूसरी लड़ाई की चीज़ों को भी काफ़ी नुक़सान पहुँचाया। इसमें अमेरिका के केवल ३५ ही विमान नष्ट हुए। एक बड़ी हवाई शक्ति जापान को अपार क्षति पहुंचा सकती है और इससे बाध्य होकर उसे अपने लड़ाकू विमानों को दूसरी ओर लगाना पड़ा। इसके फलस्वरूप जापान के याता-यात के मार्ग में एक बड़ी बाधा होती और उसके दक्षिणी प्रशान्त महासागर की हवाई कारवाइयों पर संगीन धक्का पहुंचता। अगर संयुक्तराष्ट्र अमेरिका काफ़ी संख्या में मशीनें नहीं दे सकता है तो ब्रिटिश सरकार को ही मशीन देने की बात पर विचार करना चाहिए।" सचमुच में अगर चीन के पास ५०० सौ हवाई जहाज़ होते तो वह युद्ध की हालत को एक दूसरे ही रूप में बदल दिए होता। अगर चीन को ३ से ५ हज़ार तक हवाई जहाज़ मिल जाते तो वह जापानी सैनिकों को चीन की सीमा से बाहर खदेड़ देता। अगर उसे दस हज़ार वायुयान दे दिये जायँ तो वह आक्रमणकारी सैनिकवादी जापानियों को उनके अपने टापू जापान से भी निकाल बाहर कर देगा। हमें दक्षिणी प्रशान्त महासागर में जापानियों को एक टापू से दूसरे टापू में हराते फिरने की कोई ज़रूरत नहीं है। जैसा कि प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट ने कहा है, इस प्रकार करने में सैकड़ों वर्ष लग जायँगे। हम लोगों को जापान को केवल हाथ ही नहीं काटना है बल्कि उसकी छाती भी रौंदनी है। जापानियों से लड़ने के लिए चीन को ही अड्डा बनाकर सीधे जापान द्वीप समूह पर आक्रमण करना होगा। इसलिए बर्मा को पुनः अपने क़ब्ज़े में करने और चीन को अधिक संख्या में हवाई जहाज़ देने में तनिक भी देरी नहीं करनी चाहिए।

इस लड़ाई के प्रति चीन का क्या रुख़ है तथा लड़ाई के बाद दुनिया के प्रति उसका क्या रुख़ रहेगा, बिना इसे बतलाए यह निबन्ध अधूरा ही रह जायगा। शुरू से ही चीन बचाव की लड़ाई लड़ रहा है। यह बचाव की लड़ाई केवल वह अपनी भूमिगत अखंडता और स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए नहीं बल्कि मानवी सभ्यता और न्याय, सभी जातियों की स्वतन्त्रता और समानता तथा दुनिया की शान्ति, भाईपने और आज़ादी की रक्षा करने के लिए लड़ रहा है। इन्हीं महान उद्देश्यों को लेकर

चीन पहले तो अकेला ही फिर मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर बिना किसी दुराव के दिल खोलकर लड़ रहा है। जब चीन ने जर्मनी और इटली के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की उस समय बहुत से दोस्तों ने मुझसे पूछा कि चीन को ऐसा करने की कौन सी ज़रूरत थी, जबकि रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की है ! मैंने अपने दोस्तों को जवाब दिया था कि चीन की मनोवृत्ति और अभिप्राय रूस की मनोवृत्ति और अभिप्राय से सर्वथा भिन्न हैं। चीन ने मित्र राष्ट्रों के साथ बिना किसी दुराव के गठबन्धन किया है। अपने मित्र राष्ट्रों के लिए चीन ने जर्मनी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है—के साथ उसका बहुत ही अच्छा सम्बन्ध रहा था और जिससे उसे जापानी आक्रमण के प्रथम वर्ष में काफ़ी सहायता मिली थी। जब जापान ने बर्मा पर चढ़ाई कर दी और चीन ने मित्र राष्ट्रों की सहायता के लिए अपने बहादुर से बहादुर सिपाहियों को वहाँ भेजा तो पुनः मेरे दोस्तों ने पूछा कि क्यों चीन राष्ट्रीय अखंडता के मूल्य पर अपने को ख़तरे में डाल रहा है जबकि सोवियत् रूस अपने सुदूर स्थित पूर्वी मोर्चों को जापान पर चढ़ाई करने के लिए मित्र राष्ट्रों को नहीं दे रहा है। मैंने इस बार भी पहले वाला ही उत्तर दिया। क्या चीन ने इन सब बातों को बिना सोचे समझे किया है अथवा दूसरों ने उसे बेवक़ूफ़ बनाकर इन कामों को करवाया है ? नहीं, एकदम नहीं। चीन ने सभी बातें होशहवास से और अच्छी तरह सोच समझ कर की हैं। क्या जापान और रूस के बीच संघर्ष रुक सकता है ? इसका उत्तर तो निकट भविष्य में मिलेगा। पर जापानियों की दृष्टि में व्लाडीवोस्टक एक तेज़ कटार के समान है जिसका निशाना जापान की छाती की ओर लगा हुआ है। क्या ऐसा सोचना ठीक होगा कि जब जापान ब्रिटिश और अमेरिकन सिंहों को प्रशान्त महासागर में पड़ा पड़ा गुर्राने नहीं देगा तो क्या रूसी भालू को जापान सागर के किनारे पैर जमा कर इधर उधर घूमने का मौक़ा देगा ! चीन ने जो कुछ किया है वह उससे होने वाले परिणामों को अच्छी तरह जानता है। चीन पहले की तरह आज भी संयुक्त राष्ट्रों के सम्मिलित हित के लिए अपना सब कुछ क़ुर्बान करने को तैयार है। चूंकि उसने मित्र राष्ट्रों का साथ दिया है वह उन सब के प्रति तथा अपने प्रति सदा वफ़ादार बना रहेगा। वह अपना एक पाँव शत्रु की नाव पर और एक पाँव मित्र की नाव पर नहीं रखेगा। वह केवल अपने स्वार्थ की बात नहीं बल्कि सभी मित्र राष्ट्रों के फ़ायदे और हित की बातों को ही सोचता है। यही चीनी संस्कृति का आधार है। चीनी जनता के लिए वफ़ादारी अत्यन्त ज़रूरी है। कनफ़्यूसीयस से उनके शिष्यों ने एक बार पूछा कि अगर उन्हें किसी राष्ट्र का शासन करने दिया जाय तो पहले क्या करेंगे। उन्होंने कहा—"मनुष्यों को काफ़ी भोजन देने का प्रबन्ध, उन्हें सुरक्षित रखने के लिए काफ़ी अस्त्र शस्त्रों का प्रबन्ध और लोगों के दिल में पारस्परिक विश्वास की भावना की जागृति।" उनके शिष्य ने पुनः पूछा—"अगर इन तीनों में से किसी एक को छोड़ने की नौबत आए तो पहले कौन सी चीज़ छोड़ेंगे ? उन्होंने कहा "हथियार।" पुनः शिष्य ने पूछा "अगर पुनः बाक़ी दो में एक को छोड़ना पड़े, तब ?" उन्होंने उत्तर दिया—"खाना—क्योंकि वफ़ादारी के बिना राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता।" लड़ाई के बाद चीन का दुनिया के प्रति क्या रुख रहेगा, जेनरलिस्मो ने कई बार स्पष्ट शब्दों में इसकी घोषणा कर दी है कि चीन दूसरे संयुक्त राष्ट्रों की तरह ही केवल अपनी आज़ादी, समानता और स्वाधीनता चाहता है। वह दूसरे संयुक्त राष्ट्रों को भी अपनी आज़ादी, समानता और स्वाधीनता हासिल करने में मदद करेगा, लेकिन किसी की भी आज़ादी समानता और स्वाधीनता पर आघात नहीं करेगा। चीन की यह नीति डा० सन यात-सेन के "जनता के तीन सिद्धान्त" की नीति पर पूर्ण रूप से स्थित है। और डा० सन यात-सेन की नीति का आधार चीनी दर्शन और चीनी संस्कृति हैं। बहुत प्राचीन काल से ही चीन का राजनैतिक उद्देश्य "विश्व-शान्ति

और ऐक्य" तथा दूसरे राष्ट्रों के साथ "मित्र और पड़ोसी" का सम्बन्ध बनाये रखना रहा है। कुछ दोस्तों का कहना है कि ब्रिटेन और अमेरिका चीन की उतनी मदद नहीं करेंगे जितनी मदद चीन ने उन लोगों को दी है। उन लोगों को डर है कि कहीं चीन अधिक शक्तिशाली राष्ट्र न हो जाय। मैं नहीं सोचता हूँ कि इन दो बड़े मित्रों के दिल में ऐसी कोई भावना है। अगर सचमुच में इन लोगों ने चीन के सम्बन्ध में ऐसी धारणा बना रक्खी है तो वे लोग चीन, उसकी जनता और संस्कृति को समझने में भूल करते हैं। अगर इस प्रकार की ग़लत धारणा इन लोगों के दिल में बनी हुई है तो वह इस लड़ाई में चीन द्वारा कहे हुए वचनों से, जिसे उसने व्यावहारिक तौर से काम में दिखाया है, बहुत पहले ही दूर हो जानी चाहिए। शक्ति-सम्पन्न चीन से बुराई की नहीं, बल्कि संयुक्त राष्ट्रों और दुनिया दोनों को भलाई की आशा रखनी चाहिए। दुनिया की उन्नति के लिए, चीन को शक्ति-शाली और उन्नतिशील राष्ट्र बनाना ही होगा।

अनु०—श्री कृष्णकिंकर सिंह

श्वान से

श्री "शरदेन्दु"

भूंक सके हो बहुत श्वान तुम निज मालिक के बल पर ऐंठें,
पर मालिक से दूर रहे जब, गये तुम्हारे कान उमेठें।
केवल आश्रय एक तुम्हारा, निज मालिक पर ही तुम निर्भर,
उसकी ही सेवा करने को ठोकर खाते फिरते दर दर।
रोटी के दो टुकड़ों पर ही तुमने अपना जीवन बेचा,
अपनी सब आजादी बेची, अपना सारा तन-मन बेचा।
खो बैठे हो गौरव अपना, पग पग पर दुत्कारें खाते,
पशु भी हेय समझते तुमको, तुमसे मिलने में सकुचाते।
जग कहता है, 'तुम्हें देखकर आज लजाती है मानवता,
तुम कुत्ते हो, तुम में कैसे पैदा हो मानव की ममता।
दुनिया भर में नीच बने हो, क्या न तुम्हें कुछ लज्जा आती?
सुन-सुन कर अभिशाप जगत के क्या न तुम्हारी फटती छाती?'
माना स्वामिभक्ति को दुनिया कहती, 'सुन्दर, अति सुन्दर है',
किन्तु आत्मगौरव खो देना, यह तो रौरौ से दुखकर है।
जो निज में विश्वास न करता, जिसमें अपना मान नहीं है,
उसके रहने को तो इस जगती में कोई स्थान नहीं है।

जिये मान के साथ जिये,
बेहतर अपमानों से मर जाये,
रहे चमकता नक्षत्रों-सा
या बदली-सा फिर झर जाये।

हिन्दी में निबन्ध-कला की प्रगति

श्री उमाशंकर

अफ़लातून (Plato) ने आज से दो हज़ार वर्षों से पहले 'कला' की विवेचना करते हुए कहा था— "मानव अपने जीवन के प्रतिक्षण में स्पन्दनशील भावनाओं का अनुभव करता है, और उसके हृदय-पटल पर प्रत्येक स्पन्दन अंकित हो जाता है। वे ही भावनायें अनुकूल समय मिले तो प्रकाश में आ जाती हैं।" बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी 'साहित्यालोचन' में लिखा है—"मानव चेतन-सम्पन्न प्राणी है। वह अपने चारों ओर की सृष्टि का अनुभव प्राप्त करता है। वह उसे देखता है, सुनता है, और उसकी छाप उस पर पड़ती है। वासना रूप में उसमें भिन्न भिन्न वस्तुओं के छायाचित्र अंकित होते रहते हैं और तदनुकूल ही उसके संस्कार बनते रहते हैं। मानव सभ्यता का जैसे जैसे विकास होता है, वैसे ही वैसे यह सृष्टि-प्रसार मनुष्य को अधिकाधिक रूप से प्रभावित करता है।"

मानव जब मृतिकामय जगत में जन्म लेता है, तब उसको भावनाएँ बँधी सी रहती है। पर सभ्यता का ज्यों ज्यों विकास होता है, त्यों त्यों मानव का मस्तिष्क परिष्कृत होता जाता है। यह एक सनातन सत्य है। परिष्कृत मस्तिष्क के आग्रह ने भावनाओं की प्रसार-सीमा का अधिकाधिक विस्तार करना आरम्भ किया। मानव की आत्मानुभूति की निष्क्रयशील भावनाओं में क्रियाशीलता आने लगी। आत्मानुभूति की भावनाओं का जागरण होते ही मानव का जीवन कलापूर्ण होने लगा। आंशिक चेतन-विशिष्ट मानव को किसी निर्दिष्ट वस्तु पर एकान्तिक अनुरक्ति नहीं होती। मानव जब पूर्ण रूप से चेतनशील होता है, तभी किसी निर्दिष्ट वस्तु पर उसकी एकान्तिक अनुरक्ति होती है। एकान्तिक अनुरक्ति कला को सौन्दर्य्य प्रदान करती है।

निबन्ध रचना में किसी निर्दिष्ट वस्तु या विषय पर एकान्तिक अनुरक्ति होने की पूर्ण आवश्यकता है। एकान्तिक अनुरक्ति का बग़ैर विषय के प्रतिपादन सूक्ष्म रूप से नहीं हो सकता। अंग्रेज़ी साहित्य के सुप्रसिद्ध निबन्ध लेखक श्री एडीसन ने एक स्थल पर लिखा है—"रचना करते समय सारी दुनिया को भूलकर, केवल अपने वस्तु का ध्यान रखना चाहिए। भावनाओं की तन्मयता निबन्ध की रीढ़ (backbone) है।" डाक्टर जॉनसन ने तो यहां तक कहा है कि "निबन्धों में अभिव्यंजना की इतनी तीव्रता रहती है कि मानव अपने हृदय की शिथिल भावनाओं को क्षण-मात्र में झंकृत कर देता है—फिर तो मानव, सुध-बुध खोकर अपने निबन्धों में खो जाता है।"

निबन्ध किसी निर्दिष्ट वस्तु या विषय पर मौलिक रचना है। निबन्ध में विषय-विवेचन और उसका विस्तार वस्तु विन्यास के द्वारा नियंत्रित रहता है, और निबन्धकार के ज्ञान तथा चिन्तन के द्वारा विषय का नियमित करण होता है। पाश्चात्य देशों में निबन्धों के एक जन्मदाता ने निबन्ध की परिभाषा करते हुए कहा है—"निबन्ध उस रचना को कहते हैं, जिसमें किसी विषय या भाव को लेकर आत्मीयता का परिचय देते हुए आत्मानुभूति का अभिव्यंजन किया जाता है। डॉक्टर जॉनसेन ने 'The study of the essay' में निबन्ध की परिभाषा देते हुए कहा है "An essay is a loose sally of the mind, an irregular, undigested piece, not a regular and orderly composition" मूरीयज ने अपने कोष में इसकी परिभाषा यों दी है "An essay is a composition of moderate length on any particular subject

or a branch of a subject, originally implying want of finish, but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range."

लेख, निबन्ध, तथा प्रबन्ध तीनों एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं, पर उन्हें एक दूसरे के पर्यायवाची मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। तीनों में समता होते हुए भी अन्तर पड़ जाता है। पर अन्तर सूक्ष्म है। सूक्ष्म अन्तर होते हुए भी उनका साहित्यिक महत्व है। लेखों में भावना की तन्मयता और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की आत्मीयता व्यञ्जनापूर्ण (suggestive) होते हुए, उनमें विशेष रूप से स्पन्दनशीलता नहीं होती। पर लेख-विस्तार दोषरहित होता है। प्रबन्ध और निबन्ध के आकार-प्रकार तथा व्यञ्जना-पद्धति में अन्तर है। निबन्ध का एक बँधा हुआ घेरा है। निबन्धकार को गागर में सागर भरना पड़ता है। संकुचित स्थल में अधिक भावों का प्रसार करना पड़ता है। प्रबन्धकार के लिये कोई घेरा नहीं। प्रबन्ध में स्थल-संकोच नहीं होता। इसका क्षेत्र बहुत विस्तारपूर्ण है। पर निबन्ध की तरह प्रबन्ध में आत्मीयता निहित नहीं होती। कारण प्रबन्ध में व्यक्तित्व का प्राधान्य न होकर विषय का प्राधान्य होता है। निबन्ध में भावात्मकता तथा व्यक्तित्व की अधिकता रहती है, प्रबन्ध में विचारों की वस्तुमत्ता।

प्रायः सभी साहित्यिक कलाओं में निबन्ध कला का साहित्यिक महत्व अधिक है। यह कहा जाता है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" रसाल जी ने तो यहां तक कह डाला है कि निबन्ध रचना साहित्य का एक उत्कृष्ट तथा महत्वपूर्ण कार्य है, गद्य की परख इसी से होती है, भाषा अपने पूर्ण विकास का परिचय निबन्धों से ही देती है। हमारे एक साहित्यिक साथी के शब्दों में "निबन्ध ही के द्वारा लेखक के मानसिक धरातल तथा उसके विषय-विवेचन की समर्थता का पता लगता है।"

विषय के अनुसार निबन्धों के प्रकार-भेद करना उचित नहीं जान पड़ता। श्री सदगुरुशरण अवस्थी एम०ए० ने अपनी हिन्दी गद्य कथा, में कहा है—"विषय की दृष्टि से प्रबन्धों का वर्गीकरण करना मूर्खता है। एक सुई की नोक से लेकर विश्व के विराट स्वरूप तक, एक प्रबन्ध के विषय हो सकते हैं।" तीन प्रकार के ही निबन्ध साहित्य में पाये जाते हैं। प्रायः सभी साहित्यिकों में निबन्ध के तीन भेद किये हैं—वर्णनात्मक, विवरणात्मक, तथा विचारात्मक। पर सुविधा के लिए हिन्दी निबन्धों को प्रकार-भेद से छः श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—वर्णात्मक (Descriptive) (२) विवरणात्मक (Narrative) (३) विचारात्मक (Reflective) (४) आलोचनात्मक (Critical) (५) तुलनात्मक (Comparative) (६) प्रवादात्मक (Proverbial)।

वर्णात्मक निबन्ध में वर्णन की बहुलता रहती है। वर्ण्य-विषय का स्पष्टता से उल्लेख किया जाता है। प्राणी, मनुष्य, उद्भिद्, स्थान, वस्तु, पहाड़, यात्रा आदि सम्बन्धी वर्णन इसी भेद के भीतर आते हैं। भाषा सरल और सुन्दर होती है। वर्णात्मक निबन्धों के लिए कथात्मक शैली प्रयुक्त होती है। यह शैली छोटे छोटे वाक्यों में गुम्फित रहती है। वर्णनात्मक निबन्धों में आत्मीयता का भाव झलकता रहता है। श्री श्यामसुन्दर दास के शब्दों में "व्यापक सहानुभूति, और आत्मीयता के वातावरण के साथ व्यक्तिगत और स्वानुभूति विचारों की नैसर्गिकता उनमें रहती है।" विवरणात्मक निबन्धों में वर्णन के साथ ही साथ कुछ विवेचना भी होती है। पौराणिक, ऐतिहासिक, आकस्मिक, घटना, भ्रमण वृतान्त, खेल, आदि का वर्णन विवरणात्मक निबन्धों के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार के निबन्ध की भाषा वर्णनात्मक निबन्धों की भाषा से कुछ गम्भीर रहती है। निबन्ध को रोचक और आकर्षक बनाने के लिए कथात्मक तथा अलंकृत शैली का प्रयोग किया जाता है।

विचारात्मक निबन्धों में "विचारों की सुश्रृङ्खल योजना, उनका क्रमबद्ध उद्घाटन, एवं यथातथ्य विवेचना की प्रधानता होती है।" इस तरह के निबन्धों में अमूर्त विषय पर अपना विचार प्रकट किया जाता है। विचारात्मक निबन्धों में समास, एवं व्यासशैली उपयुक्त होती है। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा गम्भीर पर सजीव होती है। व्यंग और विनोद की पुट देने से भाषा में मनोरंजकता आ जाती है। वाग्विदग्धता विचारात्मक निबन्धों का प्राण है। भावात्मकता का अभाव होने पर भी कल्पना का बाहुल्य रहता है। आलोचनात्मक निबन्धों में उन वस्तुओं, विचारों तथा भावों का उद्घाटन एवं यथातथ्य विवेचन होता है, जिनसे लेखकों में वास्तविक साहित्यिक भावना का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार के निबन्ध पूर्ण रूप से गम्भीर होते हैं। शैली अत्यन्त गम्भीर, मार्मिक और चुटीली होती है।

तुलनात्मक निबन्धों में दो वर्ण्य विषयों के गुण-दोष का तुलनात्मक विवेचन होता है। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा विशेष रूप से उच्छृङ्खल हुआ करती है। शैली इतिवृत्तात्मक रहती है। पर अन्य प्रकार के निबन्धों से इस प्रकार के निबन्धों में मनन-शीलता की अधिक आवश्यकता पड़ती है। प्रवादात्मक निबन्धों में कहावत, लोकोक्ति, आदि का विवेचन किया जाता है। इस प्रकार के निबन्ध की भाषा संयत और ओजमयी रहती है। शैली व्याख्यात्मक होती है।

बेकन, स्टील, एडीसन, डाक्टर जानसन आदि अंग्रेज़ी निबन्ध लेखकों से प्रभावित होकर हमारे यहाँ अंग्रेज़ी ढंग पर कुछ निबन्ध लिखे गये हैं। अंग्रेज़ी के ढंग पर लिखे गये निबन्धों के दो भेद और किये जा सकते हैं—व्यक्तित्व व्यंजक (Personal) तथा तथ्य निरूपक (Impersonal)। व्यक्तित्व व्यंजक निबन्धों में व्यक्तिगत अनुभूति से सनी हुई, भाव-योजना का प्रदर्शन होता है। निबन्धकार के व्यक्तित्व की छाप उसके निबन्ध पर इस तरह पड़ जाती है कि निबन्ध निबन्धकार की मनोवृत्ति का दर्पण सा मालूम पड़ता है। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा गम्भीर होने के अतिरिक्त मनोरंजन मिश्रित होती है। विचारों की व्यंजना की रीति बोधगम्य होती है। शैली में चुलबुलाहट, व्यंग्य, हास्य, करुणा की आवश्यकता पड़ती है। तथ्य निरूपक निबन्धों में तर्क और बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार के निबन्धों की शैली प्रौढ़, भावोद्वेगमयी तथा गम्भीर होती है; पर साथ ही साथ कहीं कहीं वाग्विदग्धता तथा व्यंग्यात्मक भी रहती है।

हिन्दी में निबन्धकला का आरम्भ हम उस दिन से मान सकते हैं, जिस दिन से हमारी भाषा में प्रौढ़ता तथा गम्भीरता आई। पहले निबन्ध पद्य में लिखा जाता था। हिन्दी में कई पद्यात्मक निबन्ध मिलते हैं। पर पद्य में निबन्ध कला का विशेष निखरा हुआ रूप नहीं मिलता। पद्य में लिखे हुए निबन्धों का, उनके उच्चकोटि के न होने के कारण, साहित्यिक महत्व नहीं है। श्री श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' में लिखा है—"प्राचीन निबन्ध इसी कारण शुद्ध साहित्यिक कोटि में स्थान न प्राप्त कर सके। वे एक प्रकार से विज्ञान की विश्लेषणात्मक कोटि में रख दिये गये। साहित्य की रसात्मकता का उनमें बहुत कुछ अभाव रहा; न तो उनमें व्यक्तित्व की कोई चमत्कारपूर्ण मुद्रा दिखाई दी, और न उनमें भावना-प्रधान शैली का प्रवेश ही हो पाया।"

गद्य में प्रौढ़ता के साथ निबन्ध कला का विकास हुआ। भारतेन्दु काल में हिन्दी गद्य परिष्कृत, शिष्ट, सौष्ठवपूर्ण होता हुआ गम्भीर, सम्पन्न, और प्रौढ़ हुआ। इसी काल में निबन्ध-रचना का विकास-प्रकाश हुआ। समाचार पत्रों की उत्पत्ति तथा क्रमशः वृद्धि समृद्धि से निबन्ध कला को बहुत कुछ प्रोत्साहन मिला। समाचार पत्रों से निबन्ध कला को प्रौढ़ता प्राप्त हुई। और निबन्धों से समाचार पत्रों का कलेवर अलंकृत हुआ।

हिन्दी में पण्डित प्रतापनारायण जी मिश्र सबसे पहले साहित्यिक निबन्ध लिखने वाले माने जाते

है। पर निबन्ध लिखने की परिपाटी स्वयं भारतेन्दु जी ने 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन,' 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'बाल बोधनी' नामक पत्र पत्रिकाओं के द्वारा चलायी। उन्होंने श्री ज्वालाप्रसाद, तोताराम, कार्तिकप्रसाद खत्री, और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि को निबन्ध लिखने के लिए उत्साहित किया। इन लोगों की रचनाओं से उस युग में निकलने वाले पत्रों का कलेवर सजाया जाता था। उनके अनेक निबन्धों में "भारतवर्ष में सुधार का क्या उपाय" (How India can be reformed)', ईश्वर का वर्तमान होना, भक्ति ज्ञानादि से क्यों बड़ी है, हम मूर्तिपूजक हैं, श्रुतिरहस्य, मित्रता, ख़ुशी, अपव्यय, इंगलैण्ड और भारतवर्ष, ईशू खीष्ट और ईश कृष्ण, भूकम्प, त्यौहार, होली अकम्प्य जगत, भगवान स्तुति, सूर्योदय इत्यादि बहुत उपयोगी निबन्ध हैं। वर्णात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, आलोचनात्मक, तुलनात्मक और प्रवादात्मक सभी प्रकार के निबन्धों की रचना की गई है। शैली और ओज चमत्कारपूर्ण हैं। इन शीर्षकों से ही स्पष्ट होता है कि निबन्ध रोचक हैं। इनके समीपवर्ती अनेक लेखकों के निबन्ध भी मिलते हैं। पर श्री श्यामसुन्दर दास के शब्दों में "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन निबन्ध लेखकों में अधिकांश निबन्ध-लेखन कला से अवगत नहीं थे। उनमें कुछ तो अपने निबन्धों का आरम्भ 'कोटिशः धन्यवाद उस परम पिता परमेश्वर का है' आदिशब्दों से करते थे। उनमें अनुप्रास आदि शाब्दिक प्रयोगों का प्राधान्य है। बिना अर्थ की भूमिका बांधने की परिपाटी चल पड़ी थी। रूढ़िगत धार्मिकता और भावुकता का प्रकाशन भी अधिक मात्रा में किया गया था।"

हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी विद्वानों ने प्रताप नारायण मिश्र से हिन्दी निबन्धकला का विकास माना है। वे आधुनिक हिन्दी के मौनटेन या लेम्ब भी कहे जाते हैं। मिश्र जी मस्त आदमी थे। उनमें ज़िन्दादिली थी, मसखरापन कूट कूट कर भरा था। वे मनोविनोद की समाग्री पाठकों के लिए तैयार करते थे। उनके लेखों के शीर्षक से उनकी उमंग और विनोदप्रियता का पता लगता है। उनके हास्यपूर्ण निबन्धों के घूर के लत्ता बीनै, कनातनक डौल बांधै, 'मरे का मार साह मदार', 'भौं', 'पात', 'दांत', समझदार की मौत, वृद्ध शीर्षक आदि हैं। इन निबन्धों में उनकी शैली हास्यरसात्मक है। शब्द ग्रामीण और घरेलू है। भाषा नागरिक और ग्रामीण है। पर उनके निबन्धों का उद्देश्य केवल मनोविनोद करना नहीं था। उन्होंने 'हमारी आवश्यकता' शीर्षक लेख में अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था—"जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने पढ़ लिये। यद्यपि इनमें बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है, पर वाग्जाल में फँसी हुई है। अतः अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें, जो इस काल के लिये प्रयोजनीय हैं, तथा हास्यपूर्ण न हो के सीधी-सादी भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें नीरस समझ कर छोड़ न दिया करें तथा केवल पढ़ ही न डाला करें, वरंच उनके लिये तन से, धन से, कुछ न हो सके, तो वचन से ही यथावकाश कुछ करते भी रहें।"

हास्यरसात्मक निबन्धों को छोड़कर उन्होंने अनेक सामाजिक लेख 'ब्राह्मण' में लिखे। उनके सामाजिक निबन्धों का ध्येय नैतिकता-प्रचार था। 'हमारी आवश्यकता, नारी, ख़ुशामद, 'देव मन्दिरों के प्रति हमारा कर्त्तव्य', 'शिव मूर्ति' आदि उनके प्रसिद्ध सामाजिक निबन्ध हैं। उनके सामाजिक निबन्धों में शास्त्रीय विवेचन नहीं है। उन्होंने नैतिकता का प्रचार हास्य का पुट देकर किया है। सामाजिक निबन्धों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ गम्भीर विषयों पर भी निबन्ध लिखे हैं जैसे—काल, स्वार्थ, मनोयोग, सोने के उराठा और पौंडा। पर ये सब निबन्ध बहुत गम्भीर नहीं हुए हैं। उनके मसखरापन के चलते निबन्धों की गम्भीरता दब-सी गई है। उनकी भाषा पर व्याकरण का नियन्त्रण नहीं जान पड़ता।

उनके निबन्धों में व्याकरण की भयंकर अशुद्धियां मिलती हैं। कहीं कहीं विचित्र लिपि दोष भी देखने को मिलते हैं, पर उनकी भाषा में सुबोधता और रोचकता है। श्री श्यामसुन्दरदास जी ने कहा है "विनोद की मात्रा के साथ साथ प्रतापनारायण जी में स्वगतभाव की अत्यन्त स्पष्ट और स्वाभाविक रूप से कहो सुनने की क्षमता थी। आत्मीयता उनकी शैली का विशिष्ट गुण है।"

श्री प्रताप नारायण मिश्र के समान ही श्री बालकृष्ण भट्ट में ज़िन्दादिली और मस्तानापन पाया जाता है। पर भट्ट जी मिश्र जी से अधिक गम्भीर तबियत के आदमी थे। उनका हास्य भी अधिक शिष्ट और समादृत है। कुछ समालोचक उन्हें हिन्दी साहित्य के एडीसन कहते हैं। उनके सारे निबन्ध "हिन्दी प्रदीप" में प्रकाशित हुए। उनके सर्वोत्तम निबन्धों में से कुछ का संग्रह 'साहित्य-सुमन' के नाम से प्रकाशित हो चुका है और प्रयाग विश्वविद्यालय ने एम० ए० परीक्षा की पाठ्य पुस्तकों में उस संग्रह को रख कर भट्ट जी के प्रति अपना सम्मान भी प्रदान किया है। पर उनके अनेकों निबन्ध अभी 'हिन्दी प्रदीप' की फाइलों में पड़े हुए हैं। एक जगह उन्होंने कहा भी था 'पाठको! इन बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे सब यदि पुस्तकाकार छाप दिये जायँ, तो निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के आँगन का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय......।

भट्ट जी ने वर्णनात्मक, भावात्मक, तथा विचारात्मक तीनों प्रकार के निबन्ध लिखे। उन्होंने त्योहार, ऋतु चर्य्या, सामायिक घटनाओं, समाज की जीवनचर्या आदि पर सुन्दर वर्णनात्मक निबन्ध लिखे। वर्णनात्मक निबन्धों में उनकी शैली बड़ी रंगीली और चुलबुली है। उसमें काफ़ी ज़िन्दादिली और हास्य की पुट है। भाषा बोधगम्य और शैली कथात्मक है। नाक, कान, बातचीत, 'दिल और दिमाग', आदि शीर्षक वाले लेख विशेष रोचक और सुन्दर हैं। इन निबन्धों में हास्यरसात्मकता के साथ ही साथ आत्मीयता निहित है। इन निबन्धों का साहित्यिक महत्व भी काफी है। श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य का गद्य काल' में लिखा है "साहित्यिक दृष्टि से उनके कुछ लेख तो इतने उच्चकोटि के हुआ करते थे कि वे चार्ल्स लैम्ब के उत्तमोत्तम लेखों के साथ साथ रखे जा सकते हैं, जैसे, बातचीत, ईश्वर क्या ही ठठोल है, आँसू, इत्यादि। उन्होंने छोटी मोटी बातों को लेकर ऐसी ऊँची उड़ान ली है, जिसका कोई ठिकाना नहीं। घनिष्टता और वैयक्तिकता की छाप भी उनके लेखों में वैसी ही है, जैसी लैम्ब के लेखों में।"

भट्ट जी के अनेकों विचारात्मक निबन्ध हैं। "कल्पना", "आत्मनिर्भरता", जैसे निबन्ध इसी श्रेणी के हैं। इन निबन्धों के विचार मौलिक हैं। विषय का विवेचन एवं उद्घाटन स्पष्ट है। भाषा प्रवाहमय और आवेशपूर्ण है। 'चरित्र शोधन', 'प्रेम और भक्ति' शीर्षक इनके निबन्ध बहुत गम्भीर और शिक्षाप्रद हैं। इन निबन्धों से साहित्यिकता का आभास पूर्णरूप से प्रकट होता है। हिन्दी में भावात्मक निबन्धों के जन्मदाता तो भट्ट जी ही माने जाते हैं। 'चन्द्रोदय' आदि शीर्षक उनके निबन्ध भावात्मक है। इन निबन्धों की भाषा अलंकारिक है। शैली धारावाहिक है। उनमें, उस समय के ख़्याल से धर्म और समाज दोनों क्षेत्रों के विचारों और भावों में आश्चर्यजनक स्वतन्त्रता है, उनके निबन्धों का साहित्यिक महत्व इसलिए भी है कि इन निबन्धों के बाद ही हिन्दी साहित्य में ऐसे उच्च भावात्मक निबन्ध लिखने की परिपाटी जारी हुई।

पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने कई निबन्ध 'आनन्द कादम्बनी' में लिखे थे। भारतेन्दु काल में यही एकमात्र लेखक थे, जिन्होंने अपने निबन्धों को पूर्ण रूप से अलंकारिक भाषा में लिखा है। उन्होंने काव्य की अलंकारिकता निबन्धों में ला रखी थी। अपनी शैली में कोमल पदावली का समावेश करने के कारण उन्हें लोग हिन्दी के वाणभट्ट या हिन्दी के 'स्टेवेन्सन' कहते हैं।

(अपूर्ण)

वर्तमान महायुद्ध के कुछ रहस्य

एक प्रगतिवादी

जब जेकोस्लोवेकिया पर जरमनी का क़ब्ज़ा हो गया तब मित्र दल ने अपनी एक नई नीति निर्धारित की। इसका उद्देश्य यह था कि पूर्वी योरुप में जरमनी का आधिपत्य न हो पाये। यह निश्चित हुआ कि ज्योंही जरमनी पोलैण्ड और रूमानिया पर आक्रमण करे या इटली का यूनान पर हमला हो त्योंही इङ्गलैण्ड और फ्रांस जरमनी के साथ लड़ाई की घोषणा कर देंगे। इसके पूर्व इङ्गलैण्ड ने पूर्वी योरुप के प्रति अपनी ऐसी ज़िम्मेदारी का सबूत कभी न दिया था। अङ्गरेज़ लेखक जौन डिकोर्सी (John Decourcy) का कहना है—

'अपने सम्पूर्ण इतिहास में पूर्वी योरुप में हमने अपना बचाव कभी नहीं किया था। पूर्व में अधिक से अधिक हमने ब्लेनहम तक अपनी फ़ौजें भेजी थीं। चासर के वीर लोग ही ऐसे थे जिन्होंने पोलैण्ड की लड़ाई में भाग लिया था।'

किन्तु अब अपने 'जीवन के अस्तित्व के लिए' अपने विरोधियों का सामना करना ज़रूरी था। हिटलर ने सम्पूर्ण योरुप की स्वतन्त्रता छीनने का निश्चय कर लिया था। उसको दबाने के लिए योरुप की आज़ादी का नारा ज़रूरी हो गया। अब मित्र दल का यह 'पवित्र कर्तव्य' था कि वे योरुप के गुलामी से बचाने के लिए अपना संगठन कर लें और अपना 'उच्च' उद्देश्य सब पर प्रकट कर दें। दुर्भाग्य की बात यह थी कि मित्र दल के पास उनके विशाल उद्देश्य के अनुकूल विशाल सामग्री न थी। सच तो यह है कि उन्हें अपनी तैयारी बहुत ही अपूर्ण दिखाई दे रही थी किन्तु चाहे जो हो राजनीति की यह माँग थी कि एक सम्मिलित घोषणा इस बात की की जाती।

इस घोषणा के फलस्वरूप सोवियत रूस का प्रश्न अपने आप महत्वपूर्ण हो गया। अङ्गरेज़ी फ़ौज़ी बातों के सुप्रसिद्ध जानकार और लेखक लिडिल हार्ट (Liddell Hart) ने १९३९ के वसन्त में प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स' में लिखा था—

'जब तक रूस के अपना साथी न बनाया जायगा तब तक जरमनी का मुक़ाबिला नहीं किया जा सकता क्योंकि जरमनी की स्थल सेना और वायुसेना मित्रदल की सेनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक होंगी। म्यूनिक के समझौते का फल फ्रांस और ब्रिटेन के लिए बहुत हानिकारक हुआ क्योंकि इससे योरुप के संतुलन में परिवर्तन हो गया···जब तक रूस की सहायता का विश्वास न हो जावे तब तक यह संतुलन थोड़े समय में ठीक नहीं हो सकता।'

इस प्रकार लिडिल हार्ट ने यह खुल्लमखुल्ला स्वीकार किया कि जरमनी की सैनिक शक्ति मित्रदल की सैनिक शक्ति से बढ़ी चढ़ी थी और उसका सामना सोवियत रूस की सहायता से ही किया जा सकता था। सोवियत रूस ने अपनी शस्त्र-शक्ति उसी तरह बनाई थी जैसी जरमनी ने—बल्कि जरमनी की अपेक्षा उसके समय ज़्यादा मिला था। रूस के लड़ाई में आ जाने से लड़ाई का दुहरे मोर्चों पर चलना निश्चित था। १९१४-१८ की लड़ाई में जरमनी दो मोरचों का सामना न कर सका था और इस बार उसकी हार्दिक इच्छा रही है कि इस प्रकार न लड़ना पड़े।

इस प्रकार एक तो पोलैण्ड के बचाने और जरमनी पर आक्रमण करने के लिए रूस की सहायता आवश्यक थी दूसरे यह स्पष्ट था कि फ्रांस जरमनी का सामना करने में किसी तरह समर्थ नहीं हो सकता—अगर उसे पूर्व में भी लड़ना पड़े। १९४० की घटनाओं ने इसे भयंकर रूप से सत्य प्रमाणित कर दिया। पीरी कोट (Piere Cot) फ्रेंच राजनीतिज्ञों में यथेष्ट दूरदर्शी और फ़ौज़ी विशेषज्ञ होने के कारण इसे पहले

ही से समझ गए थे और आने वाली महान विपत्ति के बारे में उसने १९३९ के प्रारम्भ में ही पेरिस के समाचार ले उव्रेर (L' Ocuvere) में लिखा—

'जरमनी निथरलैण्ड और बेलजियम पर हमला करके हमें इङ्गलैण्ड से अलग कर देना चाहेगा। उसका सामना करने के लिए पोलैण्ड को और उससे भी बढ़ कर रूस को हमें अपना सहायक बनाना चाहिए, नहीं तो हम जरमन फ़ौजों को रोक न सकेंगे। किन्तु जब रूस ने यह प्रस्ताव किया कि छः शक्तियों की यानी ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत रूस, पोलैण्ड, टर्की और रूमानिया की एक सभा की जाय तब लंदन ने इसे स्वीकार न किया। 'यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात हुई।' इस समय स्वयं सोवियत ऐसी महान शक्ति अपनी ओर से यह प्रस्ताव मित्रदल से कर रही थी। यही सब से बढ़िया अवसर उससे फौजी सहयोग लेने का था। परन्तु इङ्गलैण्ड चूक गया।

इङ्गलैण्ड की ओर से यह प्रस्ताव किया गया कि सोवियत रूस पोलैण्ड और रूमानिया को अपनी सहायता का विश्वास दिला दे। इसका अर्थ यह नहीं था कि पोलैण्ड और रूमानिया के साथ फौज़ी सहयोग का उचित प्रबन्ध हो बल्कि रूस से यह मांग थी कि वह अपनी सामग्री और सैनिक शक्ति पोलैण्ड और रूमानिया के इस्तेमाल के लिए दे देने को राज़ी हो जाय और इन दोनों देशों को यह अख्तियार रहे कि वे जब जितना सामान और जितनी सेना लेना चाहें ले सकें।

फ्रांस के राजनैतिक साप्ताहिक पत्र ल'-युरुप नोविली (L' Europe Nowelle) ने, जो कि फ्रांस के प्रगतिशील राष्ट्रीय दल का पत्र है, इसके समर्थन में लिखा था—

'इस तरह की शर्त पर राज़ी हो कर रूस को पोलैण्ड और रूमानिया को सीधी सहायता देने के लिए बाध्य न होना पड़ता बल्कि जब उन पर आक्रमण होता और वे सहायता चाहते तब उन्हें आर्थिक फौज़ों और हवाई जहाज़ की सहायता देनी पड़ती। इससे सोवियत रूस को केवल एक सुरक्षित कोष (Reserve) की तरह काम करना होता—और वह भी केवल विशेष आवश्यता के समय।' १५ अप्रैल को सोवियत गवर्नमेन्ट ने अपनी ओर से एक दूसरा प्रस्ताव किया। उसने कहा कि वह अपने पश्चिमी पड़ोसियों को सहायता देने को तैयार है किन्तु यह काम बड़ी शक्तियों के यानी ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत रूस, इन तीनों के ऐसे आपसी समझौते के द्वारा होना चाहिए जिसमें एक ओर तो पोलैण्ड, रूमानिया और बाल्टिक रियासतों को मदद देने की शर्त रहे और दूसरी ओर ऐसी ही शर्त बेल्जियम, स्वीजरलैण्ड, हालैण्ड के लिए भी रहे।' अगर अङ्गरेज़ी और फ्रेंच गवर्नमेन्टों ने रूस की इस उचित बात को मान लिया होता तो तुरन्त समझौता हो जाता किन्तु २ मई सन् १९३९ को इन दोनों ने मिलकर रूस के इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया।

उनके ऐसा करने के जितने कारण थे वे सब अत्यन्त भ्रमपूर्ण और असीम अहमन्यतासूचक थे।

पहला कारण तो यह था कि वे समझते थे कि पोलैण्ड और रूमानिया स्वयं ही जरमन आक्रमण का सामना करने में समर्थ हो सकते हैं। उनके इस विश्वास का कारण पोलैण्ड के प्रधान मन्त्री जनरल सिकोर्सकी (Sikorsky) का बेहद आत्म विश्वास था। इन्होंने दो जून सन् १९३९ तक को 'पेरिस स्वायर' (Paris Soir) में लिखा था—'रूस से अपनी आज़ादी बनी रहने की गारण्टी हम नहीं मांगते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि अपनी रक्षा हम कर सकते हैं।'

थोड़े महीनों बाद ही पोलैंड के युद्ध क्षेत्र ने यह भली भाँति प्रमाणित कर दिया कि इन जनरल साहब का यह दावा कितना झूठा था। जनरल साहब पोलैंड से बाहर भाग गये किन्तु पोलैंड देश को अपनी आज़ादी खोनी पड़ी।

दूसरा भ्रम यह था कि मित्रदल की सहायता ही पोलैंड और रूमानिया के लिये यथेष्ट होगी। फ्रांस के एक उच्च कर्मचारी डिज़री फेरी (Desire Ferry) ने कहा था—

'हमारे लिये पोलैंड एक आवश्यक साथी है। पूर्वी यूरुप में यही एक देश ऐसा है जो तुरन्त काम करने के लिये समर्थ है। हम रूसी सेना को और उसकी योग्यता को जानते हैं। पिछले १५ वर्षों से हम उसकी अनावृत उन्नति देखते आ रहे हैं। रूस की सहायता अनिश्चित है और उसमें हमें बहुत सावधान रहना पड़ेगा किन्तु पोलैंड की सहायता सुनिश्चित है।'

इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि रूस के समाजवादी शासन के प्रति मित्रदल की जो कटु भावना थी उसी ने उन्हें रूस से उस समय मिलने नहीं दिया। घटनाओं ने यह साफ़ साफ़ दिखला दिया कि वे कैसे भ्रामक आधार पर खड़े हुए थे।

तीसरी भूल इससे भी भयानक थी। मित्रदल का यह ख्याल था कि वे पश्चिम में दूसरा मोर्चा बना कर पोलैंड को तुरन्त सहायता पहुँचा देंगे। अवश्य ही इन्होंने पोलैंड को ऐसा विश्वास दिलाया होगा और इसी बल पर पोलैंड ने रूस के समझौते के लिए बढ़े हुए हाथ को छूने से भी इनकार कर दिया। मई १९३९ में पौलैंड के मास्को में स्थिति राजदूत ग्रीज़ी वोस्की (Grizi Bovshy) ने रूस की बात मानने से इनकार किया।

चौथी भूल यह थी कि मित्रदल ने समझा था कि वे इङ्गलैंड और फ्रांस की फौज़ें पोलैंड भेज सकते हैं और पोलैंड भी इस गहरे भ्रम में पड़ा रहा। जान डिकोर्सी ने अपनी एक पुस्तक उसी समय प्रकाशित करवाई थी जब पोलैंड परास्त हो गया। इसमें उसने स्पष्टतः लिखा है—

'यह आशा करना कि फ्रेंच सेनायें सिग फ्रीड (Sieg Fried) पंक्तियो को तोड़ कर पोलैंड तक पहुंच सकती थीं हास्यप्रद था।'

लायड जार्ज ने भी 'हाउस आफ़ कामन्स' (House of Commons) में ३ अप्रेल १९३९ को भाषण करते हुए कहा—'हम पोलैंड कैसे जा सकते हैं?' फ्रांस की सेना वहां कैसे जा सकती है? हमारी सेनायें और फ्रांस की सेनायें मिलकर भी वहां कैसे जा सकती है?......अगर हम रूस की सहायता न लेंगे तो जाल में फँस जायँगे।'

उन्होंने ब्रिटेन की गवर्नमेंट से स्पष्टतः कह दिया था कि अगर पोल्स (पोलैंड के निवासी) रूसी लोगों को न चाहते हों तो भी हमारा यह कर्तव्य है कि हम उन्हें अपनी शर्तें समझा दें और साफ़ साफ़ कह दें कि हम दूसरी शर्तों पर उनकी सहायता न कर सकेंगे।

डिकोर्सी ने लिखा है कि रूमानिया और पोलैंड रूस की सैनिक सहायता से अपना बचाव स्वीकार करने को तैयार न थे। किन्तु इङ्गलैंड की भी यह नीति थी जैसा कि 'ल' यूरुप नोविली' नामक फ्रांसीसी पत्र से स्पष्ट हो जाता है, कि पूर्वी यूरुप के देशों को रूसी नीति के प्रति अविश्वासी बनाये रखा जाय।

चैम्बरलेन साहब की यह इच्छा थी कि यूरुप की प्रधान नीति में रूसी सहयोग बहुत परिमित रहे। इङ्गलैंड की जनता यह चाहती थी कि सोवियत रूस से शर्तें करके जरमनी के विरुद्ध लड़ने की तैयारी की जाय। चर्चिल, लायड जार्ज, ईडिन और डफ़कूपर भी यही चाहते थे। इसी तरह फ्रांस में पालरीनो हेनरी, डी केरलिस और पीरीकोट इसके समर्थक थे किन्तु दो महीने बाद १९३९ के जून में चेम्बरलेन का मन्त्रिमण्डल रूस से ऐसी बात चीत करने के लिए तैयार हो सका। रूस ने यह चाहा कि अगर जरमनी का आक्रमण हो तो तुरन्त सब लोग मिलकर जरमनी के विरुद्ध लड़ाई छेड़ें। उसने यह भी चाहा कि अगर बाल्टिक प्रदेश पर अप्रत्यक्ष रूप से हमला हो तो भी सब साथ दें।

मित्र दल को इसकी चिन्ता थी कि मिलकर एक युद्ध-योजना बनाई जावे। वे सैनिक सहयोग प्राप्त करना अपने जीवन के लिए आवश्यक समझ रहे थे। सोवियत रूस भी इस विषय में ऐसा ही समझता था। ३१ अगस्त १९३८ के अपने व्याख्यान में मोलोटोव ने उन कारणों को बतलाते हुए जो मित्र-दल के साथ सुलह करने में बाधक हुए यह कहा कि "ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ का सहयोग

तभी पारस्परिक सहायता के आधार पर हो सकता है जब वे तीनों यह निश्चय कर सकें कि वे आक्रमणकारी के विरुद्ध किए प्रचार सैनिक योजनाओं में एक दूसरे का साथ देंगे।'

इङ्गलैंड में जो लोग रूस का साथ देना चाहते थे उनकी भी यही सम्मति थी। जुलाई १९३९ में डफ् कूपर ने लिखा था—

'शान्ति का मोर्चा लड़ाई के लिए तैयार किया जाना चाहिए। आपस में मिलकर युद्ध-योजना बना लेने में अब अधिक देरी न करनी चाहिए। केवल ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस को ही नहीं बल्कि इनके महत्वपूर्ण साथियों—पोलैंड, टर्की, यूनान और रूमानियां—को भी समय नष्ट न करके सब के साथ ऐसा निश्चय करना चाहिए जिससे सब के साधनों का एक ही उद्देश्य से उपयोग किया जा सके। यह भी निश्चय कर लेना सम्भव है कि समय पर हम सब मिलकर कहाँ पर आक्रमण करेंगे और कहां अपने बचाव के लिए खड़े होंगे।'

जुलाई और अगस्त १९३९ के महीने ही वे महीने हैं जिनमें तरह तरह की ग़लतियों से, एक दूसरे को न समझने से या ठीक न समझने से, कुछ बातों की ओर दृष्टि न देने से या उनके प्रति भ्रामक दृष्टि रखने से अन्त में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों की रूस से सुलह की बात चीत टूट गई और रूसी-जरमन-संधि हो गई! जुलाई के अन्त तक यह यथेष्ट स्पष्ट हो गया कि जरमनी पोलैंड पर प्रत्येक दशा में हमला करेगा। मित्रदल और रूस में अब इस हमला को रोक देने की शक्ति रखने वाली सुलह न हो सकती थी। ऐसी सुलह तभी हो सकती थी जब उसके लिए तैयारी की गई होती।

सोवियत गवर्नमेन्ट ने अगस्त मास में अंग्रेज़ों के और फ्रेंच लोगों के फ़ौजी 'मिशन' को मास्को में बुलाया। ऐसा जान पड़ने लगा कि फ़ौजी बातें आपस में ठीक तरह निश्चित हो जावेंगी। १० अगस्त को यह बात चीत शुरू हुई। दुनिया को अब यह पूरा विश्वास हो गया कि लड़ाई कुछ ही दिनों में अवश्य होगी। मास्को में जो बात चीत हुई वह पूरी तरह प्रकाश में नहीं आई। पर इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि प्रारम्भ में कुछ न कुछ बाधा आ गई क्योंकि मोलोटोव ने ३१ अगस्त १९३९ को मित्रदल की निन्दा की। उन्होंने कहा—जो ब्रिटिश और फ़ौजी मिशन मास्को आये उन्हें न तो यह शक्ति निश्चित रूप से प्राप्त थी, न उन्हें इतना अधिकार ही था कि वे फ़ौजी सन्धि-पत्र (Convention) के बारे में हस्ताक्षर कर सकें।

अगस्त २ को पेरिस के 'फ़िगारो' पत्रने, जो गम्भीर और जानकार पत्र समझा जाता था, जो कुछ लिखा था उससे यह मालूम हो सकता है कि इन फ़ौजी मिशनों का वास्तविक उद्देश क्या था। कुछ विशेष बातों का पता लगाना ही इनका उद्देश था। उसने लिखा था—

'लाल सेना की वास्तविक फ़ौजी शक्ति का हमें बहुत कम ज्ञान है। फ्रेंच और ब्रिटिश फ़ौजी मिशनों की यह पूरी कोशिश होगी कि इस विषय में जानकारी प्राप्त करें। इसकी भी सम्भावना है कि रूसी मार्गों के बारे में—रेलवे, सड़कों आदि के सम्बन्ध में—नई बातें जान ली जावें। अन्त में सोवियत संघ की फ़ौजी शक्ति को भी ठीक तरह जान लेना है।'

इसका मतलब यह हुआ कि सोवियत की सैनिक शक्ति का पूरा और पक्का ज्ञान पा लेना सम्भव समझा गया था। किन्तु युरोपीय संघर्ष के इस नाज़ुक अवसर पर कोई 'फ़ौजी संधि' इस सब से न हो सकती थी। जब मास्को की यह बात चीत समाप्त हो गई तब एक बार कुछ महत्वपूर्ण काग़ज़ों को प्रकाशित किया गया। जनवरी १९४० में मैक्स डॉर्स्मोय ने जो पहले फ्रांस के भीतरी विभाग के मन्त्री थे पेरिस के साप्ताहिक पत्र ला लुनीरी (La Lunniere) में दो तार प्रकाशित करवाये थे। इनमें से एक २१ अगस्त १९३९ को उस समय के प्रधान मन्त्री दैलेदियर ने जो युद्ध मन्त्री भी थे, फ्रेंच फ़ौजी मिशन के चीफ़ जनरल डोमिन (General Doumene) को मास्को भेजा था। इसमें लिखा था—

'सर्वसाधारण के लाभ के लिए आपको यह अधिकार दिया जाता है कि आप फ़ौजी बातों के संधि-पत्रों पर हस्ताक्षर कर सकें पर उन्हें मन्ज़ूर करने का काम फ्रेंच गवर्नमेन्ट का होगा।'

दूसरा तार वारसौ में फ्रेंच फ़ौजी मिशन या उसके चीफ़—जनरल फोरी (General Foary)—ने २३ अगस्त १९३९ को पेरिस भेजा था। इसमें लिखा था—

'इस समय की दशा के कारण पोलैंड गवर्नमेंट ने अन्त में यह स्वीकार कर लिया है कि हमारी ओर से जो लोग रूस गये हैं वे सोवियत के साथ पूरी तरह की एकता की सम्भावना पर पूरा विचार करें। मास्को में स्थित राजदूत और वहां गये हुए लोगों को इसकी सूचना भेज दी गई है।'

इससे यह साफ़ है कि अन्त में पारस्परिक स्वार्थ को आवश्यतकताओं पर और राजनीतिक तथा फ़ौजी आवश्यकताओं के बारे में अन्तिम समझौता हो गया था—फ्रेंच इस बात पर तैयार हो गये थे कि फ़ौजी बातों का निश्चय मास्को के साथ कर लिया जावे (अंग्रेज़ भी इस पर राज़ी थे या नहीं, यह हम नहीं जानते), वे यह भी चाहते थे कि पोलैंड का सोवियत सघ के साथ फ़ौजी समझौता हो जावे जिससे लाल सेना पोलैंड में जा सके। यह समझौता १९३९ के मार्च, एप्रिल महीनों में आसानी से हो सकता था। ज़्यादा से ज़्यादा जुलाई के अन्त तक में सब विस्तार की बातों पर पूरी तरह विचार हो जाना चाहिए था और समझौते को कार्य में परिणत होना चाहिए था। पर यह कुछ भी न हुआ। अगस्त में भी बहुत देर में समझौते की साफ रेखायें सामने आईं। तब तक लड़ाई की तैयारी हो चुकी थी। सोवियत गवर्नमेन्ट इस विलम्ब से बहुत बुरा मान रही थी। जरमनी की कूट नीति ने इसके विरुद्ध मसाला तैयार कर लिया था। २३ अगस्त को रिबेन्ट्रोप मास्को पहुँच गये।

थर्ड रीच (वर्तमान जरमन पार्लियामेन्ट) की आवश्यकताओं की पूर्ति के काम में लगना ही इस समय की जरमन कूट नीति थी। १९३९ के ग्रीष्म में उसका मुख्य काम यह था कि सोवियत संघ को युरोप के रक्षा के मोर्चे से अलग कर देती, चाहे इसका मूल्य कितना ही देना पड़ता। इस काम की ज़रूरत फ़ौजी दल ने समझी थी। इसी से विदेशी नीति में थर्ड रीच को सब से अधिक उलट-फेर करनी पड़ी। १ जून को कोलोन्ड्र (Coulondre) ने, जो बरलिन में फ्रेंच राजदूत थे, अपनी गवर्नमेन्ट को रिपोर्ट दी थी कि हिटलर ने जनरल कीटल (Keitel) से और ब्रोन्चीश (Bronchitsch) से जो मुख्य सेनापति थे यह प्रश्न किया था कि जरमनी लड़ाई में सफल हो सकता है या नहीं? दोनों ने एक ही उत्तर दिया था और वह यह था कि यह रूस के लड़ाई से अलग रहने पर मुनहसिर है। "यदि सोवियत अलग रहे तो सफलता अवश्य होगी।"—यह जनरल कीटल (Keitel) ने कहा। जनरल ब्रोन्चीश ने कहा 'रूस अलग रहे तो सफलता की सम्भावना है।' दोनों इस पर सहमत थे कि अगर रूस से भी एक ही समय लड़ना पड़ा तो विजय की बहुत कम सम्भावना है।

इसलिए जरमनी की सारी कूट नीति इसी काम में लगाई गई कि दो मोर्चों पर न लड़ना पड़े और रूस लड़ाई से अलग रहे।

'अगर सोवियत संघ ने भी ब्रिटेन और फ्रांस का साथ दिया होता तो जरमनी की कठिनाइयां कहीं अधिक हो गई होतीं।'

१९३९ के ग्रीष्म में जो वाद विवाद हुआ उसमें इन्हीं दोनों जनरलों का दृष्टिकोण ठीक समझा गया।

सन् १९२० में जनरल ग्रोनर (Groner) ने, जो श्लीफिन (Schlieffen) के योग्यतम शिष्यों में से थे, जरमनी की १९१४ के पहले की कूट नीति के बारे में अपनी लिखी एक पुस्तक में कहा था—

"हमारे फ़ौज़ी कामों और राजनीतिक विचारों में एकता न थी। हमारे राजनीतिज्ञों को ऐसा ढङ्ग अपनाना चाहिए था जो फ़ौज़ी कामों के अनुकूल होता। यह ढङ्ग ऐसा होता जिससे हम पश्चिम में तो लड़ाई

लड़ते और पूर्व में अपनी फ़ौज़ों को आवश्यक समय के लिए बचाये रखते।'

१९३९ के ग्रीष्म काल में जरमन राजनीति का यही मुख्य प्रेरक सिद्धान्त हो गया था। १९२४ से १९३१ तक कर्नल नीडर मेयर (Corlonel Niedermeyer) सोवियत संघ में जरमनी की ओर से अपना काम करते थे। यह काम कुछ तो ख़ुफ़िया था और कुछ ऐसा फ़ौज सम्बन्धी जिसका दफ़्तर से सरोकार न था। इन कर्नल साहब ने दिसम्बर १९३९ में एक फ़ौजी समाचार-पत्र में लिखा था—

"१९२२-२३ में भी जरमनी और सोवियत संघ के मिलन का मार्ग फ़ौजी दूरदर्शिता से साफ़ हो गया था।......"

नाज़ियों की नीति ऐसी सिद्धान्तहीन और लचीली थी कि उसने फ़ौजी आवश्यकताओं से उत्पन्न प्रेरणा को स्वीकार कर लिया। लड़ाई के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विचारों की भिन्नता बोल्शेविक रूस के प्रति जातीय और राष्ट्रीय नफ़रतें तथा पिछले दस साल से चली आनेवाली झगड़े की बातें—ये सब—पीछे ढकेल दी गईं। नाज़ियों की इस कूटनीति का मतलब इतना ही था कि अपने दुश्मनों को अलग करके चुपचाप ऐसी सुलह करली जावे जिससे दूसरों के मन पर यथेष्ट असर हो। वे यह भी चाहते थे कि इस सुलह को एकदम आश्चर्यजनक ढङ्ग से किया जावे। दूसरी ओर अंग्रेज़ों और फ्रान्सीसियों की कूटनीति में न तो दृढ़ता थी न किसी काम को प्रारम्भ कर सकने वाली शक्ति।

उन्होंने सब से अच्छा अवसर व्यर्थ की बातचीत में गवाँ दिया था। इसके सिवा जरमन कूटनीतिज्ञ मास्को को उससे अधिक देने को तैयार थे जितना कि मित्रदल देता था और उनकी उससे मांग भी कमतर थी। मित्रदल यह चाहता था कि सोवियत संघ कुछ शर्तों के अनुसार लड़ाई में ज़रूर शामिल हो। लड़ाई का ख़तरा लेना और उसके लिये त्याग करना ज़रूरी समझा जाता था। किन्तु बाल्टिक में रूस के संरक्षण को मानने तक के लिये मित्रदल तैयार न था। जरमनी के कूटनीतिज्ञों ने केवल यह चाहा कि सोवियत संघ लड़ाई में भाग न ले। उन्होंने इसके बदले में उसे आधा पोलैंड और बाल्टिक का संरक्षण देने का वादा किया। अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों की कूटनीति ऐसी न थी कि उससे सोवियत संघ को लड़ाई में शामिल होने की वास्तविक रुचि होती। इस पर डफ़ कूपर ने कहा था—'लोकतन्त्रवादी लोग रूस को अपनी ओर न कर सके, यह उनके लिए घातक बात हुई है।'

फ्रांस की राष्ट्रीयता के पुनरुद्धारक डि केरिलिस (de Kerileis) ने जो निर्भय प्रचारक भी था, २४ अगस्त १९३९ को 'ल' इपोक' (L' Epoque) पत्र में लिखा था—

'अफ़सोस की बात है कि हमने कुछ भी नहीं किया। इतिहास में हमारी ढिलाई, हमारी कायरता और हमारी कूटनीति सम्बन्धी अयोग्यता के बारे में अंकित रहेगा।'

मित्रदल को इससे बहुत हानि हुई। केवल पूर्वी यूरुप में ही नहीं वरन् अन्य स्थानों पर भी इसका प्रतिफल दिखाई दिया। १९३९ के ग्रीष्म काल में अंग्रेज़ और फ्रांस केवल टरकी से सुलह करने में सफल हुए थे। अब जरमनी की रूस से इस संधि के परिणाम स्वरूप वह भी व्यर्थ होगई। मित्रदल को अकेले ही लड़ाई में आना पड़ा और अपूर्ण तैयारी के साथ।

रिबेन्ट्रॉप ने जरमनी और सोवियत संघ में जो संधि कराई उससे दोनों को लाभ था। दोनों को ख़तरों का सामना भी करना था।

जरमनी को लड़ाई के लिए कार्य की स्वाधीनता मिल गई। घेरा तोड़ दिया गया। जरमन पत्र फ्रैंकफ़रटर ज़ीटुङ्ग (Frank furtur Zeitung) ने विजय-भाव के साथ २५ अगस्त १९३९ को लिखा—'जरमनी अब पोलैंड को निश्चित रूप से जीत सकता है। मित्रदल को जीतने का भी उसे स्वर्णसंयोग प्राप्त हो गया है।' इस तरह जरमनी जब लड़ाई में शामिल हुआ तो उसे पूर्व में एक ऐसी शक्ति मिल गई जिसने लड़ाई में भाग नहीं लिया बल्कि उसके लिए तैयारी करती रह गई।

रूस को जरमनी के साथ यह संधि करने से बिना लड़े ही कई जगहों का और राजनैतिक ढङ्ग के लाभ हुए। किन्तु जरमन पारलियामेन्ट, थर्ड रीच, को इस संधि से यूरुप पर अपना ऐसा प्रभुत्व क़ायम कर लेने का अवसर मिल गया जिससे उसकी शक्ति कहीं अधिक हो गई और बाद में वह रूस से भी लड़ने में समर्थ हो सकी।

मुस्लिम काल के इतिहासकार

(१२००—१६००)

श्री हरीशंकर, एम०ए०

यह दुःख की बात है कि मुसलमानों के आगमन के पहले अपने देश के अधिकांश इतिहासकारों का हमें पता नहीं है। क्या वैदिक और हिन्दू काल ने अनेक इतिहासकारों को जन्म नहीं दिया? या जिन्होंने 'इतिहास' लिखने का प्रयत्न किया उनमें से कोई 'इतिहासकार' नहीं कहे जा सकते? हमें तो विश्वविद्यालयों में यही बतलाया जाता है कि पूर्व-मुस्लिम कालीन हिन्दू-इतिहासकार थे ही नहीं और किसी ने भी इतिहास-लेखन का विशेष प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने साहित्य, दर्शन—सांख्य-वेदान्त—और धर्मनीति की पुस्तकों के अध्ययन में ही अपना समय व्यतीत करना अधिक उपयुक्त समझा। धर्म और दर्शन के चिन्तन में वे बहुत ऊँचे उठ सके थे, इस बात की साची उनकी वे पुस्तकें हैं जो हम तक पहुँच सकी हैं। पर इनमें कुछ लोगों की विरक्ति तो यहाँ तब बढ़ी हुई थी कि वे राजाओं महाराजाओं की जीवनियाँ और राजदरबारों की बातें लिखना तक हेय समझते थे। 'संस्कृति के विस्तृत भण्डार में इतिहास की दृष्टि से केवल चार जीवनियां उपलब्ध हैं। पर उनकी भाषा भी क्लिष्ट और अलंकारों से भरी हुई हैं, जिसमें कोई बात साफ़ समझ में नहीं आती है।[1]

मुसलमानों के आने के बाद जब हिन्दू और मुसलमानों ने कन्धा से कन्धा मिलाकर चलना प्रारम्भ किया तब हिन्दुओं ने भी इतिहास लिखना प्रारम्भ किया पर वे उतना ऊँचे नहीं उठ सके। उनका तिथियों का ज्ञान कम ही रहा। हिन्दुओं ने तिथियों की तरफ़ पूरी तरह ध्यान कभी नहीं दिया यह बात महाभारत, पुराण और और पुस्तकों के पढ़ने से साफ़ मालूम हो जाती है। इनके पूरा पढ़ने पर भी हमें पूरी तिथियाँ नहीं मिलतीं।

इसके विपरीत अरब निवासी अधिक स्पष्ट हैं। प्रत्येक लेख में वे तिथियां देते हैं और अधिकतर अपने पत्रों में दिन और महीना अवश्य लिखते हैं। 'हिजरी सन् होने के कारण उनकी तिथियों के जांच में आसानी भी काफ़ी पड़ती है। हिन्दुओं में इस बात की बेहद कमी थी।'[2]

भारत-विजय के पहले ही मुसलमानों ने इतिहास लिखने में काफी उन्नति प्राप्ति कर ली थी। भारत में आने के साथ साथ उनकी यह विद्या भी उनके साथ आई। उनके इतिहास-प्रेम के परिणाम स्वरूप कई अच्छे इतिहासकारों का मुस्लिम काल में जन्म हुआ। यहां पर हर एक इतिहासकार के बारे में लिखना या ज्ञान प्राप्त करना एक तरह से असम्भव है। इस कारण उल्लेखनीय इतिहासकारों के ही बाबत संक्षेप में लिखा जावेगा।

मुस्लिम काल का प्रथम उल्लेखनीय इतिहासकार हसन निज़ामी है।[3] इस लेखक के विषय में हमारा

१—Sarkar-Mughal-Administration.

२—Sarkar, Mughal-Administration

३—Eillot Vol. 2. Page 204-243.

ज्ञान बहुत कम है। अपने इतिहासों में जहां कहीं थोड़ा बहुत उसने अपने बारे में लिखा है वहीं से हमें मिलता है।

हसन निज़ामी का जन्म नीशापूर में हुआ था। वह स्वयं लिखता है कि खुरासान छोड़ने का उसका विचार नहीं था, पर वहाँ की अराजकता ने उसे मजबूर किया कि वह अपने भाग्य-निर्माण के लिये दूसरा देश खोजे। उसने आँख उठा कर चारों तरफ देखा। मुसलमानों का राज्य काफ़ी फैल चुका था। वह कहीं भी जा सकता था! पर भारत की परिस्थिति ने उसे विशेष आकर्षित किया। हाल ही में मुसलमानों में भारत में एक विजेता के रूप में क़दम रखा था। मुस्लिम सैनिक और सरदार बड़ी प्रसन्नता से अपने देश वासियों का स्वागत कर रहे थे और रुपये की कमी नहीं थी। साहित्यक मनुष्य इन्हें प्रसन्न कर बड़े मज़े में काफ़ी धन कमा सकता था। यही सब सोच कर हसन निज़ामी ने भारत में आना ठीक समझा।

इधर उधर घूमते हुए यह लेखक गज़नी पहुंचा। वहां उसने विद्वानों और धार्मिक मनुष्यों से भेंट की। इसी समय वह बीमार पड़ गया, जिसके कारण वह उस समय भारत की तरफ़ न बढ़ सका। पर अच्छा होते ही वह "दया-धर्म के भण्डार" भारत की नवीन राजधानी की तरफ़ फिर चल खड़ा हुआ।

दिल्ली पहुँचने पर वहाँ के काज़ी शरफ़ुल मुल्क ने उसका स्नेह से स्वागत किया। वह वहीं रहने लगा। इसी समय उसके समकालीन सुल्तान ने आज्ञा दी कि उसकी विजयों का वर्णन किया जाय! अच्छे लेखक की तलाश हुई। हसन निज़ामी के मित्रों ने उससे यह कार्य हाथ में ले लेने के लिये कहा। हसन निज़ामी ने इसे स्वीकार कर लिया और बड़ी प्रसन्नता से अपनी पुस्तक "ताजुल मासीर" (Tajul Masir) सन् १२०५ में लिखना प्रारम्भ कर दिया।

यह पुस्तक सन् ११९१ ई० की घटनाओं के वर्णन से प्रारम्भ की गई। इसी सन् में मोहम्मद ग़ोरी ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ किया। इस पुस्तक में सन् १२१७ तक की घटनाओं का वर्णन है। इस वर्ष के अन्त में लेखक लिखता है कि अगर वह जीवित रहा तो और आगे की घटनाओं का वर्णन करेगा! एक हस्तलिपि से ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपने इतिहास को और भी आगे तक लिखा है। पर अभी तक यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती।[४]

इतिहास की दृष्टि से 'ताजुल मासिर' का विशेष ऊँचा स्थान नहीं है। इसके वर्णन छोटे और कम हैं। हैमर के अनुसार इसमें बारह हज़ार लाइने हैं, इनमें सात हज़ार में फारसी और अरबी की कवितायें हैं। इतनी बड़ी पुस्तक होने पर भी ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन कम है! लेखक ने अलङ्कारों और बड़े बड़े शब्दों का प्रयोग किया है। छोटी-छोटी बातों को समझाने के लिये शतरंज, क़लम, पहाड़, नदी नाले, जङ्गल, युवतियाँ, बाल, फूल, प्रकृति इत्यादि की मिसालें दी हैं। इन्हीं सब बातों से पुस्तक भरी पड़ी है।

इसके सिवा पुस्तक में बड़ी और छोटी घटनाओं का वर्णन उनके महत्व के अनुसार नहीं किया गया है। छोटी और अनावश्यक बातें ही अधिक पृष्ठों में लिखी गई है और आवश्यक बातें कम ही में समाप्त कर दी गई हैं। कहीं-कहीं तिथियाँ ग़लत भी लिखी गई हैं। इसके अलावा पुस्तक भेदभाव से भरी है। पर इसके लिये हमें याद रखना होगा उस समय के मुसलमानों से हम और आशा नहीं कर सकते और न उन्हें दोषी ही ठहरा सकते हैं। वह समय ही वैसा था और सच कहिये तो उनके ऐसे धार्मिक जोश ने उनकी विजयों में काफ़ी मदद दी थी! इसी कारण निज़ामी जहाँ कहीं भी हिन्द सैनिकों की मृत्यु का वर्णन करता है वहां यह लिखना नहीं भूलता कि वे 'नर्क में चले गये!' मुसलमान सैनिक मर कर 'जन्नत' की यात्रा करते हैं।

ऐसी बातें होने पर भी यह पुस्तक हमारे लिए उपयोगी है—विशेष कर इस कारण कि यह एक

४—Elliot Vol. 2.

अत्यन्त नाज़ुक समय का वर्णन करती है। उसके वर्णनों से यह मालूम होता है कि लेखक ने समकालीन युद्धों में स्वयं भाग नहीं लिया पर यह बात साफ़ है कि उसने प्रयत्न किया। पर वह सफल नहीं हो सका, इसी सिलसिले में काज़ी मुहज्जब उद्दीन के कारण उस पर आक्रमण भी किया गया पर वह साफ़ बच गया। मिनहाज ने देखा कि यहां रहना असम्भव है इस कारण वह बङ्गाल की तरफ़ चल पड़ा। (६४० हिजरी)

दो वर्ष बङ्गाल में रहने के बाद मिनहाज़ दिल्ली लौटा। इस समय तक कुछ शान्ति स्थापित हो चुकी थी। बलबन 'अमीर हाजीव' के पद पर नियुक्त था। उसी के प्रयत्न से मिनहाज़ फिर अपनी पुरानी नौकरी पर रख दिया गया, और नसीरिया कालेज का प्रधान भी बना दिया गया।

६४५ हिजरी में जब लेखक ने 'नासिर नामा' बादशाह को भेंट किया तो बादशाह ने प्रसन्न होकर उसे बहुत सा इनाम दिया। इसके सिवा कविता के नायक बलबन ने भी कुछ इनाम दिया।

६४९ में मिनहाज़ तीसरी बार दिल्ली के काज़ी बने और ६५२ में उन्हें 'सद्र जहान' की उपाधि मिली।

मिनहाज़ की मृत्यु की तिथि हमें ज्ञात नहीं है। ६५८ हिज़री में अपना इतिहास समाप्त करते समय वह लिखता है कि अगर जीवित रहा तो अपना इतिहास आगे पूरा करेगा। पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसी के लगभग उसकी मृत्यु हो गई जिसके कारण वह अपना इतिहास नहीं लिख सका।

मिनहाज़ अपने समय का सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार है। उसने अपने इतिहास में पृथ्वी के आरम्भ से लेकर सन् १२५९-६० ई० तक की घटनाओं का वर्णन किया है। सुल्तान नासिर उद्दीन के पन्द्रहवें वर्ष यह पुस्तक समाप्त की गई थी और उन्हीं की भेंट के लिये लिखी गई थी। इसी कारण लेखक ने इसका नाम "तबक़ात नासिरी" (Tabqat i-Nasiri) रक्खा।

तबक़ात नासिरी की भाषा सीधी, सही और अच्छी है। उस समय के इतिहासकारों की भांति लेखक बहुत बड़ी बड़ी बेकार अलङ्कार युक्त बातें लिखने का प्रयत्न नहीं करता वरंच सीधी सादी भाषा में, जो वह जानता है लिखता है।

मिनहाज़ ने अपने इतिहास की घटनायें विश्वसनीय पुरुषों से इकट्ठा की हैं। पर जैसा एक लेखक ने लिखा है--मिनहाज़ एक सफल इतिहासकार की भाँति आवश्यक और अनावश्यक बातों का उनके महत्व के अनुसार वर्णन नहीं कर सका।

तबक़ात नासिरी को लेखक ने कई भागों में विभाजित किया है। और यह इस तरह किया गया है जिसमें कई बार एक ही बात को दुहराने की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण बलबन, बख़्तियार ख़िलजी और कितने पुरुषों के विषय में उसे कई स्थानों पर वर्णन करना पड़ता है। पर इससे एक लाभ भी है--हमें बलबन और बख़्तियार ख़िलजी के विषय में पूरी पूरी जानकारी एक रचना में ही मिल जाती है।

लेखक अपने समय की घटनाओं के लिये काफ़ी विश्वसनीय है। कई आक्रमणों में उसने स्वयं भाग लिया था। मसलन् ग्वालियर पर आक्रमण के समय वह वहाँ उपस्थित था। तिथियाँ भी काफ़ी सही हैं। उसने सुल्तानों का शासनकाल महीनों और दिनों तक में लिखा है। उसके बिना हम कुतुबउद्दीन ऐबक के शासन की घटनाओं की तिथियाँ निश्चित नहीं कर सकते थे।

मिनहाज़ की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसने केवल सुल्तानों, अमीरों और युद्धों का ही वर्णन किया है। आम जनता की सामाजिक अवस्था, आर्थिक अवस्था का वर्णन हमें उसकी पुस्तक में नहीं मिलता।

कुछ भी हो मिनहाज़ एक विश्वसनीय और आवश्यक इतिहासकार है और हम उसके आभारी हैं।

अब तक जिन इतिहासकारों का वर्णन किया जा चुका है वे विदेशी थे। पर अब तक मुसलमान भारत में बस चुके थे। भारतीय स्त्रियों से विवाह करके काफ़ी हिल मिल भी गये थे। कितने ही हिन्दू भी मुसलमान हो गये थे। ऐसे ही समय में प्रथम भार-

तीय इतिहासकार ने जन्म लिया। यह बरन (आधुनिक बुलन्दशहर) का निवासी ज़ियाउद्दीन बरनी (Ziauddin Barani). है।[५]

ज़ियाउद्दीन की माता और दादी सैय्यद थीं और पिता शेख़। वह स्वयं लिखता है—"इस बूढ़े के पिता बहुत ही शरीफ़ थे।" उसके चचा अलाउल मुल्क सुल्तान अलाउद्दीन के विश्वासपात्र थे। और दक्षिण पर आक्रमण के समय अलाउद्दीन ने उन्हें कड़ा और अवध का अधिकारी नियुक्त किया था। सुल्तान होने के पश्चात् अलाउद्दीन ने अलाउलमुल्क को दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया और ज़ियाउद्दीन के पिता को बरन का अमीन।

ज़ियाउद्दीन का जन्म ६८४ हिजरी (१२८७ ई०) बताया जाता है। बालपन राजधानी में बिताने के पश्चात् वह दिल्ली आया। जलालुद्दीन ख़िलजी के समय में उसने अपना अध्ययन प्रारम्भ किया। अलाउद्दीन के समय तक उसने काफ़ी लिख पढ़ लिया था।

इन्हें प्रारम्भ ही से फ़क़ीरों का साथ पसन्द था, इसी कारण इन्होंने बहुत दिनों तक तत्कालीन प्रसिद्ध फ़क़ीर निज़ामउद्दीन औलिया[६] के स्थान पर निवास किया। अपने यौवन काल में उस समय की बड़ी बड़ी मजलिसों में भाग लिया। वह स्वयं लिखता है "अब जब मैं बूढ़ा, दन्तहीन हूँ और सब कुछ खो चुका हूँ तब मैं अपने उस बीते दिनों की तरफ़ देखता हूं जिन्हें मैंने अपने समय की ऊँची हस्तियों के साथ बिताया है।"

बरनी अमीर खुशरू से भी परिचित था। मुहम्मद तुग़लक के दरबार में वह बहुत दिनों तक रहा। उसने कितनी ही बार जो रायें दी वह मुहम्मद तुग़लक के इतिहासकारों को मालूम हैं। खेद है कि बरनी विद्वान् होते हुए भी मुहम्मद तुग़लक को नहीं समझ सका।

मुहम्मद तुग़लक के समय तो बरनी मज़े में रहा पर फिरोज़ के समय अपने शत्रुओं के कारण उसे बहुत दुःख उठाना पड़ा। वह स्वयं लिखता है "ज़ी जीया बरनी (इस इतिहास का लेखक) गत सुल्तान की मृत्यु के पश्चात् अत्यन्त दुःख में पड़ गया हूँ। ......मेरे पास कुछ भी नहीं है और न मुझे कहीं से कुछ मिलता ही है।" मीर खुर्द लिखता है "अपनी मृत्यु के समय बरनी के पास एक भी वस्त्र नहीं था और एक भी पैसा उसके पास नहीं था। अपने बदन का वस्त्र भी उसने दान कर दिया था......"

चौहत्तर वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हुई। उसने कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें उसका इतिहास "तारीख़ फिरोज़शाही"[७] सब से अधिक प्रसिद्ध है।

बरनी ने हर एक विषय का अध्ययन किया था पर इतिहास ने उसे सब से अधिक आकर्षित किया। बरनी के अनुसार कुछ विद्वान लोग ही इतिहास पढ़ने के अधिकारी हैं। अशिक्षित और कम पढ़े लिखे लोगों को इतिहास पढ़ने का कुछ भी अधिकार नहीं है। वह लिखता है "इतिहास अच्छे बुरे, न्याय और अन्याय का एक वर्णन है।"

उसने अपने इतिहास में पृष्ठ पर पृष्ठ बड़े बड़े पुरुषों का वर्णन करने में लगाया है और उसमें वह हसन निज़ामी या मिनहाज़ से अधिक सफल हो सका है। बरनी के अनुसार इतिहास पढ़ने से बुद्धि बढ़ती है। लोग सन्तोष सीखते हैं।

इतिहासकार के विषय में वह लिखता है "इतिहासकार को हमेशा सच्ची घटनाओं का ही वर्णन करना चाहिये और अच्छी और बुरी दोनों बातों का वर्णन करना चाहिये। समकालीन पुस्तकों के विषय में तो कलम रोक कर लिखना चाहिये पर मृत व्यक्तियों के विषय में सच्ची सच्ची निश्चित बातें ही लिखनी चाहिये।"

५—Islamic Culture 1938. page 76. Elliot vol. 2. Page 93.

६—(Nizamuddin Aulia) See Prof. Habibs' Amir Khushrau.

७—Elliot-Vol. 3 Page. 95.

मिनहाज़ के तबक़ात नासिरी के सौ वर्ष पश्चात् बरनी ने अपना इतिहास लिखा है। और इस समय का बरनी एक चमकता हुआ इतिहासकार है। उसने अपनी पुस्तक सीधी सरल, बहती हुई भाषा में लिखी है। पर कभी कभी बड़े बड़े शब्द प्रयोग करने से भाषा कुछ कठिन हो उठती है। कहीं कहीं वह कवि की भाँति सुन्दर वर्णन करने में समर्थ हो सका है।

बरनी की इच्छा थी कि वह संसार का एक इतिहास आदम से प्रारम्भ कर अपने समय तक लिखे। पर वह लिखता है कि तबक़ात नासिरी को देख कर उसने अपना यह विचार त्याग दिया और बलबन से प्रारम्भ कर फिरोज़ तुग़लक के समय तक के आठ सुल्तानों का ही वर्णन किया।

बलबन के विषय में उसे अपने पिता और पितामह से ज्ञान प्राप्त हुआ। जलालुद्दीन खिलजी से लेकर फिरोज़ तक की घटनायें उसकी आँखों के सामने हुईं।

बरनी की पुस्तक अपने अनुभवों पर ही निर्भर है। ऐतिहासिक खोज इस पुस्तक में नहीं है। कभी-कभी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पुस्तक में एकता नहीं है। कहीं कहीं अध्याय भी ठीक तौर पर विभाजित नहीं है। उसने बहुत कम तिथियां लिखी हैं। और जो उसने लिखी हैं वे भी ठीक नहीं हैं। कहीं-कहीं ऐसी बातें जिनका अधिक वर्णन करना चाहिये उसने छोड़ दी हैं।

ऐसी त्रुटियाँ करने पर भी बरनी एक अच्छा लेखक है। विशेष कर जहाँ उसने सुल्तानों के परिवर्तन का वर्णन किया है वहाँ तो वह किसी कवि से भी कम नहीं है। पर मुहम्मद तुग़लक को वह नहीं समझ सका और उसने उसका जो वर्णन किया है वह उस काल की जनता का एक विचार है।[८]

बरनी एक ऐसा इतिहासकार है जिसके बग़ैर हमारा काम नहीं चल सकता। उसके वर्णन 'जीवनियों' के रूप में भी हैं और जीवनियों का वह अच्छा लेखक है। त्रुटियाँ होने पर भी हम कह सकते हैं कि बरनी प्रथम भारतीय इतिहासकार है और हम उसके ऊपर नाज़ कर सकते हैं।

यहाँ पर थोड़ा सा अमीर खुशरू[९] का वर्णन कर देना आवश्यक है। अमीर खुशरू की ख्याति एक इतिहासकार की तरह नहीं वरन् कवि के रूप में ही है। फिर भी उसकी कविताओं और लेखों से हमें भारतीय इतिहास का कुछ पता चलता है—विशेषकर इस कारण कि उसने अपने जीवन के प्रारम्भ काल में ही दरबार में रहकर जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया था। समय आने पर इसे कार्य्य रूप में परिणत किया गया और जीवन का अधिक समय उसने दरबार में बादशाहों की प्रशंसा में कवितायें लिख कर बिताया।

अमीर खुशरू का जन्म ६५२ हिजरी में पटियाला में हुआ था। अध्ययन के पश्चात् दरबार में उसने एक दरबारी की हैसियत से अपना जीवन प्रारम्भ किया। सबसे प्रथम वह मलिक छज्जु के दरबार में रहा। फिर बारी बारी से बुगरा खां, शाहजादा मुहम्मद, कैकूबाद, जलालुद्दीन, और अलाउद्दीन खिलज़ी के। इस तरह उस समय के राजकीय वातावरण में रहने के कारण अमीर खुशरू को वहां की वस्तुओं को अन्दर तक देखने का काफ़ी अवसर मिला। पर दरबार में रहने के कारण उसका दृष्टिकोण दरबारी हो गया और वह उतना ऊँचा नहीं उठ सका। उसकी पुस्तकों में यह एक बड़ी त्रुटि है।

खुशरू सन्तों का स्वागत करता था और उनके प्रति प्रेम रखता था। सुप्रसिद्ध निज़ाम उद्दीन औलिया से उसका काफ़ी परिचय था—दोनों में घनिष्ठता थी।

कविताओं के अलावा खुशरू ने ऐतिहासिक पुस्तकें भी लिखी हैं। इनमें नूह सिफ़र, देवल रानी ख़िज्र खाँ, तुग़लक़नामा, करानस सदान (Qiranus sadain) और खजानल फतूह (Khajanul Fatuh) प्रसिद्ध हैं।

८—See Dr. Ishwari Prasad's- Quranna Turks.

९—Amir Khushrau by Prof. Habib

जैसा कहा जा चुका है, अपनी ऐतिहासिक पुस्तकों में अमीर खुशरू बहुत ऊँचे नहीं उठ सका। बड़े-बड़े शब्दों, अलङ्कारों और वर्णनों में ऐतिहासिक घटनायें छिपी पड़ी हैं। वे कम हैं और कठिनता से निकल सकती हैं। इसके सिवा उसकी पुस्तक में वे सब बुराइयां मौजूद हैं जो एक दरबारी इतिहासकार में पाई जाती हैं।

फिरोज़ तुग़लक ने अपने समय में अपने समय का इतिहासकार तलाश किया पर कोई योग्य व्यक्ति नहीं मिल सका। फिर भी फिरोज़ के बारे में हमारा ज्ञान काफ़ी है—विशेष कर तीन इतिहासकारों के कारण। प्रथम तो ज़िया उद्दीन बरनी, दूसरे स्वयं सुल्तान और तीसरे शमश-ए-सिराज अफ़ीफ़ (Shamsh-i-Siraj Afif)

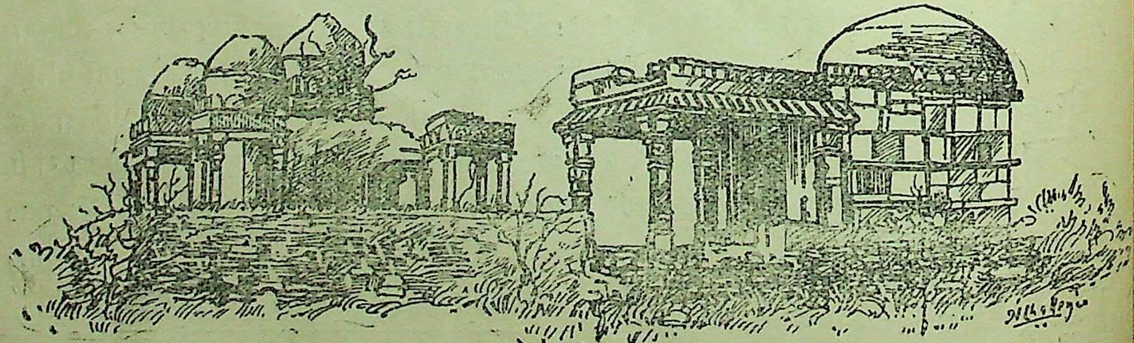
प्रथम इतिहासकार के विषय में हम लिख चुके हैं। यहां पर थोड़ा सा फिरोज़ के आत्मचरित्र के विषय में कह देना उपयुक्त होगा। हमें एक बादशाह का आत्मचरित्र मिला है जो 'फ़ूतूहात फिरोज़ शाही'[१०] के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें बादशाह ने अपने कई वर्ष की आज्ञाओं का वर्णन किया है। इससे हमें उसके विषय में काफी ज्ञान प्राप्त होता है। वह स्वयं लिखता है कि उसने कहाँ कहाँ हिन्दुओं के मेले बन्द कराये और मुसलमानों की बुराइयां दूर करने के लिये क्या किया। इससे हमें उसकी मनोवृत्ति के विषय में पता लग जाता है। पर फिरोज़-काल का सब से अच्छा वर्णन अफ़ीफ़ ने किया है। अफ़ीफ़ (Afif)[११] के माता पिता अबूहर में निवास करते थे। उसके परदादा कर वसूल करने का काम करते थे। गियास उद्दीन तुग़लक से (सुल्तान होने के पहले) और उनसे काफी घनिष्टता थी। लेखक स्वयं सुल्तान फिरोज़ तुग़लक के दरबार में रह चुका था और कितने ही बार फिरोज़ के साथ शिकार खेल चुका था।

अफ़ीफ़ का इतिहास बहुत ही सुन्दर है। यही प्रथम इतिहासकार है जिसने कुछ अध्याय आम जनता के विषय में भी लिखे हैं—अधिकतर शासन-प्रबन्ध के बारे में है ही। इस दृष्टि से अफ़ीफ़ अपने मुस्लिम काल का प्रथम इतिहासकार है और सब इतिहासकारों का अधिक ध्यान राजाओं, सुल्तानों और अमीरों के वर्णनों की ओर ही गया। अफ़ीफ़ का इतिहास भी बरनी के इतिहास के नाम पर ही 'तवारीख फिरोज़ शाही' है। इसकी भाषा सरल और सुन्दर है। फिरोज़ के कारनामों का इसमें अच्छा वर्णन दिया गया है।

इस तरह अफ़ीफ़ ने एक नया जीवन, नया ढङ्ग इतिहास में लाकर एक नया अध्याय प्रारम्भ किया।

१०—Elliot & Dawson Vol-3. Page 374.

११—Elliot—3-Page 269.



धरती माता

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल बी०

स्थान—कैलाशपुरी–भूतनाथ महादेव नेत्र बन्द किये ध्यानस्थ बैठे हैं—पार्वती जी व्याकुल सी आती हैं। शिव सशब्द अँगड़ाई लेते हैं। इसी बीच किसी के आने की आहट पा आँख बन्द किये ही कहते हैं—

शिव—क्यों भाई, अब होश हुआ है? अमावस की रात है न! अभी कितनी रात बाक़ी है? अभी हमारा सब काम पड़ा हुआ—

पार्वती—रात कैसी? अब तो सूर्योदय होने वाला है। (धीरे से) क्या तीन आँख से भी काम नहीं चलता?

शिव—कौन, शक्ति? इस समय इधर कैसे? खैरियत तो है न—गणेश कैसा है? उसकी प्रसिद्धि हुई हाथी कैसे विशाल मस्तक के लिए, पर तुम्हें शिकायत रहती है उसके पेट की—

पा०—(बात काट कर) है पेट ही की शिकायत, पर तुम्हारे गणेश या कार्तिक की नहीं—इस समय की धरती की शिकायत है—सारी दुनिया की। घबरा कर बहिन धरती आपकी सरन में आई हैं—मेरे यहाँ बैठी हैं, रो रही हैं—

शिव—ओह तभी तो—तभी तो ऐसी रात में—

पा०—फिर वही रात! आपके तो तीन तीन आँखें हैं, कम से कम कोई एक ही ज़रा खोल कर देख लें तो—

शिव—खोलूंगा, खोलूंगा—(अँगड़ाई का शब्द) समय होने दो-अभी रात—

पा०—(खीझ कर) आप तो अजीब ही हैं। देखिए तो कौन कौन आये हैं। बहिन धरती माता इस क़दर रो रही हैं; उनके कितने करोड़ बच्चे भूखों मर रहे हैं—'शिव' नाम का बड़ा भरोसा कर के—

शिव—(फिर अँगड़ाई) करोड़ क्यों? उसके तो क़रीब दो अरब बच्चे हैं—

पा०—तो क्या सब मरने लगें? यही इच्छा है? कई जगहों में क़रीब क़रीब ऐसा ही हो रहा है। जो ठीक तुम्हारी कैलाश पुरी के नीचे बसते हैं, जहाँ अभी तक तुम्हारी पूजा होती है, जो तुम्हें ख़ास तौर से बड़े प्यारे लगते हैं—

शिव—ओह, भारत की बात कह रही हो—अपने को इस तरह अभागे बना लेने वाले वहाँ के लोग—हाँ वे अभी दुनिया में हैं—(अँगड़ाई) अरे नन्दी कहाँ गया? अँगड़ाई लेना व्यर्थ है। मैंने समझा वही आ गया—उसे मैंने ठीक समय पर आने को कह दिया है। क्या तुम भी फिर चलोगी अंतरिक्ष रूप से उस दुनिया को देखने? वह बदल रही है—तेज़ी से बदल रही है!

पा०—हाँ बदल क्यों नहीं रही है! भारत में जो कुछ हो चुका—धरती कहती हैं कि अंग्रेज़ीदाँ लोगों का रोना लेकर आई हैं—तुम्हारे पास—ये ही सब तो—

शिव—बड़ा अच्छा किया उसने! शायद तुमने भी सुना होगा वहाँ कितने अँग्रेज़ीदाँ हो रहे हैं और वे क्या क्या कर रहे हैं—ज़ियादातर नौकर हैं, आगे बिना मेट्रिक पास किये चपरासी की नौकरी भी नहीं मिलेगी। बताया नहीं तुम्हारी बहिन वसुंधरा ने—

पा०—सब बताया! उनके साथ और कई लोग हैं—

शिव—किसी अँग्रेज़ीदाँ को अपने पास रखो, कमी क्या है? मैं कह चुका—कुछ अँग्रेज़ीदाँ लोगों को लेकर आई है क्या? वे क्या कहेंगे?

पा०—जो लोग तुम्हारी सारी दुनिया ख़तम किये दे रहे हैं उनकी ख़बर है या नहीं—मैं कहती हूं आँखें बन्द किये हैं तो क्या कान भी बन्द हैं? कान में तो पलकें नहीं हैं—

शिव—हैं--ये जटाएँ—

पा०--और बढ़ा कर शेर-भालू का डेरा बनाइये—

शिव--आहा--तुम समझी नहीं—जो सब साँप अब सिर पर चढ़ गये हैं, वे आख़िर कहाँ जायँ विचारे, ये खुद अपने बच्चों को ही खाकर जीते हैं—

पा०—ठीक—तुम प्रलय के मालिक थे, सो इसके लिये अब तुम्हारी ज़रूरत नहीं है, धरती के कुछ लोगों ने सर्वनाशक मशीनें बनाई हैं--और नई नई रोज़ बना रहे हैं—तुम्हारा काम वे सब ख़ुद कर रहे हैं !--और ये भारत वाले तो बिना मैशीन के ही, यों ही, मरे जा रहे हैं—बिना खाये-पिये

शिव--(अँगड़ाई) ये कहते हैं कि हम अभी ज़िन्दा हैं और सब तो मर गये। सुना ? जाने दो, मरैं कटैं कुछ दिन—यही ठीक है--

पा०—ऐसा न कहिए--अभी प्रलय का समय नहीं आ गया !

शिव--तो तुम्हीं मना क्यों नहीं करतीं--हर साल तो जाती हो बाप के यहाँ। क्या आँख में पट्टी बाँध कर जाती हो ?--सिर्फ़ हमी को आँख बन्द किये देखती हो--पर आँख मूदने में तुम्हें भी कितना सुख मिलता है शिव की शक्ति !—

पा०--अब आँख कान दोनों खोलने पड़ेंगे, धरती रो रो कर सिर पटक रही है—उसके अधिकांश बच्चे भूखों मर रहे हैं—और असभ्यों, मूर्खों, जंगलियों की तरह लड़ रहे हैं—

शिव—मेरे प्यारे भक्त सब !

पा०—भक्त नहीं—तुम्हारी हक़तलफ़ी करने वाले—नारद कह रहे थे--ऐसी कलें बनाई हैं—एक छोड़ी हज़ारों साफ़, और बड़े बड़े नगर बात की बात में छार खार—

शिव—यह भी अपना काम कर रहे हैं—मेरे एक प्रकार के उपासक ये भी हैं। सब एक दूसरे से लड़कर लड़कर 'विश्व-शान्ति' फैलाना चाहते हैं।

पा०—तुम्हें तो ये मानते-जानते तक नहीं, और जो तुम्हें कुछ कुछ जानते हैं वे यों ही—बिना लड़े—बिना कोई मशीन बनाए—घर बैठे मरे जा रहे हैं—रोटी तक नहीं पाते—

शिव—वही भारत वालों की बातें कर रही हो न—दो नावों पर चढ़ने का नतीजा और क्या होगा ? दफ़्तरों में नौकरी करते हैं—वहाँ नक़ल करने का ही काम होता है ज़्यादातर। यही करते करते सब नक़लची हो गये, और सब काम गये भूल।

[नैपथ्य में वीणा-वादन—कुछ क्षण, सितार या बीन पर भैरों राग का आलाप होता है।]

शिव—वीणा बज रही है न ?

पा०—ख़ैर सुनाई तो पड़ा—कान पर से जटा तो हटी ! नारद आ रहे हैं, साथ में बहिन वसुन्धरा हैं—मैं समझा बुझाकर अपने यहाँ बैठा आई थी, कि ध्यान भङ्ग मत करो, मैं ही समय देखकर सब समझा दूँगी, पर मुझे देरी करते देख सब खुद ही चले आ रहे हैं। साथ में दो आदमी और हैं—

शिव—ये दो और कौन ?

पा०—इनमें से एक का नाम नारद ने 'साइन्स' बताया है और दूसरे हैं आपके सहकारी मंगल—युद्ध देवता—

शिव—'मार्स'--नारद लाया है इन्हें ! उसको और काम क्या—लड़ाई लगवाना--फिर उसे बन्द कराते फिरना—पर उस नन्दी को क्या हो गया ? रात तो बीत चली--मेरी शक्ति ! रात कितनी है ?

पा०—फिर रात—अच्छा ख़ैर—मैं जाकर उसे भेजे देती हूं। धरती की बातें ज़रा ध्यान से सुनो—वसुन्धरा का रोना मुझसे नहीं सहा जाता--

× × ×

शिव—कहो भाई नारद ! अच्छे तो हो ? इतनी रात कैसे कष्ट किया ?

ना०--भगवन् ! क्या बताऊँ, कैसा हूँ—'टिकट' कहने का मिल गया पर इस 'अच्छे' का मतलब नहीं समझ पाता—जो एक के लिये अच्छा है वही दूसरे के लिये बुरा है न ? बड़ा शोर गुल सुन ज़रा दुनिया की सैर को निकला था—सो—

शिव—ठहरो—यह 'टिकट' की बात क्या वहीं से सीखी ?

ना०—जी हाँ, वहाँ सर्वत्र 'टिकट' का राज हो रहा है। खाने के लिये 'टिकट', सफ़र के लिये टिकट, एक बात में, बिना टिकट के कोई काम नहीं—रुपये की जगह टिकट, सब जगह हाहाकार, भैया मंगल की बदौलत किसी को रोटी नहीं मिल रही है। धरती के बच्चे बिना खाये मर रहे हैं।

धरती—(रोनी आवाज़) प्रभु रक्षा करो, बचाओ मेरे बच्चों को, युद्ध देव मंगल के कारण मेरे बच्चे मरे जा रहे हैं—भारत की तो बहुत ही बुरी दशा हो रही है। अनेक लोग बिना अन्न वस्त्र सूखी ठठरी लिये नंगे घूम रहे हैं।

शिव—बड़े अचरज की बात है! हिन्द अपने थोड़े से बच्चों के लिए खाना कपड़ा क्यों नहीं जुटा पाता? वह तो एक ज़माने में सारी दुनिया को रोटी दे सकने का दावा करता था। उसे लोग 'World-grainary'—दुनिया का अनाज-भण्डार कहते थे—फिर यह क्या हुआ?

धरती—वह वाक़ई पूरी दुनिया को रोटी दे सकता था और देता ही था पर अब तो उपज होते हुए भी वहाँ लोग भूखों मर रहे हैं। सरकार भी कोई तवज्जह नहीं कर पा रही है—

ना०—इसका कारण प्रभु, मैं बताता हूं। यह सब साइन्स महाराज की बदौलत है और मार्स, बस इनके मारे—

शिव—अरे 'मार्स' विचारा तो मेरा ही काम कर रहा है। क्यों वसुन्धरा, अभी उस दिन तुम्हीं न रोने आई थीं कि तुम्हारा भार बहुत ज़्यादह हो गया—तरह तरह के अत्याचारी, अन्यायी, मायावी बेहद बढ़ रहे हैं—रहने को जगह की कमी, अन्न पैदा करने के लिये ज़मीन की कमी, फ़ैशन पूरा करने के लिये दुनिया भर के कल कारख़ाने चलाने के लिये कच्चे माल की कमी! तुम्हारा बोझा हलका करने के लिये 'मार्स' गया। फिर अब क्यों रोती हो? जो होता है होने दो—

धरती—पर भगवन्, भारत में लोगों ने क्या अपराध किया? वे विचारे न किसी से दूसरे की ज़मीन मांगते थे न किसी से और किसी बात के लिये झगड़ा मोल लेना चाहते थे, सीधे सादे—

शिव—यहीं तो भूलती हो! इस तरह सारी दुनिया से अलग रह कर लोग कैसे टिकेंगे? आदान-प्रदान से ही तो जीवन बनता और चलता है। दूसरों को क्यों कोसती हो? जो लोग लड़ाई के मैदान में काम कर रहे हैं उनके लिए अन्न वस्त्र तो सभी को जुटाना पड़ेगा। पर कहां तो सारी दुनिया को रोटी दे सकने का दावा, कहां इन थोड़े से लोगों के लिये थोड़ा दे देना! शिकायत करते शर्म क्यों नहीं आती?

धरती—इस समय की दशा तो देखिये; कब की बात आप कह रहे हैं—भगवन्, आंख खोलकर एक बार इस समय की दशा देखिए—महँगी के कारण बाज़ार में आग लग रही है। जो बाज़ार में ग़ल्ला ख़रीदने जाता है उसका हाथ जल जाता है और जो न जाय उसे घर बैठे पेट की आग से जलना मरना पड़ता है। जल में मगर, बन में शेर और आसमान में बम!

शिव—पर लोग बाज़ार में ग़ल्ला ख़रीदने क्यों जावें? खेती क्या हुई? भारत भी इङ्गलैण्ड सा टापू हो गया क्या? वहां के लोगों में तो ९० फ़ी सदी से अधिक का सम्बन्ध खेती के काम से है—जो खेतिहर हैं उन्हें तो महँगी से फ़ायदा ही होना चाहिये—

धरती—उन्हें रुपये बचाने की आदत डलवाई जा रही है भगवन्! उनके नाम से महाजनी खाता खोल दिया गया है। पहिले से ही बँटवारे से उनके पास थोड़े से छोटे छोटे टुकड़े खेतों के रह गये हैं। ज़मीन वही है, नदियां वही हैं, पर खाने भर को पैदा नहीं होता—और मैं साइन्स महाराज को ज़बर्दस्ती घसीट लाई हूं। मेरी सारी ताक़त कई देशों में ये भी चूसे ले रहे हैं, मैं अन्न पैदा करूँ तो कहां से करूँ? कहते हैं—आज की सारी सभ्यता साइन्स और कल पुर्जों की सभ्यता है। सभ्यता के लिये रेल,

जहाज़ ही नहीं, अब बहुत कुछ चाहिए, और चाहिये लोहा। बस, जहां जहां मेरे पेट में लोहा है, लगे हैं सब निकालने पर, और लोहे के साथ ही साथ कोयले को भी—जो इस सभ्यता का दाहना हाथ है। और फिर सब मशीनों, गाड़ियों को चलाने के लिये तेल चाहिये। इसलिये हमारे पेट में हज़ारों सूराख बना बना कर हमारा सब तेल चूसने लगे। और सभ्यता के लिये बड़े बड़े शहर और आसमान चूमने वाली इमारतें ज़रूरी हैं। इनके बनाने और सजाने के लिये लकड़ी और लकड़ी के हर क़िस्म के सामान चाहिए। इसलिए सारे जंगल कटवा डाले। अब इनको—साइन्स महाराज को—कौन समझावे कि यही तेल, कोयला, लोहा वग़ैरह से ही मेरी शक्ति है। मेरा जिगर, फेफड़ा और ख़ून सब ये निकाल लेंगे तो मैं कहां से अन्न पैदा करूँगी ?

शिव०—(अँगड़ाई) हूँ—मैं—अच्छा तो साइन्स महराज ! कहो क्या जवाब है तुम्हारे पास—तुम विचारी पृथ्वी को क्यों चूसे डाल रहे हो ?

साइन्स—(मशीन की सी तीखी आवाज़) महाराज मुझे क्या मालूम ? मैं तो अपनी समझ से सब इनके फ़ायदे के लिये ही कर रहा था—

वसुं०—हूँ, यह तो ऐसा कहेंगे ही—ये कब इस बात को मानेंगे कि जंगलात कटवा देने से पानी कम बरसता है, और वक्त पर नहीं बरसता, जिससे पहाड़ों को धोता हुआ बरसात का पानी नदियों को नहीं भर पाता, जिससे आबपाशी नहीं हो पाती।

सा०—और हम जो सैकड़ों नहरें बनवाते हैं सो ?

व०—(करुण हंसी के साथ) उनसे हमारी प्यास उतनी ही बुझती है जितनी गोद लिये हुए—adopted son—से मां की हविस। नदियों की बीचों जगह से काट इन्हें पुलों की चूड़ियाँ, डैम की जंजीरें पहना क्या ख़ूब तमाशा बनाया है आपने—

सा०—प्रभु, यह मुझे ही क्यों सब अनर्थों का कारण बता रही है ? सभ्यता की रक्षा हमारे ज़िम्मे है, हम क्या करें—बताइये—मानवता की रक्षा—

व०—(ऊँची आवाज़ से) हूं—चलो चुप भी रहो—सभ्यता की रक्षा ! मानवता की रक्षा ! शर्म तो आती नहीं ! जरमनी किससे कम था साइन्स में, कल पुर्ज़ों में, उद्योग में ! पर उसका पेट तो तुम न भर सके ? अगर साइन्स और उद्योग से ही उसका पेट भर सकता, तो क्यों इतने अधिक सिपाही लेकर इस सत्यानाशी जंग में आता ? अब भी नहीं समझे कि तुम्हारे करिश्मे सभ्यता और मानवता के विनाश में ही सहायक हो रहे हैं न कि रक्षा में—

शिव—अच्छा मंगल तुम क्या कहते हो ?—अभी तुम्हारा काम कितना बाक़ी है ?—

म०—ख़तम हुआ जाता है—अगर प्रभु, एक बार पृथ्वी-पर्यटन कर लें—

शिव—ज़रूर-ज़रूर, सच्चे लोक-तन्त्र की स्थापना तभी तो होगी—

(वीणा का तार छिड़ता है)

शिव—क्यों नारद, कुछ सुनाना चाहते हो ?

ना०—हां महाराज, इनका क्या फ़ैसला होता है ? विचारी धरती माता को पूरा आश्वासन हो जाय।

शिव—(अँगड़ाई) कह तो दिया और अब क्या बतावें नारद ? धीरे धीरे सब ठीक हो जायगा। भारत के भी दिन फिरेंगे। इसीलिये दुनिया का मुख्य ध्यान अब उसकी ही ओर है। वहां हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई का ही नहीं अन्य सबका भी पूरा मिलन होगा। वहां ठीक काम करने वाले कभी भेजे जा चुके हैं। इस नये साइन्स युग और मशीन युग का सच्ची मानव संस्कृति और मानव धर्म से वहीं सामञ्जस्य होगा। उसका भविष्य तो बहुत उज्ज्वल है, गौरवपूर्ण है।

ना०—पर फिलहाल महँगी से ही जो मरे जा रहे हैं ?

शिव—तुम भी ऐसा कह रहे हो नारद ! जान पड़ता है अब आंखें खोलनी ही पड़ेंगी। लंका टापू के दश विभागों—दश सिरों—Ten heads के मालिक रावण की जो कैलाश को अपने हाथों पर उठा लेने

का दम भरता था और अपने को मेरा परम भक्त मानकर मशीनों और वैज्ञानिक शक्तियों का अधिपति हो गया था, अन्त में क्या दशा हुई थी ? पर अहिरावण तक को उसने ख़तम करा दिया था न ?

ना०—जय हो देव, जय हो सच्चे लोकतन्त्र की ! उसके बिना अब काम नहीं चल सकता। शिव और शिवा उसकी स्थापना करा सकते हैं।

शिव—नहीं, सब सच्चे मानव—स्त्री और पुरुष दोनों—ऐसा करते हैं ! नन्दी कहां है ?

पा०—मैं उसे बुलाने गई तो देखा कि मन लगा कर अंग्रेज़ी की पहली किताब रट रहा है !

शिव—बहुत हुशियार अपने को समझता है वह ! गणतन्त्र के संस्थापक गणेश को उसके पास भेज दो। तुम भी तैयार हो जाओ। हम सब एक बार धरनी की दशा देखने चलेंगे। (मुंह से धुवां निकलता है।)

पा०—यह क्या ? क्या अभी गैस-युद्ध भी होगा ? ऐसा न कीजिएगा।

शिव—अन्याय की एक सीमा होती है, उसका प्रतिफल मिलता ही है, अब पट-परिवर्तन होने जा रहा है। तैयार हो जाओ। सभी तरह की अन्यायी व्यवस्था का अन्त निकट है। आओ, नारद ऐसा ही गान गाओ।

[वीणा पर शिव-कथा का आलाप क्षण भर]

गीत

श्री जितेन्द्रकुमार

मुक्त करो मानव, मानस के रुद्ध द्वार को मुक्त करो हे !
देखो, प्राची के नभ में यह
नव युग का अरुणोदय सुन्दर;
नूतन छवि, नव - प्रात-समीरण
नया विहग-रव, नव-जागृति-स्वर !
अन्धकार-आवृत् अन्तर को नव किरणों से आज भरो हे !
मुक्त करो मानव, मानस के रुद्ध द्वार को मुक्त करो हे !!

विस्मृत कर दो द्वेष - दम्भ,
वैषम्य भरा दुःस्वप्न रात का:
दिशि-दिशि में यह गूंज रहा है
सुनो सुभग सन्देश प्रात का—
"स्नेह-सूत्र में बँध कर सुख का नया स्वर्ग - निर्माण करो हे !"
मुक्त करो मानव, मानस के रुद्ध द्वार को मुक्त करो हे !!

ऊँच - नीच के भेद मिटें सब
छिन्न-भिन्न हों कृत्रिम बन्धन;
हो स्वाभाविक स्नेह - सम्मिलन,
हो सर्वत्र स्नेह का शासन !
स्नेह-गगन में मुक्त विहग-सा मानव, युग-युग तक विचरो हे !
मुक्त करो मानव, मानस के रुद्ध द्वार को मुक्त करो हे !!

हिन्द महासागर

डाक्टर एस० मिस्त्री

भौगोलिक स्थिति और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास और किसी सभ्यता, जाति या किसी देश का इतिहास दोनों पर्यायवाची और समानार्थी हैं। इस दृष्टि से यह बात आश्चर्यजनक किन्तु बिलकुल सच है कि प्राचीन भारत की सभ्यता की प्रगति और हिन्द महासागर का अटूट सम्बन्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत ने हिन्द महासागर को जो महत्व और गौरव प्रदान किया वह धरती की सतह पर किसी दूसरे सागर को नहीं नसीब हुआ।

प्रशान्त महासागर, अटलान्टिक और हिन्द महासागर के इतिहास में उतना ही अन्तर है जितना उनके रूप और प्राकृतिक आकार में है। ऐतिहासिक काल की प्रारम्भिक अवस्था से ही हम देखते हैं कि हिन्द महासागर ने उन अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओं को जन्म दिया जो चार हज़ार वर्ष तक अपने शौर्य की किरणें सारी दुनिया पर बिखेरती रहीं। जब हिन्द महासागर की लहरों पर भारतीय सभ्यता ने अठखेलियां करना बन्द कर दिया और चारों ओर एक नीरव निस्तब्धता छा गई तब अटलान्टिक के इतिहास की पहली कड़ी शुरू हुई। इसी तरह प्रशान्त महासागर को भी कोई गौरव प्राप्त न हो सका हालांकि सभ्यताओं के विकास के पूर्व प्रशान्त महासागर मानव जाति का केन्द्र था और बाद में उसके एक किनारे अत्यन्त प्राचीन और महान चीनी सभ्यता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रशान्त के वक्षस्थल पर असंख्य निर्जन द्वीप समूह उस काल की व्यापारिक उन्नति में ज़बर्दस्त बाधक थे जबकि हिन्द महासागर का इतिहास शताब्दियों तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास था। यह दूसरी बात है कि इसके लम्बे इतिहास में समय समय पर नई नई और भिन्न भिन्न परिस्थितियां पैदा होती रहीं फिर भी इसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रधानता ज्यों की त्यों क़ायम रही। जो भी राष्ट्र हिन्द महासागर पर अपने जल-पोत दौड़ाता था उसका प्रधान उद्देश्य अपने वैदेशिक व्यापार को प्रोत्साहन देना होता था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में व्यापारिक उद्देश्य की प्रधानता आज की तरह उस काल की भी विशेषता थी। वास्तव में व्यापार के आदर्श से ही आज की तरह उस काल में भी संस्कृति और सभ्यता को पुरष्कृत रूप मिलता था। इस उद्देश्य की प्राप्ति में बहुत से देश चोट खा गये और बहुतों को आश्चर्यजनक सफलता मिली। एक प्रसिद्ध लेखक लिखता है—"व्यापार आश्चर्यजनक ढङ्ग से गहराई में जाकर यश और उन्नति के द्वार खोल देता है और राष्ट्रों को इस तरह की उन्नति की झलक दिखाता है जो वह और किसी तरह नहीं प्राप्त कर सकते।"

हिन्द महासागर की सब में बड़ी विशेषता यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तमाम सामुद्रिक मार्ग उसी की छाती को चीरते हुये जाते थे। प्रशान्त महासागर और अटलांटिक महासागर दोनों उस समय जलमार्ग और जहाज़रानी के अयोग्य, जल के निकम्मे भण्डार थे। पुर्तगालियों की खोज ने पहली बार व्यापार के जलमार्गों को बदला। सुएज़ की नहर के फिर से निकल आने से इसमें कुछ अन्तर ज़रूर पड़ा किन्तु फिर हिन्द महासागर को वह पुरातन गौरव प्राप्त न हो सका। लेकिन भविष्य के लिये यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि भारत, अरब, पूर्वीय अफ़रीक़ा, लंका और समस्त मलाया प्रायद्वीप व्यापार जगत में पूर्ण और मुनासिब महत्व को यदि प्राप्त करेंगे तो हिन्द महासागर भी अटलाण्टिक और पैसेफ़िक को पीछे धकेल कर फिर से अपने खोये हुये महत्व को प्राप्त करेगा। जहाज़-

रानी और व्यापार की मिक़दार दोनों में वह प्रशान्त और अटलाण्टिक से सफलतापूर्वक टक्कर लेगा।

हिन्द महासागर के पहले सामुद्रिक और नाविक प्राचीन मिस्री थे। मिस्री इतिहास में इस बात की चर्चा आती है—हज़रत ईसा से सोलह सौ वर्ष पूर्व मिस्री नाविक बड़े बड़े जलपोतों में समुद्री मार्ग से 'पन्त' के देश जाते थे और वहां से चन्दन, गरम मसाला और हाथीदांत की बहुमूल्य वस्तुयें लाते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी ईसा पूर्व में मिस्री सम्राज्ञी हेतशेप-सूत की इस तरह की समुद्र यात्रा का भी वर्णन मिलता है। इससे एक बात तो निश्चित हो ही जाती है कि मिस्री कम से कम लाल सागर और अरब सागर में अपने जहाज़ लाते थे। 'पन्त' का देश कौन सा था और कहां तक वे आगे जाते थे यह बात इतिहास अभी निश्चित रूप से नहीं बताता।

मिस्रियों की तरह अरब नाविक भारत यात्रा के उद्देश्य से अपने जहाज़ हिन्द महासागर में लाते थे। ईसा की सातवीं से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक अरब नाविक भारतीय माल को यूरोप की मण्डियों में पहुंचाने में मदद देते थे। हिन्द और हिन्द महासागर दोनों अविभक्त शब्द थे और एक ही विचार की प्रतिध्वनि इससे उठती थी। पश्चिमीय इतिहासज्ञों ने एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी यह फैला रखी है कि यूरोप और मध्य पूर्व के देश भारतीय व्यापार में दिलचस्पी लेते थे और इससे वे यह अर्थ निकालते हैं कि भारत का समस्त वैदेशिक व्यापार विदेशियों के हाथों में था; भारतीयों को न तो जहाज़रानी से शौक़ था और न उनके पास अपने जलयान थे। इससे अधिक भ्रमपूर्ण बात कोई दूसरी नहीं हो सकती। इस बात के अकाट्य प्रमाण मौजूद हैं कि मौर्यों, गुप्तों और चोलों के समय में हिन्द महासागर पर भारतीय जलयान दौड़ते थे और नाविक की हैसियत से भारतीय बहुत निपुण थे। ईसा की प्रारम्भिक सदियों में भारतीय रोमन व्यापार के चालक भारतीय नाविक ही थे। यह कहना कि विदेशी व्यापार भारतीयों के राष्ट्रीय स्वभाव के विपरीत है एक ग़लतबयानी है जिसका हाल के ऐतिहासिक अन्वेषणों से पूरी तरह खण्डन हो चुका है।

यूनानी लेखकों और भौगोलिकों को हिन्द महासागर का बहुत अधूरा और उड़ता हुआ ज्ञान था और जब जब इन्होंने हिन्द महासागर की चर्चा की है उसमें अपनी कपोल कल्पना और अधूरे ज्ञान का प्रदर्शन किया है। यूनानी भौगोलिकों की दुनिया की कल्पना उपहासास्पद है। उनकी राय में जिन पहाड़ियों से नील नदी निकलती है उसके बाद समुद्र का एक सिलसिला शुरू हो जाता है। दक्षिणी अफ़रीक़ा की उन्हें कोई कल्पना न थी। उनकी राय में समुद्र का यह सिलसिला आस्ट्रेलिया तक चला जाता था। हिन्द महासागर को एक बन्द समुद्र (Inland sea) की तरह जानते थे। उनकी राय में लाल सागर से अफ़रीक़ी समुद्र मिलता था। वे यह समझते थे कि अफ़रीक़ा की ज़मीन मलाया से जुड़ी हुई है। भूगोल की यह भयंकर भूल टालेमी ने भी की थी जो मध्यकाल तक प्रामाणिक भौगोलिक मान कर पढ़ा जाता था। सैकड़ों वर्ष तक यूरोप के लोग हिन्द महासागर को एक बन्द समुद्र की तरह जानते रहे।

हिन्द महासागर के इतिहास से जो एक दूसरी बात बहुत स्पष्ट रूप में हमारे सामने आती है वह यह है कि पश्चिम को हमेशा पूरब से मिला ही है, पूरब ने कभी पश्चिम से कुछ नहीं लिया। यह सिद्धान्त महज़ व्यापार के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में भी यही कैफ़ियत थी। एक और बात का भी पता चलता है वह यह है कि जिसके हाथ में ईरान की खाड़ी और लाल सागर होते थे वह यूरोपीय देशों के साथ भारतीय व्यापार के एजेण्ट का काम करता था। जब तक भारत का ऐश्वर्य रहा हिन्द महासागर पर उसका सम्पूर्ण प्रभुत्व और एकाधिकार रहा। आज सामुद्रिक स्वतन्त्रता का जो नारा बुलन्द किया जा रहा है वह इस बात का द्योतक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर

आज किसी का एकाधिकार नहीं और सब देशों के बीच में एक दारुण संघर्ष चल रहा है।

यूरोप की गोरी जातियों ने हिन्द महासागर पर दख़ल जमाकर पूर्वीय देशों के व्यापार को भले ही असंगठित कर दिया किन्तु इनकी सभ्यता और संस्कृति को वे ठेस न पहुंचा सके। इसके मुक़ाबले में अटलाण्टिक के किनारे बसे हुये देशों को उन्होंने अपने ही रंग में रंग लिया। यूरोप की जंगली और बर्बर क़ौमें आज अटलाण्टिकी देशों में सभ्यता और संस्कृति की दावेदार बनी हुई हैं। हिन्द महासागर की लहरें स्वाभिमान के साथ आसमान के नीचे अपना सर उठा सकती हैं और सन्तोष अनुभव कर सकती हैं कि पश्चिम का घातक हमला केवल उन्हें सतही चोट पहुँचा सका। अटलाण्टिक और प्रशान्त की तरह उसने अपनी आत्मा को ग़ुलामी में नहीं बेचा।

अटलाण्टिक और प्रशान्त महासागर के मुक़ाबले में हिन्द महासागर का सब में महत्वपूर्ण काम यह रहा है कि न केवल व्यापार के क्षेत्र में बल्कि धर्म, संस्कृति, मानव जाति-विज्ञान आदि के क्षेत्र में भी सारी दुनिया का वह शिक्षक और प्रदाता रहा है। डाक्टर के० व्यूल के शब्दों में—"हिन्द महासागर की इस विशेषता ने भारतीय मिस्री सभ्यताओं को वैभव और यश प्रदान किया। हिन्द महासागर की उत्तर-पश्चिमी सीमा में भारत और अफ़रीक़ा की सभ्यताओं ने अपनी महानता का प्रदर्शन किया और इसलाम पर भी हम हिन्द महासागर की महानता की ही छाप देखते हैं।

अटलाण्टिक और प्रशान्त मसासागरों के पास ऐसा गौरवपूर्ण कोई इतिहास नहीं। एक अर्थ में हिन्द महासागर बन्द समुद्र है क्योंकि उसकी उत्तरी सीमायें भारत को छूती हैं और उसकी आत्मा में भारतीय संस्कृति और भारतीय यश वैभव पूरी तरह व्याप्त हैं। भारत के साथ उसका अटूट मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है। उसकी लहरों में भारतीय अध्यात्मा अठखेलियां करता है और इसीलिये वह प्रशान्त की तरह निर्जन और एकरूप नहीं है।



राष्ट्रीयता से लोकप्रियता

श्री गोरखनाथ चौबे, एम० ए०

समय के अनुसार चीज़ों का मोल घटता बढ़ता रहता है। विचार एक वस्तु है। उसकी भी क़ीमत कम और अधिक होती रहती है; यहाँ तक कि वही विचार एक जगह सम्मान पाता है और दूसरी जगह उसी समय तुच्छ और घृणित समझा जाता है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि एक ही समय में किसी देश में यथेष्ट धार्मिक स्वतन्त्रता थी और किसी में धर्म की स्वतन्त्रता चाहने वालों को तलवार के घाट उतारा जाता था, लोग ज़िन्दे आग में झोंक दिये जाते और मछली की तरह तड़प तड़प कर मर जाते थे। जिस सोलहवीं सदी में मुग़ल ज़माने में हिन्दुस्तान के लोग हर तरह की आज़ादी महसूस करते थे, और राजा-प्रजा में हर तरह का प्रेम था, उसी सदी में ट्यूडर काल (Tudor Perio) में इंगलैण्ड के अन्दर लोग ऐसी आज़ादी के लिये तड़प रहे थे। राजा प्रजा में लड़ाई के बादल इस क़दर मँडरा रहे थे कि कुछ ही वर्ष बाद वहाँ घरेलू युद्ध (Civil war) आरम्भ हुये बिना नहीं रह सका। इसी तरह जिस समय यूनान की सभ्यता अपनी चोटी पर पहुंच चुकी थी, उस समय दुनिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा जंगली था, उसे सभ्यता का नाम भी न मालूम न था।

संसार में हज़ारों घटनायें रोज़ ऐसी हो रही हैं, जो एक दूसरे से मेल नहीं खातीं। जब हम किसी विवाह और दावत की ख़ुशी में चूर हैं, तो कुछ लोग अपने भाई बन्धुओं को खाट पर लादे 'राम राम सत्य है' के नारे लगाते मुर्दा घाट की ओर चले जा रहे हैं। उनकी आत्मा उस समय दुखी है और वे चुपचाप दाह-क्रिया करके घर को लौटे आते हैं। जब एक ही समय में घटनाओं में इतनी विषमता है, तो दो ज़मानों के विचारों के फ़रक़ पर हमें ताज्जुब करने की कोई ज़रूरत नहीं। किसी ज़माने में धर्म को प्रधानता दी गई थी। उसके एक निश्चित रूप को सब को मानना पड़ता था। राजनीति उसी के विरुद्ध न होती थी। जो ऐसा नहीं करते थे उन्हें राजद्रोही समझ कर दंड दिया जाता था। लगभग हर देश के इतिहास में ऐसा समय गुज़र चुका है। पर अब आज बीसवीं सदी में राष्ट्रीयता की ही तूती बोलती है और धर्म का स्थान राजनीति ने ले लिया है। जिस देश के हाथ में ज़्यादे से ज़्यादे देशों की हुकूमत है, वह सब से बलवान समझा जाता है। एक देश में जो जमात राजनीति में अपना बहुमत रखती है, उसी की बात मानी जाती है। उसी के हाथ में सरकार की बागडोर होती है। राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म है। जिस देश में इसका अभाव है वह जंगली, असभ्य तथा पिछड़ा हुआ समझा जाता है। संसार के 'सभ्य' देशों में से कोई उसे हथिया लेता है या ऐसे कई उसे बाँट लेते हैं या बाँट लेना चाहते हैं। हिन्दुस्तान, चीन, अफ्रीका तथा और भी छोटे मोटे देश ऐसे ही रहे हैं।

हमें इस पर विचार करना चाहिये कि धर्म की शक्ति राजनीति में क्यों कर आई। धर्म एक गम्भीर विषय है। इसमें स्वर्ग, ईश्वर, आत्मा, मुक्ति, जन्म-मरण, कर्मयोग आदि गूढ़ विषयों पर विचार किया जाता है। लोग इसीलिये इस पर श्रद्धा करते थे कि उन्हें ईश्वर की प्राप्ति होगी, स्वर्ग मिलेगा और लोक तथा परलोक दोनों में उनकी गति होगी। वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जायेंगे। जब तक हृदय से लोग इन बातों में विश्वास करते रहे, तब तक धर्म का स्थान अत्यन्त ऊँचा था। संसार की और ताक़तें उसके मुक़ाबिले में छोटी थीं। लेकिन कुछ समय बाद लोगों की श्रद्धा कम होने लगी। सांसारिक जीवन स्वर्ग की कल्पनाओं से उन्हें कहीं अधिक सुखमय दिखाई देने लगा। फिर क्या था, धर्म एक दिखावे की चीज़ रह गई।

ऊपरी वेश भूषा तो धार्मिक रहा, परन्तु भीतर से उनके अन्दर धर्म एक बन्धन मालूम पड़ने लगा। संसार के प्रलोभनों में वे लिप्त होते गये। जब तक उनकी दुनिया स्वर्ग में भी थी, तब तक तो धर्म उन्हें सँभाले था, लेकिन जब इस संसार को ही उन्होंने सुख और दुख दोनों का स्थान समझ लिया, तब एक दूसरी शक्ति की उन्हें आवश्यकता पड़ी। अब उन्हें कोई दुनियावी ताक़त की ज़रूरत थी, जो सब को एक सूत्र में बाँध कर रखती। वही शक्ति राजनीति होगई। परलोक से सर्वथा इह लोक में आकर मनुष्य ने धार्मिक बन्धन को हटाकर राजनैतिक बन्धन को ही ग्रहण कर लिया। इससे धर्म के स्थान पर राजनीति का महत्व बढ़ने लगा और लोग धीरे धीरे भौतिकवादी होते गये।

वैसे तो प्राणी मात्र सोचने, विचारने तथा कुछ करने के लिये स्वतन्त्र हैं, परन्तु समाज की दृष्टि से उन्हें भले बुरे का ज्ञान होना चाहिये। मनुष्य समाज तो इसके बिना चल ही नहीं सकता। यदि प्रत्येक मनुष्य भले बुरे का ज्ञान प्राप्त कर ले, और एक दूसरे की उन्नति में बाधा न डाले, तो उसकी स्वतन्त्रता में कोई भी बाधा नहीं पहुँचा सकता। साधु, सन्यासी, फ़क़ीर, पादरी निहायत संयम का जीवन व्यतीत करते हैं। अपनी उन्नति के साथ साथ वे समाज-हित का भी ध्यान रखते हैं। कोई भी कार्य उनसे ऐसा नहीं होता जिससे किसी को कष्ट पहुँचे। इसीलिये वे हर तरह स्वतन्त्र हैं। उनके लिये सामाजिक और राजनैतिक किसी भी विशेष बन्धन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु समाज में सब से बड़ी संख्या तो उस वर्ग की है जो साधारण जीवन व्यतीत करता है। उसे ठीक मार्ग पर रखने के लिये किसी न किसी बन्धन का रहना अनिवार्य है। जब तक लोगों का ध्यान स्वर्ग और ईश्वर की ओर था तब तक धर्म उनके लिये एक बन्धन के रूप में था। परन्तु लौकिक जीवन में बन्धन भी लौकिक ही होना चाहिये, यह मान कर ज्यों ज्यों लौकिक जीवन बढ़ता जा रहा है उसी तरह लोग सांसारिक वस्तुओं के गुलाम होते जाते हैं और राजनैतिक बन्धन का महत्व बढ़ता जाता है। इसी से आज कल की राष्ट्रीयता राजनैतिक शक्ति की पहचान होगई है।

अब किसी भी देश की उन्नति राष्ट्रीयता के बिना नहीं हो सकती। पर आज जो देश राष्ट्रवादी हैं उनमें से अधिकांश साम्राज्यवादी हैं। वे मानते हैं कि राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ति है जो देशवासियों को पूर्ण 'उन्नति' का पाठ पढ़ाती है। 'उन्नति' शब्द बहुत ही व्यापक है। इसमें आर्थिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, मानसिक तथा धार्मिक सभी तरह की उन्नति शामिल है। यदि राष्ट्रीयता से ये सभी प्रकार की उन्नतियाँ वास्तव में हो सकती हैं, तब तो यही मान लेना होगा कि 'राष्ट्रीयता' उन्नति का ही पर्यायवाची शब्द है। परन्तु राजनीति का कोई भी विद्वान् इसे मानने पर तैयार न होगा। राष्ट्रीयता राजनैतिक उन्नति की ही सूचक है। जो देश राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र और उन्नतिशील है, वही 'राष्ट्र' कहलाता है और अधिकतर ऐसे ही राष्ट्र राष्ट्रवादी हैं। पर हो सकता है कि आर्थिक दृष्टि से एक ऐसा देश स्वयं ग़रीब हो, आध्यात्मिक विकास में पीछे हो, अथवा ज्ञान के क्षेत्र में वहां शिक्षा की कमी हो। इतनी कमज़ोरियों के बावजूद यदि वहां की सरकार सुसंगठित है और उसका सिक्का दो चार और देशों पर भी जमा हुआ है, तो वह पहले दर्जे का ही राष्ट्र गिना जायगा।

कुछ लोग राष्ट्रीयता को आदर्श से जोड़ देते हैं। जिस प्रकार धनी मनुष्यों में कुछ लोगों को अच्छाइयां ही दिखाई पड़ती हैं, और अपनी बुद्धि जैसे सबको ठीक मालूम पड़ती है, उसी तरह हर राष्ट्रवादी को लोग आदर्शवादी भी मानने लगे हैं। जैसे ब्रिटेन एक उन्नतिशील राष्ट्र माना जाता है; उसके पास ५० करोड़ जन संख्या का एक साम्राज्य है। इसी शक्ति को देख कर लोग अकसर कहते हैं कि अंग्रेज़ बहादुर और बात के पक्के होते हैं; कठिन से कठिन परिस्थिति में घबड़ाना नहीं जानते। उनके रहन सहन तथा वेश भूषा की भी प्रशंसा की जाती है। अंग्रेज़ी क़ौम की कई बातों की जितनी भी प्रशंसा

की जाय सब ठीक है। लेकिन कोई भी निष्पक्ष अंग्रेज़ यह स्वीकार करेगा कि उनके अन्दर भी नाना प्रकार की कमज़ोरियां हैं। राजनैतिक उन्नति को देख कर हम उस देश पर इतने लट्टू हैं कि उसकी सारी कमज़ोरियों पर परदा पड़ जाता है। इसलिये बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता मनुष्य के जीवन से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना उसके देश की राजनीति से। राजनैतिक उन्नति को ही राष्ट्रीय उन्नति कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है, जो देशवासियों के अन्दर राजनैतिक उन्नति के लिये ही पैदा होती है। पर चूंकि छोटी मोटी कई प्रकार की उन्नति के बिना राजनैतिक उन्नति नहीं हो सकती, इसलिये राष्ट्रीयता के अन्दर लगभग सभी तरह की उन्नति शामिल कर ली जाती है। ग़रीब राष्ट्र, दुखी राष्ट्र, अशिक्षित राष्ट्र, बलहीन राष्ट्र आदि तरह तरह के राष्ट्र सुने जाते हैं, परन्तु 'परतन्त्र राष्ट्र' कहीं भी नहीं सुना जाता। जो देश परतन्त्र है वह राष्ट्र नहीं कहला सकता। दोनों शब्द एक दूसरे के विरोधी हैं। शीतल आग और गरम बरफ़ नहीं हो सकते। राजनैतिक उन्नति को अलग कर हम राष्ट्रीयता पर विचार नहीं कर सकते। राष्ट्रीयता राजनीति का एक पारिभाषिक शब्द (Technical Teram) है। राज्य की एक विशेष अवस्था को, चाहे वह किसी भी नीति से पैदा हुई हो, राष्ट्र कहते हैं।

राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म या सर्वस्व है। किसी युग में ज्ञान की महत्ता थी। जो ज्ञानी होता था, समाज में उसका आदर था। ज्ञानी के बताये हुये रास्ते पर चलने में लोग अपना गौरव समझते थे। एक युग केवल 'बल' का भी था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त चलता रहा। वर्तमान युग राष्ट्रीयता का युग है। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी भी युग में पिछले सिद्धान्तों का लोप नहीं हो जाता। इस युग में भी ज्ञान और बल का महत्व कम नहीं है। उन्नतिशील राष्ट्रों के पास ये दोनों शक्तियां मौजूद हैं। इतना अवश्य है कि इनका सदुपयोग मनुष्य के कल्याण के लिये नहीं हो पाता। जिस किसी देश को आज ये तीनों शक्तियां ज्ञान, शक्ति और स्वतन्त्रता मिल जाती हैं, वह आगे बढ़ने लगता है और कुछ ही दिनों में लड़ाई का कारण बन जाता है, क्योंकि अन्य राष्ट्र उससे द्वेष करने लगते हैं। इस तरह एक की उन्नति बहुतों की अवनति का कारण बन जाती है।

इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीयता इस समय एक पाशविक बल है। इसका उद्देश्य दूसरे देशों को, चाहे वे कितने भी सभ्य और आध्यात्मिक क्यों न हों, लूटना और कमज़ोर बनाना है। यदि इन राष्ट्रवादी देशों का उद्देश्य ऐसा न होता, तो आपस में इन्हें लड़ने की आवश्यकता ही क्या थी। इसलिये सिद्धांतरूपेण राष्ट्रीयता चाहे जितनी भी ऊँची चीज़ हो, परन्तु कार्य रूप में यह एक ऐसा ज़हर हो गया है, जो देश वासियों को पागल बना देता है। वे अपनी सभ्यता, अपने विचार, अपने बल तथा अपनी बुद्धि पर इतना गर्व करने लगते हैं कि दूसरे देशों की अच्छी से अच्छी विचारधारा उन्हें छिछली मालूम पड़ती है। वे हर प्रकार से दूसरे देशों पर हावी होना चाहते हैं। इसीलिये उन्हें फ़ौज और हथियार की ज़रूरत पड़ती है। तरह तरह के बहाने लेकर वे संसार की शान्ति को भङ्ग करते हैं। लड़ाई उनके जीवन का एक अंग बन जाती है। यद्यपि इनके इस दूषित और घृणित कार्य से मनुष्यमात्र को कष्ट पहुंचता है, परन्तु आवेश में आकर वे कष्ट की उतनी चिन्ता नहीं करते, जितनी अपनी हार जीत की। ऐसी दशा में आज कल राष्ट्रीयता की वृद्धि से सुख और शान्ति की कैसे आशा की जाय?

शब्दों के उलट फेर से अर्थ में चाहे जितनी भी तब्दीली हो जाय, परन्तु यदि भावों में परिवर्तन नहीं है, तो इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। राष्ट्रीयता 'शब्द' के अन्दर एक ऐसा संकीर्ण भाव पैदा हो गया है कि सच्चे विचारकों को यह कर्णप्रिय नहीं हो सकता। उदार भाव के लिए इसके स्थान पर 'लोकप्रियता' शब्द अधिक उपयुक्त है। जब तक

मनुष्य अपने ही देश को स्वर्ग समझेगा, अपनी ही संस्कृति उसे सब से प्राचीन और ऊँची मालूम होगी तथा अपने ही देश की उन्नति अवनति के दायरे में घिरा रहेगा, तब तक वह मानव समाज का हित नहीं सोच सकता। 'लोक प्रियता' का सिद्धान्त लोगों को इस बात का अवसर ज़रूर देगा कि वे मनुष्य को स्वदेशी और विदेशी न समझें। पिछले ५० वर्षों से संकीर्ण राष्ट्रीय भाव इतनी तेज़ी से बढ़ा है कि एक देश का निवासी दूसरे देश के निवासियों को अपना शत्रु समझने लगा है। इस वैज्ञानिक युग में मेल जोल की भावना और बढ़नी चाहिये ताकि सबके सहयोग से वैज्ञानिक अनुसन्धानों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाय। कोई भी देश आज पूरी तरह स्वावलम्बी नहीं है। आर्थिक दृष्टि से यह बुरा भी नहीं है, परन्तु सबके सहयोग की सफलता के लिये विश्वशान्ति अनिवार्य है। एक ओर तो हर देश किसी ख़ास पेशे में विशेषज्ञ बनने की कोशिश करे और अपनी अन्य ज़रूरतों के लिये कितने ही मुल्कों पर निर्भर रहे, और दूसरी ओर उन्हीं मुल्कों से लड़ाई लड़ने पर आमादा हो—इसे मूर्खता नहीं तो और क्या कहा जाय ? कोशिश तो यह होनी चाहिये कि हर दशा में प्रत्येक देश एक दूसरे के साथ हो। लड़ाइयां किसी भी देश को लाभ नहीं पहुंचातीं। थोड़े समय के लिये किसी देश का राज्य-विस्तार बढ़ जाता है, तो इसकी क़ीमत जनता को अन्त में महँगे भाव से चुकानी पड़ती है।

पर यह स्वाभाविक है कि हम अपने पड़ोसी के सुख दुख की अधिक चिन्ता करते हैं। चूंकि वह रात दिन हमारे सामने होता है और हर मौक़े पर हमें उसकी ज़रूरत है, इसलिये दूर के लोगों के प्रति हमारा वह भाव नहीं रह सकता। इसी तरह का अन्तर स्वदेशी और विदेशी लोगों में है। एक देश का रहने वाला जितनी परवाह और बेहतरी अपने देश की करेगा, उतनी दूसरे देशों की नहीं। इसीलिये कुछ विद्वान् राष्ट्रीयता को स्वाभाविक गुण मानते हैं। परन्तु शिक्षा और ट्रेनिंग द्वारा लोगों का संकुचित भाव व्यापक किया जा सकता है। यदि हम अपने देश के कल्याण के लिये मरने मारने को तैयार हैं, तो हम इसी शक्ति का उपयोग सबके लिये क्यों नहीं करते ? अपने देश की बेकारी और ग़रीबी जब हमें खटकती है, तो दूसरे देशों में भी इन्हें देखकर हमें तकलीफ़ होनी चाहिये। हो सके तो हमें वहां जाकर उसकी दवा भी करनी चाहिये। मिशनरी कार्यकर्ताओं का कर्तव्य केवल धर्म प्रचार करना नहीं है। धर्म तो हर प्रकार के लोगों की सेवा में है। इसी भाव को पैदा करने के लिये 'लोकप्रियता' सबसे उपयुक्त है।

किसी नई भावना के प्रचार के लिये नये संगठनों की आवश्यकता पड़ती है। यह भी आवश्यक है कि बहुत से लोग इस दिशा में कार्य करें। अभी तक इस मसले पर यथेष्ट ग़ौर नहीं किया गया कि लोकप्रियता के लिये क्या क्या किया जाय। सबसे पहले तो इसके उद्देश्य के प्रचार के लिये कई पत्र-पत्रिकायें निकालनी होंगी। अभी 'विश्व-भारती' और 'विश्व-वाणी' को ही हिन्दी भाषा में हम इस कोटि में पाते हैं। अच्छे लेखकों को यह भार भी लेना होगा कि कई पुस्तकें प्रति वर्ष इस पर लिखें। जगह जगह पर इस उद्देश्य को सामने रखते हुये सभा सुसाइटियां बनानी होंगी। हर स्कूल और कॉलेज में इस तरह का एक संगठन बनाया जाय और पुरस्कार या पारितोषिक देकर विद्यार्थियों को इसमें शामिल होने के लिये उत्साहित किया जाय। जो विद्यार्थी इस कार्य में अधिक होनहार वा विशेष रुचि वाले दिखाई दें उन्हें 'लोकप्रियता' संज्ञित कोई पदक प्रदान किया जाय। सरकारी और ग़ैर सरकारी सभी संस्थाओं से इसमें आर्थिक सहायता ली जाय। धनी मानी व्यक्तियों से भी पैसे लिये जायँ। समय समय पर बड़े बड़े विद्वानों को बुलवाकर स्थान स्थान पर व्याख्यान दिलाये जायँ। देशी, विदेशी का भेद-भाव छोड़कर हर आदमी इसमें शरीक किया जाय। जिस प्रकार मज़दूर-संगठन राष्ट्रसंघ की ओर से हर देश

में फैला हुआ है, उसी तरह लोकप्रिय व्यक्ति संगठित होकर विश्वकल्याण की चिन्ता करें। यह कार्य बहुत ही व्यापक और ठोस है। जब साधारण कार्यों के लिये थोड़े बहुत पैसे लगाकर संगठन बना लिये जाते हैं, तो इस महान कार्य के लिये हिचक और रुकावट की कोई गुंजाइश नहीं है। विचारकगण इस बात पर सोचें कि किस किस प्रकार के साहित्य इस भावना की वृद्धि करते हैं। लोकप्रियता का विश्वव्यापी संगठन सच्चे कार्यशील व्यक्तियों के हाथ में पड़कर उस चोटी पर पहुंच सकता है, जहाँ से संसार को शान्ति का चित्र अच्छी तरह दिखाई देने लगे।

रवीन्द्रनाथ की अमृत-वाणी

वैजनाथ सिंह "विनोद"

उपनिषद् का एक मन्त्र है—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—'कमज़ोर आदमी को आत्मा की उपलब्धि नहीं होती।' निरन्तर आगे बढ़ती हुई मानवता के लिये यह मन्त्र जितना उपनिषद् काल में ज़रूरी रहा होगा, उससे कहीं ज़्यादा ज़रूरत इस मन्त्र की आज है। आज जीवन और संघर्ष पर्यायवाची है। मानव जीवन आज मृतप्रय: है; पर उसी में से नव जीवन की उद्दाम गति भी पैदा होगी। इस तत्व को कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने समझा था। इसीलिये उनके साहित्य में कहीं भी थकान की भावना, निराशा और ग्लानि नहीं है। बल्कि सभी जगह नया जोश, अपार साहस, धीरज और अपने ऊपर भरोसा है। इस तत्व को उन्होंने अपने समय और देश की सारी विषम और विरोधी परिस्थितियों की सीमा को लांघ कर पाया था। यही उनका सीमा के अन्दर असीम का सुर है। इस सुर की उपलब्धि उन्होंने मृत्यु-पथ से की है।

"भानुसिंहेर पदावली" से उनका मृत्युञ्जयी सुर शुरू होता है। इसी पदावली में मृत्यु से अमृत पाने की आशा उन्होंने की है। उस समय की परिस्थिति ऐसी थी—

गगन सघन अब, तिमिर मगन भव,
तड़ित चकित अति, घोर मेघ रव,
शाल ताल तरु सभय-तवध सब,
पन्थ विजन अति घोर

पर कवि ने कहा—

भय बाधा सब अभय मूर्ति धरि
पन्थ देखायवि मोर।

यह वह समय था जब देश में कहीं आशा की किरण नहीं थी। राष्ट्रीयता के पौधे का पल्लव प्रकाश भी नहीं हुआ था। मृतु की अंधियारी चारो ओर से इस जम्बू द्वीप को घेरे हुए थी; जब निराशा या अश्रुपात का ही समय था; अतीत की याद में लोग रोते थे। उस रुदन और निराशा का असर जीवन के हर पहलू पर छाया था। प्रेम के कवि थे; पर उनके काव्य में निराशा थी। लेकिन ऐसे समय में भी कवि ने कहा—

आमार ए प्रेम नयत भीरु
नयत हीन बल,
शुधू कि ए व्याकुल हये
फेलबे अश्रुजल ?

× × ×

नाच जखन भीषण साजे
तीव्र ताले आघात बाजे,
पालाय त्रासे पालाय लाजे
सन्देह विह्वल।
सेइ प्रचण्ड मनोहरे
प्रेम जेन मोर बरन करे,
क्षुद्र आशार स्वर्ग ताहार'
दिक् से रसातल॥ (गीताञ्जलि)

(हमारा यह प्रेम न डरपोक है न कमजोर; फिर क्यों यह घबड़ा कर रोवेगा ? जिस समय (मृत्यु की विभीषिका का) नाच भीषण साज के साथ होगा, भयंकर आघात का ताल बजेगा, (और लोग) डर, लज्जा तथा सन्देह से विह्वल होकर भागेंगे; उसी प्रचण्ड और मनोहर समय में तो प्रेम मुझे वरण करेगा ! क्षुद्र आशाओं का स्वर्ग रसातल की ओर जाय ।)

वज्रे तोमार बाजे वांशि
से कि सहज गान ?
सेई सुरे ते जागवो आमि
दाउ मोरे सेइ कान ।

(वज्र की तरह तुम्हारी वंशी बज रही है; सो क्या सहज गान है ? (नहीं, पर) उसी सुर से मैं जागूंगा, मुझे वही कान दो ।)

कविगुरु रवीन्द्रनाथ का यह सुर कभी व्यक्ति-केन्द्रिक होही नहीं सकता । और उनके समस्त काव्य में व्यक्तिकेन्द्रिकता का अभाव है । हर व्यक्ति के कर्म का जो सामाजिक परिणाम होता है, वह सीधे उसके कर्म से प्रसूत फल से मेल नहीं खाता, बल्कि कभी तो उससे सर्वथा विपरीत होता है । यह फल हर व्यक्ति को अपने कर्म के फल स्वरूप अपने अन्दर से नहीं, बल्कि बाहर से आता हुआ प्रतीत होता है । पर समाज के अनेक अवयवों के घात प्रतिघात के नियमों का तारतम्य और सामुदायिक वर्तन की प्रणाली का जानकार जानता है कि सभी फल और उसकी परम्परा का मूल सूत्र समाज के अन्दर है । इसको पढ़ा और समझा जा सकता है । वैदिक ऋषियों ने अपने काल के समाज का अध्ययन ही वेद मन्त्रों में रखा है; इसीलिये उनको द्रष्टा या अध्ययेता माना गया है । इसी तरीके पर अपने समय के समाज का अध्ययन साधारणीकृति के वैज्ञानिक और काव्यगत तरीके से कविगुरु के काव्य में व्यक्त है ।

रवीन्द्रनाथ का भगवान हमारी सस्ती चर्चा और कायरों का भगवान नहीं है । रवीन्द्रनाथ का भगवान अणु-परिमाणु, ग्रह-नक्षत्र और नीहारिकाओं में भी एक साथ—अविच्छिन्न प्राण-धारा है । काव्य में रूप-गत वर्णन होता है, इसीलिये उन्होंने उसे दूसरे रूप में रखा है । उनका भगवान व्यक्तिकेन्द्रिक नहीं है ।

"विश्वसाथे योगे जेथाय विहारो
सेखाने योग तोमार साथे आमारो ।
नयको बने, नय विजने
नयको आमार आपन मने,
सबार जेथाय आपन तुमि, हे प्रिय
सेथाय आपन आमारो ॥ (गीताञ्जलि)

(संसार के साथ (तुम) मिलकर जहाँ विचरते हो उसी जगह हमारा तुम्हारे साथ मेल है । बन में नहीं, एकान्त में नहीं और अपने मन में भी नहीं । हे प्रियतम जहाँ तुम सबके हो, वहीं हमारे हो ।)

कहते हैं कवि भविष्यद्द्रष्टा होता है । पर सच तो यह है कि कवि भविष्य द्रष्टा नहीं, समाज भूत-पाती होता है । समाज की दृष्टि सदा भूत की ओर लगी होती है । कवि अपने समय के ज्ञान विज्ञान की समस्त धाराओं के साथ समाज का अध्ययन करके, समाज की गति का जो परिणाम निकालता है, वह सत्य होता है; इसलिये कवि को भविष्यद्द्रष्टा कहते हैं । रवीन्द्रनाथ ने बंग-भंग आन्दोलन के बाद "अपमानित" शीर्षक कविता लिखी है, जो उनकी गीताञ्जलि में है । इस कविता में अंग्रेज़ी कूट नीति का इतना गम्भीर अध्ययन है कि अचरज होता है । ऐसा लगता है कि कविगुरु को साम्प्रदायिक विद्वेष की चरम परिणति का पता था । उस कविता का सुन्दर हिन्दी रूपान्तर यह है—

"नहीं सूझता है क्या तुमको मृत्यु दूत आया है द्वार
आंक तुम्हारे अहंकार पर उसने दिया शाप दुर्वार
सब को यदि न बुलाओ अब भी
डटे रहो यदि दूर दूर ही
निज को बांध रखो यदि अब भी चारो ओर
बिछा अभिमान

तो मरकर तुम चिताभस्म में होगे सब के क्या
न समान ?"
—'श्री सुधीन्द्र'

जिस तरह कवि का भगवान अनन्त और अविच्छिन्न प्राण-धारा है, उसी तरह उनके काव्य में प्राण की उद्दाम गति है। पर समाज तो स्थितिशील होता है। नाना परिस्थितियों के रूप में वह गति को रोकना चाहता है। लेकिन यह नाना परिस्थितियां हवा में तो नहीं होती; समाज में होती हैं। दूसरे शब्दों में समाज की किसी सामूहिक क्रिया के परिणाम को परिस्थिति कहते हैं। सामाजिक क्रियाओं पर आर्थिक और राजनैतिक असर सदा से पड़ता आया है और आज तो वह प्रचण्ड रूप में है। हमारे देश पर विदेशी और पूंजीवादी सत्ता है, जो अपने फ़ायदे के लिए हमारी सामाजिक बुराइयों को क़ायम रखना चाहती है और इन्हीं कारणों से हमारा सामाजिक बन्धन पेंचीदा और सख़्त है। इस बन्धन के नीचे कुछ लोग रहस्यवाद और छायावाद के नाम पर पलायन वृत्ति में फंसे हैं और कुछ निराशा के गर्त में पड़े हैं। पर युग कवि रवीन्द्रनाथ कहते हैं—'रूद्र अपना तूर्य बजा कर मुझे बुला रहा है, सिर के ऊपर मध्यान्ह का सूर्य मुझे बुला रहा है। मन मुक्त होकर आकाश में व्याप्त हो गया, प्रकाश का नशा छा गया, जो हमारे दर्वाज़े को रोकेगा, उसकी आंखें फूट जायगी'—

आमरा चलि समुख पाने
के आमादेर बांधबे ?
रैल जारा पिछन टाने
कांदबे तारा कांदबे। (बलाका)

(हम सामने की ओर चलते हैं, कौन हमको बाँधेगा ? जो हमें पीछे खींच रहा है, वह रोवेगा, वह रोवेगा।)

नवीन विचार-धारा को—प्राण-धारा की नई लहर को—लक्ष्य कर के, उसका अभिनव स्वागत करते हुए "बलाका" में गति की उन्मादना में रवीन्द्रनाथ मस्त हो जाते हैं। प्राण की जो प्रचण्ड गति "बलाका" में है, उसे हम वेद के "दूरम् गमम् ज्योति शाम् ज्योति रेकम्···" में ही पा सकते हैं। "सबूजेर अभियान" में कविगुरु कहते हैं:—

आपद आछे, जानि आघात आछे,
ताई जेने तो वक्षे पराण नाचे,
घूचिये दे भाई पूँथि पोड़ार काछे
पथे चलार विधि विधान जांचा।
आय प्रमुक्त, आय रे आमार कांचा॥
चिरजुवा तुई जे चिरजीवी,
जीर्ण जरा झरिये दिये
प्राण अफूरान छड़िये देदार दिवि
सबूज नेशाय भोर करोछिस धारा,
झड़ेर मेघे तोर तड़ित भरा,
बसन्तेर परास आकूल करा
आपन गलाय वकुल माल्य गांछा,
आय रे अमर, आय रे आमार कांचा॥
(बलाका)

× × ×

व्याघात आसूक नव नव,
आघात खेये अचल रवो,
वक्षे आमार दुखे बाजे तोमार जय डंक।
(बलाका)

(आपद है, जानता हूं आघात है; वही जानकर तो छाती में हमारा प्राण नाचता है। फेक दो भाई पढ़ने वालों के लिए पोथी—चलाने का विधि विधान जांचने के लिए। (पर हमारे लिए तो) आओ रे प्रमुक्त, आओ रे हमारे कच्चे। (हे) चिर जुंवा, तू चिरंजिवी हो, जीर्ण जरा को झाड़ कर कभी ख़तं न होने वाली प्राण-धारा को उन्मुक्त भाव से चारों ओर बिखेर दो। ज्ञान की मादकता ने धरती पर सवेरा ला दिया। बरसने वाले मेघों में (तेरी) बिजली भरी हुई है। बसन्त ने पलास को आकुल कर दिया है। (उसने) अपने गले में बकुल-माल्य पहन लिया है। (इस समय) आना रे अमर, आना रे हमारे कांचे।)

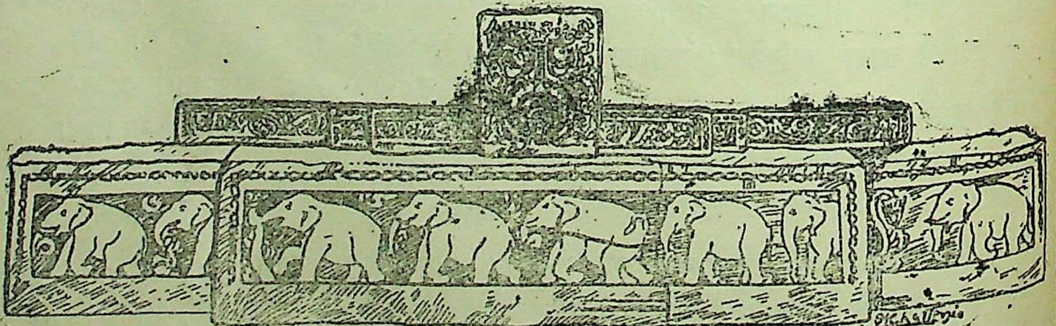
(नया नया व्याघात आवे, (पर हम तो) आघात खाकर (अपने सिद्धान्त में) अचल रहेंगे, हृदय के अन्दर दुःख तुम्हारे जयका डंका बजायेगा ।)

विसंगतियों के अन्दर ही उनको उसका सुलझाव सूझता रहा है, दुख से हताश होना तो कवि को भाता ही नहीं; दुख पर जय करना ही उन्होंने सीखा है । मृत्यु को जीवन के रूप में उन्होंने देखा है । मृत्यु उनके मत से "सृष्टि का परित्राण करने वाली है, वह मनुष्य का सब से अन्तरंग है, वह ऐसा चरवाहा है, जो सृष्टि को एक युग से दूसरे में, एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में, चराती हुई ले जारही है।" वह मृत्यु में आनन्द का प्रवाह पाते थे । इसीलिये वह कहा करते थे—"दुःसह दुख के दिनों में मैंने अक्षत अपराजित आत्मा को पहचान लिया है।"

आज हमारे देश में मृत्यु की अँधियारी छाई है । हज़ारों की संख्या में लोग भूखों मर रहे हैं । युद्ध के सैनिकों की मृत्यु तो तब भी एक गौरव रखती है, किन्तु आज तो—कविगुरु का प्रान्त भूख से मरे हुओं की लाशों से पट रहा है । कलकत्ते के किसी भी रास्ते पर ४ मील चलने पर भूख से मरों की लाशें सड़क पर मिल ही जाती हैं । और इधर देश के प्राण—उसके सर्वस्व महात्मा गान्धी जी अपने हज़ारों साथियों के साथ जेलों में सड़ रहे हैं ! निराशा हतोत्साह और दुःख की काली अंधियारी चारों ओर व्याप्त है । ऐसे समय में—ऐसे दुःसमय में—हम उनकी "दुःसमय" कविता का अन्तिम पद यहाँ रखते हैं—

"उरे भय नाई, नाई स्नेह-मोह बन्धन,
उरे आशा नाई, आशा शुधू मिछे छलना।
उरे भाषा नाई, नाई वृथा बसे क्रन्दन,
उरे गृह नाई, नाई फूल-सेज-रचना।
आछे शुधू पाखा, आछे महा नभ-अंगन।
उषा-दिशाहारा निविड़-तिमिर आंका।
उरे विहंग, उरे विहंग मोर,
एखनि, अन्ध, बन्ध कोरोना पाखा।

(ओरे भय नहीं, नहीं स्नेह का मोह मय बन्धन, ओरे आशा नहीं, आशा तो सिर्फ़ झूठी झलना है। ओरे भाषा नहीं, नहीं व्यर्थ का बैठे बैठे रोना। ओरे घर नहीं, नहीं फूल की रची हुई सेज । (तेरे पास तो है) सिर्फ़ पंख, (और देख यह मुक्त है) आकाश का महान आँगन, (देख) उषा की लाली से व्याप्त घोर अंधकार से अंकित आकाश ! (फिर भी) ओ रे विहंग, ओ रे मेरे विहंग, इस समय, इस अंधकार के समय (संक्रान्ति काल में) अपने पंखे को बन्द मत कर ।)



अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्र कुमार

१०

इस सप्ताह भी मैं नहीं जा रहा हूँ। अखबारों से देखता हूँ कि राजनेताओं के आने-जाने का तांता अभी वहाँ लगा ही है। राजकर्मी लोग वास्तव की ओर से सत्य को लेते हैं। धार्मिक जन सत्यपूर्वक वास्तव को निबाहते हैं। एक के लिए समक्ष दुनिया है और पीछे कोई प्रभु हो तो वह दुनिया के लिए है। दूसरे के मन भगवान ही है, और यदि दुनिया भी हो तो वह भगवान के अर्थ है। यह उन दोनों में सनातन भेद है। धर्म और राजनीति की यह विमुखता सदा से चली आई है।

पर यहाँ दीखता है कि एक सरल सन्त राज-कारण के कूट वृत्तों का केन्द्र बन गया है। वह तो सत्य का ही खोजी है। उपरान्त उसके लिए कुछ नहीं है। इस राह में ही वह वास्तव का प्रभु बन उठा है। जग के लिये यह परम आश्चर्य का विषय है।

जग संघर्ष है। वहाँ जीव जीव का भोजन है। मुंह से अहिंसा कहो, इसमें भी हिंसा है। इससे वास्तव-वादी के लिए हिंसा-अहिंसा की बात वृथा हो रहती है। शक्ति ही उसे सच है। शक्ति से गति होगी और भविष्य उतरेगा। इतिहास उसे युद्ध की कहानी है। इससे उसके लेखे शक्ति-सम्पादन मानव कर्म की नीति है। शक्ति के स्थानान्तरित और हस्ता-न्तरित होने के नियम-क्रम का अध्ययन वास्तव विद्या है, शेष व्यर्थ है।

इसलिए कर्मी पुरुष में सिद्धान्तवादी और आद-र्शवादी व्यक्ति के लिए एक विलक्षण अवहेला का भाव दिखाई देता है। मानो वह सिर्फ़ उन्हें सहता ही हो।

और यह अकारण नहीं। अहिंसा अथवा कि धर्म प्रगटतः व्यक्ति को निर्बल बनाते हैं। मानो निर्बलता वहाँ गुण हो। प्रार्थना अपनी निर्बलता का स्वीकरण है। बलहीनता में वहाँ रस तक लिया जाता है। "सुने री मैंने निर्बल के बल राम।" सद्गुणी जीव जगत में अधिकांश असमर्थ देखे जाते हैं। भलाई भोलाई के रूप में पहचानी जाती है। हिंसा की तुलना में अहिंसा फीकी और तेजहीन हो रहती है। हर कहीं अहिंसक वैश्य है और वैश्य सत्ताधारियों की सत्ता का मध्यवर्ती टेकन है। सत्ता में एक का बल दूसरे को दबाता है। जोर पर खड़ी संस्था ही सत्ता कहलाती है। इस तरह अहिंसक भलाई हिंसायुक्त कूटनीति का साधन बनी दीखती है।

पर इस सन्त के उदाहरण से हिंसा जिच भी दीखती है। वह शक्ति अपने को ही मानती आई है। अशक्ति के रूप में अहिंसा का इसलिये आदर और गुणगान करने से भी वह नहीं चूकी है। पर अब जैसे वह पहचान रही है कि अहिंसा यदि सत्य है, तो वास्तव भी वही है। यानी असल शक्ति वहीं है। अब दीख पड़ रहा है कि आदर्श सत्य एक हो और वास्तविकता के लिए नीति दूसरी हो—यह हो नहीं सकता। जो साध्य है, साधन उससे भिन्न नहीं है। वास्तव को सत्य से भिन्न कहकर उस वास्तव का लाभ हमें न होगा। मुक्ति के लिए है वही धर्म संसार के लिए है, क्योंकि संसार यात्रा है और वह मुक्ति की ओर है। उस सन्त पुरुष ने सत्य की निष्ठा द्वारा वास्तव की प्रभुता प्राप्त की है। इसी से जो नितान्त वास्तव में से अपनी नीति, अपना ज्ञान और अपना शास्त्र प्राप्त करते रहे हैं वे चकित हैं। यह व्यक्ति अग्निशिखा की भांति, उनकी समस्त, शास्त्र और शस्त्र विद्या के समक्ष एक दुर्दम

प्रश्न बनकर खड़ा हुआ है। राजकारण और समाजकारण, विज्ञान और व्यवसाय सब संभ्रम में रुक और डिग गये हैं। नहीं समझ पाते कि उसका क्या बनायें। जो मानकर वे चलते हैं उसे ही असत् मानकर यह चलता है और जिसे वे शास्त्र किसी तरह नहीं आंक पाते, वही इसे ध्रुव है। उस व्यक्ति की निष्ठा का आधार उन्हें दुष्प्राप्य है। वह अतर्क्य है। उसकी कुंजी मिलती नहीं है। उसका तत्वज्ञान प्रतिपाद्य है। बुद्धि द्वारा अस्वीकार्य है। फिर भी उस स्वयम् को किसी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता। वह इतना प्रभविष्णु, इतना ज्वलंत है कि स्वीकार ही सम्भव है। इसलिए वास्तववादी प्रत्येक शास्त्र को इस रहस्य के तईं समाई देनी पड़ रही है। हर शास्त्र को उसके प्रभाव से संस्कार प्राप्त हो रहा है। जीवन के हर भाग में उसका असर बिंधता जा रहा है।

तभी तत्व शास्त्र का नहीं विश्व के समूहों का राजकारण का सवाल है : अहिंसा क्या ?

एक अहिंसा को तो लोग जानते हैं। वर्ग के वर्ग उसको नित्यकर्म की भांति पालते आये हैं। उन अहिंसा धर्मियों की अहिंसा के साथ जगत को निबटने में कभी दिक्कत नहीं हुई। राजाओं और राजनेताओं की यात्रा उस अहिंसा को प्रश्रय देती हुई निष्कंटक चलती रही है। वह अहिंसा भी उनके राज के नीचे सन्तोष पूर्वक पलती-निभती रही है। याद नहीं आता कि उस अहिंसा को कभी इसमें बहुत असुविधा हुई हो। छत्रधारियों के शासन-दण्ड के नीचे श्रेष्ठि लोग जीवदया का भरपूर पालन करते रह सके हैं। यदि कभी वह अहिंसा सिर उठाकर उभरी भी हो तो शासकों के पांव-तले आकर सानन्द सो रही है। वह अहिंसा हिंसा को बचाकर और उससे बचकर निर्विघ्न चलती रही है। उसने अपने को स्पर्शदोष से पवित्र रखा। उसका पालन चौके में और मन्दिर में हुआ। व्यक्तिगत व्यवहार में वह कला के चरम तक पहुँची। पर क्या वह समूह-व्यापार, यानी राजनीति के बीच कभी उतारी गयी ? प्रश्न इसीलिए है कि वर्ग और वर्ग के बीच अहिंसा का क्या प्रयोजन है ? हिंसा के प्रति अहिंसा में सामर्थ्य है ? हिंसा से आंख मोड़कर क्या अहिंसा सिद्ध होगी ? वास्तव के इन्कार पर क्या सत्य की उपलब्धि होगी ? याकि सत्य वह है कि जिसके स्पर्श से वास्तव सदा संस्कार पाया करेगा ?

पिछले सप्ताह मैंने जो लिखा उसके बाद यही प्रश्न आज मेरे सामने है कि अहिंसा को हिंसा के साथ क्या करना है ?

मारना हिंसा है तो क्या न मारना ही अहिंसा है ? जीव के मरने न मरने पर क्या उसके विचार की इति है ? या कि जो मारा जा रहा हो और जो मार रहा हो उसके प्रति भी अहिंसा का कुछ प्रयोग है ? "मैं न मारूँ" क्या इतने से मैं अहिंसक हो जाऊँगा। याकि उससे बाहर भी मेरे अहिंसक कर्त्तव्य की व्याप्ति है ?

मालूम होता है कि व्यक्ति के निज के दायरे में अहिंसा की इति नहीं है। यदि हो तो वह अहिंसा विचारणीय नहीं है। हिंसा की ओर से चुनौती व्यक्ति को अपनी निजता की परिधि के भीतर नहीं, बल्कि ठीक उसकी सीमा पर मिलती है। अहिंसा का प्रश्न ही वहां उठता है, जहां एक का दूसरे से, और अनेक से, सम्बन्ध है। स्व की नहीं, वह स्वः पर की समस्या है। इससे अहिंसा यदि कुछ है तो सामाजिक है।

पर व्यक्ति समष्टि से कब अलग है ? आत्मा में हम सब एक हैं। इस तरह किसी एक का जगत के किसी भी दूसरे पर दबाव पड़ता है, यानी अन्याय, उत्पीड़न और शोषण होता है तो शेष किसी के लिए भी हिंसा की चुनौती समाप्त नहीं होती। इसलिए अहिंसक को तब तक चैन नहीं, जब तक जगत के प्राणियों के बीच से हिंसा-सम्बन्ध का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता।

इस भांति अहिंसा वीर का ही धर्म हो सकता है। अहिंसक तो लाचार है कि वह हिंसक की हिंसा में बाधा बन पहुंचे। प्रतीकार उसका पहला धर्म है।

ज्यों की त्यों स्थिति वह स्वीकार कर नहीं सकता, क्योंकि स्थिति में हिंसा गर्भित है। इससे गति का अग्रदूत उसे होना ही होगा। अन्याय उससे डरेगा क्योंकि अन्यायी को उससे अभय प्राप्त होगा। डर के कारण ही तो व्यक्ति को अपने अन्याय में समर्थन प्राप्त होता है। अहिंसक उसके भीतर के समर्थन को असम्भव करके अन्याय को निराधार कर देगा। धरती नीचे से खिसक गई तो अन्याय कहां टिकेगा। मन में न हो तो अन्याय हाथ से न हो सकेगा। और अन्तर्मन तो सबके अन्तर्यामी हैं। वह अन-जगा है अनपहचान तभी तक विकार है। अहिंसक की निष्ठा उसे ही जगाना है।

अहिंसा इस तरह हिंसा से विमुखता तो अपना सकती ही नहीं। सन्मुख प्रतिकार का ही रास्ता उसका है। अहिंसा अपने में और अपनी ओर नहीं लौटती, शत्रु की ओर बढ़ती है। जिसने अपने को शत्रु माना है, अहिंसा उसी को अपना मित्र माने और बनायेगी। इससे अहिंसा कभी आत्मतुष्ट होकर नहीं बैठ सकती। वह क्षमा की ओट भी नहीं ले सकती। क्षमा में किंचित मान भाव है, द्वैतबोध है। वह प्रेम रूप ही हो सकती है, क्योंकि प्रेम में ऐक्य व्यथा है। स्पष्टतः वह निष्क्रिय तो हो सकती ही नहीं।

हिंसा का दर्प सक्रियता है। निष्क्रिय होकर जो उसके हाथों हारती है, वह अहिंसा कैसी? अहिंसा की सक्रियता अखंड अनवरत होगी। और उसकी गति विरोध की दिशा में होगी। अहिंसा कभी इस भावना से मुक्त न होगी। किस भाँति मुझसे परपक्ष को सुख और सुविधा पहुँचे। अहिंसक अपने विरोधी के आराम की चिन्ता में कभी असावधान न होगा। इसलिए वह विरोधी की सेवा में काम आने को प्यासा रहेगा। इस कर्त्तव्य में उसे छूट कहाँ और चैन कहाँ?

अहिंसा के इसी सत् स्वरूप का दर्शन हमें उस संत ने दिया। जिसको मैंने पहिले आत्मिक गुरुत्वा-कर्षण कहा, वह यही अहिंसा है। इसमें स्वयम् कष्ट सहन द्वारा हिंसक को हिंसा की व्याधि से छुट-कारा दिलाना होता है। शत्रु को मिटाना नहीं, उसको मित्र बनाना है। व्यक्ति में शत्रुता का भाव विकार के कारण आता है। व्यक्ति का अंतरंग भाव तो मैत्री है। उसको वही अपना अंतर्भाव प्राप्त करना है। किसी भूल या त्रास या प्रमाद वश शत्रुता को उसने अपनाया है। विरोध में स्वयम् शत्रु भाव को अपना कर तो उसके उस विकार को दूर किया नहीं जा सकता। अपने सच्चे स्वभाव को अपनाकर ही उसमें एकीभाव लाया जा सकता है। उसके भीतर क्या हृदय और आत्मा नहीं है? ईश्वर नहीं है? उस सबके घटघट में बास करने वाले में विश्वास रखकर ही मैं उसमें के विरोधभाव को मिटा सकता हूँ। उस ईश-निष्ठा को लेकर राह में जो संकट आयें, स्वीकार करता हुआ विरोधी की ओर बढ़ा चलूँ। अधिक से अधिक मौत ही तो मुझे मिलेगी। पर मौत में क्या धरा है? वह तो मिलनी ही है। ऐसे वह मिली तो मृत्यु स्वयम् धन्य होगी। अन्त में वह एक दिन देखेगा कि उसकी शत्रुता भ्रम थी। और तब गहन पश्चाताप के आँसुओं में जिस वस्तु को जन्म प्राप्त होगा, वह राह की सब यातनाओं और मृत्युओं को सार्थक कर देगा।

हिंसा को जो इतना असत् नहीं मान सकती कि हिंसक के भीतर भी अहिंसा के होने में विश्वास रखे, वह अहिंसा की श्रद्धा कैसी? अहिंसक तो मानेगा कि जो सब कहीं है सो उसमें भी है। अपनी अहिंसा की सुलग से उसको जगा देना है। तब विकार मिट जायगा और स्वास्थ्य चमक आयगा। ऐसे शत्रु मित्र बनेगा।

दूसरा तरीक़ा जो शत्रुता को नहीं शत्रु को मिटाने चलता है, शत्रुता और शत्रु दोनों को गुणित ही कर छोड़ता है।

मानव-जाति चलते चलते इसी पहचान की ओर आ रही है। यह पहचान बुद्धि से नहीं बनी। अनुभूति में से आई है। मनुष्य की बुद्धि ने बहुत चमत्कार दिखाया है। आज हमारे पास ज्ञान-विज्ञान

का विपुल भांडार उसी की देन है। इतिहास की गत शताब्दियां बुद्धि की सम्भावनाओं के प्रमाण से जगमग हैं। पृथ्वी मनुष्य को आज गेंद बन गई है। महायोजनों का विस्तार वह क्षण में पार कर लेता है। इस छोर बैठा दुनिया के उस छोर से ऐसे बात करता है कि दोनों आमने-सामने हों; कोई अन्तर उसके लिये अन्तर नहीं रह गया है। राष्ट्र और जाति की खाई को पार कर मनुष्य अपना व्यापार चला रहा है। एक देश के अभाव में दूसरे देश की स्वतन्त्रता आज सहज काम आती है। व्यक्ति प्रकृति के प्रति आज असहाय अनुभव नहीं करता। भीमोद्योगों में से व्यक्ति अपनी परस्परावलंबिता पहचान आया है। नित्य प्रति महा-मानव-समुद्र का संतरण हो रहा है और मानव-जाति की अखंडता कविता की नहीं योजना की वस्तु आ बनी है। बुद्धि ने हमें क्षुद्र से विशद् बनाया है।

मैं उस परम विभूतिमय मानव-मेधा का अभिनन्दन करता हूं। सब से अधिक इसलिए कि आज अंत में उसने अपनी अपर्याप्तता को हमारे निकट ला पकड़ाया है। यह उसकी सब से बड़ी सफलता है। इससे बड़ी देन उसकी और कोई नहीं हो सकती। आज इस महोत्सर्ग की उद्यतता उसमें देखता हूँ। आज मानव-मेधा अच्छी तरह इस तत्व को पा गई है कि वह बहुत कुछ हो, पर सब कुछ नहीं है। बुद्धि में पहिले स्पर्धा थी। अब वह भर आई है और उसमें ऋजुता है। उसने बहुत काल अपने हृदय से लड़ाई लड़ी और अपने पक्ष को उद्ग्रीव रखा। उसके शौर्य की गाथा से शताब्दियां मुखरित हैं। उसका प्रताप नवनवाविष्कारों से अभिनन्दित है। पर आज परम सौभाग्य की बेला है। तेजस्विनी बुद्धि आज मंगलाकांक्षिणी है। अपने ही पराक्रम से सब कुछ को पराजित कर वह आज समर्थ हुई है कि विजय में अपनी पराजय स्वीकार कर सके। चारों ओर इसके लक्षण देख रहा हूँ। प्रागल्भ्य ने संभ्रम को अवकाश दिया है। वयः संधि का अवसर आया है। आंचल मस्तक पर लिए आज वह रह-रह कर नतमुख दीख आ रही है।

वयः प्राप्त होकर अब वह परिणीता होगी। उद्धत कैशोर्य अब उसका बीतने को है। एक शुचिता उसमें समा रही है। करने और जानने के अभिमान में सदर्प अब वह नहीं, पाने की प्रतीक्षा और अभिलाषा में सलज्ज है। आज शील उसकी शोभा है।

मैं मानता हूँ कि मानव-मेधा अपने मौखर्य के अध्याय को पारकर अब दायित्वमय परिणीत जीवन में पग रखने योग्य है। अब कविता के उसकी वास्तविकता बनने का समय है। जीवन में उसके चिर प्रतीक्षित मंगल-पर्व आ पहुंचा है। उसके स्वयम्बर के समारोह की तैयारी चारों ओर देख पाता हूँ।

अहिंसा की जय यात्रा का यहां से मैं कूँच मानता हूँ। यों तो विश्व उसकी ही ताल पर चलता रहा है। पर अब मानवता विवेक पूर्वक अहिंसा के हाथ अपनी बागडोर देकर चलने वाली है।

११

आज वहाँ गया था। गया तो करुणा और एक और आश्रमवासी उनके पास बैठे थे। मुझे आया देखकर बोले, "यह लो, तुम तो ख़ासे भले चले आ रहे हो! मैं डरने लगा था कि—लेकिन अभी बैठना होगा।"

कहकर उन्होंने आश्रमवासी से अपनी बात जारी रखी। उन्हें किसी कृषि-प्रयोगशाला में भेजा जा रहा था। वहाँ से क्या क्या कुछ सीख समझकर आना होगा, सो बारीकी से बतलाया। कहा "देखो, मुद्रा तो अब कुछ दिन से धन हुआ है। सो भी काम चलाऊ। गोधन सनातन है और सत्य। गौ को माता हमने भावुकता में नहीं माना है। भारत के लिये तो वह माँ से कम है ही नहीं। गौ-रक्षा स्वराज्य या मोक्ष के प्रश्न से अलग नहीं है।......जो काम हाथ में हो, उस वक्त के लिये वही स्वधर्म की मर्यादा बनता है। स्वधर्म पालन में ही सिद्धि है। पर-धर्म

में कामना नहीं रक्खी जा सकती। यह न सोचना कि गौ-सेवा में होकर देश-सेवा या मानव-सेवा में तुम नहीं रह जाते हो। हाँ आन्दोलन में तो नहीं ही हो। आज अपनी गौशाला की हालत देखकर मैं दंग रह गया। अपना ही प्रमाद मैं तो कहूँ। प्रमाद पाप का मूल है। गौशाला हमारे स्वाध्याय-मन्दिर जैसी स्वच्छ रहनी चाहिए। हमें उस बारे में बहुत सीखना है। पश्चिम के लोग ऐसी दुरवस्था नहीं सह सकते। हम आत्मवादी कैसे कि इन प्राथमिक बातों में चूकते हैं। तीन महीने में तुम लौट आओगे। उसके बाद मैं मान तो लूं न कि उस तरफ़ से मैं बेफ़िक्र हो सकूंगा और हमारी गौशाला आदर्श होगी? तो कल प्रातः जा रहे हो। वहाँ धन जी भाई को मेरी तरह मानना। और जहाँ रहो, समझना कि आश्रम में ही हो।"

उनके जाने पर करुणा की ओर देखकर वह खिलखिलाकर हँसे, बोले, "अब तुम करुणा; लेकिन कैसी करुणा हो कि नन्दिनी बीमार हो गयी?" इसके बाद जाने क्या-क्या बताया। तेल के बारे में उसके प्रयोग के समय, विधि और स्थान के बारे में; फिर खाने को कब, कितना, क्या दिया जायगा, इत्यादि। अनन्तर कहा, "चौपायों के हाथ नहीं हैं इससे हम उनके हाथ हैं, यह समझना चाहिये। आदमी की सेवा में तो हमसे चूक भी बने, क्योंकि हाथ रखकर वह तो भी अपनी सेवा लायक़ रहता है। पर पशु पालतू होकर एकदम परवश यानी हमारे आसरे हैं। इससे···" ?

"हाँ, क्यों?"

आगन्तुक ने कहा "कुछ बर्तनों में कलई की ज़रूरत रसोई वाले बतलाते हैं। लेकिन पन्द्रह रोज़ से पहिले दोबारा क़लई की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। यह आप कह चुके हैं। इससे पूछने आया हूँ कि क्या·····!

हँसकर पूछा, कितने बर्तनों में ज़रूरत है?"

'चालीस पचास होंगे।'

"चालीस कि पचास? कटोरियाँ ही अधिक होंगी।"

"हाँ, कटोरियां ही ज़्यादा हैं। ठीक तो नहीं कह सकता, पचासेक बर्तन होंगे।"

'पचासेक नहीं, ठीक जानना चाहिये। अच्छा सबसे ज़्यादा ख़राब दो-एक कटोरियां देखें तो?"

कटोरियाँ आईं और उनको अच्छी तरह देखा। बोले, "अगले इतवार को पन्द्रह दिन होते हैं, क़लई तब सही। उस समय मुझे बुला लेना।"

वह चला गया तो करुणा से बोले, "तो हाँ, तुम कची करुणा निकलीं। यह बताओ कि तुम्हें छुट्टी चाहिए?"

करुणा ने नीचा करके ज़ोर से सिर हिलाया। यानी नहीं, बिलकुल नहीं।

हँसकर बोले, "करुणा, गौ को साध सकोगी तो पति को साधने में भी दिक़्क़त नहीं होगी। पति के सींग तक नहीं होते। कुछ वहाँ की ख़बर सुनी है?"

करुणा ने झुका सिर फिर हिला दिया। यानी कि नहीं।

बोले, "नहीं कहती हो, पर मेरे पास तो ख़बर है। मुझे दिल्ली में मिला था। वह तो पछताता है। अब तुम कहो। छुट्टी चाहिये?"

करुणा ने सिर के द्वारा ही जतलाया कि कितना तो कहा, नहीं-नहीं-नहीं चाहिये।

हँसकर बोले, "मूड़ी हिलाकर तो कहती हो कि नहीं। फिर भला नन्दिनी क्यों बीमार है? बीमार है तब तक तुम्हें छुट्टी भी कहाँ है?"

करुणा ने कहा, "मैं वहां नहीं जाऊँगी, यहीं रहूंगी।"

वह हँसे, बोले, "इतना डर!"

"डर नहीं, मुझे घर अच्छा नहीं लगता।"

बहुत हँसकर उन्होंने कहा, "अच्छा-अच्छा गप, कड़वा-कड़वा थू—सो यहाँ नहीं चलता भाई। जो मिले प्रभुप्रसाद में यहां तो वही ले लेना होता है। आश्रम तो सराय है बेटी, यह किसी का घर नहीं

बनना चाहिये। सराय न कहो, शाला कहो, बात एक ही है। कोई सुना है जो स्कूल-कॉलेज में पढ़ता ही जाना चाहता है, उसे छोड़ना नहीं चाहता? देखती नहीं कि पढ़ाई इसीलिये है कि काम आये। नीरोग हुए कि अस्पताल से भागे। यह भी अस्पताल जानो। स्वास्थ खोकर कोई यहां आये तो वापिस पाकर उसे चल भी देना चाहिए। अस्पताल में घर बनाकर बैठे उसे तो मरण का रोगी जानो। समझीं? नन्दिनी को भली-चंगी कर दो, कि फिर तुम्हारी छुट्टी।"

करुणा ने मुंह नीचे रखकर कहा, "नहीं, मैं नहीं जाऊँगी।"

बोले, "अच्छा, वह देखा जायगा। पर यहां से तो अभी जा ही सकती हो।"

वह भी चली गई तो मुझे कहा, "देखा न? लेकिन अब कहो—"

बैठे मुझे आधा घण्टा तो हो गया होगा। सोच रहा था कि आश्रम के लोग हैं कि न-कुछ बातों के लिये इन्हें तंग किया करते हैं। पर उन्हें तो पीछे कहूँ। पहले यह ख़ुद महात्मा कैसे हैं कि छोटी-मोटी बातें अपने पर से टाल नहीं देते हैं। कहा, "आप ऐसी तुच्छ बातों को भी अपने ऊपर क्यों आने देते हैं? आपके समय पर सब का हक़ है। यह आपके आश्रमवासी न समझें, पर आप उनकी कम समझी में अपनी ओर से मदद क्यों देते हैं?"

बोले, "छोटी बात किसे कहते हो, भाई?"

"जैसे—यही बर्तनों की क़लई की बात।"

"लेकिन उसका तो स्वास्थ्य से सम्बन्ध है और स्वास्थ्य छोटी चीज़ नहीं है।"

मैंने कहा, "वह है, पर आप मेरी बात समझते ही हैं।"

बोले, समझता हूं इसी से कहता हूँ कि छोटा कुछ नहीं है, भाई। दुनिया मेरे आसरे नहीं है। पर आश्रम के लोगों ने तो मेरा ही आसरा थामा है। आश्रम संभाल सका तो दुनिया संभल गई मान लूंगा। इसे विसार कर दुनियां पकड़ने चला तो दोनों जायेंगे और साथ मैं भी डूबूंगा। छोटा-बड़ा जो कहते हो वह दृष्टि-दोष है। बड़े से बड़े व्यापार की यहाँ क्या गिनती? परमेश्वर की अनन्तता में भला बड़ा क्या? और छोटा भी यहां कुछ नहीं है। क्योंकि छोटे से छोटे में भी वह है। इससे छोटा-बड़ा ठहरा दृष्टि का भ्रम सामग्री से कहीं पूजा तुलती है? पुजापा नहीं पूजन ही सत्य है। इससे काम छोटे से छोटा हो, उसमें असावधानता नहीं बरती जा सकती। प्रभु-प्रीत्यर्थ जिसका कर्म है, वह टालेगा कुछ नहीं। सब एक सी प्रीति और अप्रमाद से करेगा।"

"लेकिन", मैंने कहा, "आश्रमवासी शेष के प्रति आपके सुलभ होने में ऐसे तो अन्तराय भी हो जाते हैं।"

बोले, 'हाँ। पर शरीर भी तो अन्तराय है। लेकिन उसको लेकर ही जीना होता है। ये जो यहां इतने सब लोग घिर आये हैं, उन्हें अपने से तोड़ किस बूते पर दूँ? तुम नहीं जानते, पर वे असहाय हैं।"

लेकिन, मैंने कहा, "आपका प्रश्रय उनकी असहायता को निविड़ करता है। आपकी पूँजी पर दुनिया में वे अपने को कब तक चलायेंगे?"

बोले, "नहीं चला पायेंगे, इसी से उन्हें मालूम हो जायगा कि पूँजी तो अपनी ही चाहिये। तभी मुझे डर नहीं है। जगत बुद्धि में मुझे विश्वास है। मैं जानता हूं कि झूठी पूँजी झूठ को ही ठग सकती है। इसलिये उस बारे में ज़रूरत से अधिक सावधान रहने को मुझे नहीं कह सकते।"

"पर" मैंने कहा, "विशिष्ट पुरुषों के पीछे सम्प्रदाय बने हैं। फिर जिस सत्य की साधना उन आदि पुरुषों ने की सम्प्रदाय उसी को चुकाने और भुलाने लग जाते हैं। समूचे इतिहास में यह दीखता है।"

दुहिता

श्री "करील"

१

हृदय देश की सुन्दरतम छवि विपुल स्नेह सौभाग्य भरी तू ।
कविता कल्पलता की कोमल कलिका स्वर्ण - पराग भरी तू ॥
तू शैशव की मधुर माधुरी यौवन की पावन परिभाषा ।
तुझसे तो विकसित होती है मानवता की मृदु अभिलाषा ॥
कर्मों की दारुण गति - विधि में गूंज सरस गीता - सी जा री ।
मानस की मंजुल मिथिला में सीता - सी तू खेल दुलारी ॥

२

आज निपट संकीर्ण विश्व में वैभवराशि बिछाती जा तू ।
जीवन की मंगल वेला में ऊषा - सी मुसकाती आ तू ॥
कलित कल्पना के आँगन में ललित लवंग लता - सी छाजा ।
आज हृदय की इस वसुधा में दुर्लभ दिव्य सुधा बरसा जा ॥
तू सुख की सम्पूर्ण साधना जीवन के पथ की कल्याणी ।
तू छवि की आंखों की माया तू कवि के छंदो की वाणी ।

३

मूर्तिमती तू मंगलमूला ममता की साकार साधना ।
दग्ध तथा संतप्त हृदय की तू कसकीली शुभाराधना ॥
तपोमग्न तू दिव्य देश की उमा विश्व - विश्रुत सुख - सद्मा ।
लोक - लोचनों की शीतलता पुण्य - पयोनिधि की तू पद्मा ॥
आज भावनाओं के भव में मधुर रागिनी - सी लहरा जा ।
आजा इन पीड़ित आंखों में बनकर जीवन ज्योति समाजा ॥

४

खेल रही तेरे मानस में भव की वत्सलता अभिरामा ।
तुझमें झलक रही जीवन की स्नेह - सम्पदा लोक - ललामा ॥

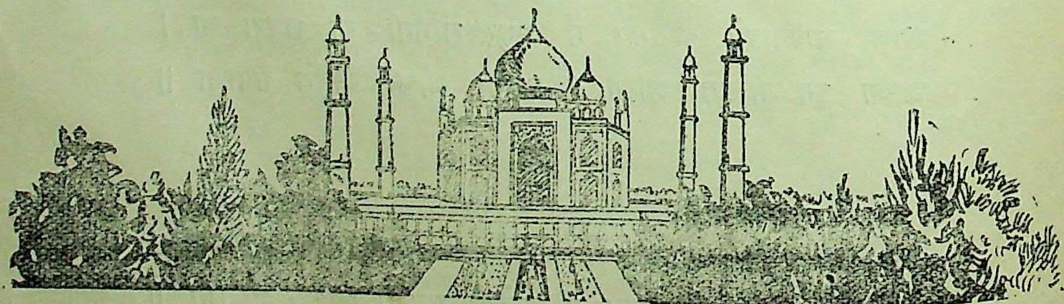
विश्व - प्रपंचों में तू लगती राका - रजनी - सी सुखदाई ।
तेरे मुखमंडल में मंडित नव्य - अनिर्वचनीय निकाई ॥
वैभवशालिनि अमरपुरी की तू मन्दाकिनि तरल तरंगा ।
तू भूतल की ताप नाशिनी अक्षय - पुण्य - प्रसारिणि गंगा ॥

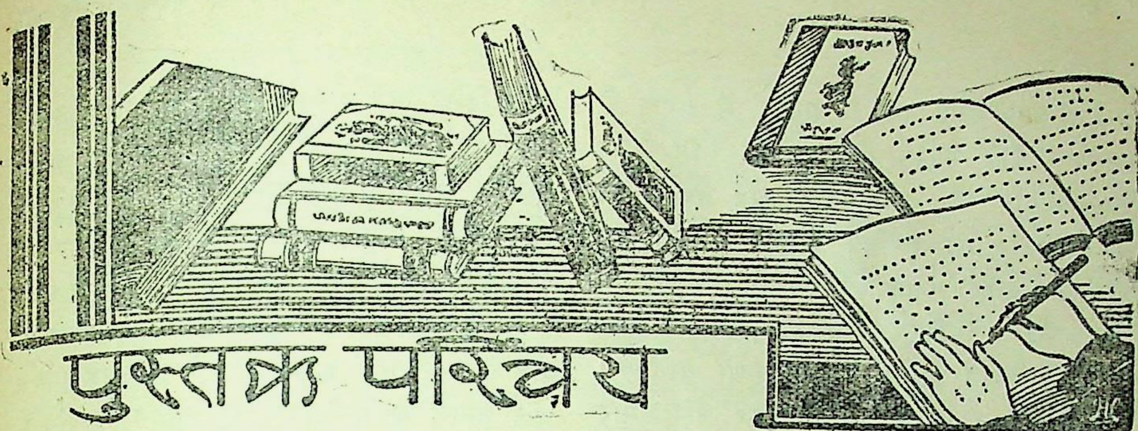
५

नवल नीरदों ने हिलमिलकर तुझ पर निज आनन्द लुटाया ।
तुझे देखकर हुई पुष्पिता कमलों की यह कंचन काया ॥
कोयल कूक कूक कर तुझको अपने मंगल गीत सुनाती ।
तुझमें वाणी के वैभव की शीतल रस - धारा लहराती ॥
वर वसंत का विभव दिखाती तुझे प्रकृति सुन्दरी प्रवीणा ।
तुझ पर स्वर्ग - सुधा बरसाती बिहगों की मृदु - मादक - वीणा ॥

६

माता की मृदु दया मया तू और पिता की जीवन लीला ।
बनी बंधुओं के उर तक की स्नेह - वल्लरी तू छविशीला ॥
तू मानस - मंदिर की शोभा तू घर के आँगर की माया ।
तेरी पावन मंजुलता में त्रिभुवन का श्रृङ्गार समाया ॥
फूल - फूल कविता कानन की कामद - कल्पलता मतवाली ।
झूल - झूल आंखों के आगे सरस कल्पना की हरियाली ॥





पुस्तक परिचय

'हंस'—प्रगति अंक १. २. ३.—सम्पादक, श्री अमृतराय। भाग १ मूल्य २) भाग २ मूल्य १) भाग ३ मूल्य ।।), वार्षिक मूल्य ६), सरस्वती-प्रेस, बनारस।

१९३४ से हमारे साहित्य में प्रगतिवाद की चर्चा शुरू हुई। १९३६ में इस चर्चा को रूप मिला, और फिर प्रगतिवाद की एक धारा ही साहित्य में चल पड़ी। 'हंस' शुरू से ही प्रगतिवाद का हामी रहा है। पर उसके पुराने प्रगतिवाद और नये प्रगतिवाद में फ़रक भी है। श्री शिवदान सिंह जी चौहान के 'हंस' में आने पर प्रगतिवाद ने एक दूसरा रूप धारण किया। प्रस्तुत तीनों अङ्क प्रगतिवादी साहित्य का अपने ढङ्ग से मार्जन करते हैं।

प्रगतिवाद ग़रीबों, शोषितों—किसानों और मज़दूरों—की भावनाओं, उनके दुख, दैन्य और फिर विद्रोह को साहित्य में लाना चाहता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है, अब तक का साहित्य जन-गण और मनव-संस्कृति की बुनियाद रखने वाले ग़रीब मज़दूर-किसानों की उपेक्षा करता था और प्रगतिवाद उन उपेक्षितों को साहित्य में प्रमुख स्थान देकर साहित्य को सम्पूर्ण मानव-समाज का बनाना चाहता है। प्रगतिवाद के इस असूल को सभी साहित्यकार श्रद्धा की नज़र से देखेंगे। पर इसके अलावा भी कुछ ऐसी बातें प्रगतिवाद में आ घुसी हैं, जिन पर बहुत विवाद है। जैसे नारी। प्रगतिवादी साहित्यकार यथार्थ के नाम पर, लेकिन दिशा बदल कर नारी को उसी नज़र से देख रहे हैं, जिस नज़र से बिहारी आदि ने देखा है। मज़दूर औरत काम में पिसकर अपने बच्चे को ठीक से पाल नहीं पाती, प्यार नहीं कर पाती, अपने पति के साथ उचित व्यवहार नहीं कर पाती, गुंडे बदमाशों के जाल में लाचारी दर्जा फंस जाती है, आदि बातों की ओर प्रगतिवादियों का उतना ध्यान नहीं गया है, जितना उनके 'यौवन' 'कच्ची नासपाती', (मास्को) तथा और भी ऐसी ही बातों की ओर। इस दिशा में प्रगतिवादी बीसवीं शताब्दी में हैं, अथवा सामन्ती समाज के अन्तिम गुप्त-काल (छठवीं शताब्दी) में; यह कहना कठिन है। प्रगतिवादी साहित्य के विद्रोह का आधार समाज-भावना है, समाज है अथवा 'मुक्त यौन व्यापार' यह कहना कठिन है। कुछ प्रगतिवादी अपने विद्रोह की उफान में सतीत्व को पूंजीवादी युग की देन मान कर तोड़ते हैं; पर बेचारों को इतिहास से क्या वास्ता जो वह जान पावें कि सतीत्व पूंजीवादी प्रथा नहीं, सामन्त युग की देन है और इसका चरम विकास गुप्त-युग में हुआ है। उसी तरह मुक्त-यौन-व्यापार बूर्जुआ युग की चीज़ है, जिसका मजदूर-किसान समाज से मेल नहीं हो सकता। यौन-व्यापार का फल बच्चा; और बच्चे का सम्बन्ध समाज से है और इसीलिये यौन-व्यापार पर नियन्त्रण (संयम) समाज हित की भावना है, और महान लेनिन ने रूस को इसी ओर मोड़ा भी। पर इन सारी बातों की ओर या तो ये प्रगतिवादी साहित्यिक ध्यान नहीं देना चाहते, अथवा जानते ही नहीं।

ऐसे ही एक विवादास्पद प्रश्न और भी है, जिसका समाधान ज़रूरी है। प्रगति किस की? प्रगति कहाँ? यदि कोई चीज़ है ही नहीं तो प्रगति किसकी होगी? यदि वह चीज़ समाज पर न

होगी तो प्रगति होगी कहाँ ? साहित्य में प्रगति से मतलब तो यही मालूम होता है कि जिस विराट मानव-समुदाय की भावनाओं से अब तक साहित्य अछूता था: शायद इसलिये अछूता था कि उस ओर ध्यान देने से समाज की उच्च श्रेणी के हितों में बाधा थी, उस विराट मानव-समुदाय की ओर साहित्य का ध्यान जाय। यह तो हुआ वस्तुगत। और वह वस्तु साहित्य में से होकर चले, हमारे समाज के अन्दर से विकास पाये। यह तभी सम्भव है जब हमारी कला का, हमारे साहित्य का, जहाँ तक विकास हुआ है, उसको मानकर, उसकी सृजनशील परम्परा में से होकर, उसकी कला के उपयोगी तत्वों को स्वीकार करके--उस सबको वर्गहीन भावना से भरा जाय, वर्गहीन भावना की ओर ले जाया जाय। न कि कला की, आर्ट की उपेक्षा करके ? अथवा उसको अपनी समाज-भावना से अलग करके ?

'हंस' के प्रगति अंकों में इन बातों की ओर ध्यान जाना चाहिये था। पर उसकी शिकायत रह ही गई। इस अङ्क में श्री नरेन्द्र शर्मा का लेख अपने में ठीक है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का विश्लेषण भी समझ में आने लायक है। पर डा० रामविलास शर्मा की बात समझ में नहीं आती। यदि "भाषा में अत्यधिक मिठास की खोज सामाजिक ह्रास का चिन्ह है।" तो अश्वघोष को हम क्या कहें ? उपनिषद् और महाभारत काल के समाज को हम क्या कहें ? गोस्वामी तुलसीदास जी ने क्या अवधी को सँवारा नहीं था ? उसमें मिठास नहीं भरा था ? जल स्थिर नहीं है, मानव रुचि स्थिर नहीं है, काल स्थिर नहीं है, और भाषा भी स्थिर नहीं है। भाषा साहित्य का वाहन है, एक काल से दूसरे काल में उसके अन्दर रूपान्तर होगा ही। उसकी व्यञ्जना में कुछ फ़रक़ होगा ही। पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि 'भाषा में मिठास खोजना पतन का चिन्ह है'। आलोचक जोश के साथ होश भी ठिकाने रख सके, तभी वह सही बात सही ढंग से कहकर गाली देने से बच सकता है--शायद इसे डा० शर्मा नहीं मानते। "प्रगतिशील हिन्दी साहित्य" का आधा अंश ठीक है; पर बाक़ी आधे में डा० शर्मा ऐतिहासिक का आसन छोड़कर पार्टीबाजी और प्रोपेगेंडा में कूद पड़े हैं। मध्यकालीन समाज में सामाजिक विश्लेषण के आधार पर, साम्यवादी दृष्टिकोण से देखने पर अपने समय में कबीर ही प्रगतिशील हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी परम्परागत ब्राह्मण्यवाद के सबसे बड़े समर्थक और समाज को श्रेणी-संघर्ष के सनातन तथा स्थितिशील नियमों से जकड़ने वाले हैं—और यदि उन्होंने शैव-वैष्णव विवाद मिटाने में किसी की सेवा है, तो सामन्तों, मठाधीशों तथा उच्च श्रेणी के लोगों की। पर हंस का पहला अङ्क तुलसीदास जी को ही प्रगतिशील बताता है। पता नहीं प्रगतिशील बन्धुओं की प्रगतिशील ऐतिहासिक दृष्टिकोण से क्यों दुश्मनी है ?

डा० दत्त का लेख गम्भीर, प्रामाणिक और तर्कपूर्ण है। उस लेख को टार्च बनाकर प्रगतिशील लेखक भारतीय साहित्य का शोध कर सकते हैं। किस तरह सामन्त युग के शुरू तक मेहनतकश (शिल्पियों) की इज़्ज़त थी और किस तरह गुप्त युग में हाथ से काम करना छोटा मानकर शिल्पियों को शूद्र श्रेणी में डाला गया। यदि इसे अध्ययन के बल पर ये प्रगतिवादी जान जाँय, तो देश का यथार्थ में कल्याण कर सकते हैं। पर उसके लिए अपनी व्यक्तिगत रुचि-संकीर्णता और विकृत काम विकार पर संयम ज़रूरी है; अपनी व्यक्तिकेन्द्रिकता से ऊपर उठना जरूरी है।

'हंस' ने ३५४ पेज़ों में प्रगतिवाद के ४८ ख्याति प्राप्त लेखकों के विचार एक जगह रखकर साहित्य की इस धारा पर सोचने-विचारने के लिए काफ़ी सामग्री इकट्ठी कर दी है। हिन्दी साहित्य के अन्दर प्रगतिवाद अभी बनने के क्रम में है। जो कुछ इसके नाम पर आता है, उसके अन्दर न सभी प्रमाणिक है न ग्राह्य है और न सभी त्याज्य। पर उसकी तीव्रता में विद्रोह की जो भावना है, वह साहित्यिक स्वर्ग को आसमान से खींचकर ठोस ज़मीन पर लायेगी, इसमें सन्देह नहीं।--विनोद

श्री केला जी की पुस्तकें

१—हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीतिक साहित्य, लेखक, श्री दयाशंकर दुबे और श्री भगवानदास केला। पेज १६०। मूल्य ॥) पता—भारतीय ग्रन्थ माला, वृन्दावन।

हिन्दी भाषा में अर्थशास्त्र और राजनीति पर १९३५ तक जो ग्रन्थ लिखे गये या अनुवादित हुए उन सभी की सूची, संक्षिप्त परिचय के साथ, इस किताब में है। इस किताब के सहारे एक जगह बैठे बैठाए हिन्दी के राजनीतिक और अर्थशास्त्रीय साहित्य का पता और परिचय पाया जा सकता है। इस दृष्टि से यह किताब बहुत उपयोगी है; और किताब के लिखने में मेहनत करने वाले व्यक्ति हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। यह किताब अपने विषय के खोजियों के लिए तो विशेष काम की चीज़ है।

२—अर्थशास्त्र शब्दावली—लेखक—सर्व श्री दयाशंकर दुबे, गदाधर प्रसाद अम्बष्ट और भगवान दास केला। दूसरा संस्करण, मूल्य १) पता—भारतीय ग्रन्थ माला, वृन्दावन।

प्रस्तुत पुस्तक में अर्थशास्त्र सम्बन्धी अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी रूप हैं। कहीं कहीं कोस्टों में उनको साफ़ भी किया गया है। अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी रूप संस्कृतप्रधान नहीं हैं। अनुवादपन का बोझ भी नहीं है। मुहावरे का भी ख्याल किया गया है। २०×३० डबल क्राउन किताब के १९५ पेजों में अर्थशास्त्र से सम्बन्धित और व्यवहार में आने लायक प्रायः सभी शब्द आ गये हैं। यह किताब अर्थशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों के अनुवादकों, लेखकों और वक्ताओं के बड़े काम की चीज़ है।—विनोद

३—ब्रिटिश साम्राज्य शासन—लेखक प्रयाग विश्वविद्यालय के अर्थ शास्त्र अध्यापक श्री दयाशंकर दुबे और श्री भगवानदास जी केला, पृष्ठ संख्या १५० मूल्य १)

४—हमारी राष्ट्रीय समस्यायें—लेखक श्री केला जी। पृष्ठ संख्या १४० मूल्य ।।।=) प्रकाशक—व्यवस्थापक भारतीय ग्रन्थ-माला, वृन्दावन।

ये पुस्तकें भी इसी साल प्रकाशित हुई हैं और हमें और पुस्तकों के साथ समालोचनार्थ मिली हैं। हिन्दी में अभी इन विषयों पर अधिक पुस्तकें हैं ही नहीं। केला जी ही इस क्षेत्र में प्रायः दो युगों—चौबीस साल—से अपनी धूनी रमाये औरों के लिए रास्ता तैयार करते आ रहे हैं। 'ब्रिटिश साम्राज्य शासन' का पहला संस्करण उन्होंने चौदह साल पहले प्रकाशित किया था और उनकी यह शिकायत ठीक है कि हम लोग अभी तक इन विषयों की ओर—जिनसे वास्तव में हमारी ज़िन्दगी और मौत के पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है—बेहद ला परवाह हैं। हमारे एक एक सूबे की आबादी से भी कहीं कम आबादीवाले आस्ट्रेलिया, केनेडा और दक्खिणी अफ़रीका हमसे क्यों इतना आगे बढ़े हुए हैं? इनसे गेहूँ, काग़ज़ आदि भेजने की प्रार्थना करने को मजबूर होने की ही बात नहीं, तरह तरह से अपमानित होने का कितना दुःख हमें सहना पड़ रहा है! अच्छा होता यदि केला जी ने केनेडा की आबादी और उसकी स्वराज्य-पद्धति पर तथा दक्षिण अफ़रीका में हिन्दुस्तानियों की दुर्दशा पर कुछ और अधिक लिखा होता। किस तरह उन लोगों में जो अपने ईसाई धर्म की रक्षा और स्वतन्त्रता के लिए अमरीका भाग गये थे। अमरीका के सचमुच स्वतन्त्र हो जाने पर ऐसे लोग भी निकले जो अपनी 'राज भक्ति' प्रमाणित करने को केनेडा चले आये इस पर और उनके यहां जो कई राजनैतिक समस्यायें हमारे देश की समस्याओं की सी ही हैं, उन पर लिखना आवश्यक है। पिछले दो ढाई सौ वर्षों में एक छोटे से टापू इंग्लैण्ड ने अपना इतना अधिक साम्राज्य फैला लिया और इसी बीच इस मुल्क हिन्दुस्तान ने अपना विश्वव्यापी ऐश्वर्य खो दिया! क्या यह हमारी उपेक्षा का विषय है? क्या हमें ऐसी पुस्तकों की ऐसी अवहेलना करनी चाहिये?

'हमारी राष्ट्रीय समस्यायें' में तेरह विषयों पर लिखा गया है—जिनमें मुख्य हैं—राष्ट्रीयता के साधन, राष्ट्रबल, संगठन, शिक्षा और साहित्य, एकता तथा

स्वाधीनता। परिशिष्ट में—'हिन्दुस्तान किसका ?' शीर्षक लेख इस संस्करण में बढ़ा दिया गया है। यह बहुत अच्छा लेख है। फिर भी केला जी के यह लिखने पर कि 'हिन्दुस्तान उन्हीं लोगों का होगा जो खुद ऊंचे वर्ण या जाति के होकर दूसरों को नीच मानने वाले न हों, स्वयं राजा, पूंजीपति, या ज़मीन्दार होकर दूसरों को दीन और दरिद्र बनाने वाले न हों।' बहुत से विद्वानों और देशभक्तों को आपत्ति हो सकती है, क्योंकि इसके आगे ही उन्होंने कहा है 'हम किसी वर्ग का विलुप्त होना तभी चाहते हैं जब वह दूसरों को विनष्ट करने में लगा हो।' और इस समय जो वास्तविक अवस्था है वह उन्हें ऐसे विनष्टिकारक कार्य्यों को अवश्य दिखला रही होगी।—वि० वर्मा

पोर्तुगीज़ पूर्व अफ्रीका में हिन्दुस्तानी—लेखक श्री ब्रह्मदत्त भवानी दयाल। प्रवासी-भवन, अजमेर।

प्रस्तुत पुस्तक में पोर्तुगीज़ पूर्व अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों के रहन सहन और विचारों का विस्तृत परिचय है। और यह लिखने वाले कोई यात्री नहीं हैं, वहीं के निवासी हैं; इसलिए इस किताब का एक ऐतिहासिक मूल्य भी है। सामाजिक दृष्टि से विचार करने वालों के लिए भी इसमें कुछ मसाला मिल सकता है। कौन सामाजिक नियम वहाँ की परिस्थिति में हिन्दुस्तानियों के अपनेपन की रक्षा कर सकता है; और उसका वहां क्या व्यावहारिक रूप है, यह इस किताब से जाना जा सकता है। पर ऐसा लगता है कि लेखक को सिर्फ़ वहां के हिन्दुओं की ही ज़्यादा जानकारी है; मुसलमानों की जानकारी कम है। अच्छा तो यह होता कि दोनों क़ौमों की अच्छी जानकारी इस किताब में होती। संभव हो तो, अगले संस्करण में ऐसा कर दिया जावे।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय राजनीति में दिलचस्पी रखने वालों को ज़रूर पढ़नी चाहिये।—विनोद

फलाहार चिकित्सा—लेखक, कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय, आयुर्वेदविशारद—पृष्ठ संख्या २०९ सजिल्द। मूल्य २।) प्रकाशक—महेन्द्र रसायनशाला, कटरा, इलाहाबाद।

यह पुस्तक दो साल से 'लिखकर रखी थी।' अतः 'समय समय पर बराबर इस पुस्तक में सुधार करने' का सुभीता लेखक को प्राप्त हो गया। इसी से इस विषय पर निकली हुई अन्य पुस्तकों से यह कहीं बढ़ी-चढ़ी हो सकी है। 'कौन फल किस के साथ खाँय', 'फलों के कल्प' गूदेदार और रसदार फलों पर विस्तृत विवरण और 'रोग निवारण में फलों के उपयोग' इसपुस्तक की विशेषतायें है। वैसे अभी फलों पर बहुत खोज जारी है और केवल चिकित्सा की ही दृष्टि से नहीं बल्कि औद्योगिक दृष्टि से भी इन पर लिखा जाना चाहिए। अनेक फलों से इस औद्योगिक युग में तरह तरह से न जाने कितने व्यवसाय किये जा सकते हैं। ज़रूरत है कि ऐसे व्यवसायों का रहस्य साधारण लोगों तक पहुंचा दिया जावे; नहीं तो इन पर भी विदेशियों की शनिश्चरी दृष्टि पड़ रही है और वे हमारी असहाय अवस्था का लाभ उठाकर सहज ही अपने ढंग से हमीं को काम में लाकर मनमाना लाभ उठायेंगे तथा इस देश के अनेक फलों को भी उठा ले जावेंगे—फलों की तो 'राशनिंग' की भी ज़रूरत न होगी! प्राकृतिक चिकित्सा का फलाहार चिकित्सा एक विशेष अंग है। प्रयाग में प्राकृतिक चिकित्सा के कई विशेषज्ञ मौजूद हैं। पांडेय जी को उनका पूरा सहयोग प्राप्त है। वे अपना सम्पूर्ण समय चिकित्सा की खोजों में ही लगा रहे हैं। फलतः डाक्टर सत्यप्रकाश जी ने जो बधाई इस रचना पर उन्हें दी है उसके वे सर्वथा अधिकारी हैं। लोगों को पुस्तक अपनानी चाहिए।

—वि० वर्मा

लड़ाई का हाल

उत्तरी अफ़रीका की लड़ाई में पूरे छः मास लग गये और सिसली टापू की लड़ाई अड़तीस दिनों में ख़तम हो पाई। चर्चिल साहब ने रूज़वेल्ट से मिल कर आगे की तैयारी के लिए निर्णय करना आवश्यक समझा और वे इसके लिए इङ्गलैण्ड से रवाना हो गये।

क्विबेक में विगत ११ अगस्त से चर्चिल और राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा दोनों देशों के सैनिक विशेषज्ञों का जो सम्मेलन शुरू हुआ वह गत २५ अगस्त को समाप्त हो गया।

मार्शल चांगकाई शेक के प्रतिनिधि के रूप में श्री टी० वी० सूंग सम्मेलन के विचार-विमर्श में सम्मिलित रहे।

'इस सम्मेलन का प्रधान उद्देश्य जापान के विरुद्ध युद्ध संचालित करने तथा चीन को अधिकाधिक मदद पहुँचा सकने के सम्बन्ध में विचार करना था। इस सम्मेलन में यह भी विचार किया गया कि इस वर्ष के अन्त होने के पहले ब्रिटेन, अमेरिका और रूस के प्रतिनिधियों का एक त्रिराष्ट्र-शक्ति सम्मेलन किया जाय। इसके सिवा यह भी निश्चय किया गया है कि अब जैसे जैसे ब्रिटेन और अमेरिका के युद्ध-प्रयत्न गम्भीरतर एवं विस्तृत होते जायेंगे वैसे वैसे साथी मुल्कों के नेता अपेक्षाकृत थोड़ी थोड़ी अवधि के बाद मिला करेंगे। जहां तक जर्मनी और इटली के साथ युद्ध का सम्बन्ध है, सोवियट रूस को उसकी पूरी रिपोर्ट दी जाती रहेगी। वाशिंगटन के कूटनीतिक क्षेत्रों का कहना है कि इस सम्मेलन में जापान के विरुद्ध युद्ध के सम्बन्ध में विचार-विनिमय का होना इस बात का काफ़ी संकेत है कि रूस इसमें क्यों नहीं शामिल हुआ।'

रूस न तो मित्र राष्ट्रों के लड़ाई के ढङ्ग से संतुष्ट है, न उनकी शान्ति-योजना से। वह न तो अमरीका के 'अड़तालीस राष्ट्रों के संघ' की भांति का 'युरोप के राष्ट्रों का संघ' पसन्द करता है और न युरोप में उस प्रकार के विभाग ही जैसे इङ्गलैण्ड चाहता है। इन विभागों से उसकी पोलैंड से वैसी ही शत्रुता हो जावेगी जैसी इस लड़ाई के पहले थी। वह 'कम्यूनिज़म' को मानते हुए गोरे और रंगीन आदि के प्रश्नों को सहन ही कैसे कर सकता है? फिर भी जब इन मत-भेदों को लेकर जरमनी यह कहता है कि उससे रूस मित्रता करने को तैयार है तो उसे कड़े से कड़ा उत्तर मिल जाता है क्योंकि जरमनी से तो उसकी जीवन-धारा और भी मेल नहीं खाती। अमरीका से रूसी राजदूत लिटविनोफ़ को हटा लेने के बाद से 'एक तूफ़ान सा उठ खड़ा हुआ है।' पर यह अपने आप शान्त हो जावेगा—विशेषकर इसलिए कि इस समय रूस से मो० मैस्को इङ्गलैंड पहुंच गये हैं और क्विबेक से मि० ईडन वहां वापस आ गये हैं और इन दोनों में जो बातचीत हो रही है उससे यह आशा की जाती है कि चर्चिल, रूज़वेल्ट और स्टेलिन में निकट-भविष्य में ही बातें हो सकेंगी।

× × ×

पहले यह ख़बर आई कि रूसी सेना खारकोव की दिशा में बढ़ती जा रही है और जर्मन फ़ौज़ें उसका दृढ़ मुक़ाबला करने में संलग्न हैं। फिर समाचार आया कि गत २३ अगस्त को जर्मनों ने खारकोव खाली कर दिया और लाल सेना का उस पर क़ब्ज़ा हो गया।

रूसी खारकोव की विजय का पूरा उपयोग करते हुए जर्मनों की अगली रक्षा-पंक्ति में घुस गए और उन्होंने जर्मन अधिकृत टागनरोग नगर, अजोव सागर तथा डोनवास के खानों के केन्द्र स्टालिननगर के रेलवे यातायातों को काट दिया।

इसके सिवा वोरोशिलवग्राड के दक्षिण-पश्चिम भी रूसियों की सफलता के कारण जर्मनों की स्थिति बिगड़ी और उनके हज़ारों हज़ार सैनिक, सैकड़ों वायु-

यान, टैंक तथा बेशुमार अन्य युद्ध-सामग्रियां बरबाद ही गई।

अब जर्मनों ने टैगनरोग भी खाली कर दिया है। यूक्रेन तथा डोनेज की तरेठी के पास लड़ाई चरम सीमा पर है।

बरलिन में बेहद तेज़ी की बम्बबाज़ी के फल-स्वरूप बरलिन सरकार वहां से हट गई है। फ्रांस की ओर से सशस्त्र विरोध होने की सम्भावना को रोकने के लिए वहां के लोगों के हथियार छीन लिये जा रहे हैं। डेनमार्क में जरमनी की सेनायें घुस चुकी हैं और स्वेडन को 'तीव्र चेतावनी' दी जा चुकी है। ग्रीस में और बल्कान प्रदेश में भी जरमन सेनायें मौजूद हैं। इटली में मुसोलिनी के पतन के बाद मित्र-दल को यह आशा थी कि वहां ऐसी गवर्नमेंट क़ायम हो सकेगी, जो मित्र राष्ट्रों की शर्तें मान लें; पर अभी तक ऐसा नहीं हुआ। वहां भी जरमन फ़ौज़ों की ही प्रधानता हो रही है। पर दक्षिण इटली में मित्र राष्ट्रों की ओर से भारी हवाई हमले हो रहे हैं। जरमनी ने स्वेडन के मामले को लेकर स्पष्टतः कहा है कि 'यूरुप में किसी राष्ट्र को वहां के अधिकांश राष्ट्रों के हित के विरुद्ध काम न करने दिया जावेगा।' सब ओर उसे हमले के ख़तरे का सामना करना पड़ रहा है।

'दक्षिण-पश्चिमी प्रशान्त स्थित मित्र राष्ट्रों की सदर मुकाम की एक विज्ञप्ति में बतलाया गया है कि अमेरिकन सेनायें निर्विरोध रूप से न्यू जार्जिया तथा बनावना के बीच स्थित अरुन्डेल द्वीप में उतर पड़ी हैं।

जनरल मैकआर्थर के सदर मुकाम से बतलाया गया है कि मित्र सेनायें सलामुआ में कुछ पीछे हटीं।' इसी तरह वहां युद्ध जारी है।

और इसी तरह चीन में जापान का युद्ध चला जाता है। बीच बीच में चुंकिंग पर बम-वर्षा भी होती रहती है। चीनी कोई न कोई जगह वापस लेते ही रहते हैं। अगर उन्हें हवाई जहाज़ों की मदद मिल सकती तो वे बहुत कुछ कर सकते। अब लंका में लार्ड मौन्टेनबैटन इसलिए आ रहे हैं कि वहां से जापानियों के विरुद्ध सामुद्रिक और हवाई युद्ध किये जा सकें। बरमा वापस लेकर और इस तरह बरमा-रोड को— जिससे सब सामान चीन जाता है—फिर से अपने लिए खोल कर ही मित्र-राष्ट्र चीन को पूरी सहायता दे सकते है। आशा है सितम्बर मास के अन्त होने के पहले ही हमें इस क्षेत्र में कुछ न कुछ कार्य अवश्य दिखाई देगा।

'लार्ड लुई के बारे में यह भी कहा जाता है कि डीपे और पश्चिमी यूरोप के बाद अन्य स्थानों पर मारे गये छापों का नेतृत्व उन्होंने ही किया था और उन्हींने इन छापों की योजना जरमनी की शक्ति-परीक्षा के लिए की थी। इससे अनुमान किया जाता है कि भारत और लंका के सामने के तट पर रंगून से लेकर सिंगापुर तक छापे मार कर जापान की शक्ति की परीक्षा की जावेगी और जहां जापान की शक्ति कमज़ोर होगी वहीं पर हमला किया जावेगा।'

'यदि बर्मा रोड न खुली और चीन को मित्र-राष्ट्रों से पर्याप्त यात्रा में मदद न मिली तो चीन टिक सकेगा, यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता' क्योंकि वह अपने ही साधनों के बल पर ६ साल तक युद्ध करते करते थक गया है। आशा है अब उसे वह सहयोग मिल सकेगा, जिसकी उसे बेहद आवश्यकता है—विशेषतः इसलिए कि यह सभी मानते हैं कि 'जापान बड़ा ही भीषण शत्रु है। इस का कारण यह है कि आज उसके अधिकार में युद्ध आरम्भ होने की अपेक्षा बहुत अधिक साधन हैं।'

चर्चिल और रूज़वेल्ट साहब ने कविबेक में यह भी कहा है कि पराधीन देशों के उद्धार के लिए वहां के लोगों का सहयोग भी आवश्यक है (backing of the people at home is equally necessary) अतः ज़रूरत इस बात की है कि जिस तरह अमरीका फिलीपाइन्स द्वीप को स्वतन्त्र कर देने का वादा कर चुका है, वैसे ही ब्रिटिश सरकार बरमा और भारत दोनों के प्रति करे। और भारत में इस वादे को जितना व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है दे दें।

सम्पादकीय-विचार

वाइसराय का 'अंतिम' भाषण

चलते चलाते भी लार्ड लिन लिथगो अपने उस भाषण में, जो उन्होंने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में दिया और जो उनका ऐसा अन्तिम भाषण है, बिना 'ज़हर उगले' और 'बेतुकी' बातें कहे न रह सके। अपना, और अपनी सरकार का दोष उन्होंने हिन्दुस्तान और कांग्रेस के मत्थे ही मँढ़ना चाहा। किन्तु समय की लहरें इतने आगे बढ़ चुकी हैं कि स्वयं लन्दन और अमरीका के अनेक पत्रों ने इस भाषण को 'खोखला', 'प्रतिक्रियावादी' 'व्यर्थ बातों से भरा हुआ' बतलाया। कुछ पत्रों ने तो इससे कहीं कड़े शब्दों का प्रयोग किया। कैसा अच्छा होता अगर वाइसराय सच्चे हृदय से अपना दोष स्वीकार कर लेते और इस देश के नेताओं को मिलकर काम करने का वैसा अवसर दे देते जैसा वे इस महायुद्ध के प्रारम्भ से—बल्कि उससे पहले से ही—चाह रहे हैं और जिसे प्राप्त किये बिना वे इस युद्ध में सच्ची मदद देनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। किन्तु अब तो एक अधिकारी द्वारा स्पष्टतः कह दिया गया है कि "लड़ाई के समय तक भारतीय समस्या बिल्कुल स्थगित (cold storage में) रहेगी।" इस पर हमारा यही कहना है कि यह सम्भव नहीं है। अस्तु। लार्ड साहब ने जो कुछ कहा वह यह है—

'मुझे इस बात का बहुत दुःख है कि यद्यपि युद्ध में भारत ने बड़ा भाग लिया और कई प्रकार से उसका दर्जा बहुत ऊंचा उठा तथापि वैधानिक क्षेत्र में उसकी यथेष्ट तरक्की न हो सकी। फिर भी ऐसा न हो सकने का कारण यह नहीं है कि उसके लिए सम्राट् की सरकार या स्वयं मेरी ओर से प्रयत्नों की कमी अथवा उत्साह या सदिच्छा का अभाव था। युद्ध के शुरू से ही मैंने सब दलों को मिलाने का यथासम्भव पूर्ण प्रयत्न किया और सरकार के मन्तव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ भी शंकायें थीं, उन्हें दूर करने का उद्योग किया, किन्तु मुझे दुःख है कि मेरे सारे प्रयत्न असफल रहे और सम्प्रदाय, दल तथा इनके आपसी घृणा-द्वेष एवं अधिकार लालसा ने रोड़े अटकाए और ख़िंच पैदा कर दी। मुझे इस बात का बराबर दुःख बना रहेगा कि युद्ध के इन चार वर्षों के दरम्यान जो प्रयत्न किये गये, उनके बावजूद भी हम अपने उद्देश्य के नज़दीक नहीं पहुँच सके और आज भी भारत के अन्दर आन्तरिक भेदभाव, साम्प्रदायिक दुश्मनी और भारत को सर्व प्रथम न रखकर इन्हीं पारस्परिक घृणा एवं द्वेषपूर्ण भावनाओं के साथ लिपटे रहने का रवैया मौजूद है, जिसके चलते उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ना असम्भव हो रहा है।

'फिर भी यदि हिन्दुस्तान अपनी वर्तमान स्थिति में परिवर्तन लाना चाहता है, तो उसी को अपनी समस्याओं का हल ढूंढ़ना पड़ेगा। मैं जानता हूँ कि हाल में कई तरह के अस्थायी वैधानिक हेरफेर के सुझाव पेश किए गए हैं. किन्तु ऐसे वैधानिक परिवर्तनों से असली समस्या का हल नहीं निकल सकता। इस तरह की योजनाओं से उलटे वर्तमान एकता नष्ट हो जायगी तथा युद्धोपरान्त की समस्याओं को हल करने में और भी कठिनाइयां उपस्थित होंगी। इसके सिवा युद्ध काल के अन्दर तो इस तरह की अस्थायी व्यवस्थायें हो ही नहीं सकतीं। असली समस्या तो भविष्य की है, पीछे देखना बेकार है। प्रान्तीय शासन की परीक्षा हो चुकी है। यह बिलकुल ठीक और काम में ला सकने लायक है! वर्तमान समय में वह छः प्रान्तों में जारी है। अन्य प्रान्तों में यह स्थगित है, क्योंकि जिनके हाथों में शक्ति दी गई थी वे अपनी ज़िम्मेवारी निभाने के लिये तैयार नहीं थे।'

'ज़िम्मेवारी' कौन नहीं समझ पा रहा है या कौन उससे दूर भागता है, इसके लिए अमरीका के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'न्यू रिपब्लिक' में 'एशिया' के सम्पादकीय विभाग के श्री कैटेल मिचेल के हाल में ही प्रकाशित एक लेख से थोड़ा सा उद्धरण ही काफ़ी होगा। उन्होंने लिखा है—'भारत में भारतीय सरकार की स्थापना सम्भव है। वहां की वर्तमान स्थिति क्रिप्स के वहां जाने के समय से अधिक ख़तरनाक है।...कांग्रेस देश का सब से बड़ा दल है जिसमें सब धर्मों और सब आर्थिक दलों (economic groups) के लोग हैं। उसने यह नहीं चाहा कि गवर्नमेन्ट उसके लिए ही अपनी शक्ति छोड़े और उसने कांग्रेस द्वारा नियंत्रित सरकार के लिए सत्ता कभी नहीं माँगी। उसने तो मि० जिन्ना को भी सरकार बनाने के लिए कहा।...पाकिस्तान की माँग बाधक मालूम होती है। पर यदि ब्रिटेन राष्ट्रीय सरकार बनाने को कहे, तो उसमें सम्मिलित होने के लिए कोई दल इनकार न करेगा।'*

इन्हीं विचारों से श्री आर्टन सिन्क्लेयर भी सहमत हैं। किन्तु, तारीफ़ की बात यह है कि सिन्क्लेयर सा० ने इस समय हमारे पूर्ण स्वतन्त्रता पाने की सम्भावना के विरुद्ध जो कुछ कहा है उसे तो सब समाचार पत्रों में प्रकाशित होने के लिए भेज दिया गया और ये पूरी बातें 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के एक 'विशेष सम्वाददाता' ने लिख भेजीं तब हम लोग इन्हें जान सके।

× × ×

किसानों से क़र्ज़

गवर्नर लोग भी वाइसराय से पीछे नहीं हैं। सूबों के लोग तो कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं पा सके पर इन लोगों ने नये विधान से बहुत कुछ 'स्वतन्त्रता' पा ली है। अब केन्द्रीय गवरमेन्ट इनकी 'स्वतन्त्रता' को ही पेश करके अपनी ज़िम्मेदारी से, जब चाहती है तब, दूर हट जाती है। खाद्य-पदार्थों के मामले से लेकर लोगों को सज़ा देने और उनसे तरह तरह से रुपये वसूल करने के मामले तक में केन्द्रीय सरकार का ऐसा ही रवैया देखा जा रहा है। फलतः गवर्नर लोग बहुत कुछ मनमानी कर सकते हैं। बिहार की गवर्नमेन्ट छः करोड़ रुपये लड़ाई के चन्दे में ले रही है और हमारे सूबे की सरकार सात करोड़ से ऊपर वसूल कर चुकी है। यह ज़रूर है कि यह सब लड़ाई के बाद तरह तरह से 'ब्याज के सहित' लौटाल दिया जावेगा—पर देने वालों की दशा के लिए तो बहुधा यह कहावत लागू होती है—'घड़ी में घर जलै, अढ़ाई घड़ी भद्रा!' जो किसान स्वयं क़र्ज़ में डूबा हुआ है और जिसके साल भर तक खाने-पहरने तक का ठीक-ठिकाना नहीं वह किसी सरकार को 'क़र्ज़' क्या देगा? और यहां ८० फ़ी सदी किसान हैं तथा किसानों में ९९ फ़ीसदी से ऊपर की दशा ऐसी ही है। हमारे गवर्नर साहब ने यह भी कहा है कि 'चरखे और बैल गाड़ी का युग गया—' इसमें संदेह ही किसे हो सकता है! 'चरखा-संघ' को ८ लाख की हानि हुई है और बैलगाड़ी से हम खाना-कपड़ा पा ही कैसे सकते हैं! यह दूसरी बात है कि रेलगाड़ी के मौजूद होते हुये भी पंजाब में जो खाद्य-पदार्थ खरीदा पड़ा है वह बंगाल नहीं पहुंच रहा है—हाँ, इस देरी से क्या? वह, जभी रेल का प्रबन्ध हो जाये तभी पहुँच तो सकता है!

× × ×

'आर्डिनेन्स'

ऐसी मनमौजी कारखाइयों के विरुद्ध भी पार्लियामेन्ट की भूल से आवाज़ें उठाई जा रही हैं। संघ-अदालत में गवर्नर जनरल के विशेष अधिकारों की सीमाओं पर बहस हो रही है। लाहौर के कुछ नज़रबन्दियों की ओर से मलिक बरकत अली बोल रहे हैं। उन्होंने स्पष्टतः कहा है—'इस न्यायालय की स्वतन्त्रता की कसौटी जनता की उस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा होगी जिस पर आघात हुआ है। न्यायालय को शासन-सत्ता का सामना करते हुए 'आर्डिनेन्स' को अवैध घोषित कर देना चाहिये।'

* अक्षर हमने बड़े किये हैं—सम्पादक

'मनुष्यों' द्वारा डाले हुए दुर्भिक्ष से हाहाकार !

अब से क़रीब चार मास पहले जून के 'मॉडर्न रिव्यू' (Modern Review) में सब से पहला सम्पादकीय नोट 'न्यू स्टेट्समैन एण्ड् नेशन' के उस टिप्पणी को लेकर लिखा गया था, जिसका शीर्षक 'भारत में मनुष्यों द्वारा डाला हुआ दुर्भिक्ष' था। इस टिप्पणी में यह बतलाया गया था कि बम्बई में चावल का भाव १ या १½ पेंस प्रति पौंड के स्थान पर एक शिलिंग प्रति पौंड हो गया है और आलू का मूल्य प्रति पौंड ९ पेन्स है। इसके आगे सुयोग सम्पादक ने लिखा था—

'These are prices which would break us. They mean death by hunger to the Indian masses....Food riots are becoming common...The policy seems to be to rely on ruthless severity, for a general order has been given to troops to fire without warning. That is an impolitic cruelty which Mr. Amery will have to justify to Parliament, if it fulfills its duty अर्थात् चीज़ों के दाम इतने बढ़े चढ़े हैं कि हम लोग भी नहीं दे सकते—इससे भारतीय जनता भूख से मरेगी ही। भूख सम्बन्धी झगड़े जगह जगह उठ खड़े हुए हैं—इन्हें सख़्ती से दबा देने की नीति जान पड़ती है। आम तौर पर फ़ौजों को, बिना कोई चेतावनी दिए हुए, गोली चला देने का हुक्म दिया जा चुका है। यह एक ऐसी अनुचित बेरहमी है, जिसके लिए एमरी सा० को पार्लियामेन्ट के सामने जवाब देना होगा—अगर पारलियामेन्ट अपने कर्तव्य का पालन करती है।

इस 'अन्तिम' शर्त को लेकर 'मॉडर्न रिव्यू' के सुयोग्य सम्पादक ने प्रो० हेरोल्ड लस्की की उस सूची की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहा, जिसमें उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि इस समय के शासक दल के सभी मुख्य सदस्यों का भारतीय साम्राज्य से आर्थिक स्वार्थ है। 'इसीलिये वे 'जन-तन्त्र' या 'स्वतन्त्रता' के नाम पर अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकते।'

यह तो हुई चार मास पहले की बात। अब जो दुर्दशा विशेषतः बंगाल की और साधारणतः सभी सूबों की हो रही है, उसके बारे में क्या कहा जावे? पंजाब के प्रधान मन्त्री ख़िज़र हयात ख़ां और एक अन्य मन्त्री सर छोटू राम ने केन्द्रीय सरकार और बंगाल सरकार दोनों के विरुद्ध मुनाफ़ाख़ोरी और ज़बरदस्ती माल इकट्ठा रख छोड़ने (hoarding) के सम्बन्ध में जो बयान दे दिये हैं, उनसे इनकी सारी पोल खुल गई है। उनका कहना है कि पंजाब में तमाम खाद्य-पदार्थ ख़रीदा हुआ पड़ा है। उसका केवल २८ प्रतिशत बाहर ले जाया गया है। और वह भी १२॥) मन लेकर १५) मन आटा मिलों को दिया गया और उनसे १९) मन ख़रीद कर २०) मन बेंचा जा रहा है। 'अमृत बाज़ार पत्रिका' ने बतलाया कि इसका यहीं अन्त नहीं होता—वह तीस रुपये मन और इससे भी अधिक मूल्य में बिकता है!' 'अमृत बाज़ार' ने यह भी दिखलाया कि खाद्य-पदार्थों के विभाग में कितने अफ़सर लोग कितनी ऊँची तनख़्वाहों पर काम कर रहे हैं—कोई चार हज़ार रुपये प्रति मास पा रहे हैं, कोई दो हज़ार, कोई चौदह सौ! कहने की ज़रूरत नहीं कि ये सब अंग्रेज़ अफ़सर हैं। विलायत से खाद्य-विशेषज्ञ; राशनिंग-विशेषज्ञ और तरह तरह के विशेषज्ञ इस देश में आते हैं और ऐसा नहीं है कि इनसे सचमुच हमारी खाद्य-समस्या हल होती हो बल्कि वह बराबर उलझती और बिगड़ती जाती है!

'अमृत बाज़ार पत्रिका' को इस भयानक गड़बड़ी पर कहना पड़ा है—It is a scandal to civilization. It is a disgrace to any administration worth the name. It is a challenge to humanity. अर्थात् यह सभ्यता को बदनाम करने वाली है, किसी भी शासन के लिए—जो इस नाम के योग्य हो—लज्जाप्रद है और मानवता के लिए 'चैलेन्ज' है। किन्तु इस युद्ध-

काल में जिन्हें ऐसी मानवता, बदनामी और लज्जा की परवाह ही नहीं है उनसे क्या कहा जावे? पत्रिका का कहना है—His Majesty's Government now & then tells us that its obligations to the Indian people are irrevocable. A Government which fails to save men & women from starvation must not indulge in this provocative nonsense.

अर्थात् ब्रिटिश गवर्नमेन्ट जब तब यह कहती है कि उसके भारतीय जनता के प्रति ऐसे कर्तव्यपूर्ण बंधन है, जो अटल-अचल हैं। उस गवर्नमेन्ट के जो पुरुषों और स्त्रियों को भूखों मरने से नहीं बचा सकती ऐसी उत्तेजनाप्रद मूर्खता की बात नहीं करनी चाहिये।

श्री एम० एन० राय तक जिन्होंने 'रैडिकल' डिमोक्रेटिक पार्टी, स्थापित की है और जिन्हें गवर्नमेन्ट अपना विशेष हितेच्छु समझे बिना नहीं रह सकती, क़रीब क़रीब यही मत प्रकट कर चुके हैं। वे भी गवर्नमेन्ट का मुख्य कर्तव्य जनता का पालन-पोषण करना मानते हैं। पर यह गवर्नमेन्ट तो इस समय भी यह प्रमाणित करने को तैयार है कि किसानों के पास आवश्यकता से अधिक अनाज है और वे 'बेहद' खाने लगे हैं। बनियां लोग भी बहुत सा अनाज दबाये बैठे हैं। अगर कोई निर्दोष है तो गवर्नमेन्ट! कलकत्ते की सड़कों पर एक लाख से अधिक भूखे पड़े हुए हैं और घरों के भीतर भूखे लोगों की जो दुर्गति है उसका वर्णन नहीं हो सकता। १७७० की भांति एक तिहाई या उससे अधिक आबादी के मर जाने की आशंका हो रही है। चारों ओर से चंदे भेजे जा रहे हैं। खाना मिल नहीं रहा। फिर भी गवर्नमेन्ट का यही कहना है कि 'खाना-पीना बहुत भेजा जा रहा है—लोग चाहें तो रुपये जमा करके बंगाल में ही सरकार से अनाज या रोटियां—जो चाहें—ख़रीद सकते हैं। और अच्छा तो यही है कि गवर्नमेन्ट को ही 'रिलीफ़' के रुपये दे दें!' जयपुर से कुछ मारवाड़ी सज्जन पांच लाख लोगों के खिलाने योग्य सामान भेजने का प्रबन्ध करने को तैयार थे। उन्हें भी ऐसा ही उत्तर मिला है। रेल के अधिकारी महोदय का कहना है कि सूबे की गवर्नमेंट सामान नहीं ले जाती और सूबे की गवर्नमेन्ट का कहना है कि रेल के डिब्बे का प्रबन्ध नहीं होता! जो हो, लोग भूखों मरते जाते हैं। अस्पतालों में जगह नहीं है। बाहर भी जगह नहीं है। 'स्टेट्समैन' ने भी भूखों मरते लोगों के चित्र छापे हैं और गवर्नमेन्ट की भरपूर निन्दा की है! वि० व०

सोवियत् रूस का संस्कृति प्रेम

हिन्दुस्तान के मशहूर ग्रन्थ, हिन्दुस्तान के विश्वकोष महाभारत का रूस की भाषा में अनुवाद हुआ है, इस खबर को इस सरकार बहादुर ने ठाट-बाट के साथ छापा है और भारतीय पत्र-पत्रिकाओं ने भी उसी सुर में अपना सुर मिलाया है। जैसे रूस में हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में यह कोई नया और अनोखा काम हुआ है! अथवा उसमें इन प्रभुओं का भी कुछ कृतित्व है।

दरअसल सोवियत् रूस में भारतीय विद्या के अनुसन्धान का काम कोई नया नहीं है। भारतीय ज्ञान के पिपासु स्व० आचार्य श्चेर्बात्स्की ज़ार के रूस से भागकर हिन्दुस्तान आये थे और उन्होंने नदिया में संस्कृत का गहरा अध्ययन किया था। यूरोप में भारतीय दर्शन के वे सबसे बड़े पंडित थे। हाल ही में प्रकाशित उनके "बुद्धिस्ट लॉजिक" ग्रन्थ पर प्रसिद्ध दार्शनिक पं० सुखलाल जी ने कहा था—

"इस ग्रन्थ का पठन-पाठन काशी के न्यायाचार्य के अन्तिम खण्ड में अवश्य कर देना चाहिये। ऐसे ग्रन्थ के पढ़े बिना आदमी की आँखें ही नहीं खुल सकतीं कि भारतीय दर्शन का विकास क्रमशः कैसे होता चला आया है।"

सोवियत् रूस ने भारतीय विद्या की जानकारी के लिये ही आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन को रूस बुलाया था। रूस का महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को निमन्त्रित करके

बुलाना भी उसके गहरे भारत-प्रेम—भारतीय संस्कृति प्रेम—का सबूत है।

जबकि हिन्दुस्तान के विश्वविद्यालयों में तिब्बती भाषा की जानकारी का कुछ भी प्रबन्ध नहीं है, उस वक्त बौद्ध ग्रन्थों के ज्ञान के लिए रूस में तिब्बती भाषा की जानकारी के लिए विराट आयोजन है। राहुल जी की पत्नी तबारिश लोला इन्दो-तिब्बती विभाग की सेक्रेटरी हैं और उन्होंने तिब्बती-रूसी भाषा का एक कोष भी लिखा है।

इस प्रकार सोवियत् रूस में भारतीय संस्कृति का अनुसन्धान कोई अनोखा काम नहीं है। सोवियत् रूस ने जो कुछ किया या कर रहा है, साम्यवादी संस्कृति में वह सहज और स्वाभाविक है। संस्कृति और कला की रक्षा वर्गहीन समाज में ही सम्भव है, इसका प्रमाण रूस पेश कर रहा है। 'विनोद'

अपनी बात

'विश्ववाणी' के प्रधान सम्पादक डा० अख़्तर हुसेन रायपुरी ने पिछले अङ्क में अपने इलाहाबाद आने के बारे में सूचना दी थी। वे अपने लिखे अनुसार यहां आये और चार दिन रह कर चले गये। किन्तु उनके इन चार दिनों की स्मृति हमारे मानस-पटल पर चित्रित रहेगी। वे यहां से बम्बई गये और वहां से कई स्थानों में होते हुए अमृतसर पहुंचेंगे। इसीलिए इस बार लड़ाई का हाल और सम्पादकीय टिप्पणियां वे नहीं लिख सके।

यों तो जब से भाई विश्वभरनाथ जी जेल भेज दिये गये और भाई अख़्तर हुसेन ने उनके काम के सँभालने की ज़िम्मेदारी ले ली तभी से हम उनकी उदार और विद्वत्तापूर्ण विचार-धारा को समझते बूझते आये हैं, पर उनके यहां आने पर हमने उनकी हृदय की वह वेदना देखी, जिसे इतनी दूर से देखना—इस तरह देखना सम्भव न था। हम सहज ही एक दूसरे को और अच्छी तरह समझ सके और अपने कामों के लिए विचारों की एकता क़ायम कर सके। इन पंक्तियों का लेखक डाक्टर अबुलफ़ज़्ल के साथ का लाभ उठा चुका है—उन डाक्टर अबुलफ़ज़्ल के जो संस्कृत और अरबी दोनों में यकसाँ विद्वान हैं और जिन्हें दूसरे देशों में जाकर संस्कृत की 'पवित्र पुस्तकों' का अध्ययन करना पड़ा है। उन्होंने 'क़ुरान' का जो अनुवाद किया, उससे बहुत से मुसलमान उनसे नाराज़ हो गये। पर वे तो 'सुधार समिति' (Reform Society) के संस्थापक थे। उन पर इस नाराज़ी का बुरा असर नहीं पड़ा। वे ज्यों के त्यों उदार रहे और सत्य के अनुसन्धान में संलग्न रहे। भाई अख़्तरहुसेन भी अंग्रेज़ी और फ्रेंच के साथ हिन्दी उर्दू, फ़ारसी और बंगाली के ही नहीं संस्कृत के भी विद्वान हैं। उनका वह निबन्ध (Thesis) जिसे लिखकर उन्होंने फ्रांस में डाक्टर की उपाधि पाई 'संस्कृत नाटकों में' हिन्दुस्तानी जनता की दशा' पर है। हमने उनसे यह अनुरोध किया है कि वे फ्रेंच से हिन्दी में अनुवाद करके इसका कुछ अंश 'विश्ववाणी' में भी अवश्य भेजें।

और बातों के साथ उन्होंने बतलाया कि उन पर श्री माधवराव सप्रे का कैसा प्रभाव पड़ा और फ्रांस में कैसे सच्चे हिन्दुस्तानी रंग में उन सभी लोगों को, जो यहां से वहां इस तरह जाते हैं, सराबोर हो जाना पड़ता है। हमें चार दिन बहुत थोड़े जान पड़े—बहुत अधिक और सुन्दर बातें थीं और समय बहुत कम था। और अनेक साहित्य-सेवियों की यह इच्छा थी कि उनके स्वागत में इकट्ठा हो कर कुछ विचार-विनिमय किया जावे। कुछ लोगों ने ऐसा किया भी। अच्छा होता यदि उसी समय और लोग भी पधारने की कृपा करते। साहित्यसेवियों की दशा, तरह तरह के चलते-पुरज़े लोगों द्वारा उनका शोषण, प्रगतिशील साहित्य तथा प्रगतिशील साहित्य के नाम पर मनमाना साहित्य, इन सब पर आपस में बातचीत हुई। श्री इलाचन्द जोशी, श्री रामप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी', श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि प्रसिद्ध साहित्य-सेवीगण पधारे थे।

भाई अख़्तरहुसेन ने मार्क्सवाद का विशेष परिश्रम से अध्ययन किया है और वे इस विषय पर हिन्दी

में पहले लिख चुके हैं। पर इधर वे उर्दू में ही लिखते रहे हैं। 'विश्ववाणी' मार्क्सवाद की 'वैज्ञानिक विवेचना' की उपेक्षा नहीं करती। उसके पहले ही अङ्क में 'उद्देश्यों' पर लिखते हुए सभी विचार-धाराओं को पाठकों के सामने लाने की बात स्पष्टतः कही गई है। जो विद्वान् कहते हैं कि 'आगामी समाज-विधान की ठोस नींव मार्क्सवाद की परवाह न करने से नहीं बल्कि उसके सभी वैज्ञानिक सिद्धान्तों को समझने और उन्हें व्यावहारिक बना देने पर ही बनेगी।' उनकी बातों पर पूरी तरह सोच-विचार करना होगा। हमें हर्ष है कि इस विषय पर लिखते रहने का वादा रायपुरी जी ने किया है।—वि० व०

शान्तिनिकेतन का चीन-भवन

स्व० गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन में चीन-भवन की स्थापना से जिस भारतीय संस्कृति के आदान-प्रदान की पुरानी परिपाटी को फिर से शुरू किया था, वह अब अपने पूरे विकास पर है। इस समय चीन-भवन में प्रो० तान-युन-शान की देख रेख में चीन विद्यार्थी भारतीय विद्या का अध्ययन तो कर ही रहे हैं; साथ ही भिक्षु शान्ति जी और श्री कृष्ण किंकर सिंह जी चीनी भाषा और संस्कृति का भी अनुसन्धान कार्य कर रहे हैं।

'चीन-भवन' का महत्व इस समय कई दृष्टियों से संसार के लिए खास आकर्षण रखता है। चीन भवन में इस समय कई ऐसे चीनी ग्रन्थ सुरक्षित हैं, जिनकी बाकी प्रतियों को जापानी बरबता ने बर्बाद कर दिया है। इस तरह चीनी-ज्ञान-शृङ्खला की ऐसी कड़ियाँ चीन-भवन में सुरक्षित हैं, जिनका जगत् में और कहीं पाया जाना दुर्लभ हो गया है।

प्रो० तान-युन-शान महोदय खुद थोड़ी हिन्दी सीख रहे हैं। उनकी हार्दिक इच्छा है कि चीनी-भारतीय संस्कृति के अध्ययन का यह केन्द्र महान एशिया के पुनरुद्धार में कुछ ठोस काम करे। जल्दी ही हम चीन के खास विद्वानों के लेख और खास कर मार्शल चियाङ्ग काई शेक की लेख-माला 'विश्ववाणी' के पाठकों के आगे पेश करने वाले हैं।—विनोद

[पृष्ठ १५१ में दूसरी पंक्ति से कुछ भाग ऐसा रह गया, जिसे लेखक महोदय ने बाद को लिख भेजा। वह नीचे दिया जाता है—सम्पादक]

लेखक ने उन समकालीन युद्धों में भाग नहीं लिया, जो मुस्लिम राज्य को प्रसारित करने के लिये लड़े जा रहे थे। पर वह समकालीन था इस कारण विश्वसनीय है।

हसन निज़ामी का काम और भी लेखकों ने जारी रखा पर इनमें 'तबक़ात नासिरी' के लेखक मिनहाज़ सिराज विशेष उल्लेखनीय हैं। मिनहाज़ का जन्म ११९२ ई० में हुआ था। इनकी माता उच्च वंश की थीं और इन्होंने अपने बालपन का कुछ समय राज्य परिवार ही में बिताया। तीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ। उस समय चंगेज़ ख़ाँ के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। मिनहाज़ ने खुरासान छोड़कर भारत आने का निश्चय किया।

६२१ हिजरी में मिनहाज तुलक से रवाना हुए। पर वे ६२४ हिजरी के पहिले भारत नहीं पहुंच सके। रास्ते में ताजुद्दीन तीगीन ४३ दिनों तक क़ैद किये रहे। छूटने के पश्चात् गज़नी होते हुए और फिर नाव द्वारा भारत पहुँचे और कच्छ में उतरे। कच्छ में वे फ़िरोज़ी कालेज के प्रधान बन गये। कच्छ के सुल्तान नासिरउद्दीन ने अपने पुत्र बहराम शाह की सेना का 'काज़ी' बना दिया।

इसी समय दिल्ली सम्राट् अल्तमश ने कच्छ पर हमला किया। मिनहाज़ मलिक ताजुद्दीन के द्वारा सम्राट् से मिले। सम्राट् ने उन्हें दिल्ली चलने की आज्ञा दी। मिनहाज़ प्रसन्नता से सम्राट् के साथ साथ दिल्ली पहुंचे।

१३३२ ई० (६२९ हिजरी) में जब अल्तमश ने ग्वालियर पर हमला किया मिनहाज भी उनके साथ थे। गढ़ के विजय के पश्चात वे वहां के काज़ी बना दिये गये।

अल्तमश की मौत के बाद सुल्तान रज़िया के समय में भी वे उसी पद पर रहे। यह समय बहुत ही नाज़ुक था। कोई भी सम्राट् अपने शासन की बागडोर के लिये निश्चित नहीं था। मिनहाज ने इन झगड़ों को तै करना चाहा था। यह बात साफ़ है कि उसने पूरा प्रयत्न किया।

इतिहास संस्कृति और राजनीति की सचित्र मासिक पत्रिका

विश्ववाणी ही क्यों पढ़ें ?

'विश्ववाणी' का नामकरण स्वर्गीय कवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने किया था

'भारत में अंगरेज़ी राज' के रचयिता पं० सुन्दरलाल इसके संरक्षक हैं

'विश्ववाणी' पर लोकमत

यों तो मैं किसी को आजकल कुछ संदेश नहीं भेजता, लेकिन विश्ववाणी को मैंने चन्द मिनट दीं। 'विश्ववाणी' की विशेषता कि उसमें ज़ाहिर ख़बर नहीं ली जाती मुझे बहुत प्रिय लगी। मुझे यह भी अच्छा लगा कि 'विश्ववाणी' में सब धर्मों के लेखकों के लेख भरे हैं……—महात्मा गान्धी

'विश्ववाणी' जिस महान उद्देश्य को लेकर निकली है, मुल्क को उसकी बेहद ज़रूरत है। हर हिन्दुस्तानी को 'विश्ववाणी' पढ़नी चाहिये—राष्ट्रपति आज़ाद

ऐसे महान उद्देश्य को लेकर जिस साहस के साथ आपने 'विश्ववाणी' निकालने का आयोजन किया है, उसकी प्रशंसा करता हूं—सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि हिन्दी में इतनी उच्चकोटि की कोई दूसरी मासिक पत्रिका नहीं है--आचार्य नरेन्द्रदेव

निस्संदेह 'विश्ववाणी' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है—पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी

'विश्ववाणी' का एक एक अङ्क संग्रह करने की वस्तु है

आज ही छै रुपये भेजकर ग्राहक बन जाइये

मैनेजर 'विश्ववाणी' कार्यालय, साउथ मलाका, इलाहाबाद

मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

विश्ववाणी



संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल (जेल में)

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख़्तर हुसेन रायपुरी

[अ]क्तूबर १९४३

इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विचारपूर्ण लेख, श्री सुगनचंद जी की कहानी और कई उत्कृष्ट कविताएँ।

...मूल्य ६)

'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद

एक अङ्क का ॥=)

विषय-सूची

अक्तूबर १९४३

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, वम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ६ | अक्तूबर, १९४३ | अङ्क ४, पूरे अङ्क ३४

बापू के चरणों में

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक

बहुत पहले मैंने अपने एक ईसाई मित्र से एक भजन की कुछ पंक्तियाँ सुनी थीं। जब कभी भगवान बुद्ध या हज़रत ईसा सरीखे मानवता के पुजारी की वर्षगाँठ मनायी जाती है, तो वे अक्सर मेरे दिमाग में घूम जाती हैं। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

ईसा यदि हज़ार बार भी,
पैदा हों बेथलहम में—
पर आत्मा अनाथ तेरी,
यदि रमे न वे तेरे मन में।

मैं जब गान्धी जी के आगामी वर्षगाँठ पर सोचता हूँ, तो मेरा मन मुझसे पूछता है, "क्या गान्धी जी तुम्हारे मन में आ बसे हैं? आज बीस साल से तुम गान्धी-जयन्ती मनाते आ रहे हो। क्या इससे तुम्हारे आचरण या गुणों में रत्ती भर भी फ़रक़ पड़ा है?" और तब फिर लज्जा से मेरा सिर झुक जाता है।

गान्धी जी को प्यार करने या उनमें जीवित रहने का मतलब है अपने आप को सत्य की खोज में खपा देना। क्या मैंने ऐसा किया है? इसके लिये क्या मैंने कभी निश्चय किया है कि मार्ग में जो भी बाधायें आयें मैं ईश्वर और मनुष्य मात्र के प्रति अपने व्यवहार में कठोर सदाचार का पालन करूंगा? मुझे अफ़सोस है कि मैं अभी ऐसा नहीं हो पाया हूं। इसके विपरीत मैं वहीं खड़ा हूँ जहाँ समझौता और अर्ध सत्य अपना डेरा डाले हुये हैं।

गान्धी जी से स्नेह करने का मतलब है अपने मन और आत्मा में यह दृढ़ विश्वास जमा लेना कि आत्मा एक है और अविभाज्य है। फिर ऐसा विश्वास रखते हुये आत्मा के सम्पूर्ण अंगों को, बिना उनके अधिकारों का किसी तरह विवेचन किये, प्रेम से आदर करना चाहिये; क्योंकि गान्धी जी अपने अधिकार की अपेक्षा मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्य पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं। जहाँ तक मानव प्रेम का सम्बन्ध है, इसका फल यह होता है कि ऊँच-नीच, धनी-ग़रीब, विद्वान-मूर्ख और काले-गोरे की भावना दूर भगा दी जाती है। परन्तु मैं क्या हूं? अब भी तो मेरा मन जात-पाँत, श्रेणी या रंग की संकीर्ण भावना से आक्रान्त है!

गान्धी जी में श्रद्धा रखने का अर्थ है, अटल ईश्वर भक्ति और पददलित, अनाथ, असक्त तथा दुखियों की निस्काम सेवा। क्या मुझमें बापू की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दैहिक और आत्मिक पवित्रता का रंचमात्र (कण भर) भी असर है ?

गान्धी जी के सन्निकट होने का मतलब है अधिकार की सभी भावनाओं से अलग होना। अपने प्रत्येक स्वाँस के तार तार को इस सत्य से 'हे चिन्तन ! तुम्हारा ही सब कुछ है, मेरा कुछ भी नहीं।' झंकृत करते रहना चाहिये। मेरा प्रत्येक कार्य मेरी तुच्छता और मेरी हैसियत का दुनियाँ के सामने इज़हार करता रहता है।

अन्त में गान्धी जी में एकात्म होने का अर्थ है ईश्वर की निम्नतर सृष्टि में उतर पड़ना, जिससे तुम्हें प्रत्येक प्राणी में उसकी पूर्णता प्रतीत हो।

संक्षेप में अब स्वीकार करना पड़ता है कि रस्म-रिवाज की रूढ़ि के कारण ही प्रत्येक वर्ष में गान्धी जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ; परन्तु वास्तव में यह गान्धी जी के सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ संकल्प की श्रद्धांजलि नहीं होती।

फिर भी मेरा अन्तरतम अनन्त प्रेम और असीम श्रद्धा से बापू के चरण रज को अविरत चूमता रहता है। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि मेरी आत्मा गान्धी जी की आत्मा का अभिनन्दन कर रही है। बस फर्क यही रहता है कि उनका ब्रह्म जागृत है और मेरा सुप्त।

अपने इस आत्म-विवेचन में मैंने गान्धी जी की प्रतिभा और महानता की कुंजी पा ली है। प्याज के छिलके की तरह आत्माभिमान को निरन्तर अलग करते रहने ही से ब्रह्म का पूरा ज्ञान हो सकता है। पर दुख है जिस स्वार्थ ने मेरी चिर जागृत, चिर सजग और चिर सेवावनत आत्मा को ढँक लिया, उसी से मैं चिपटा हुआ हूँ !

बापू के क़दमों पर चलना एक महान वरदान है। यह वरदान आजीवन सत्य, प्रेम, न्याय, सादगी, समता और स्वतन्त्रता की साधना करने से ही मिल सकता है। क्या हम लोग इसके लिये तैयार हैं ? यदि हाँ, तो मैं कहूँगा कि बापू का जीवन व्यर्थ नहीं है। हम लोग कितने भाग्यशाली हैं कि इतिहास के उस काल में पैदा हुये, जब मनुष्य के रूप में ईश्वर चल रहा है और हमारे बीच काम कर रहा है।

बापू के प्रति

श्री कृष्णदास एम० ए०

हे महापुरुष, हे वीतराग, हे मुक्त देह, हे अनासक्त !
हे विश्व - वन्धु, हे विश्ववंद्य, हे पूर्ण मनुज, हे मनुज - भक्त !
श्रेणी - संघर्ष - समन्वय के हे गौरवपूर्ण मंत्रद्रष्टा !
कटु-संघर्षों के बीच अचल, चिर सत्य अहिंसा पथ स्रष्टा !
अविरल अशान्ति के पार देव ! तुमने चिर शान्ति चित्र देखा,
तब आँखों में जग ने देखी, आशा की धुंधली - सी रेखा,
प्राचीन युगों की थाती से तुम वर्तमान के बन सहचर,
ले चले विश्व को साथ - साथ शिव - सत्य - सुन्दरम् के पथ पर !

तव कृशित देह में प्रतिबिम्बित है महा मनुजता क्षीणकाय,
तेरे जीवन का श्वाँस - श्वाँस 'बहु जन हिताय बहुजन सुखाय' !
इस तिमिराच्छादित जगती में 'तमसोमाज्योतिर्गमय' कहाँ ?
है जब साम्राज्य असत्यों का तब 'असतोमासद्गमय' कहाँ ?
है आपस का सम्बन्ध आज, शोषण - हिंसा पर टिका हुआ,
मानव, दुख का पुतला मानव, कौड़ी - कौड़ी पर बिका हुआ।
चल रहा विश्व में सभी तरफ़ खुल कर अनीति का राज - काज,
इसका उन्मूलन किये बिना है कठिन अहिंसात्मक समाज !
इस विघटन की परिपाटी का बुझ जाय नहीं जब तक प्रदीप,
तब तक कैसे हम पहुँचेंगे, उस महा शान्ति के कुछ समीप ?
पर पीड़न की, पर शोषण की जब तक न व्यवस्था बदल जाय,
व्यवधान विसंगतियों की भी जब तक न अवस्था बदल जाय।
जब तक मानव हो कर स्वतंत्र, अपने को मानव कह न सके,
जब तक मानव इस जगती में मानव हो कर के रह न सके।
यदि ऊँच - नीच का भेद-भाव संघर्ष-द्वन्द हो नहीं बन्द,
तब मानव कैसे हो सकता है पूर्ण मनुज सच्चिदानन्द ?

× × × ×

आयें जो आयें विपदायें, आयें जो आयें बाधायें,
हम कर्मनिरत, आसक्ति-विरत निर्बाध सदा बढ़ते जायें।
हम भी गगनांचल में विचरें, हम में भी पंख लगा दो ना,
हम भी हो जायें समदर्शी, हम में वह ज्योति जगा दो ना !
दीपक से दीपक जला करे, यों अमर ज्योति जलती जाये,
यों ही ज्योतिर्मय परम्परा अविरल - अबाध चलती जाये।
मेरी भावुकता छिपी हुई इन शब्दों के आवरणों में,
इस भावुकता का मूल श्रोत बापू ! अर्पित तव चरणों !!

नैनी जेल १९४३

यहूदियों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

पं० सुन्दरलाल

यहूदियों के राजनैतिक इतिहास को बयान करने से पहले उनकी धार्मिक और सांस्कृतिक प्रगति की ओर एक नज़र डालना आवश्यक है। किसी भी क़ौम के धार्मिक विचारों, उनकी सामाजिक प्रथाओं और उनके राजनैतिक जीवन में गहरा सम्बन्ध होता है। एक का दूसरे पर ज़बर्दस्त असर पड़ता है।

दो सदियों के अन्दर जब कि एक तरफ़ फ़लस्तीन में यहूदियों को यूनानी क़ौम के बुरे से बुरे पहलुओं से वास्ता पड़ा, दूसरी तरफ़ जो लाखों यहूदी समय समय पर राजनैतिक उथल पुथल के दिनों में मिश्र और दूसरे देशों में जा जा कर बस गये, उनमें से ज़्यादातर के अनुभव दूसरी तरह के रहे। उनका यूनानी संस्कृति के एक भिन्न और श्रेष्ठतर पहलू से सम्बन्ध हुआ। दूसरे देशों में उन्होंने तिजारत में ख़ूब हिस्सा लेना शुरू किया। जगह जगह उनकी बस्तियां काफ़ी ख़ुशहाल थीं। ख़ासकर जो यहूदी मिश्र में जाकर बसे उनके साथ टॉलेमी बादशाहों के उदार और प्रबुद्ध शासन में ख़ूब अच्छा सलूक हुआ। उन्हें पूरी धार्मिक आज़ादी हासिल थी। यूनान को उन्नत विद्याओं से उनका परिचय हुआ। साहित्य और दर्शन के अध्ययन का और इनमें उन्नति का उन्हें अपूर्व अवसर मिला।

इसी समय ईसा से दो सौ बरस पहले मिश्र की नई राजधानी सिकन्दरिया में तौरेत और दूसरे यहूदी धर्म ग्रन्थों का पहली बार यूनानी ज़बान में तर्जुमा हुआ। और कई यहूदी ग्रन्थ यूनानी और इबरानी ज़बान में लिखे गये।

वह समय संसार के अन्दर बड़ी बड़ी धार्मिक और सांस्कृतिक लहरों का समय था। बौद्ध धर्म के प्रचारक और उनके साथ साथ भारतीय अध्यात्म दर्शन और विज्ञान समस्त पूरबी और पच्छिमी संसार में फैलते जा रहे थे। उस समय की मिश्र की राजधानी सिकन्दरिया और भारत की राजधानी पाटलीपुत्र के बीच राजदूतों, दार्शनिकों और विद्वानों का आना जाना और तिजारती माल तथा ज्ञान-विज्ञान का आदान-प्रदान बराबर जारी था और दोनों दरबार में प्रेम-सम्बन्ध था। यही कारण था कि टॉलेमी राजवंश के लोग कई सौ साल तक अपनी उदारता और अपने असाधारण विद्या-प्रेम के लिए विख्यात थे और उनके शासन काल में मिश्र ने फिर एक बार ज्ञान-विज्ञान में ख़ूब उन्नति की।

बौद्ध धर्म अफ़ग़ानिस्तान, चीन, तुर्किस्तान और ईरान से होता हुआ धीरे धीरे समस्त पच्छिमी संसार में फैल रहा था। ईसा के जन्म से पहले समस्त पच्छिमी एशिया और ख़ास कर सुरिया में सैकड़ों बौद्ध मठ और असंख्य बौद्ध बिहार क़ायम हो चुके थे। बौद्ध भिक्खु रोमी साम्राज्य के एक एक कोने में अपना प्रेम और शान्ति का सन्देश पहुंचा रहे थे। किसी दूसरे धर्म से उन्हें टक्कर न थी। न वे दूसरों के किसी देवता की पूजा का निषेध करते थे और न अपने किसी देवता की पूजा का प्रचार। वे केवल विश्व प्रेम, नम्रता, सदाचार के नियमों, आत्मसंयम और आत्मशुद्धि को मानव उन्नति के मुख्यतम साधन बताते थे जब कि संसार का एक बहुत बड़ा भाग 'मेरा इष्ट देव सच्चा और दूसरों का झूठा, मेरी उपासना विधि ठीक और दूसरों की ग़लत,' इन तुच्छ झगड़ों में पड़ा हुआ था। बौद्ध धर्म ने पूजा और पूज्य इन दोनों की ओर से उदार और उदासीन रहते हुए मानव सदाचार और विश्व प्रेम के ऊपर ज़ोर दिया, और इन्हीं को ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों तरह के कल्याण का मार्ग बताया। कोई भी मनुष्य अपने प्राचीन पैतृक धर्म का पालन करते हुए इन नये सिद्धान्तों का आदर कर सकता था और उनके अनुसार जीवन निर्वाह-करने का

प्रयत्न कर सकता था। यही कारण है कि करोड़ों जापानी अपने प्राचीन शिनतो धर्म को आज तक मानते हैं और बौद्ध धर्म को भी। उनसे कई गुने चीनी प्राचीन चीनी ताओ मत के अवलम्बी भी हैं और बौद्ध धर्म के भी।

बौद्ध भिक्खुओं और प्रचारकों के अलावा उन दिनों और बहुत से भारतीय सन्त भारत से जा जाकर पच्छिम एशिया, अफ़रीका और यूनान के जंगलों में कुटिया बनाकर रहते थे, और इन सब देशों के बड़े बड़े विद्वान और महात्मा उनसे मिलकर धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक शिक्षा ग्रहण करते थे। इनमें एक ख़ास गिरोह था जिन्हें यूनानी इतिहासलेखक 'जिम्नो सोफ़िस्ट' या 'हाइलोबियो' नाम से पुकारते हैं और बड़े प्रेम और आदर के साथ उनका ज़िक्र करते हैं। जिम्नो सोफ़िस्ट का शब्दार्थ 'नंगे फिलासफ़र' या 'दिगम्बर तत्ववेत्ता' और हाइलोबिया का अर्थ 'वानप्रस्थ' है।

ये लोग ज़्यादातर दिगम्बर ही रहते थे। इनके अनुसार जितना कम से कम खाकर शरीर चल सकता है, उससे अधिक खाना, या जितने कम से कम कपड़े से काम चल सकता है उससे अधिक कपड़ा उपयोग करना आत्मोन्नति में बाधक है। इनमें से कुछ 'शमन' कहलाते थे और कुछ 'ब्राह्मण'। इन दिगम्बर महात्माओं का जो कुछ हाल यूनानी लेखकों ने लिखा है, उससे ज़ाहिर है कि इनमें से अनेक का सम्बन्ध जैन धर्म से भी था। किन्तु इतिहास से एक और बात बिलकुल स्पष्ट है वह यह कि जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनों धर्मों के विद्वान उन दिनों एक साथ दूर दूर के देशों में जाते थे, तीनों हर जगह मिल कर प्रेम के साथ रहते थे, और इनमें से अनेक का रहन सहन और उनके उपदेश तीनों धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों और बहुमूल्य रत्नों का एक सुन्दर समन्वय होते थे। यूनानी इतिहास से पता चलता है कि ईसा से कम से कम चार सौ साल पहले ये दिगम्बर भारतीय तत्ववेत्ता पच्छिमी एशिया में पहुंच चुके थे।

पोप के पुस्तकालय के एक लातीनी लेख से जिसका हाल में अनुवाद हुआ है पता चलता है कि ईसा की जन्म की शताब्दी तक इन दिगम्बर भारतीय दार्शनिकों की एक ख़ासी बड़ी संख्या इथियोपिया (अफ़रीका) के जंगलों में रहती थी, और अनेक यूनानी विद्वान वहीं जाकर उनके दर्शन करते थे और उनसे शिक्षा लेते थे।

यूनान के दर्शन और अध्यात्म का इन दिगम्बर महात्माओं पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि चौथी सदी ई० पू० में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान पिरो ने भारत आकर उनके ग्रन्थों और सिद्धान्तों का यानी भारतीय अध्यात्म और भारतीय दर्शन का विशेष अध्ययन किया और फिर यूनान लौट कर एलिस नगर में एक नई यूनानी दर्शन पद्धति की स्थापना की। इस नई पद्धति का मुख्य सिद्धान्त था कि इन्द्रियों द्वारा वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है, वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति केवल अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ही सम्भव है, और उसके लिए मनुष्य को सरल से सरल जीवन व्यतीत करके आत्मसंयम और योग द्वारा अपने अन्तर में धँसना चाहिए। भारत से लौटने के बाद पिरो दिगम्बर रहता था। उसका जीवन इतना सरल और संयमी था कि यूनान के लोग उसे बड़ी भक्ति की दृष्टि से देखते थे। वह योगाभ्यास करता था और निर्विकल्प समाधि में विश्वास रखता था।

ऐस्सेनी और क़ब्बालह

बौद्ध भिक्खुओं और इन भारतीय आत्माओं के प्रभाव से दूसरी सदी ई० पू० में यहूदियों के अन्दर 'ऐस्सेनी' नामक एक और नई सम्प्रदाय क़ायम हुई। यहूदी इतिहास लेखक यूसुफ़ और फ़ाइलो ने और कई यूनानी इतिहास लेखकों ने विस्तार के साथ इन लोगों का हाल लिखा है।

इन लोगों की बस्तियाँ, जिन्हें बड़े बड़े मठ या ख़ानकाहें कहा जा सकता है, शहर से दूर होती थीं। बस्ती के अन्दर हर एक की कुटिया अलग किन्तु एक दूसरे के पास पास थी। वे आजन्म अविवाहित रहते

थे और बड़ा सरल संयमी तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। सारी बस्ती एक कुल की तरह रहती थी, जिसका एक कुलपति होता था। सब की समस्त सम्पत्ति सारे कुल की सम्पत्ति होती थी। सब का एक जगह भोजन बनता था और एक स्थान पर बैठ कर सब एक साथ भोजन करते थे।

प्रति दिन कई घण्टे हर व्यक्ति को अपने हाथ से कुछ न कुछ श्रम करना पड़ता था, जिसका समस्त लाभ सामूहिक कोष में जाता था। इस श्रम में मुख्य काम ये थे—बस्ती के खेतों में श्रम करके नाज पैदा करना, भोजन बनाना, सब के लिये कपड़ा बुनना और अन्य आवश्यक धन्धे करना। किसी काम के लिए दूसरे मनुष्य को नौकर, दास या ग़ुलाम बना कर रखने को वे पाप समझते थे। कोई अपने अलग गुज़ारे के लिये कोई अलग काम न कर सकता था।

हर ऐस्सेनी ब्राह्ममुहूर्त में उठता था और सूर्योदय से पहले प्रातःक्रिया, स्नान, ध्यान, उपासना आदि से फ़ारिग़ हो जाता था। सुबह के स्नान के अतिरिक्त दोनों समय भोजन से पहले स्नान करना हर एक के लिये ज़रूरी था। उनका सब से मुख्य सिद्धान्त था 'अहिंसा'। इसलिये हर तरह की पशु-बलि, मांस-भक्षण या मदिरापान के वे विरुद्ध थे। उनका केवलमात्र भोजन रोटी-साग होता था। ठण्डे पानी के अलावा वे कभी और चीज़ न पीते थे। भोजन शुरू करते समय और ख़त्म करने पर वे मिलकर ईश्वर को धन्यवाद देते थे। वे केवल सफ़ेद कपड़े पहनते थे। बालों में तेल लगाना पाप समझते थे। किसी के पास पहने हुए कपड़ों के अलावा कपड़ों का दूसरा जोड़ा न होता था। यहूदी मंदिरों में पशुबलि के कारण वे इन मंदिरों में न जाते थे। किन्तु प्राचीन धर्म की ओर अपनी श्रद्धा दर्शाने के लिये समय समय पर शुद्ध उपहार और जलाने की धूप यरुसलम के मंदिर को भेजते रहते थे।

ईरान की मिश्री सम्प्रदाय के प्रभाव से अन्य अधिकांश आस पास की क़ौमों के समान वे सूर्य का विशेष आदर करते थे और उसे ईश्वर की दिव्य ज्योति का भौतिक चिन्ह मानते थे। उपासना के समय सदा सूर्य की ओर मुंह कर लेते थे। बालार्क के उदय होते ही प्रत्येक ऐस्सेनी उसकी ओर मुंह करके यहूदियों के प्रसिद्ध मंत्र 'शेमा' का उच्चारण करता था। ईरानियों के समान वे इस तरह के देवताओं या फ़रिश्तों में भी विश्वास रखते थे, जो मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हो सकते हैं।

हर ऐस्सेनी का कर्तव्य होता था कि दिन के साधारण दैनिक श्रम के बाद आस पास की मामूली आबादियों में जाकर दीन दुखियों और दरिद्रों की सेवा करे। यदि इस काम में उसे यह अनुभव होता कि उसकी बस्ती की सामूहिक सम्पत्ति में से किसी चीज़ के ज़रिये किसी दीन दुखिया की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती है, तो उसे अधिकार होता था कि बिना कुलपति या किसी दूसरे से पूछे वह तुरन्त उस चीज़ को उसे लाकर दे दे। इस एक कार्य के अलावा किसी दूसरे कार्य के लिये वह कुल की किसी चीज़ को बिना कुलपति की इजाज़त के हाथ न लगा सकता था।

इस सब से बचा हुआ समय और ख़ास कर रात का बहुत सा समय वह एकान्त सेवन, धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन, मनन और योग के अभ्यास में बिताता था। निस्सन्देह पवित्र जीवन, दीन दुखियों की सेवा, शारीरिक श्रम और योग द्वारा चित्त को स्थिर करना, ये चार बातें ऐस्सेनियों के अनुसार आत्मा की उन्नति के चार मुख्य साधन थे। आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से हर ऐस्सेनी को कई उत्तरोत्तर श्रेणियों में से होकर निकलना पड़ता था।

ईसा के जन्म के समय इनकी तादाद ख़ूब बढ़ी हुई थी। सुरिया, फ़लस्तीन और मिश्र के पहाड़ों और जंगलों में ठंडे पानी के चश्मों के पास जगह जगह इनकी बस्तियाँ थीं। फ़ाइलो के समय में इनकी कुल संख्या चार हज़ार बताई जाती है।

इतिहासलेखक फ़ाइलो अपने समय के भारतीय और ईरानी सन्तों, महात्माओं के चरित्र और उनकी तपस्या की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि ठीक इसी तरह के तपस्वी यहूदियों में ऐस्सेनी थे। यूनानी इतिहासलेखक स्ट्रेबो उन्हें "दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के संघ" (Guilds of philosophy and Scientists) कह कर वर्णन करता है और लिखता है कि अफलातून जैसे दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता उनके दर्शन करने और उनसे उपदेश लेने के लिये आते थे।

अफ़रीका की किसी किसी ऐस्सेनी बस्ती में ये लोग एक एक सप्ताह एकान्त सेवन करते थे और एक प्रकार की समाधि में पड़े रहते थे। फ़ाइलो लिखता है कि उनके इस लम्बे एकान्त सेवन का उद्देश्य होता था "ध्यान द्वारा परमेश्वर के व्यापक अस्तित्व के साथ अपनी आत्मा को मिला कर एक कर लेना।" इनमें से कई विशेष नामों या मंत्रों का जाप भी करते थे। समय समय पर उनमें अनेक दार्शनिक विषयों पर चर्चा होती थी। भजन गाये जाते थे और कहीं कहीं ईश्वर-स्तुति के साथ एक प्रकार का नाच भी होता था।

योग की विधियों और ध्यान के तरीक़ों को वे सिवाय दीक्षितों के दूसरों को न बताते थे। सरल भोजन और संयमी जीवन के कारण इनकी उमरें ख़ूब लम्बी होती थीं और अपने चरित्र और तत्वज्ञान के लिए आस-पास के संसार में वे बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

अपने मठों के अन्दर नये सदस्य के रूप में वे या तो केवल इतने छोटे बालकों को लेते थे जिन्हें शुरू से अपने रहन सहन और सिद्धान्तों में पक्का कर सकें और या युवावस्था पार किये हुए उन लोगों को लेते थे, जिन्हें सांसारिक भोग विलास की ओर अधिक आकर्षण न रह गया हो। आगन्तुक को अपनी समस्त धन सम्पत्ति सामूहिक सम्पत्ति में मिला देनी पड़ती थी। पहले तीन साल उसे उम्मीदवार रहना पड़ता था। इस तीन साल के अन्दर उसे बड़े बड़े उपवास रखने पड़ते थे, व्रत करने पड़ते थे और कई तरह से अपने मन और इन्द्रियों को साधना पड़ता था। इतिहासलेखक यूसुफ़ के अनुसार अन्त में उसे दीक्षा से पहले कुलपति के सामने इस तरह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी—

"मैं परमात्मा का भक्त रहूँगा। मैं मनुष्य मात्र के साथ सदा न्याय का व्यवहार करूँगा। स्वयं अपनी इच्छा से या किसी दूसरे के कहने से भी मैं कभी किसी की हिंसा न करूँगा न किसी को हानि पहुँचाऊँगा। मैं सदा बुरे लोगों से दूर रहूँगा। मैं भले लोगों की सहायता करूँगा। मनुष्य मात्र के साथ मैं अपने वचनों का पालन करूँगा। अपने ऊपर के अधिकारियों के साथ सच्चा व्यवहार करूँगा, क्योंकि सिवाय परमात्मा के किसी दूसरे से किसी को कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। यदि स्वयं मुझे कोई अधिकार प्राप्त होगा, तो उसके कारण न मैं अपने व्यक्तिगत विचार या अपनी व्यक्तिगत सत्ता किसी दूसरे पर लादूंगा और न अपनी विशेष पोशाक या विशेष ढङ्ग द्वारा दूसरों पर अपना बड़प्पन दिखाऊँगा। मैं सदा सत्य से प्रेम करूँगा और असत्य से घृणा। मैं सदा अपने हाथों को चोरी से और अपनी आत्मा को पाप की कमाई से पाक रखूंगा। मैं अपने भाइयों (यानी कुल के दूसरे लोगों) से कभी कोई बात न छिपाऊँगा और न उनके किसी रहस्य को दूसरों पर प्रकट करूँगा, चाहे इसमें मेरे प्राण भी क्यों न चले जांय।"

सिवाय इस एक अवसर के वे और कभी किसी तरह की शपथ न खाते थे।

आमतौर पर इनके मठों में केवल पुरुष ही भरती किये जाते थे, किन्तु अफ़रीका में वे कहीं कहीं स्त्री जिज्ञासुओं को भी भरती कर लेते थे।

जिन विविध इबरानी शब्दों से ऐस्सेनी शब्द का विकास माना जाता है, उनके अर्थ हैं "मौन रहने वाला," 'धर्मनिष्ठ' और 'सन्यासी'।

ईसा से क़रीब एक सौ साल बाद से फिर इन लोगों का कहीं पता नहीं चलता। इतिहासलेखक यूसुफ़ लिखता है कि यूनान के पाइथेगोरियन और

स्टोइक दार्शनिकों ने अपने अनेक सिद्धान्त इन्हीं ऐस्सेनियों से सीखे। ईसाई धर्म में मठों और महन्तों की प्रथा भी ऐस्सेनियों ही से चली।

उसी समय के निकट बौद्ध और हिन्दू दर्शन के प्रभाव से एक और विचार शैली ने यहूदियों में जन्म लिया जिसे क़ब्बालह कहते हैं। १९ वीं सदी तक ज़्यादहतर यूरोपियन विद्वान इस शैली और उसके ग्रन्थों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। किन्तु अब इस सदी में उसकी ओर आदर और उसे अधिक जानने की उत्सुकता बढ़ती जा रही है। क़ब्बालह का अर्थ 'कुबूल किया हुआ' यानी 'स्वीकृत' है। इनकी मुख्य पुस्तक 'ज़ोहर' है, जो पहली सदी ईसवी में लिखी गई। ज़ोहर का अर्थ है 'रोशनी'। ज़ोहर में तौरेत का एक भाष्य है, और उसके अलावा, ईश्वर, जीव, सृष्टि, मुक्ति आदि अनेक गूढ़ विषयों का दार्शनिक विवेचन है।

क़ब्बालह के कुछ थोड़े से सिद्धान्त ये हैं—ईश्वर अनादि, अनन्त, अपरिमित, अचिन्त्य, अव्यक्त और अनिर्वचनीय है, उसे केवल 'वह यह भी नहीं,' 'वह यह भी नहीं' (नेति, नेति—उपनिषद्) इस तरह के वाक्यों द्वारा ही बयान किया जा सकता है। वह 'अस्तित्व' और 'चेतनता' से भी परे है। उस अव्यक्त से किसी प्रकार व्यक्त की उत्पत्ति हुई, अचिन्त्य से चिन्त्य की। मनुष्य परमेश्वर के केवल इस दूसरे रूप का ही चिन्तन और मनन कर सकता है। इसी से सृष्टि सम्भव हुई। इससे एक दूसरे के पश्चात् अनेक आध्यात्मिक, मानसिक, और भौतिक लोकों की उत्पत्ति हुई, लगभग इस प्रकार जिस प्रकार किरणों की सूर्य से। इन लोकों में दस मुख्य गिने जाते हैं। हर लोक के साथ अव्यक्त का एक विशेष अंश या रूप व्यक्त होने लगा। जिस प्रकार ईश्वर को अनिर्वचनीय कहना और अव्यक्त और व्यक्त का अन्तर उपनिषदों की परिभाषाओं से मिलता हुआ है, उसी प्रकार अव्यक्त के एक एक अंश का व्यक्त होना हिन्दू अवतार के सिद्धान्त से मिलता हुआ है। क़ब्बाली फ़रिश्तों और देवताओं पर विश्वास रखते थे और उन्हें मनुष्य की उन्नति में सहायक मानते थे।

मनुष्य की आध्यात्मिक मानसिक और शारीरिक रचना ठीक विश्व की आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक रचना के अनुरूप है। इसलिये जो कुछ मनुष्य के पिण्ड में है, वही विशाल ब्रह्माण्ड में है।

जीवों की उत्पत्ति परमेश्वर के व्यक्त रूप से हुई है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए जीव को शरीर धारण करना पड़ता है। जिन मनुष्यों की आत्मा ज्ञान और शुभ कर्मों द्वारा शुद्ध और बुद्ध हो जाती है, वे मृत्यु के बाद परमात्मा में लीन हो कर मुक्त हो जाते हैं और जो इस दरजे को प्राप्त नहीं हो पाते उन्हें, जब तक वे शुद्ध और बुद्ध न हो जावें, अपने कर्मों के अनुसार जन्म-जन्मान्तरों और अनेक योनियों में से निकलना होता है। इस प्रकार ये लोग 'कर्म और पुर्नजन्म' दोनों भारतीय सिद्धान्तों के क़ायल थे। ईश्वर-प्रार्थना, धार्मिक जीवन और योग द्वारा मन को एकाग्र करके अपने आपको विश्व की आत्मा के साथ एक कर लेना इसी को वे आत्मशुद्धि, आत्मोन्नति और अन्त में मुक्ति का साधन बताते थे।

क़ब्बालह की पुस्तकों में योग के मुख़्तलिफ़ दरजों, शरीर के भीतर के चक्रों और अभ्यास के रहस्यों का ज़िक्र है। यूरोपियन इतिहासज्ञ स्वीकार करते हैं कि क़ब्बालियों ने यह सब बौद्ध और हिन्दू धर्मों ही से लिया।*

---

* पंडित सुन्दरलाल जी की पुस्तक "विश्व के सांस्कृतिक इतिहास" के 'यहूदी संस्कृति और सम्प्रदाय' नामक अध्याय का एक अंश।

मौर्यों के पतन के बाद ब्राह्मणों की प्रति-क्रान्ति

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त

१८४ ई० पूर्व में मौर्यों के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र सुंग ने राजा बृहद्रथ को मार कर मौर्य सिंहासन पर क़ब्ज़ा कर लिया। पुष्यमित्र के सिंहासन पर बैठते ही ब्राह्मण-प्रतिक्रिया की ऐसी भीषण लहर उठी जिसने सारे भारतीय समाज को दहला दिया। पुष्यमित्र पहला ब्राह्मण था जो कभी किसी राज सिंहासन पर बैठा और इसके बाद से ब्राह्मणों की गिनती भी शासक वर्ण में होने लगी। ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है कि इस घटना की यादगार में पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ का समारोह किया। इस यज्ञ के आयोजन से पुष्यमित्र का उद्देश्य शायद वैदिक कर्मकाण्ड को फिर से चालू करना रहा होगा। 'मञ्जुश्री मूलकल्प' का बौद्ध लेखक लिखता है कि सिंहासन पर बैठने के बाद पुष्यमित्र ने बौद्ध मठों को गिरवा दिया, बौद्ध-स्मृति-चिन्हों को नष्ट करवा दिया और बड़े बड़े सच्चरित्र बौद्ध भिक्खुओं को क़त्ल करवा दिया।[1]

इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक मतभेद है कि पुष्यमित्र का उद्भव कहाँ तक ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया का नतीजा था।[2] इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध सत्ता के ख़िलाफ़ ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँची, जब बलख के यूनानी राजा मेनान्दर ने भारत पर चढ़ाई करके साकेत (अवध) तक के प्रदेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया। उस मनोवैज्ञानिक मौके से फ़ायदा उठाकर सारा ख़मियाज़ा सम्राट् अशोक के उत्तराधिकारी के सर पर डाल दिया गया, जो अपने महान पूर्वज के आदेश के अनुसार दुशमन को ताक़त से जीतने की अपेक्षा प्रेम से जीतने का क़ायल था।

सुंग सेनापति के नेतृत्व में ब्राह्मणों की इस प्रतिक्रिया को स्वर्गीय श्री जायसवाल ने रूढ़िवादी प्रतिक्रान्ति के नाम से पुकारा है।[3] इस प्रतिक्रान्ति की पूरी तसवीर हमें 'मानव धर्मशास्त्र' में मिलती है। इसी मानव धर्मशास्त्र को मनुस्मृति कहा जाता है। श्री जायसवाल के अनुसार यह धर्मशास्त्र पुष्यमित्र के समय लिखा गया और इस धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं को देखते हुए पता चलता है कि उसका एक उद्देश्य पुष्यमित्र के विश्वासघात का नैतिक समर्थन भी था।[4] 'नारद स्मृति' के अनुसार इसका रचयिता सुमति भार्गव नामक व्यक्ति था।[5] या कम से कम उसने पुरानी 'मनुमृति' में प्रतिक्रियावादी नई व्यवस्थाएं शामिल कर दीं। यही एक कारण हो सकता है, जिससे हमें मनुस्मृति के अन्दर अलग अलग व्यवस्थाओं में ज़बरदस्त विरोध का आभास होता है!

जो आदमी भी ध्यान से इस 'मानव धर्मशास्त्र' को पढ़ेगा उसे साफ़ साफ़ दिखाई दे जायगा कि इस धर्मशास्त्र ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मौर्यों के शासन नियमों का बिलकुल ख़ात्मा कर दिया। इसके पृष्ठों में नीचे के तीन वर्णों के प्रति नफ़रत भरी हुई है। शूद्रों के प्रति और दूसरे वर्णों के प्रति इसका घृणा-भाव बिलकुल स्पष्ट है।[6] जायसवाल इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस मानव धर्मशास्त्र

१—Jayaswal—"An Imperial History of India". P. 18.

२—H. C. Rai Chaudhari—"Political History of Ancient India"

३—Jayaswal—"Manu and Jagna. valkya.', PP, 40-41.

४—Ibid.

५—Ibid also Jolly—P. 21.

६—Ibid—P. 199.

के अन्दर "राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक द्वेष-भाव भरा हुआ है।" हो सकता है कि इसीलिए इस धर्मशास्त्र को इतना मान और इतनी प्रतिष्ठा मिली। इतनी शीघ्रता के साथ जो यह स्वीकार कर लिया गया उसका कारण यह हो सकता है कि राजा ने इसे अपनी स्वीकृति दी और यह सुंग राज्य का माना हुआ व्यवस्था-शास्त्र हो गया।[७]

मानव धर्मशास्त्र या मनुस्मृति की विवेचना करने पर उसमें आपको इस प्रकार की व्यवस्था मिलेगी कि किस परिस्थिति में आप किस प्रकार के राजा को नष्ट कर सकते हैं (७-२७,२८,१११)। शायद पुष्यमित्र के विश्वासघात को जायज़ क़रार देने के लिये ही यह व्यवस्था हो। फिर यह शास्त्र शूद्रों के बिलकुल विरुद्ध है। इसमें ब्राह्मणों को आदेश है कि वे शूद्र राजाओं के राज्य में न रहें (४-६१) कोई शूद्र न्यायाधीश नहीं हो सकता (८-२०)। मौर्य काल में शूद्रों के ख़िलाफ़ ऐसा कोई प्रतिबन्ध न था। इस शास्त्र के अनुसार जिस राज्य में बहुत बड़ी तादाद में उन्नत-मना शूद्र रहते हैं और जहाँ द्विज नहीं रहते वहाँ अकाल और तरह तरह की बीमारियाँ हो जाती हैं और वह राज्य बहुत जल्दी नष्ट हो जाता है (८-२२)। यह व्यवस्था साफ़ साफ़ मौर्य राज्य के विरुद्ध थी। इस शास्त्र के शुरू के श्लोकों में ब्राह्मणों को शूद्र स्त्रियों से विवाह की इजाज़त थी (३,१२-१३), किन्तु बाद के श्लोकों में यह इजाज़त वापस ले ली गई (३,१४-१९)। इसमें लिखा है—"इतिहास और कथाओं में कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने आपत् काल में भी शूद्र स्त्रियों से विवाह किया हो (३-१४)।" यह कितनी अनैतिहासिक बात है! पुराने इतिहास में और अर्थ-शास्त्र में असवर्ण विवाह के काफ़ी उल्लेख मिलते हैं (अर्थशास्त्र भाग ३, अध्याय ७-१६४)। मानव धर्मशास्त्र में एक जगह लिखा है—"दासी के पुत्र उसके स्वामी की सम्पति हैं" (९-५५)। अर्थात् यह धर्मशास्त्र पशुओं, घोड़ों और ग़ुलाम मनुष्यों की सन्तति में कोई फ़र्क़ नहीं करता। इसके विपरीत अर्थशास्त्र में साफ़ लिखा है कि दासी पुत्र भी 'आर्य' है। सम्राट् अशोक ने इस बात की घोषणा कर दी थी कि क़ानून की दृष्टि से ब्राह्मण और शूद्र सब बराबर हैं, किन्तु मानव धर्मशास्त्र ने सम्राट अशोक की इस व्यवस्था को रद्द करके एक ही जुर्म में ब्राह्मण और शूद्रों के लिये अलग अलग सज़ाओं की व्यवस्था कर दी। मानव धर्मशास्त्र के अनुसार यदि कोई द्विज किसी शूद्र के साथ क्रूर व्यवहार करता है तो उसे कम सज़ा मिलेगी, किन्तु यदि कोई शूद्र किसी द्विज के साथ क्रूर व्यवहार करता है, तो उसे अधिक सज़ा मिलेगी (८-२६७,२७७;३६६-३७६)। इसके अनुसार ब्राह्मणों का पुराना प्रभुत्व फिर क़ायम हो गया। किन्तु शूद्रों के प्रति वैरभाव की चरम सीमा उस समय पहुँची जब यह व्यवस्था दी गई कि—"यदि कोई शूद्र किसी द्विज को दुर्वचन कहे तो उसकी जीभ काटली जाय, क्योंकि वह नीच है (८-२७०)।[८] इसके विपरीत अर्थशास्त्र कहता है कि—"राजा ऐसे पुरोहित को बरख़ास्त कर दे जो आज्ञा देने पर भी किसी अयाज्य को वेद पढ़ाने से इनकार करता है, या जो किसी अयाज्य के यज्ञ में शामिल होने से इनकार करता है (अर्थशास्त्र भाग-१, अध्याय १०-१६)। अर्थशास्त्र की इस व्यवस्था के अनुसार शूद्रों को वेद पढ़ने और यज्ञ करने दोनों का अधिकार था। मानव धर्मशास्त्र ने इस अधिकार को छीन लिया। यही नहीं आगे चलकर मानव धर्मशास्त्र कहता है—"यदि कोई शूद्र किसी द्विज के नाम और जाति की चरचा अपमानजनक शब्दों में करता है, तो दस अंगुल लम्बी लोहे की कील उसके मुंह में घुसेड़ देनी चाहिये" (८-२७१)। एक दूसरी जगह लिखा है—"यदि कोई अद्विज घमण्ड के साथ किसी ब्राह्मण को उसके कर्तव्य का बोध कराये तो

७—Jayaswal, of. cit., PP. 40-41

८—'The Laws of Manu'—translated by Buhler.

राजा को ऐसे अद्विज के मुंह और कान में जलता हुआ गरम तेल डलवा देना चाहिये" (८-२७२)। एक और जगह लिखा है—"शरीर के जिस अंग से कोई शूद्र उच्च जाति वाले को चोट पहुँचाये उस शूद्र के उस अंग को काट डालना चाहिये। यह मनु की शिक्षा है" (८-२७९)। वर्ण व्यवस्था का इससे अधिक क्रूर रूप और क्या हो सकता है?

इस तरह मानव धर्मशास्त्र ने मौर्यों की शासन व्यवस्था के समता के सिद्धान्त को एक क़लम नष्ट कर दिया और शूद्रों को सम्पत्ति के अधिकार से वञ्चित कर दिया। धर्मशास्त्र के अनुसार—"ब्राह्मण को दास-शूद्र की सम्पत्ति फ़ौरन ज़ब्त कर लेनी चाहिये, क्योंकि शूद्र की अपनी कोई सम्पत्ति नहीं" (८-४१७)। इसके अतिरिक्त "दास को सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं क्योंकि उसकी सम्पत्ति उसके स्वामी की सम्पत्ति है" (८-४१६)। इसके विपरीत अर्थशास्त्र दास को सम्पत्ति के मालिक होने का अधिकार देता था (अर्थशास्त्र ३, अध्याय १३-१८२)। अर्थशास्त्र के अनुसार—"दास की सम्पत्ति उसकी मृत्यु के बाद उसके रिश्तेदारों को मिलेगी और रिश्तेदारों के अभाव में उसके स्वामी को।" (उपरोक्त-१८३)। एक ओर धर्मशास्त्र ने शूद्रों के लिए घोर असुविधाएं कर दीं और दूसरी ओर ब्राह्मणों के लिये विधान किया—"यदि धन के अभाव में राजा मृत्यु शय्या पर पड़ा हो तब भी उसे वेद पढ़े हुए ब्राह्मण से राज-कर नहीं लेना चाहिये" (७-१३३)। यहाँ भी अशोक के विधान को तोड़ा गया। मानव धर्मशास्त्र आगे चलकर कहता है—"दास, दस्यु और चांडाल को गवाह के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता" (८-६६)। इसके विपरीत अर्थशास्त्र शूद्र को गवाह के रूप में स्वीकार करने में कोई परहेज़ नहीं करता (अर्थशास्त्र ३, अ० ११-१७४)। धर्मशास्त्र के अनुसार शूद्र गवाह के शपथ लेने के बाद भी उसे जिसमानी कष्ट देकर उसके झूठ-सच का पता चलाया जाता था जब कि कौटिल्य के अनुसार किसी भी गवाह की गवाही लिखकर उसकी साधारण रूप से जांच करानी चाहिये, किसी गवाह को शारीरिक यातना पहुँचाने की ज़रूरत नहीं। आर्थिक दृष्टि से भी धर्मशास्त्र ने शूद्रों की स्थिति अत्यन्त असुविधाजनक रखी है। धर्मशास्त्र के अनुसार—"महाजन को ब्राह्मण क़र्ज़दार से दो पाना प्रतिशत, क्षत्रियों से तीन पाना प्रतिशत, वैश्यों से चार पाना प्रतिशत और शूद्रों से पांच पाना प्रतिशत ब्याज लेना चाहिये" (८-१४२) जब कि कौटिल्य के अनुसार "हर सैकड़ा हर महीने सवा पाना ब्याज लेना ही जायज़ है।" (अर्थशास्त्र ३, अ० ११-१७३)। ब्याज के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र ने विविध जातियों के बीच कोई तमीज़ नहीं की।

इस तरह मानव धर्मशास्त्र ने अशोक के समय की व्यवहार समता को बिलकुल नष्ट कर दिया। ब्राह्मणों को किसी भी अपराध में मृत्युदण्ड देना नाजायज़ क़रार दिया। "ब्राह्मण ने चाहे जो अपराध किया हो उसकी हत्या कभी न करनी चाहिये। केवल उसे देश से बाहर निकाल देना चाहिये, उसकी सारी जायदाद उसे दे देनी चाहिये और उसको ज़रा सा भी शारीरिक कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये।" (८-३८०)। "ब्राह्मण वध से अधिक गर्हित दुनिया में कोई दूसरा पाप नहीं है। इसलिये राजा को दिमाग़ में भी इस विचार को नहीं लाना चाहिये कि उसे किसी ब्राह्मण की हत्या करनी है।" (८-३८१)। दूसरी ओर शूद्र के सम्बन्ध में लिखा गया है—"यदि कोई स्वामी शूद्र को दासता से मुक्त भी करदे, तब भी वह शूद्र स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उसके लिये दस्युता स्वाभाविक है इसलिये कौन उसे दस्युता से मुक्त कर सकता है!" (८,४१३-४१४)।[९] इस तरह शूद्रों को अर्थशास्त्र और सम्राट अशोक ने जो कुछ व्यावहारिक समता दी थी, उसे 'मानव धर्मशास्त्र' ने वापस ले लिया।

मानव धर्मशास्त्र ने जन्म और उत्तराधिकार को भी यथेष्ट प्रधानता दी है।[१०] मानव धर्मशास्त्र

९—Buhlers' translation.

१०—Ibid--PP. 319-321

के अनुसार—"सब वर्णों में जो बच्चे शास्त्रानुसार विवाहित स्त्रियों से (ऐसी स्त्रियों से जो सजातीय हों और और कुमारी के रूप में विवाह में प्राप्त की गई हों) पैदा हुए हों वे अपने पिता के वर्ण के ही माने जायंगे।" इस व्यवस्था के अन्दर शास्त्रानुकूल विवाह और सवर्ण विवाह के ऊपर ज़ोर दिया गया है। आगे एक जगह लिखा है—"द्विज पुरुषों को अपने से एक दरजा नीचे की पत्नी से जो सन्तान प्राप्त हों वे भी पिता के ही वर्ण को प्राप्त करती हैं और उनका एकमात्र दोष उनकी माँ के कारण है (१०-६)।" इस व्यवस्था के अनुसार असवर्ण विवाह जायज़ है, किन्तु नीची जाति की माँ का दाग़ सन्तान पर रह जाता है। आगे चलकर इसे विस्तार से समझाया गया है—"ब्राह्मण की सन्तान क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्त्री से, क्षत्रिय की सन्तान वैश्य और शूद्र स्त्री से, वैश्य की सन्तान शूद्र से ये छहों सन्तानें 'अपासद' कहलाती हैं।[११] यह व्यवस्था उस पहले की व्यवस्था को काट देती है, जिसके अनुसार अपने से एक दरजा नीची जाति की स्त्री से प्राप्त सन्तति पिता के वर्ण को प्राप्त होती है। जो सन्तान अपासद कहलाएंगी वे कैसे पिता के वर्ण को प्राप्त कर सकती हैं? मानव धर्मशास्त्र की एक और व्यवस्था में कहा गया है—"द्विजों की जो सन्तानें एक दरजा नीचे के वर्ण की स्त्री से हों वे अपनी माँ की हीनता के कारण 'अनन्तरस' कहलाती हैं। इस व्यवस्था से यह ज़ाहिर है कि हीन जातीय माँओं की सन्तानें पिता के वर्ण को प्राप्त नहीं कर सकतीं। पूर्व व्यवस्थाओं की तुलना में यह एक विरोधी और बाद की व्यवस्था मालूम होती है।

फिर मानव धर्मशास्त्र 'खिचड़ी वर्णों' का ज़िक्र करता है। उसके अनुसार—"वर्णों की मिलावट से, जिन स्त्रियों के साथ विवाह नहीं होना चाहिये, उनके विवाह से और कर्तव्यच्युत होने से अपवित्र जातियाँ बन गई हैं।[१२]" (१०-२४)। इस तरह भिन्न जातीय माँ बाप की सन्तानें मनु के अनुसार वर्णसंकर हैं। इसका साफ़ मतलब यह है कि इजाज़त होते हुए भी मानव 'धर्मशास्त्र' असवर्ण विवाहों को प्रोत्साहन नहीं देता।[१३] इसका ब्राह्मणों की उस प्रतिक्रान्ति से मेल है जिसका उद्देश्य जन्मगत वर्णाश्रम धर्म के अनुसार सामाजिक व्यवस्था फिर से स्थापित करना था।

मानव धर्मशास्त्र में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि उच्च वर्ण के लोगों का रक्त नीच वर्ण के लोगों से अधिक पवित्र होता है। "यदि कोई कुल ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री के संयोग से फले और बढ़े तो इस तरह के कुल की लड़कियों की ब्राह्मणों के साथ शादी होने से वह नीच कुल सातवीं पीढ़ी में उच्च-वर्ण ब्राह्मण कुल हो जायगा।" (१०-६४)। इसके अनुसार ब्राह्मण पिता और अद्विज माता की पुत्री यदि किसी ब्राह्मण से ब्याही जाय और इस संयोग से उत्पन्न लड़की फिर किसी ब्राह्मण को ब्याही जाय और यह क्रम सातवीं पीढ़ी तक चलता रहे तो उसके बाद की संततियाँ ब्राह्मण हो जायंगी, क्योंकि मानव धर्मशास्त्र कहता है "अच्छा वीर्य सदा प्रशंसनीय है।" (१०-७२)। यही नियम सभी जातियों के लिये लागू है। इस सम्बन्ध में कहा है—"शूद्र पुत्र इस तरह से ब्राह्मण के पद को प्राप्त होता है और इसी नियम से ब्राह्मण शूद्र की स्थिति को पहुँचता है। यही नियम क्षत्रिय-पुत्र के लिये है और यही नियम वैश्य-पुत्र के लिये है।" (१०-६५)। इसका अर्थ यह है कि उच्च वर्ण के पुरुष के संयोग से संतति का रुतबा ऊंचा होता है और निम्न वर्ण पुरुष के संयोग से सन्तति भी निम्न वर्ण की होती है!

११—Ibid PP. 403-404.

१२—Jones' translation of "The Ordinances of Manu." P 343.

१३—मानव धर्मशास्त्र के अन्दर यह विरोधीभाव इसलिये है कि उसमें दो तरह की व्यवस्थायें हैं। पुरानी व्यवस्था 'मनुस्मृति' है और नई सुमति भार्गव की लिखी हुई 'मानव धर्मशास्त्र' है। सुमति भार्गव के ऊपर ब्राह्मण-प्रतिक्रिया का स्पष्ट असर है—लेखक।

अन्त में वंश परम्परा के प्रश्न का इस तरह ज़िक्र किया गया है—ब्राह्मण पिता और अनार्य माता के संयोग से उत्पन्न सन्तान श्रेष्ठ है या अनार्य पिता और ब्राह्मण माता के संयोग से उत्पन्न सन्तान? धर्मशास्त्र इसका उत्तर देता है कि यदि ब्राह्मण पिता की सन्तान में 'पाक' और 'यज्ञ' की विशेषता है तो वह अनार्य पिता की सन्तान की अपेक्षा उच्चतर है। (१०-६६)। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वंश क्रम में पिता की महानता है, माता की नहीं।[१४]

मानव धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों की उच्चता का प्रतिपादन हमें राजनैतिक क्षेत्र में भी मिलता है। एक जगह लिखा है—"राजा को चाहे जितना ख़तरा क्यों न हो तब भी उसे ब्राह्मण के क्रोध को न जगाना चाहिये, क्योंकि क्रुद्ध ब्राह्मण क्षण भर में राजसत्ता को नष्ट कर सकता है··· । चाहे विद्वान हो या अपढ़ ब्राह्मण महा देवता के समान है।" (९,३१३-३१७)। इस वाक्य में हमें ब्राह्मण ग्रन्थों और ब्रह्मजय सूत्रों की प्रति ध्वनि मिलती है। राजा के लिये भी आदेश है कि राजा को ख़ानदानी पुरोहितों के परिवार से सात या आठ मन्त्री चुनने चाहिये जो ऊंचे कुल के, परखे हुए, साहसी और वेद शास्त्रों में निपुण हों। (७-५८)। इस व्यवस्था के अनुसार तो ब्राह्मण-ब्यूरोक्रैसी अनिवार्य हो जाती है क्योंकि वेद शास्त्रों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त और कौन निपुण होगा? अर्थशास्त्र ने मंत्रियों के चुनाव के लिए इस तरह की कोई क़ैद नहीं रखी जिसमें केवल ब्राह्मण ही आ सकें। अर्थशास्त्र के अनुसार अमात्य सम्पत (मन्त्री) के पद के लिये ये गुण ज़रूरी हैं कि वह देश का अधिवासी हो, ऊंचे ख़ानदान का हो और कलाओं में निपुण हो। (अर्थशास्त्र १, अ० ८-१४ अ० ९-१५)। कौटिल्य बहुदन्ति के पुत्र से सहमत है कि मन्त्री के लिये आवश्यक गुण यह होना चाहिये कि वह "ऊंचे ख़ानदान का हो और विद्वान हो।" अन्त में धर्मशास्त्र राजनैतिक क्षेत्र में एक बहुत बड़ी मांग पेश करता है। उसके अनुसार—"प्रधान सेनापति का पद, प्रधान न्यायाधीश का पद, राज-प्रबन्ध करने वाले राजा का पद—ये सब पद स्वीकार करने योग्य वही है जो वेदों का पूर्ण ज्ञाता हो।" (१२-९९-१००)। इसका अर्थ यह है कि मानव धर्मशास्त्र स्पष्ट इस बात का आदेश देता है कि वेदों के ज्ञाता ही इन पदों पर आसीन हो सकते हैं। इससे पूर्व किसी भी स्मृति में इस तरह का कोई आदेश नहीं मिलता। शायद, जैसा कि श्री जायसवाल कहते हैं, ब्राह्मण पुष्यमित्र के राज्य हड़पने की यह नैतिक वकालत हो।

इसी धर्मशास्त्र में हमें "राजा के दैवी अधिकार" की दलील मिलती है। इसी मानव धर्मशास्त्र में ही पहली मरतबा 'नर-देव' के विचार का प्रतिपादन किया जाता है। इससे पता चलता है कि भारत में उस समय तक सामन्तशाही का निर्माण हो चुका था। इस तरह ब्राह्मणों की सत्ता क़ायम होते ही वर्णों की भी नई हैसियत हो गई। जातियों की सामाजिक जगह बदल गई।

एक दूसरा धर्मशास्त्र जो ब्राह्मणों की प्रभुता के काल में लिखा गया 'वसिष्ठ स्मृति' है। केन के अनुसार इसका रचना-काल ईसा की पहली सदी है।[१५] हालांकि इस स्मृति में ऐसे विचार ज़ाहिर किये गये हैं जो पुराने मालूम होते हैं और इसमें आपस्तम्ब का भी समर्थन है फिर भी इसमें जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है उससे यह मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थ उस समय लिखा गया जब ब्राह्मणों की प्रभुता थी। मालूम होता है वसिष्ठ स्मृति ऐसी जगह लिखी गई जहाँ अतिथि के स्वागत में गोवध का पुराना रिवाज तब भी जारी था, हालांकि यदा कदा गाय की जगह बकरा हलाल करने की भी प्रथा चल पड़ी थी (अध्याय-३)। उसमें एक स्थान पर

१४—इस सम्बन्ध में मध्यकालीन यूरोप में गुलामों के संसर्ग से उत्पन्न सन्ततियों और मनुस्मृति का तुलनात्मक अध्ययन दिलचस्प है।

१५—Kane, P. 58.

लिखा है—"ब्राह्मण या क्षत्रिय अतिथि के लिये गृहस्थ या तो परिपक्व अवस्था का बैल रांध सकता है या बकरा।"[१६] इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि 'वसिष्ठ स्मृति' उत्तर भारत में ही कहीं लिखी गई है।

वसिष्ठ का आदेश है कि तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना शूद्र का धर्म है। इस दृष्टि से वसिष्ठ मनु से भिन्न नहीं है।[१७] फिर वह कहते हैं—"यदि कोई द्विज शूद्र का अन्न खाकर मृत्यु को प्राप्त होता है तो वह दूसरे जन्म में या तो गाँव का सुअर होता है या उसी शूद्र के घर पैदा होता है।[१८] (अ० ३)। फिर वह पंडितों से कहते हैं—"म्लेच्छों की भाषा न सीखो।[१९] (अ० ३)। एक दूसरी जगह लिखा है—"कुछ लोग कहते हैं कि शूद्र शव के समान हैं इसलिये शूद्र के निकट वेदों का पाठ नहीं होना चाहिये।"[२०] (अ० १५)। ऐसे अ-ब्राह्मण पुरुष के लिए जिनका ब्राह्मण स्त्रियों से सम्बन्ध है वसिष्ठ नीचे लिखी सज़ा का विधान करते हैं—"यदि कोई शूद्र ब्राह्मण स्त्री के परिचय में है तो राजा को उस शूद्र को 'विरण' घास में बंधवा कर ज़िन्दा आग में डलवा देना चाहिये। यदि कोई वैश्य ब्राह्मण स्त्री के परिचय में है तो राजा को उस वैश्य को 'लोहित' घास में बंधवा कर आग में डाल देना चाहिये और यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण स्त्री के परिचय में है तो राजा को उसे 'सर' घास में बंधवा कर आग में डाल देना चाहिये।"[२१] (अ० १९)। वसिष्ठ स्मृति के न्याय का यह नमूना है। वर्ण के हिसाब से सज़ा की मात्रा भी बढ़ती जाती है।[२२] (अ० १९)।

कुछ अंशों में वसिष्ठ स्मृति और दूसरी स्मृतियों से अधिक कड़ी है, क्योंकि वसिष्ठ स्मृति में क्षत्रियों को सज़ा देने का जो विधान है वह उससे पहले कभी किसी स्मृति ने नहीं दिया। इसमें ब्राह्मणों का दरजा बहुत ऊंचा कर दिया गया। इस चीज़ को अधिक सफ़ाई से समझने के लिये वसिष्ठ स्मृति के एक दूसरे विधान पर ध्यान दीजिये। उसमें लिखा है—"ब्राह्मण का धन अपहरण करके अपराधी के रोंगटे खड़े हो जाने चाहिये। उसे भाग कर राजा के पास जाना चाहिये और उससे कहना चाहिये 'मैं चोर हूँ! राजन्, मुझे सज़ा दीजिये' राजा को तब उसे उदम्बर लकड़ी का बना हुआ हथियार देना चाहिये जिससे वह अपने आपको मार डाले। वेदों में लिखा है कि मृत्यु के बाद वह अपराधी पवित्र हो जाता है।" (अ० १८)।[२३] जब तक राजा भी ब्राह्मण न हो तब तक इस तरह की व्यवस्था प्रचलित करना सहज नहीं। मनु और वसिष्ठ में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का आदि से अन्त तक बखान है और यह श्रेष्ठता उस समय तक अर्थहीन है जब तक इसकी पीठ पर राजकीय वरद-हस्त न हो। इससे यह प्रतीत होता है कि ये दोनों स्मृतियाँ ब्राह्मणों के शासन काल में ही लिखी गईं। किन्तु श्री जायसवाल के अनुसार 'वसिष्ठ संहिता' को अधिक प्रमुखता नहीं मिली और वह अन्तिम प्रमाण के रूप में कभी नहीं स्वीकार की गई।[२४] अब हम याज्ञवल्क्य स्मृति पर ग़ौर करेंगे।

पातञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इस पर बहस की है कि उच्च वर्ण जातियों के बर्तनों में यदि कोई खाये तो वे बर्तन अपनी शुद्धता नहीं खोते। पातञ्जलि को पुष्यमित्र का समकालीन माना जाता है इसलिये कि पातञ्जलि ने अपने महाभाष्य में पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ की चरचा की है। (महाभाष्य ३, २ १२३)। पाणिनि ने अपने व्याकरण में एक जगह लिखा है— शूद्रानाम् अनिव सितानाम्' (२-४-१०) अर्थात् 'ऐसे शूद्र जो अलहदा नहीं किये गये।' पातञ्जलि इसकी व्याख्या करते हुये लिखता है कि ऐसे शूद्र जो आर्यावर्त से अलग नहीं किये 'अनिर्वासित' कहलाते हैं और वह आर्यावर्त की सीमा का भी उल्लेख करता है। किन्तु यह भी

१६—२२—वसिष्ठ संहिता—अनु० एम० एन० दत्त, पृष्ठ० ७६४, ७५५, ७७१, ७७२, ८०२, ८०६, ८१०।

२३—वसिष्ठ संहिता, पृष्ठ—८०८।

२४—Jagnavalkya—oq. cit. 66.

लिखता है कि इस सीमा में सक और यवन भी रहते हैं। तब अनिर्वासित से तात्पर्य यह होता कि आर्य निवास से जो निर्वासित नहीं। और आर्य निवास क्या है? आर्य गाँवों में रहते हैं, घोशों (गोचर भूमि) में रहते हैं, नगरों में रहते हैं और सम्बन्ध (वैश्यपुरी) में रहते हैं। और इन निवासों में चांडाल और डोम भी रहते हैं।[२५] किन्तु इनका शुमार आर्यावर्त में नहीं है। इससे तात्पर्य यह निकला कि अनिर्वासित वे लोग हैं जो यज्ञ में आहुति देने में शामिल हैं। किन्तु पातञ्जलि रजक (धोबी) और तन्तुबाई (जुलाहा) को भी अनिर्वासित मानता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन लोगों के खाने के बाद बर्तन धोकर रख लिये जाते हैं, वे अनिर्वासित हुए और जिनके खाने के बाद बर्तन अशुद्ध होकर फेंक दिये जाते हैं वे निर्वासित समझे जाते थे।

इससे यह ज़ाहिर होता है कि आर्यनिवास में रहने वाले आर्य कहलाते थे। इसलिये शूद्र भी आर्य थे क्योंकि उनके भोजन करने पर आर्य अपने बर्तन फेंक नहीं देते थे। केवल वे लोग जिनकी औलादें आज अन्त्यज कहलाती हैं आर्य नहीं समझे जाते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि शूद्र हालांकि द्विज नहीं थे फिर भी आर्य थे। कौटिल्य भी इसी विचार का था। मनु ने भी कहीं यह नहीं लिखा कि शूद्र अनार्य हैं। फिर मनु के अनुसार सक और यवन भी शूद्र हैं। पातञ्जलि शूद्रों को डोम से ऊंचा समझता है। उन्हें अनिर्वासित मानता है। पातञ्जलि ने शूद्रों को ये सुविधायें उस समय दीं जब मनु शूद्रों और यवनों के विरुद्ध गरज रहे थे। पातञ्जलि की इस विवेचना से यह पता चलता है कि धोबियों के समान कुछ जातियाँ पहले पवित्र समझी जाती थीं, किन्तु बाद में उन्हें पतित समझा जाने लगा।[२६] अहिन्दू यवन अनिर्वासित हो सकते हैं, यह विचार आज ध्यान में भी नहीं लाया जा सकता। इससे इस बात का समर्थन होता है कि जातियों और उपजातियों की भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न अवस्था रही है।

२५—स्मृतियों के अनुसार चांडाल और डोम नगर की सीमा के बाहर रहते हैं—लेखक।

२६—यम संहिता धोबियों को पतित वर्ण का समझती है—लेखक।

गोस्वामी जी की विचार-धारा

(प्रत्यालोचना)

पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित, साहित्यरत्न

सितम्बर सन् ४३, की 'सरस्वती' में अगस्त की 'विश्ववाणी' में प्रकाशित "गोस्वामी जी की विचारधारा" शीर्षक लेख पर सुयोग्य सरस्वती-सम्पादक ने एक टिप्पणी दी है। इस टिप्पणी में उक्त विद्वत्प्रवर ने मेरे उन प्रमाणों व बातों पर कुछ भी विचार नहीं किया जिन्हें मैंने उस लेख में उपस्थित किया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे ऐसे आलोचनात्मक लेखों का महत्व स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं और न अपने मत के विरुद्ध कोई बात सुनने को तैयार हैं। स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी 'कालिदास की निरंकुशता' तक लिखकर अपने को गौरवान्वित मानते थे और 'सरस्वती' की यही विशेषता समझी जाती थी। उसे एक उच्चकोटि की पत्रिका का पद प्राप्त था, क्योंकि विचार-विमर्श की ही उसमें प्रधानता रहती थी।

सम्पादक महोदय ने उस आलोचनात्मक शैली का परित्याग कर एक ऐसे मार्ग का अनुकरण किया है जो न तो समीचीन ही है और न देश व समाज के लिये हितकर ही माना जा सकता है।

आपने हिन्दी संसार के सेन्टीमेंट (धार्मिक भावनाओं) को अपील कर उसे मेरे विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न किया है। इसे वर्तमान काल में कोई भी पसन्द नहीं कर सकता। जिन शब्दों द्वारा आपने हिन्दी समाज को उत्तेजित करने का उद्योग किया है वे ये हैं—

"उनके इस बे बुनियाद आरोप से एक ऐसी महान् रचना का अपमान होता है जो इस देश के लाखों आदमियों का अति पवित्र धर्म ग्रन्थ है।"

आपने इतना कह कर ही सन्तोष नहीं कर लिया वरन् जोश में आकर फिर लिखते हैं—"हम हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान दीक्षित जी के उस लेख की ओर आकृष्ट करते हैं ताकि वे देखें कि उनके हिन्दी के ये साहित्यरत्न जी उनके साहित्य के आधुनिक वेद को किस प्रकार ज़लील करने को उतारू हैं।"

हम 'सरस्वती' के विद्वान् सम्पादक से यही बात ज्ञात करना चाहते हैं कि क्या वे हिन्दी-संसार से आलोचनात्मक विचारों और देश-हितकर भावों को हटा देना चाहते हैं? क्या उनके इन उद्योगों से समाज का कुछ लाभ हो सकता है? और क्या संकुचित विचारों को समाज में भरना साहित्य में सड़ाँयँद लाने का प्रयत्न न माना जायगा? जो विचार मेरे द्वारा गोस्वामी जी के विषय में समाज के सामने रक्खे गये हैं तथा जो उदाहरण उनकी रचनाओं से दिये गये हैं वे ही इस बात का प्रमाण हैं कि उनमें तथ्य अवश्य है और उनका उत्तर न दे सकने के कारण हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करने का व्यर्थ प्रयास किया गया है। उन्हें बे बुनियाद, निराधार, क्लिष्ट कल्पना, और विकत्थना मात्र कहने से हिन्दी संसार को नहीं बहकाया जा सकता। हमारा यह समाज पर्याप्त जागरूक हो चुका है। उसे अपनी भलाई-बुराई सब अपनी आँखों देखनी और विचार में लानी है। वह अन्धविश्वासी बनकर ऐसे चरवाहों के पीछे भेड़ रूप में जाने को कदापि तैयार नहीं हैं।

बीस वर्ष पूर्व भूषण के विचार जनता के समक्ष रखते समय भी इसी प्रकार की भावनायें मेरे विरुद्ध उठाई गई थीं जैसी 'सरस्वती' सम्पादक ने इस समय प्रकट की हैं। परन्तु इतने काल के विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप आज उनमें से बहुत से विचार सर्वमान्य हो चुके हैं, शेष के विषय में भी दबी ज़बान स्वीकारोक्ति होती जाती है। गोस्वामी तुलसीदास के विषय में भी समाज को यह कड़वी दवा अवश्य पीनी पड़ेगी। इसके बिना उसका कल्याण नहीं और न उसके उद्धार की आशा की जा सकती है।

हिन्दू जाति के लिये यह आलोचना संजीवनी बटी का काम देगी। यदि समाज अपना उत्थान चाहता है तो उसे अपने मार्ग का परिष्कार और संशोधन अवश्य करना पड़ेगा। अपनी त्रुटियों का मार्जन किये बिना उसके लिये कोई चारा नहीं। ऐसी दशा में उक्त सम्पादकीय भावनाएँ कहाँ तक उचित और समयानुकूल हैं इस पर विचार करने का कष्ट लोगों को उठाना पड़ेगा।

'सरस्वती'-सम्पादक ने तुलसीकृत रामायण को 'आधुनिक वेद' बतलाया है परन्तु इतनी सीधी सादी बात भी आपकी समझ में नहीं आई कि उसमें पाँच प्रतिशत भी वैदिक भावना नहीं है।

हमारे शास्त्रों का मुख्य विधान 'तर्के वेदाः' सर्वमान्य रहा है और जब तक हमारा समाज इस मार्ग का अनुसरण करता रहा, तब तक सदैव उन्नत पथ पर अग्रसर रहा। 'वादे वादे जायते तत्व बोधः' वाली कहावत कितनी महत्वपूर्ण एवं सारगर्भित है! इस सबको भुला कर या मिटा कर ये सम्पादकप्रवर राष्ट्र का हित चाहते हैं, जो कदापि सम्भव नहीं।

मैंने अपने लेख में गोस्वामी जी और उनके रामचरितमानस की भूरि भूरि प्रशंसा भी की है—उनका शैव वैष्णव सहयोग, उनकी गार्हस्थ जीवन की व्यवस्था, कई आदर्श चरित, पारिवारिक उत्थान, और पारस्परिक व्यवहार के लिये उनके कथन सदैव आदरणीय माने जायँगे। इनके अतिरिक्त उनका सब से महत्वपूर्ण कार्य तत्कालीन साहित्य के प्रभाव से अछूते रह कर, अश्लीलता से बचते हुए, परिष्कृत साहित्य का उत्पादन और परिवर्द्धन करना है। भाषा पर जैसा अधिकार गोस्वामी जी का था वैसा आज तक किसी कवि का नहीं हो सका। जहाँ वे

(शेष २४० पृष्ठ पर)

मुस्लिम काल के इतिहासकार

श्री हरिशंकर एम० ए०

फ़िरोज़ की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। दूर दूर के सूबे स्वतन्त्र हो गये। अमीरों की शक्ति बढ़ गई थी। चारों तरफ़ अराजकता का साम्राज्य था। ऐसे समय में किसी अच्छे साहित्यिक अथवा इतिहासकार का पैदा होना कठिन था। विशेषकर उस समय जब इतिहासकारों को अपनी जीविका के लिये सुल्तानों और धनियों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता था। उस समय के इतिहास के लिए हमें एक इतिहासकार मिलता है जिसने इस नाज़ुक समय का वर्णन किया है। यहया बिन अहमद बिन अब्दुल्ला सरहिंदी (Yahaya bin Ahmad bin Abdulla Sirhindi)[१] ने अपनी पुस्तक 'तारीख़-मुबारकशाही' सुल्तान मुबारक शाह के समय की घटनाओं का वर्णन करने के लिये लिखा है।

लेखक ने अपना इतिहास गोरी वंश के जन्मदाता से प्रारम्भ किया है। प्राप्त हस्तलिपि के अनुसार उसने अपना इतिहास १४४८ ई० में समाप्त किया है। लेखक हमें बताता है कि यह इतिहास उसने सुल्तान मुबारक शाह को भेंट करने के लिये लिखा था। सुल्तान फिरोज़ तक की घटनाओं को तो उसने पुस्तकों के आधार पर लिखा पर फिरोज़ के उत्तराधिकारियों के इतिहास के लिये उसने उस समय के सैनिकों से और स्वयं अपने अनुभव से लिखा है। अपने विषय में इतिहासकार ने कुछ भी नहीं लिखा।

यहया एक इतिहासकार नहीं कहा जा सकता। वह एक अच्छा क्लर्क है जो तिथियों और घटनाओं को लिख सकता है। परन्तु सैयद वंश के लिये यहया ही हमारा प्रधान आधार है। फिरिश्ता, बदाऊनी, निज़ामउद्दीन और बाद के और भी इतिहासकारों ने इसके लिये यहया से मदद ली है और कृतज्ञता प्रकट की है।

सैय्यद वंश के पश्चात् दिल्ली का सिंहासन लोदियों के हाथ में आया। इस काल का कोई भी इतिहासकार नहीं है। इसलिये हमें इस काल के लिये मुग़लकालीन इतिहासकारों से मदद लेनी पड़ती है। ये अफ़ग़ान इतिहासकार सच्ची दृष्टि से इतिहासकार नहीं है वरंच किम्वदन्तियों, और कहानियों के इकट्ठा करने वाले हैं। फिर भी हमें बहुत कुछ ज्ञान इतिहास के विषय में हो जाता है।

इन इतिहासकारों में 'तारीख़ दाऊदी'[२] के लेखक अब्दुल्ला विशेष उल्लेखनीय हैं। विद्वानों के अनुसार यह पुस्तक १६०५ ई० के लगभग जहांगीर के शासनकाल में लिखी गई थी। लेखक हमें बताता है कि उसने इधर उधर बिखरे अफ़ग़ानों के इतिहास को इकट्ठा किया है। पुस्तक बहलोल लोदी के समय से प्रारम्भ कर मुहम्मद आदिलशाह सूर और दाऊद शाह तक लिखी गई है। दाऊद शाह के ही नाम पर लेखक ने पुस्तक का नाम 'तारीख़ दाऊदी' रक्खा है। लेखक ने तिथियां कम दी हैं पर किम्वदन्तियों और कहानियों की संख्या काफ़ी है।

दूसरी पुस्तक वाक़ियात मुस्ताकी (Wakiyat-Mustaqi)[३] है। इसके लेखक शेख़ रिज़कुल्ला मुस्ताक़ी हैं। अब्दुलहक़ के अनुसार लेखक एक अच्छा याची और सूफ़ी था। बातचीत की कला में तो बहुत ही उच्चकोटि का था। इस पुस्तक में हमें हिन्दी के कुछ शब्द भी मिलते हैं। शेरशाह

[१] Elliot and Dawson. Vol. IV (6 to 88).

[२] Elllot vol. IV—434.

[३] Elliot vol. IV—534.

का अच्छा वर्णन है और कुछ हद तक समाज और आर्थिक दशा का भी वर्णन है।

तीसरी पुस्तक जो हमें अफ़ग़ानों के विषय में बतलाती है वह तारीख़-इ-सलातीन अफ़ग़ाना (Tarikh-i-Salatin Afghana)[४] है। उसके लेखक अहमद यादगार ने अपनी पुस्तक में अपने को सूर बादशाहों का सेवक माना है। उन्होंने अपनी पुस्तक में बहलोल लोदी से लेकर हेमू के क़त्ल तक की घटनाओं का वर्णन किया है। हुमायूं बादशाह के भाई मिर्ज़ा असकरी के गुजरात के प्रान्त के शासन के समय लेखक के पिता ने मन्त्री का कार्य किया था। अहमद यादगार ने भी और अफ़ग़ान लेखकों की तरह तिथियों पर विशेष ध्यान नहीं दिया।[५]

चौथी उपयोगी पुस्तक जो हमें इस काल के विषय में बतलाती है वह मखज़ान-अफ़ग़ानी (Makhzani-Afghani)[६] है। इस पुस्तक के लेखक नियामतउल्ला ने अफ़ग़ानों का वंश आदम से जोड़ने का प्रयत्न किया है। उसने अपनी पुस्तक १६१२ ई० में समाप्त की। डा० क़ानूनगो के अनुसार अफ़ग़ानों के भिन्न भिन्न जिरगाहों की वंशावली का वर्णन इस पुस्तक की विशेषता है।[७]

इन सब पुस्तकों में सबसे अच्छी पुस्तक (विशेषकर शेरशाह के सम्बन्ध में) तारीख़ शेरशाही है[८] जिसे अब्बास ख़ां शेरवानी ने सम्राट् अकबर के आज्ञानुसार लिखी थी। सम्राट् से हमारे इतिहासकार को ५०० का मनसब भी मिला था पर अपने शत्रुओं के कारण अब्बास को अपना मनसब खो देना पड़ा। अब्बास अपने को शेरशाह सूरी के वंश का बतलाता है। और उसका वर्णन वह एक जाति-उद्धारक और नेता के रूप में करता है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब्बास ने बराबर अपने चरित्रों के मुंह से ही घटनाओं का वर्णन कराया है। इससे यह पुस्तक और भी रुचिकर हो उठती है। और इसी कारण इस पुस्तक को एक राजनैतिक नाटक कहा गया है।

अपने चरित्रनायक के वर्णन को और भी आकर्षक बनाने के लिये अब्बास ने पुस्तक में बहुत सी किम्बदन्तियां और कहानियां जोड़ दी हैं। अब्बास ने शेरशाह के शासन-प्रबन्ध का आधार वर्णन किया है। और इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। लेखक ने शेरशाह के सारे क़ानून एक ही स्थान पर लिखकर हमारी बहुत बड़ी कठिनाई दूर कर दी है जो हमें शेरशाह के शासन के विषय में खोजने में पड़ती।

शेरशाह की आलोचना जो उसने मुग़लशासकों पर लिखते हुए की है केवल अकबर के इतिहास-प्रेम ही के कारण हम तक पहुंच सकी है। कुछ भी हो, अब्बास एक आवश्यक और उपयोगी इतिहासकार है। बहुत से वर्णनों में वह अकेला है।

अफ़ग़ानों के शासन के अन्तिम बादशाह इब्राहीम लोदी की हार के पश्चात् मुग़लों का आगमन भारतीय इतिहास का एक अमर पृष्ठ है।

जिस समय मुग़ल बादशाह बाबर ने भारत में अपना पाँव रक्खा उस समय तक हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के काफ़ी निकट आ चुके थे। धार्मिक सन्तों ने इस विषय में काफ़ी काम किया था। नानक, कबीर, और चैतन्य का आगमन इस की पराकाष्ठा थी। मुग़लों ने इस को समझा और उन्होंने एक भारतीय राष्ट्र-निर्माण का गौरव पाया। यह सही है कि कुछ शासकों की मूर्खता के कारण अकबर का वह सुखद स्वप्न भङ्ग हो गया जिसमें उसने एक ऐसे भारत की कल्पना की थी जहां एक धर्म न होते हुये भी विशेष धार्मिक मतभेद नहीं

---

४ Elliot—Vol. V—1.

५ Text published by A. S. of Bengal.

६ Elliot and Dowson—Vol V. P. 67.

७ Sher Shah—Dr. Qanungo

८ Elliot & Dowson—Vol. IV P. 301

होगा और जहां भारत-राष्ट्र का हर एक प्राणी भारतीय होगा। फिर भी संस्कृति में काफ़ी दूर तक हिन्दू और मुसलमान एक हो सके। चित्रकला में ही देखिये। हिन्दू और फ़ारसी चित्र कला ने मिल कर एक नई चित्रकला को जन्म दिया जिसे हम भारतीय चित्रकला कह सकते हैं। इतिहास इसे मुग़ल चित्रकला के नाम से जानता है। शिल्पकला को ले लीजिये! ताजमहल आज भी खड़ा हुआ इस संयुक्त कला का सबूत दे रहा है। बीजापूर का गुम्बट (Dome) संसार के सब गुम्बटों में श्रेष्ठ है। दिल्ली की कुतुबमीनार ऐसी इमारत है जिसकी समता संसार में नहीं है। क्या कारण था कि और मुस्लिम राज्यों में ऐसे सुन्दर भवन निर्माण नहीं हो सके ? इसका एक यही कारण था कि यह दो संस्कृतियों का सम्मिलन था जिसने ऐसे सुन्दर भवनों का निर्माण किया।

इतिहास की तरफ़ देखिये। हमें गर्व है कि मुग़ल-काल में इतिहासकारों की कमी नहीं है और हम दावे के साथ कह सकते हैं कि संसार के तत्कालीन इतिहास में भारतीय इतिहासकार कम नहीं थे।

'मुग़ल राज्य के जन्मदाता' सम्राट् बाबर स्वयं एक अच्छे कवि और लेखक थे। आज भी उनकी 'आत्म-कहानी'[९] बड़े बड़े इतिहासकारों को चकित कर देती है। इतना बड़ा योद्धा, जिसका अधिक समय युद्धों में व्यतीत हुआ, किस तरह ऐसा ग्रन्थ लिखने में समर्थ हो सका यह आश्चर्य की बात है।

बाबर ने अपनी आत्मकथा अपनी मातृ भाषा चग़ताई तुर्की में लिखी है। यह तीन भागों में विभाजित है। (१) फरगना—जिसमें सम्राट ने अपने जीवन के प्रारम्भ की घटनाओं का वर्णन किया है (२) काबुल—किस तरह बाबर ने काबुल विजय किया और उसके बाद किस तरह भारत ने उन्हें आकर्षित किया (३) तिसदेम—इसमें भारत की घटनाओं का वर्णन है। प्रथम भाग और द्वितीय भाग का पहला हिस्सा तो वर्णात्मक रूप में लिखा गया है। बाद का भाग तिथिवार (डायरी) लिखा गया है। पूरी पुस्तक में दो बड़े बड़े खाली स्थान हैं। प्रथम सन् १५०८ से १५१९ तक और दूसरा १५२० से १५२५ तक। पुस्तक में हमें सितम्बर १५२९ तक की घटनाओं का वर्णन मिलता है।

बाबर अचानक यह बताते हुये अपनी कहानी प्रारम्भ करता है कि वह १२ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा। इसके बाद अपने पूर्वजों के विषय में भी बताया है—विशेषकर अपने पिता और दो चार और भी पुरुष स्त्रियों का वर्णन उसने इतने सुन्दर रूप में लिखा है जैसा एक चित्रकार ही कर सकता है। अपने पिता के विषय में वह लिखता है "वह अपना अचकन इतने ज़ोर से बांधते थे कि उन्हें अपना पेट तक बाँधना पड़ता था। अगर कभी नहीं बाँधते तो अचकन फट भी जाता था।[१०]

अपने मित्रों के साथ किस तरह उसने बड़े बड़े युद्धों में भाग लिया—किस तरह नदी पार किया, कैसे पहाड़ पर चढ़ा इन सब का वर्णन हम उसी के शब्दों में पढ़ सकते हैं। एक स्थान पर लिखा है "अपनी ११ साल की उम्र से अब तक मैंने कभी लगातार दो रमज़ान एक ही स्थान पर नहीं बिताया।"

फिर "आज के दिन मैंने हर एक हाथ गिनते हुए गंगा नदी पार किया। मैंने तैंतीस हाथ में गङ्गा पार किया और बिना रुके ही फिर लौट आया। मैंने और भी नदियां पार की हैं, पर गङ्गा नहीं पार की थी।"

ऐसा ही घटनायें हम हर सफ़े में पाते हैं और आश्चर्य से उस दूर खड़े मनुष्य को तरफ़ देखते हैं जो दिन रात युद्धों में मग्न रहने पर भी इतना अच्छा वर्णन लिख सका।

फरगना, काबुल और विशेषकर हिन्दुस्तान का उसने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। उसके अनुसार

९—Babernama-Erskine-Introduction.
Babernama-Beveredge 2 Vols.

१०—Memoirs.

आम भारत का सर्वश्रेष्ठ फल है। यहां के जानवर, कृषक, कला, पहाड़, राजा, नदी, नाले, इमारतें, रस्म रिवाज़, पहनावा, भोजन हर एक विषय का हमें वर्णन मिलता है और इस दृष्टि से अपने काल की यह पुस्तक सर्व श्रेष्ठ है। अपनी क्रूरताओं को भी छिपाने का बाबर ने प्रयत्न नहीं किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुस्तक बड़े महत्व की है। डा० बनरजी के अनुसार यह पुस्तक 'मुग़ल काल की बाइबिल' है।[११] अभी तक कोई भी घटना हमें प्राप्त नहीं हुई है जो ग़लत साबित हुई हो और इसी कारण बाबर आत्म कहानीकारों का 'राजकुमार' कहा जाता है।'

बाबर के मित्र और साथियों में भी कितने ही साहित्यिक थे पर ऐसी सुन्दर उपयोगी पुस्तक उनमें से कोई भी नहीं लिख सका। बाबर अपने समय का सर्व श्रेष्ठ इतिहासकार कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हुमायूं का समय शून्य सा है। उसके सभी इतिहासकार अकबर के समय के थे। इनमें भी तीन इतिहासकार यह हैं।

प्रथम इतिहासकार मिर्ज़ा हैदर हैं।[१२] इन्होंने अपनी पुस्तक 'तारीख़ रशीदी' अपने कश्मीर के शासन काल में लिखी। स्वयं इन्होंने बाबर और हुमायूं का साथ दिया था। और कन्नौज़ के युद्ध का तो इन्होंने स्वयं संचालन किया था। हुमायूं के निर्वासित हो कर सिन्ध की तरफ़ बढ़ने के पश्चात ये कश्मीर चले गये और वहां के शासक नियुक्त हो गये।[१३]

ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुस्तक महत्व की है। जहां जहां बाबर की जीवनी स्तब्ध है वहां वहां मिर्ज़ा हैदर की पुस्तक से हमें उसके पूरा करने में मदद मिलती है। बाबर के चचाज़ात भाई होने के कारण हैदर मिर्ज़ा हर एक बात को जानते थे।

'तारीख़ रशीदी' एक विश्वसनीय और उपयोगी पुस्तक है।

हुमायूं की बहिन गुलबदन बेग़म ने अपना हुमायूं नामा[१४] अकबर की आज्ञा से उसी सम्राट् के समय में लिखा। गुलबदन ने हुमायूं का उत्थान पतन देखा था। छोटी अवस्था में बाबर की सेना का भारत की ओर प्रस्थान, हुमायूं का राज्याभिषेक, हार जीत, उत्थान पतन सब उनकी आंखों के सामने ही से गुज़रा था। स्त्री होने के कारण वे रनिवास (हरम) की बातों की जानकार थीं और रनिवास की स्त्रियों के विषय में हमें इससे काफ़ी ज्ञान प्राप्त होता है।

पर गुलबदन इतिहासकार नहीं हैं। सीधी-सादी भाषा में जो कुछ उन्होंने देखा था उसी का वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक में कर दिया है। विशेषकर अपने ख़ास भाई हिन्दाल के प्रति कहीं कहीं वे कोई बात छिपा जाती हैं। बाबर की एक स्त्री से हुमायूं थे, और दूसरी स्त्री से गुलबदन बेग़म और हिन्दाल का जन्म हुआ था।[१५]

तृतीय उपयोगी पुस्तक हुमायूं के सेवक जौहर[१६] ने लिखी है। जौहर हुमायूं का सेवक था और निर्वासन के समय फ़ारस और क़ाबुल में बराबर हुमायूं के साथ रहा। उसके संस्मरण उपयोगी हैं पर, उसमें हुमायूं का वर्णन उसी प्रकार किया गया है जिस तरह एक सेवक अपने स्वामी का करता है।

ख्वान्दमीर[१७] नामक इतिहासकार ने भी बहुत सी उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं। उसका जन्म १४७५ ई० में हेरात में हुआ था। जन्म काल ही से

११—Dr. Bannerjee–Humayun Badshah–Bibliography.

१२—Tarikh-i-Rashidi.

१३—Elliot Vol. I Page 127.

१४—Humayun nama – Gulbadan Begam–Translated by Mr. Beveredge.

१५—Empire builder 2 Sixteenth, Century—R. Williams.

१६—Memoirs of Himayun—English Translation.

१७—Elliot Vol V

उसका इतिहास की तरफ़ आकर्षण था। इधर उधर ट्रान्सआक्सीयाना में घूमने के बाद ख्वान्दमीर भारत में आया। हुमायूं ने उसका स्वागत किया। सम्राट् के बङ्गाल आक्रमण के समय ख्वान्दमीर भी उनके साथ था। हुमायूं के शासन काल के लिये उसकी पुस्तक 'हुमायूंनामा' अथवा 'क़ानून हुमायूं' विशेष उपयोगी है। इसमें सम्राट् के नये क़ानून और अख़्तियारों का हमें वर्णन मिलता है।

हुमायूं के बाद सम्राट् अकबर भारत के सम्राट् हुये। अकबर का काल भारतीय कला, भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति, भारतीय राष्ट्र और भारतीय धर्म का एक महान काल है। इस महान सम्राट् की आंखों से संस्कृति का कोई भी भाग अछूता न रहा। क्या धर्म, क्या नवराष्ट्र-निर्माण, क्या चित्रकला, क्या शासन-प्रबन्ध हर एक वस्तु नये रूप में, नई शक्ति के साथ हमारे सामने उपस्थित हो गई।

और आश्चर्य की बात है कि अकबर स्वयं हर एक बातों में दख़ल रखते थे। यह सब देखकर हमें आश्चर्य होता है कि यह सम्राट् इतना ज्ञान कैसे प्राप्त कर सका था।

अपनी अवस्था शक्तिशाली बनाने के पश्चात् ही सम्राट् ने आज्ञा निकाली कि जितने लोग गत सम्राटों के विषय में कुछ भी जानते हों वे अपना संस्मरण लिखें और शीघ्र से शीघ्र सम्राट् के दरबार में उसे उपस्थित करें। अबुलफ़ज़ल[१८] हमें बताता है कि प्रथम बार तो किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। पर जब शीघ्र ही दूसरी कड़ी आज्ञा हुई तब लेखों, संस्मरणों और इतिहासों का आना प्रारम्भ हो गया। सूबों, परगनों और कानूनगो, पटवारी—सबसे काग़-ज़ात मँगाये गये। इस तरह पूरा का पूरा साम्राज्य एक इतिहास की पुस्तक के लिये तैयार कर दिया गया। एक अलग ऐतिहासिक विभाग खोला गया। अबुलफ़ज़ल उसके प्रधान नियुक्त हुये। वे स्वयं विद्वान् थे—उन सब काग़ज़-पत्रों को पढ़ते और दूसरे काग़ज़ों से मिलाते। फिर एक अध्याय लिखते। अध्याय लिखने के पश्चात् अकबर को स्वयं पढ़कर सुनाते। सम्राट् उन्हें सुनते, उनका संशोधन करते। और अबुलफ़ज़ल हमें बताता है कि सम्राट् की स्मृति इतनी तीव्र थी कि बहुत छोटी छोटी बातें और अपने बहुत छोटी उम्र तक की बातें तक उन्हें साफ़ याद थीं।

अबुलफ़ज़ल का यह इतिहास "अकबरनामा" और "आईन-ए-अकबरी" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आईन भी अकबरनामा का एक भाग कहा जा सकता है। इसकी रचनाशैली[१९] साहित्यिक है। अबुलफ़ज़ल ने अपनी पुस्तक अकबरनामा सम्राट् की आज्ञा से लिखी—लिखने के समय यह साफ़ बता दिया गया था कि यह साहित्यिक चीज़ होनी चाहिये, क्योंकि इतिहास उतना स्थाई नहीं होता है जितना साहित्यिक चीज़ें। इसी कारण 'अकबरनामा' की शैली कुछ कठिन है। पर अबुलफ़ज़ल इसके लिये मजबूर थे। उनके पत्रों से और और दूसरे लेखों से साफ़ है कि यह उनकी आम शैली नहीं थी। 'अकबरनामा' में भी कहीं कहीं हम सीधी शैली पाते हैं।

यहां पर थोड़ा सा अबुलफ़ज़ल के विषय में लिख देना अनुचित न होगा। शेख़ मुबारक के द्वितीय पुत्र अबुलफ़ज़ल का जन्म १४ जनवरी १५५१ में हुआ था।[२०] विद्वान शेख़ मुबारक ने अपने पुत्र को स्वयं ही शिक्षा दी थी। अकबर के गद्दी पर बैठने के सत्तरहवें साल अबुलफ़ज़ल ने दरबार में सम्राट् का दर्शन किया। बीस सवारों के मनसबदार नियुक्त कर दिये गये। इसी छोटे से पद से अबुल-फ़ज़ल अपने जीवन-पथ का प्रारम्भ करता है और उन्नति करते करते सम्राट् का मन्त्री, सर्वश्रेष्ठ मित्र और शिक्षक जाता है।

१८—Abul Fazl Introduction to Akbernama.

१९—Ghani—History of Pesiaon litrature under the Mughals.

२०—Blochman–J. A. S. B. 1869.

सम्राट् ने अबुलफ़ज़ल की कितने ही स्थानों में मदद की। दोनों के विचारों में काफ़ी समानता थी, विशेषकर धार्मिक विचारों में। यही कारण था जिससे दोनों एक दूसरे के ऐसे निकट आ सके।

यह कहना कि अबुलफ़ज़ल बादशाह के सेवक थे और उनकी पुस्तक चापलूसी से भरी हुई है बिलकुल ग़लत होगा। यह सही है कि अबुलफ़ज़ल ने बादशाह की तारीफ़ की है पर इस तारीफ़ के कई कारण थे। अबुलफ़ज़ल अपने समय के प्रभाव और अपने विश्वास के कारण जो कुछ लिख सकते थे वही उन्होंने लिखा है।

सम्राट् ने अबुलफ़ज़ल की जो कितने ही समय मदद की इससे उनका हृदय सम्राट् के प्रति-कृतज्ञता के भाव से ज़रूर भर गया था। दोनों मित्र थे। अबुलफ़ज़ल का विश्वास था कि सम्राट् जो कुछ कर रहे हैं, उससे राष्ट्र का विशेष भला होगा। इन्हीं कारणों से वे उसकी त्रुटियों को अच्छी तरह देख नहीं सकते थे। इसके अलावा बादशाह स्वयं सब बातों को देखते और उनमें संशोधन करते थे। फिर अबुल-फ़ज़ल कैसे कोई ऐसी बात लिख सकता था जो सम्राट् के विरुद्ध हो? इतनी कठिनाई के होते हुये भी अबुलफ़ज़ल ने इतिहासकार के कर्तव्य को नहीं भुलाया। जहां कहीं आवश्यकता होती है वह सही बात की तरफ़ इशारा कर देता है। इसके सिवा अबुलफ़ज़ल ने कोई बात झूठ नहीं लिखी है और न अपने मन से कोई बात लिखी है। कहीं कहीं उसने पूरी घटनायें नहीं लिखीं और उन्हें छिपाने का प्रयत्न किया है। अकबर के शत्रुओं की तरफ़ भी उसने कड़ाई से काम लिया है।

उसकी कठिनाइयों को देखते हुये हम कह सकते हैं कि अबुलफ़ज़ल मुस्लिम काल का सर्वश्रेष्ट इतिहास-कार है। हमें और लेखकों से ज्ञात होता है कि एशिया के सम्राट् अकबर की तलवार से अधिक अबुलफ़ज़ल की क़लम से भय खाते थे। पूरे मुस्लिम काल में 'आईन-ए-अकबरी' के समान कोई भी पुस्तक नहीं मिल सकती। अफ़ीफ़ ने इसके पहले थोड़ा प्रयत्न किया था, पर दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। इसके सिवा इतना अधिक समाचार किसी और इतिहासकार को नहीं मिला। साम्राज्य की सारी की सारी शक्ति किसी भी पुस्तक के लिये इस भाँति कभी इकट्ठी नहीं कर दी गई। 'अकबरनामे' की तिथियां बिल्कुल सही हैं। अभी तक केवल विन्सेन्ट स्मिथ ने ही एक तिथि अकबर के जन्म के विषय में ग़लत साबित करने का प्रयत्न किया है। पर नवीन इतिहासकारों ने साबित कर दिया है कि अबुलफ़ज़ल की ही तिथि सही और ठीक है।

अबुलफ़ज़ल भारतवर्ष का एक महान इतिहास-कार हैं और हम उसके लिये विशेष नाज़ कर सकते हैं।

अकबर के लिये हम बदाउनी की पुस्तक को भी नहीं भूल सकते हैं।[२१] बदाऊनी का पूरा नाम अबुल क़ादिर बदाउनी है। इसका जन्म २१ अगस्त १५४० में रनथम्भौर के पास हुआ था। कुछ रोज़ तक शेख़ मुबारक की पाठशाला में शिक्षा पाने के पश्चात् इधर उधर घूम कर बदाउनी सम्राट् अकबर के दरबार में आया। सम्राट् ने उसे मदद-ए-माश (Madad-i-Mash) अथवा मनसब स्वीकार करने के लिये कहा। उस समय बदाउनी ने मदद-ए-माश ही स्वीकार किया, क्योंकि बीस ही घुड़सवार से प्रारम्भ करने की उसकी इच्छा नहीं थी।

यह एक आवश्यक घटना है कि बदाउनी और अबुलफ़ज़ल दोनों एक साथ कुछ ही दिन के हेर फेर में आये थे। पर जहां एक तरफ़ अबुलफ़ज़ल सम्राट् के इतने निकट पहुँच सके, वहाँ दूसरी तरफ़ बदाउनी अपने उसी पुरानी ज़मीन पर रह गये। प्रकृति के अनुसार बदाउनी के हृदय में द्वेष की आग भड़क उठी। पर अबुलफ़जल अथवा फ़ैज़ी ने कभी भी उसके प्रति द्वेष की ज्वाला नहीं भड़कने दी। एक बार जब सम्राट् बदाउनी से नाराज़ थे, इन्हीं की कृपा से बदाउनी अपनी ज़मीन, बचा सका था।

२१—Blochman J. A. S. B. 1869.

हमें याद रखना होगा कि पहले बदाउनी ने सम्राट् की मदद की—विशेष कर मुल्ला लोगों को वादविवाद में हराने में उसका भी हाथ था। पर बाद में बदाउनी सम्राट के प्रति विद्वेषी हो उठा। कदाचित् वह सम्राट् से और कुछ मान की आशा करता था। पर यह उसकी भूल थी। सम्राट ने उसे मदद-ए-माश से अधिक से अधिक ज़मीन जो दी जा सकती थी दी थी।

बदाउनी एक कट्टर मुसलमान था। सम्राट् की धार्मिक नीति उसे पसन्द नहीं थी। उसी कारण उसके हृदय में सम्राट् के प्रति विद्रोहाग्नि भड़क उठी। इसकी छाप उसकी पुस्तक में साफ़ है।

संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद के समय अकबर ने बदाउनी को महाभारत और रामायण का अनुवाद करने को दिया। इच्छा न रहने पर भी उसे यह काम करना पड़ा क्योंकि सम्राट् की आज्ञा थी।

ब्लाचमैन के अनुसार भारतीय इतिहासकारों में बदाउनी का समझना सब से कठिन है। पर उसकी पुस्तक को हम कई कारणों से भुला नहीं सकते। यह किताब अकबर के प्रति मुल्लाओं का रुख बताती है; यह दूसरे ही दृष्टिकोण से लिखी गई है, जिसका जानना अकबर की जानकारी के लिये आवश्यक है।

बदाउनी स्वयं स्वीकार करता है कि उसने अपनी पुस्तक तारीख़ बदाउनी के लिये 'तबक़ात अकबरी' और और भी कई पुस्तकों से मदद ली है। वह अपना इतिहास १००४ हिजरी (१५९५-९६) के शुरू के समय तक समाप्त करता है। ऐसा कहा जाता है कि यह पुस्तक छिपा कर रक्खी और लिखी गई थी और जहांगीर के शासन काल में लोगों के सामने आई। पर जहांगीर अपने आत्मचरित्र में इसके विषय में कुछ भी नहीं कहता है।

बदाउनी की पुस्तक विशेषकर संस्कृति के दृष्टि से काफ़ी उपयोगी है। इसमें साधु सन्तों का भी बयान और जीवनियां हैं। पर तिथियां काफ़ी ग़लत हैं। ऐसा मालूम होता है कि बदाउनी ने 'अकबर-नामा' को पढ़कर उससे मदद लेना मंजूर नहीं किया। नहीं तो इतनी ग़लती न होती।

बदाउनी ने अकबर के ऊपर उसके क़सूर को दिखाने का प्रयत्न किया है; इसलिये तिथिवार वर्णन छोड़ कर अपनी दृष्टि से सम्राट् के सब दोषों को एक साथ लिखा है।

राय चौधरी[२२] ने कहीं ठीक लिखा है कि बदाउनी ने कई बातें अपने मत को साबित करने के लिये छोड़ भी दी हैं। मस्लन् वह लिखता है कि सम्राट् ने मस्जिदों को बन्द कर दिया। पर यह नहीं लिखा कि क्यों और कब? यह उस समय की बात है जब बंगाल में बग़ावत खड़ी हो उठी थी और मुल्ला लोग बड़े रोब से बाग़ियों का साथ दे रहे थे। यह बात बता देने से कई बातों पर रोशनी पड़ती है।

बदाउनी एक उपयोगी इतिहासकार है। पर सिर्फ़ उसकी ही किताब पढ़ने से हम सम्राट् अकबर के बारे में धोखे में पड़ सकते हैं। इसलिये यह पुस्तक बहुत विश्वसनीय नहीं है। फिर भी हमें अकबर के बारे में इस पुस्तक से काफ़ी मदद मिलती है और हम इसे भूल नहीं सकते।

अकबरी काल का तीसरा इतिहासकार निज़ाम-उद्दीन[२३] अहमद बख्शी है। इसके पिता ख्वाज़ा मुकीम हारवी बाबर के समय में एक अच्छे ओहदे पर थे। अकबरी हकूमत के नवें साल में निज़ाम-उद्दीन गुजरात के सूबे का बख्शी मुक़र्रर किया गया। बग़ावत के समय निज़ामउद्दीन ने बहुत ही बहादुरी के साथ बाग़ियों का सामना किया। निज़ामउद्दीन की मृत्यु सम्राट् के शासन के ३९ वें वर्ष में हुई।

बदाउनी और निज़ामउद्दीन में काफ़ी दोस्ती थी और निज़ामउद्दीन की मौत के बाद बदाउनी रोया भी था। वह लिखता है "निज़ामउद्दीन अपने पीछे बड़ा नाम छोड़ गया है। हममज़हब और दोस्ती के नाते हम लोग एक दूसरे के पास थे।"

२२—Din Ilahi Ray Choudhry.

२३—Elliot Vol. V Page 177

निज़ामउद्दीन ने अपनी पुस्तक सुबुक्तगीन से प्रारम्भ कर अकबर के ३७ वें शासन काल तक का समाप्त की है।

निज़ामउद्दीन एक अच्छा इतिहासकार है। बदाउनी की तरह उसने अपना इतिहास किसी विशेष मक़सद से नहीं लिखा, इसीलिये वह अपनी किताब में निष्पक्ष रह सका है। यह पहली किताब है, जो नये तर्ज़ पर लिखी गई थी और जिसमें सिर्फ़ भारतवर्ष का ही वर्णन है। ऐरस्कीन के अनुसार यह सब से अच्छा इतिहासकार है। और भी विद्वानों ने इसको ऊँची जगह दी है।

पर हमें याद रखना होगा कि निज़ामउद्दीन सदर दफ़्र में नहीं था। उसके पास हर मज़मून का उतना ज्ञान नहीं था, जितना अबुलफ़ज़ल को था। वह भी बादशाह को उतना नहीं समझ सका था, जितना अबुलफ़ज़ल। फिर भी उसने निष्पक्षता से सारी बातों का बयान किया है और हम उसके आभारी हैं।

अकबर-काल इतिहास के विद्वान पैदा करने के लिहाज़ से मुस्लिम काल का सब से अच्छा समय कहा जा सकता है। इसके बाद इतिहासकार और भी हुये; पर इतने ऊँचे नहीं। शाहजहाँ ने अपने बादशाहनामा के लिये इतिहासकारों की तलाश की; पर अबुलफ़ज़ल के समान वह कोई विद्वान न पा सका। औरंगजेब से इतिहासकला का पतन शुरू होता है। और उसके बाद दो चार मुस्लिम इतिहासकार सितारों को छोड़ कर-अन्धकार का युग है।

ऐतरेय ब्राह्मण की कथा

एक ऋषि की ब्राह्मणी और शूद्रा दो स्त्रियां थीं। उस समय यज्ञस्थल में बालक को बैठा कर शिक्षा देने की व्यवस्था थी। यज्ञ शुरू हुआ, माताओं ने शिक्षा-लाभ के लिए बालक को पिता के पास भेज दिये। उस समय उन महर्षि ने अपनी ब्राह्मणी पत्नी के गर्भजात पुत्र को गोद में बैठा कर आदर के साथ शिक्षा दी; लेकिन शूद्रा पत्नी की सन्तान की यज्ञस्थल में उपेक्षा की। इस दुःख से शूद्रा स्त्री का बालक मां की गोदी में आकर रोने लगा। और बोला—"मां, पिता ने मुझको जैसे पहचाना ही नहीं।" सुनकर मां भी रोने लगी। बालक ने फिर कहा—"मां, मेरी शिक्षा का फिर क्या उपाय होगा?" मां ने कहा—"तुम्हारे पिता ही जब उपेक्षा करते हैं, तो और किसके पास जांय? अच्छा मैं तो शूद्र-कन्या हूँ, अर्थात् पृथ्वी की सन्तान हूँ; अपनी धरती माता को बुला कर देखूं।" यह कह कर उसने धरती माता को बुलाया।

माता वसुन्धरा ने आकर कहा—"भय नहीं, सभी ज्ञान तो हमारे अन्दर निहित हैं, बालक को मुझे दे दो, मैं इसे शिक्षा दूंगी।" पृथ्वी माता ने बालक को सभी शास्त्रों में पंडित कर के उसकी मां के पास भेज दिया। उस समय बालक के मन में बाल्यकाल के अपमान का प्रतिशोध जगा। उसने ऋग्वेद पर सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण ग्रन्थ लिखा।...और वह जो शूद्रा अर्थात् इतरा का पुत्र था, इसे खूब मजे में जनाने के लिए उसने अपने ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम रखा—ऐतरेय ब्राह्मण। इस शूद्रा मां की सन्तान का असल नाम ऐतरेय नाम के नीचे दबा पड़ा है। मही का शिष्य होने से उसे महीदास भी कहते हैं।...इस ऋषि की सब कथा 'ऐतरेयालोचनम्' ग्रन्थ में स्व० सत्यव्रत सामश्रमी महाशय ने लिखा है।

"भारतीय संस्कृति"—"आचार्य क्षितिमोहन सेन

पिता

श्री गुण वर्धन

शहर से किनारे नाले-परनालों से भरा कच्चे मकानों का ढेर है। सरकारी बम्बों पर छोटी-बड़ी पनिहारनें अपनी ओढ़नी और अञ्चल सम्हाले मिट्टी के घड़े और बाल्टियाँ लिये अपनी बारी का इन्तज़ार करती हैं। लंबे फ़ासिले पर गड़े सरकारी लैम्प सँकरी गलियों को रोशन करने की कोशिश में सबेरा कर देते हैं। बस्ती के ठीक पीछे ही एक बावली है। यही शहर का घूर है। गाड़ी के गाड़ी कूड़ा-करकट बावली हज़म कर गई है, फिर भी अभी उसकी भूख बुझी नहीं है। सड़ी-गली चीज़ें ही इसके जिम्मे पड़ती हैं। डोमड़े भी लापरवाही से दो-चार कुत्ते-बिल्ली इसको दे जाते हैं। गीध, चील-कौवों की सराँय है। आवारा कुत्ते जब चाँव-चाँव झाँव-झाँव से बावली को परेशान करने लगते हैं, तो वह गुस्से में फुफकारने लगती है। 'लीडर' रोड पर चलने वाले बाबू रूमाल से नाक दाबे सरपट भाग जाते हैं।

बस्ती टुकुर-टुकुर अपनी पड़ोसिन बावली को देखा करती है। उसको भी गन्दगी से नफ़रत है। इसकी गन्दी हवा उसके मकानों को उजाड़ती रहती है, बर्बाद करती रहती है। फिर भी वह चुप है। सोचती है, अगर बोलूंगी तो उजाड़ दी जाऊँगी। इस डर से वह सब अत्याचार सहते हुये अपनी ज़िन्दगी बिता रही है।

हुसेना इसी बस्ती का वफ़ादार बाशिन्दा है। यह सच है कि उसको लाख-दो लाख लोग नहीं जानते, फिर भी दो-पाँच सौ से उसका सलाम-दुआ है ही। मोहन बनियाँ, रामचरन महाजन, पल्टू बूचड़ और डाक्टर वर्मा हुसेना के अपने हैं। इनके अलावा नाके की पुलिस, चौराहे का सिपाही और साथी एक्केवान उसको ख़ूब पहचानते हैं।

हुसेना एक्केवान है। घोड़े का दाना और घर की खर्ची मोहन देता है। उधार-बाढ़ी लगा ही रहता है। कमाई तो इतनी होती नहीं कि ईद और मोहर्रम नग़द-नग़द हो जाय। रामचरन की हुन्डी चला ही करती है। पल्टू का भी आगे-पीछे का हिसाब है। समय-समय पर डा० वर्मा से सलाम करना ही पड़ता है। यार दोस्त और सिपाही सिविक गार्ड टेंट थामे ही रहते हैं। इनसे जो बचा खुचा उसी से उसका संसार चलता है।

हुसेना कई लड़कों का बाप है। उसकी उमर पूरे पचास में एक कम है। लेकिन उसे अब्बा कहने वाला अब एक ही है। लाड़-प्यार में पला है। खैरुल अब सत्रह साल का है। इसने न मकतब देखा न मसज़िद। इसे गलियों से मोह है, जहाँ सारा दिन कौड़ी-गोली खेला करता है। कभी आना दो आना हारता है तो कभी इसका भी छक्का लाल होता है।

खैरुल को पैसे की कमी नहीं पड़ती। कभी अम्मा की आँख बचा कर सन्दूकची साफ़ कर देता है तो कभी बाप के नशे में देख उसकी टेंट झाड़ लेता है। अगर ऐसे भी कुछ हाथ न लगता, तो बाप के साथ एक्के पर चल देता। हुसेना बड़ा ख़ुश होता कि खैरुल अब रास्ते पर आ रहा है; मगर जहां दो-चार आने हाथ लगे कि रफ़ू चक्कर हो जाता और फिर अपने पुराने अड्डे पर आकर हार-जीत में जुट जाता।

हुसेना चाहता कि खैरुल कम से कम एक्केवानी ही में मन लगावे। रोज़ा-नमाज़ नहीं जानता नहीं सही, पर रोटी का ज़रिया तो कुछ न कुछ सीखना ही चाहिये। आज वह है, रुपये बारह गन्डे कमा लेता है। किसी तरह नून-रोटी चल जाता है। अगर कल वह आँख मूंद ले तो क्या हो? ज़िन्दगी का क्या ठीक, आज हैं कल नहीं तो ऐसी हालत में खैरुल और उसकी मां का क्या होगा। ये किस घाट लगेंगी? कभी कभी हुसेना यह सब सोचा करता है। लेकिन

जहां यार-दोस्त मिले, एक-आध पुड़िया उड़ी कि सब चंगा। मुंह से धुआं उगलता तो मालूम पड़ता मानों चिलम पर अपनी सारी चिन्ताओं को फूंक दिये हो।

× × ×

हुसेना के समझाने-बुझाने का असर खैरुल पर कुछ न पड़ता। दिन-ब-दिन उसकी आदत बढ़ती ही गई। हुसेना अब लात-घूंसे और छड़ी से खैरुल की ख़बर लेता। लेकिन उसकी एक-एक छड़ी खैरुल को चोरी करने, जूआ खेलने और दंगा-फ़साद करने में आगे ही बढ़ाती।

अब तक तो वह घर का ही माल उड़ाता था। परन्तु अब उसकी आवश्यकतायें बढ़ गयी थीं। यार-दोस्त, सिनेमा, पान-बीड़ी, कीमा-कबाब सब तो उसे चाहिये था; पर घर में इतना कहां कि वह उसका सहारा ले। फिर घर में बड़ी निगरानी रहती। नज़मा पैसे सावधानी से रखती और हुसेना भी अब उसे पास फटकने नहीं देता। परन्तु ये सारे प्रतिबन्ध खैरुल के रास्ते को नहीं रोक सके।

घर से निकल कर अब पास पड़ोस में हाथ साफ़ करने लगा। किसी का बधना ग़ायब होता तो कोई शाम को अपनी लालटेन खोजता। साइकिल की बत्ती और घण्टी अक्सर उसके हाथ लग जाती। जहां भी चवन्नी-अठन्नी की गुन्जाइश होती, वह हाथ साफ़ कर देता। और कोई हरा-भरा बैठकख़ाना नज़र आता, तो वह झट अपना काम बना लेता। किताबें, लैम्प, घड़ी, छड़ी कुछ न कुछ हाथ लग ही जाता। दो-चार मिनट में दिन भर का काम बन जाता। फिर क्यों सारा दिन एक्के पर भैया बाबू चिल्लाया करे।

हुसेना की निगाह में यह गुनाह था और खैरुल आवारा था। पर अपनी नज़र में वह उतना ही पाक-साफ़ था, जितना और लोग दावा करते हैं। वह देखता कि दो-दो जीव दिन रात खटते हैं फिर भी पूर नहीं पड़ता। कभी घोड़े को घास नहीं तो अब्बा खाली प्याज-रोटी खाते हैं। उसे दिन भर खिचखिच करना पसन्द नहीं और न उसे प्याज-रोटी ही पसन्द है। होटल में कीमा-क़बाब पकते उसने देखा है। उसकी ख़ुशबू उसके मुंह में पानी भर देती। लोगों को चाय की चुस्कियां लेते देख उसकी ज़बान डोल जाती। सिनेमा के गाने उसके मन में राग पैदा करते। खैरुल खूब जानता था कि एक्केवानी में ये मज़े न मिलेंगे।

हुसेना को बड़ी जलन थी। नजमा रोज़ कुछ न कुछ खैरुल का दास्तान बयान कर चार आँसू बहा लेती। हुसेना डरता कहीं पुलिस न पीछे पड़ जाय। अपने तो जायगा ही साथ में मेरी इज़्ज़त भी धोदेगा और जलील ऊपर से होना पड़ेगा। जो दो चार रुपये की साख है वह भी जाती रहेगी। उसे अपनी नालायक़ सन्तान पर ग़ुस्सा आता। वह उसे जीभर गालियां देता और कोसता। अगर ग़ुस्से में वह कभी मिल जाता तो लात जूते से उसकी ख़बर लेकर अपने गुबार निकालता।

पर अब गाली-मार से खैरुल अभ्यस्त हो गया था। मार पड़ती रहती और वह गालियाँ बकता रहता। बराबर लड़ने की ताक़त तो थी नहीं, बस गालियां दे कर ही चोट सहता जाता। नजमा ही बाप बेटे को अलग करती। मोहल्ले-टोले के लिये नई बात न थी। खैरुल को बचाने के बदले सब उसे बददोआ ही देते। हां, राहचलतू भले ही उसकी हालत पर तरस खाते और हुसेना को भला बुरा कहते चले जाते।

× × ×

हुसेना तंग आकर अब खैरुल की ख़ैरियत से उदासीन रहने लगा। एक्के से अपनी रोज़ी कमाता और रूखी सूखी खा कर अपनी टूटी खाट पर पड़ा रहता। किसी की शिकायत पर कान न देता जैसे उसके लिये खैरुल मर गया हो।

अक्सर जब वह घर लौटता तो खैरुल लापता रहता। लेकिन आज बात बिलकुल उलटी नज़र आई। हुसेना जब रात को घर लौटा तो देखता क्या

हैं कि खैरुल उसी की टूटी खाट पर पड़ा कराह रहा है, पर उसने कुछ भी ध्यान न दिया। मुंह फेर कर घोड़े का साज रखने चला गया। रात भर वह बुखार में कराहता रहा। किसी ने ध्यान न दिया। सुबह वह पीड़ा से चिल्लाने लगा सिर में भयङ्कर पीड़ा थी, जैसे फटा जा रहा हो। इस भयङ्कर पीड़ा से पहले उसे कई कै भी हुई थी, पर घर के बाहर रमजान मियाँ के अड्डे में। यहीं वह कै करते-करते बेदम हो गया था तभी उसके साथी एक्के पर लाद कर घर पहुंचा गये थे।

आज तड़के ही हुसेना एक्का ले कर चला गया, उधर ध्यान भी न दिया। लेकिन नजमा से न रहा गया। पास आई देखा अब भी वह आँखें बन्द किये कराह रहा है। वहीं बैठ कर नजमा उसके सिर पर हाथ फेरने लगी। अम्मा की सहानुभूति पा उसकी आँखें भर आईं। भरे गले से बोला—'अम्मा, मैं मरा जा रहा हूँ। मेरा माथा फटा जा रहा है। देखो, मैं गर्दन भी नहीं घुमा सकता, अम्मा।' वह सब सुनती गई, बोली कुछ न पर चिन्ता की काली रेखा उसके मुंह पर पुत गई। पुत्र की हालत देख उसका मन उतर गया।

दोपहर को हुसेना जब घर लौटा तो उसने बड़ी आरजू-मिन्नत की। खैरुल में चलने की शक्ति तो थी न। हुसेना डाक्टर से दवा ले आया पर उसका कुछ असर न हुआ। हालत बिगड़ती ही गई। अब वह बक-झक करने लगा। अब पहचान की शक्ति धीरे-धीरे कम होने लगी। रात में वह खाट से उठ कर भागने लगा। नजमा को झटक देता। हुसेना उसे दबाये रखता। वह उसे लात घूंसे चलाता, गालियां बकता। रात बड़े संकट से कटी। सुबह ही हुसेना डाक्टर के घर दौड़ा।

"डाक्टर वर्मा खैरुल की हालत देख कर निराश हो गये। हुसेना को बाहर बुला कर कहा।

'हालत ठीक नहीं है। मेनन्-जाइटिश (गर्दन तोड़) हो गया है; जल्दी से अस्पताल ले जावो, नहीं तो हाथ मलना होगा।'

'आँ' बदहवासी में हुसेना के मुंह से निकल गया।

'हाँ, लो यह चिट्ठी बड़े डाक्टर को देना।'

'खैरुल अस्पताल में भर्ती तो कर लिया गया पर खैरात में इतनी कीमती दवा नहीं दी जाती कि उसकी जान बच सके। बीमार की हालत नाजुक थी। डाक्टर को हुसेना की जईफ़ी पर तरस आता था पर बेचारे लाचार थे।

'हुसेना बेबस उनका मुंह ताक रहा था, डाक्टर कुछ देर तक सोचते रहे फिर हुसेना से बोले,—'देखो भाई हम से जो बन पड़ेगा करेंगे, पर उससे काम न चलेगा। अगर तुम इंजेक्शन का इन्तज़ाम कर सको तो हमारी भी तरकीब काम कर जाय। क्यों, क्या सोच रहे हो।'

'जैसा आप कहें?'

'हाँ, लो यह चिट। इस दवा का दाम तो बहुत बढ़ गया है और अब लड़ाई की वजह से आती भी नहीं। देखो अगर मिल जाय तो तुम्हारी क़िस्मत।'

'कितने को मिलेगी?' धीरे से हुसेना ने पूछा।

'दस, बारह रुपये फ़ी शीशी से क्या कम होगा। अगर मिले तो सात शीशी अभी लेना फिर बाद को कहेंगे।'

हुसेना सिर झुकाये पुर्जा लिये चला जा रहा था। शायद सोच रहा था कि ये सत्तर-अस्सी कहां से आयें। बीबी के पास ऐसी कोई रक़म नहीं कि गिरवीं रखे। रूपे की बाली और चूड़ी तो शायद ही एक आध शीशी ख़रीद सके। तब क्या हो। कर्ज़ लिया जाय, लेकिन उसकी भी उम्मीद नहीं। रामचरन अब एक फूटी कौड़ी भी न देंगे। उनकी हुन्डी भी दो महीने से रुकी है। फिर क्या हो? "एक्का जो है", अन्तरतम की एक धीमी आवाज़ कह गई। हुसेना सोचने लगा। यही तो पूंजी है, जिससे नून-रोटी नसीब हो जाती है। अगर यह हाथ से निकल गया तो दाने न मिलेंगे। बे मौत मरना होगा।

'खैरुल बुरा है, लाख बुरा है पर है तो तेरी सन्तान। तेरे मरने पर क़ब्र पर दिया न जलाये पर तेरा नाम तो चलता रहेगा।' आवाज़ ने फिर दोहराया। हां ठीक है, नाम ही के लिये इन्सान सब कुछ करता है। दूध-पूत नाम ही के लिये तो है। खैरुल मेरी औलाद है। मैं उसका बूढ़ा बाप हूँ। मैं मर जाऊँ तो कोई हर्ज नहीं पर खैरुल··नहीं। वह ज़िन्दा रहेगा। मेरा नाम चलेगा। एक्का-घोड़ा फिर हो सकता पर खैरुल जा कर नहीं लौट सकता; नहीं लौट सकता। हुसेना की पलकें भीग गईं।

यह विचार आते ही हुसेना जल्दी-जल्दी भागा। सीधे आया रामचरन महाजन के पास। बोला—'खैरुल बीमार है, महाजन।'

रामचरन एक पटेबाज। वह ख़ूब पहचानता है इस तरह की आवाज़ को। बोला—'तो हम क्या करें।'

'गुस्सा न हो भैया; एक्का-घोड़ा ही रख लें।'

'अरे एक्का-घोड़ा तो है लेकिन रुपया कहां है?'

'महाजन आपै तो हैं। गाढ़े दिन में कौन काम आवे।'

महाजन नरम-गरम कह कर असामी की गरज़ को समझ लेते हैं और फिर जैसा देखते हैं, वैसा बना लेते हैं। रामचरन समझ गया कि अब शिकार ठीक रास्ते पर है।

बोला—'भाई सो तो ठीक है लेकिन आज कल रुपये पैसे की तंगी है। रक़म डूबती जा रही है फिर भी तुम्हारे जैसे आ जाते हैं तो इन्कार भी करते नहीं बनता। हां, तो क्या लोगे एक्के-घोड़े का?'

'बन्धक रखलें महाजन! बेचने का इरादा नहीं है।'

'पागल हो रहे हो क्या; जर-ज़मीन थोड़े ही हैं जो बन्धक रख लें। अरे यह तो जानवर है। रोज चलता है। न जाने किस दिन मर जाय। एक्का ही टूट-फूट जाय। फिर तो रक़म पानी में गई न। मैं ऐसे में हाथ नहीं डालता। ले जाओ कहीं और।'

'और कहां जाँय महाजन?'

'तो हम क्या करें? हम तो बेचीनामा करा सकते हैं। और कुछ नहीं।'

'अच्छा आप जो कहें।'

'क्या लोगे, बोलो जल्दी।'

'महाजन आपै समझ लें। बिलकुल नया एक्का-घोड़ा है। महीना भर भवा साज भी बदलवाया है।'

'नया क्या है, आज दो साल से हांक रहे हो। ख़ैर, जो भी हो सत्तर देंगे। देखो मन बैठा लो।'

'नहीं महाजन। डेढ़ सौ से ज़्यादा तो हमारा लगा है। और आप सत्तर सुना रहे हैं।'

'अरे तुम्हारा लगा तो कमाया नहीं क्या? देखो पांच और दे देंगे।'

'नहीं भैया, इतने से दवाई का काम न होगा।'

'तो हम क्या दवा का ठेका लिये हैं! बस, अब एक पाई भी नहीं। तबीयत हो तो बेचो नहीं, जाओ।'

हुसेना समझ गया कि अब इससे एक पाई भी नहीं निकलने को। चलो इस वक्त जो मिल रहा है वही सही, कुछ काम चलेगा ही।

'बैठे क्या हो? रास्ता देखो।'

'मेरी एक बिनती है, भैया। आप जो दे रहे हैं सो देही रहे हैं। मगर हांकने के लिये हमको ही दें, नहीं तो मर जायंगे।'

'हां, हां, जैसे तुम वैसे गैर। हमको भाड़े से मतलब। भाड़ा दो तुम ही हांको।'

सत्तर और पांच पर हुसेना की पूंजी बिक गई। पचास की पांच शीशी सिरम् इंजेक्शन ले हुसेना अस्पताल आया। लम्बर पंक्चर ने बुखार का विष खींच लिया और सिरम् ने खैरुल को शक्ति दी। उसकी हालत सुधरने लगी। अब धीरे-धीरे वह उठने-बैठने लगा।

एक दिन हुसेना देर से मिलने आया। कुछ पैसे बचा कर छटाक भर अंगूर भी लेता आया। खैरुल बहुत देर से इन्तजार कर रहा था। अब्बा को देखते ही वह उठ बैठा।

'लेट जा बेटा !' बड़े स्नेह से हुसैना ने कहा 'मैं नहीं लेटूंगा, तुम देर क्यों करते हो ?'

'अच्छा अब देर न होगी, भैया; क्या करूं जब इधर की सवारी मिल जाती है तभी आ जाता हूँ। कभी अबेर-सबेर हो ही जाती है। खैरुल लेट गया। हुसैना अंगूर के एक एक दाने चुन-चुन कर उसे खिलाने लगा।

'अब मैं बिलकुल ठीक हो गया हूं, अब्बा।' अंगूर खाते हुये खैरुल ने कहा।

'हाँ बेटा, अब तू अच्छा हो गया है। डाक्टर साहब से पूछ कर तुमको घर ले चलेंगे।' अंगूर का दाना उसके मुंह में डालते हुये हुसैना ने कहा।

'थोड़ा दुबला हो गया हूं, आँ! फिर ठीक हो जाऊंगा।'

'हां बेटा !'

'अब मैं एक्का हाँकूगा अब्बा। तुम घर बैठना। तुम बूढ़े हो गये हो न।' हुसैना की खिचड़ी दाढ़ी में उंगली फेरते हुये खैरुल ने कहा।

'हाँ बेटा! ले खाले।' उसका गला भर आया। चार-पांच दानों को एक बार ही उसके मुंह में डालते हुये हुसैना ने खैरुल को सीने से लगा लिया। उसकी धँसी और सूखी आंखों से पानी की धारा फूट पड़ी।

'अब्बा !!!'

'बेटा !'

हुसैना ने एक पूंजी खो कर आज दूसरी, उससे महान, पाई है। आज उसका तन प्रसन्न है, मन प्रसन्न है। उसको आशा मिली है, उसकी अभिलाषा जगी है। इसी खुशी में उसकी आँखें स्नेहबिन्दु का अर्घ्य-दान कर रही थीं।

मन की गुलामी और सम्प्रदायवाद

श्री रघुवीरशरण 'दिवाकर'

आज दुनिया में चारों तरफ़ आज़ादी के ही तराने सुनाई पड़ते हैं। जो अपनी आज़ादी के लिए जद्दोजहद कर रहे हैं, वे तो आज़ादी के सच्चे दीवाने हैं ही, लेकिन जो दूसरों को ग़ुलाम बनाए रखने या बनाने के लिए नर-संहार कर रहे हैं, वे भी आज़ादी के ही गीत गा रहे हैं और सचमुच दूसरों की आज़ादी हड़पने के लिए चिन्तातुर होते हुए भी वे अपनी आज़ादी को बनाए रखने के लिए सजग और प्रयत्नशील हैं। यद्यपि स्वार्थ और अहंकार ने कुछ मनुष्यों को दूसरों को ग़ुलाम बनाने के लिए उत्सुक बना रखा है, पर जहाँ तक जनता का प्रश्न है, जहाँ तक एक साधारण व्यक्ति का सम्बन्ध है, हम कह सकते हैं कि आज दुनिया के प्रायः सभी मनुष्य स्वभावतः मनुष्यमात्र की स्वतन्त्रता की ही ओर अग्रसर हो रहे हैं। जिसको भी देखिए आज वह आज़ादी की इस विश्वव्यापी लहर के प्रवाह में ही बह रहा है।

इस लहर को देखने से पता लगता है कि दुनिया ग़ुलामी की ज़ंजीरों से छुटकारा पाने के लिए बुरी तरह बेचैन है और इस परिचय से हम संतोष का ही अनुभव करते हैं। लेकिन यह देख कर हमारे सन्तोष को और हमारी आशा को ठेस ही पहुँचती है कि यह आज़ादी की लहर जीवन की गहराई तक उतरने में और वहाँ बह कर मानव-जीवन को स्वच्छ और परिपुष्ट बनाने में असमर्थ ही रही है। हम राजनीति और अर्थनीति के दृष्टिकोण को ही लेकर—अपने जीवन के एक अंग को ही सामने रखकर—स्वतन्त्रता के तत्व को समझने की कोशिश करते हैं और यह भूल जाते हैं कि यह स्वतन्त्रता आवश्यक—अति आवश्यक होते हुए भी सब कुछ नहीं है, बल्कि इससे आगे मनुष्य के मन, मनुष्य के मस्तिष्क, मनुष्य की अंतरात्मा, मनुष्य की विचार-धारा, मनुष्य की वृत्ति और मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता भी है और उसे पाना राजनैतिक व आर्थिक स्वतन्त्रता से कम

नहीं, बल्कि ज़्यादह ज़रूरी है। एक भौतिक स्वतन्त्रता है तो दूसरी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है और निःसंदेह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता भौतिक स्वतन्त्रता से कहीं ज़्यादा महान है। यद्यपि स्वतन्त्रता मूल तत्व के रूप में अपने इन दोनों अंगों को—बाह्य और अंतरंग रूपों को—समाविष्ट किए हुए है और सचमुच दोनों में शरीर और आत्मा की तरह घनिष्ट सम्बन्ध भी है, लेकिन फिर भी दोनों ही अपने-अपने पृथकत्व को लिए हुए हैं और शरीर और आत्मा की तरह इन दोनों को भी हम एक दूसरे से अलग-अलग देख और समझ सकते हैं।

भौतिक स्वतन्त्रता नष्ट होने पर मनुष्य का शरीर ही ग़ुलाम बन पाता है और शरीर की ग़ुलामी उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालती है; लेकिन आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की क्षति होने पर मनुष्य का मन ही ग़ुलाम हो जाता है और मन की यह ग़ुलामी उसके व्यक्तित्व को ही नष्ट कर देती है। आज हम शरीर की स्वतन्त्रता के युद्ध में संलग्न हैं और यह शुभ ही है; लेकिन अशुभ यह है कि हम शरीर की स्वतन्त्रता की धुन में मन की स्वतन्त्रता को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं। हमारी ही नहीं दुनिया की ही यह हालत है। इस शरीर की स्वतन्त्रता की ओर जितना ध्यान दिया जा रहा है, यदि उतना ही ध्यान मन की स्वतन्त्रता की ओर दिया जाय, तो इससे शरीर की स्वतन्त्रता के मिशन को तो सहायता मिलेगी ही, साथ ही मनुष्य के व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति के लिए भी मार्ग प्रशस्त हो जायगा और तभी सच्चे अर्थों में मनुष्य में मनुष्यता का प्रादुर्भाव होगा।

आज दुनिया के अनेक देशों में स्वतन्त्रता की जो झाँकी दिखाई दे रही है, रूस चीन और भारत आदि देशों में स्वतन्त्रता के लिए जो संघर्ष हो रहा है, उससे हमें यह आशा होने लगी है कि वह समय ज़्यादा दूर नहीं है, जब संसार के सभी राष्ट्र स्वतन्त्र होंगे और प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र में व्यक्ति को शारीरिक सुख व संतोष मिल सकेगा; लेकिन मन की स्वतन्त्रता के विषय में अभी कम ही आशा की जा सकती है, यद्यपि इस विकास-युग में मन की स्वतन्त्रता के मिशन को शक्ति मिली है। पहिले की अपेक्षा आज मनुष्य का मानसिक विकास अधिक हो पाया है। अन्धविश्वास व अन्धानुकरण के चक्रजाल से अपने को मुक्त करने में उसने कुछ सफलता भी प्राप्त की है; लेकिन शरीर की स्वतन्त्रता की ओर वह जितने वेग से आगे बढ़ा है उसे देखते हुए मन की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की इस अत्यन्त धीमी गति से असन्तोष ही होता है और कहना पड़ता है कि मन की ग़ुलामी नष्ट करने के लिए अभी तक उसने जो कुछ किया है वह नगण्य ही है।

जिस तरह शरीर की ग़ुलामी को दूर करने के मार्ग में क़दम-क़दम पर मुश्किलें हैं, उसी तरह मन की ग़ुलामी से मुक्त होने के मार्ग में भी कठिनाइयाँ हैं। वहाँ शत्रु बाहर है तो यहाँ शत्रु अपने भीतर ही है। वहाँ अताइयों का सामना है, तो यहाँ संस्कार, शिक्षा-दीक्षा आदि से टक्कर है। वहाँ साम्राज्यवाद से लोहा लेना पड़ता है, तो यहाँ सम्प्रदायवाद से संघर्ष करना पड़ता है। जिस तरह साम्राज्यवाद तरह तरह के रूप धारण करके मनुष्य को ग़ुलाम बनाए हुए है, उसी तरह इस विविध रूपधारी सम्प्रदायवाद ने भी मनुष्य को अपने चंगुल में फँसा रखा है। पूर्ण स्वतन्त्रता पाने के लिए ज़रूरी है कि हर तरह के साम्राज्यवाद और हर तरह के सम्प्रदायवाद दोनों को नष्ट किया जाय।

सम्प्रदायवाद मन की स्वतन्त्रता का सब से बड़ा शत्रु है। मन को ग़ुलाम बनाने वाली सभी शक्तियाँ इसके कार्यक्षेत्र में आ जाती हैं। सदियों से मन की स्वतन्त्रता के सभी शत्रुओं के सिर पर सवार हो कर सम्प्रदायवाद मनुष्य के व्यक्तित्व को रौंदता रहा है और आज भी रौंद रहा है। उसका विषैला प्रभाव संसार के कोने कोने में, उन देशों में भी जो राजनीति व अर्थनीति की दृष्टि से काफ़ी स्वतन्त्र हैं, फैला हुआ है। संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, नगण्यता का मान आदि सभी पर यह अपना अधिकार जमा कर, चारों

और से मनुष्य की मनुष्यता को जकड़ कर, उसे गुमराह बना रहा है।

सम्प्रदायवाद त्रुटियों और दोषों से भरपूर है; लेकिन उसकी सब से बड़ी त्रुटि यह है कि वह हमें किसी व्यक्ति या वाद विशेष के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखने तथा पूर्णरूप से उसका अनुकरण करने के लिए बाध्य करता है और मनुष्य के चारों तरफ़ ऐसा जाल बिछाता है कि मनुष्य उसमें फँस कर आत्म-समर्पण कर बैठता है। यही त्रुटि अन्य त्रुटियों की जन्मदाता है और इसी पर मन की स्वतन्त्रता को नष्ट करने का उत्तरदायित्व है।

सम्प्रदायवाद के ऐसे आदेश का ही परिणाम है कि हिन्दू, मुसलमान, जैनी, ईसाई, सिख, पारसी आदि कहलाने वाले मनुष्य अपने अपने बाड़े बनाकर और अपनी हृदय-वृत्तियों, भावनाओं व विचार-धाराओं को संकुचित सीमाओं में घेर कर अन्धानुकरण कर रहे हैं। ईसाइयों का यह विश्वास है कि सर्वोत्कृष्ट नैतिक जीवन के लिए, जीवन की पूर्ण सफलता के लिए, ईसामसीह के जीवन का अनुकरण तथा उनकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। मुसलमान एक अल्लाह को मानते हुए भी हज़रत मुहम्मद को आदर्श समझ कर उनके नक़शे-क़दम पर चलना ही पसन्द करते हैं। इसी तरह बुद्ध, हिन्दू, जैन आदि सभी सम्प्रदाय-वादियों ने नैतिकता को किसी एक पूर्वकालीन पैग़म्बर, महात्मा आदि के जीवनचरित्र अथवा उसके उपदेशों के आधार पर खड़ा किया है। नैतिकता का ऐसा ढांचा बनाने में और लोगों को उसकी ओर खींचने में वे निःसंदेह एक हद तक सफल हुए हैं; लेकिन इस सफलता में एक महान असफलता छिपी हुई है, इस जय में एक भयंकर पराजय निहित है और वह यह कि अब यह एक हद तक मनुष्यों को कुछ लाभ पहुंचा कर, मानव सुख में कुछ वृद्धि कर के, अब हानि और अहित करने की तरफ़ अग्रसर हो चली है, यहाँ तक कि पहिले वह मानव-सुख में जो कुछ वृद्धि कर सकी थी अर्थात् मानव समाज के सुख के मूलधन में जो कुछ ब्याज बढ़ा सकी थी, उसे घटाकर अब वह मूलधन पर भी हाथ साफ़ करने लगी है।

एक ही शिक्षक अथवा मार्ग-प्रदर्शक का अनु-करण करने के इस व्यवहार ने स्व-विकास के कठिन काम को कुछ सरल और सहज बनाने की कोशिश की थी और सचमुच कुछ व्यक्तियों ने इससे लाभ भी उठाया था और अभी भी कुछ लाभ उठा रहे हैं। लेकिन जहाँ तक सामूहिक दृष्टि से विशाल जन-समुदाय का प्रश्न है, इसने दुनिया को पथ-भ्रष्ट ही किया है और इसका कारण यही है कि कोई भी व्यक्ति हर प्रकार से पूर्ण आदर्श जीवन नहीं बिता सकता है; जब कि हम किसी व्यक्ति को ही पूर्ण मानकर आँख मीचे उसका अनुकरण करने लगते हैं। भूल करना मनुष्य का स्वभाव है। कोई भी व्यक्ति अभी तक त्रुटियों अथवा दोषों से रहित नहीं रह सका है। सभी ने भूलें की हैं, अपराध किए हैं, कर्तव्यों की अवहेलना की है और पूर्ण में तो क्या अंश में भी पूर्णता प्राप्त करने में असफलता ही प्राप्त की है। अधिक से अधिक उनका जीवन एक काल्प-निक महान आदर्श जीवन का छोटा-सा अंग ही बन सका है। सच तो यह है कि मनुष्य का शरीर, मन और मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि वहाँ पूर्णता की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह कितना भी महान और प्रभावशाली क्यों न हो, पूर्ण मान कर उसका अन्धानुकरण करने की नीति मानव जीवन के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है, जो उन्नति के मार्ग को ही नहीं बल्कि उसके मूल द्वार को ही रोक दिया करता है। जो कुछ ईसा ने किया, एक कट्टर ईसाई वही करने की तो कोशिश करता ही है, साथ ही वह यह भी सोचता है कि कोई भी ऐसा काम करना अनावश्यक बल्कि पाप ही है, जिसे उसके ईसामसीह ने नहीं किया है। इस नकारात्मक अनुकरण की धुन में ही ईसाई पादरियों ने विज्ञान का अध्ययन नहीं किया और न गणित ही सीखा, क्योंकि ईसामसीह ने

भी ऐसा नहीं किया था। एक कट्टर मुसलमान एक तस-वीर या मूर्त्ति नहीं ख़रीदता है, क्योंकि मुहम्मद साहब ने तेरह सौ वर्ष पहले अरब में मूर्ति पूजा का वहिष्कार किया था। आज भी मुसलमान बहु विवाह को उचित मानता है, क्योंकि मुहम्मद साहब ने कभी इसकी अनुमति दी थी। उसका यह विश्वास है कि चार पत्नियाँ तक रखना गुनाह नहीं होगा; लेकिन जहाँ पाँच पत्नियाँ रखीं कि गुनाह आ सकेगा! हिन्दू के बहु पत्नित्व में चार क्या चार सौ और चार हजार की भी सीमा नहीं है! जैनी के लिए तो उसके मन-गढंत इतिहास में, जिसको वह पूर्ण सत्य समझता है, छयानबे हज़ार पत्नियों तक का उदाहरण है। इस तरह हर सम्प्रदाय में से लेकर दस बीस नहीं बल्कि सैकड़ों हज़ारों उदाहरण दिए जा सकते हैं; जिससे पता लगता है कि सम्प्रदायवाद की मदिरा पीकर मनुष्य की विचारधारा इतनी बुरी तरह जकड़ कर रह गई है कि बुद्धि के होते हुए भी वह बुद्धि-मानी का दिवाला निकाल चुका है।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैनी, सिख, किसी को भी लीजिए उसका यह विश्वास है कि उसके सम्प्र-दाय की सीमाओं से बाहर कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है, जो कुछ भी सार वस्तु है वह उन सीमाओं में ही घिरी हुई है। उसका यह विश्वास यहाँ तक बढ़ गया है कि यदि कोई उसके पैग़म्बर या महात्मा आदि को महान व परम आदरणीय मनुष्य कहते हुए भी उसमें कुछ मानवीय त्रुटियों व कमज़ोरियों का होना स्वीकार करे, अथवा उसके मान्यवाद में समय देश काल की परिस्थिति के परिवर्तन के कारण किसी परिवर्तन का सुझाव करे, तो वह इसे अपमान ही समझता है। वह यह सोच ही नहीं पाता है कि उस महापुरुष की बुद्धिमत्ता और अनुभवशीलता उच्च कोटि की होते हुए भी सीमित थी और उसके सिद्धांत व नियम अपने अपने देश व काल की परिस्थिति से अपेक्षित थे। सचमुच सम्प्रदायवाद के प्रभाव ने लोगों को यह सरल सत्य स्वीकार करने के योग्य भी नहीं रखा है कि किसी भी महात्मा ने पूर्ण और सदैव एक-सा रहने वाला सत्य प्रतिपादित नहीं किया है और न किया ही जासकता था। आज की बुद्धिमत्ता आने वाले काल की मूर्खता बन सकती है, आज की व्यवस्था कल आउट-ऑफ़-डेट बन सकती है, आज के उपयोगी नियम व विधान कल निरर्थक व अनुपयोगी बन सकते हैं, आज की जीवन-धारा देश काल की परिस्थिति के परिवर्तन के साथ साथ अपने प्रवाह की दिशा में परिवर्तन कर सकती है, यह सीधी सादी बात समझ पाना भी उन बेचारों के वश की बात नहीं रह गई है।

सचमुच जितना सरल है यह समझना, उतना ही कठिन है सम्प्रदायवाद के लिए यह स्वीकार करना कि सब से अच्छा और सब से बुद्धिमान और महान मार्ग प्रदर्शक भी मानव समाज के सम्मुख सभी गुणों का आदर्श उपस्थित नहीं कर सकता, क्योंकि छोटे से जीवन में उन सब को प्रकट करने का अवसर पाना कठिन ही नहीं असंभव है। ईसा और सुक़रात ने बलिदान के जो उदाहरण पेश किए हैं, बुद्ध, महावीर नहीं कर सकते थे, क्योंकि उन्हें कम असहिष्णु लोगों में उपदेश देने का मौक़ा मिला था। जिसकी वजह से वे न पकड़े गए और न फाँसी के तख़्ते पर लटकाए गए। जिस तरह बुद्ध और महावीर ने गृहत्याग कर यह सिद्ध कर दिया कि पत्नी तथा परिवार से समाज अधिक प्रिय है, मोह से कर्तव्य अधिक अभीष्ट है, उस तरह ईसा परिवारविहीन होने के कारण परीक्षा न दे सके। महावीर और बुद्ध से पत्नी को छोड़ना सीखा जा सकता है, तो सुक़रात और मुहम्मद से पत्नी के साथ रहना सीखा जा सकता है। आज पराधीनता की जंजीरों में जकड़े हुए भारत का कर्णधार गांधी जिस विद्रोह और संघर्ष की महान पुण्यमय शक्ति का परिचय दे सका है और दे रहा है, वह बुद्ध और महावीर कैसे दे सकते थे? राम और कृष्ण जो उदाहरण पेश कर सके ग़रीब घराने और जंगली प्रदेश में पैदा हुए मुहम्मद वैसा उदाहरण कैसे पेश कर सकते थे? इस तरह अगर किसी व्यक्ति में विभिन्न गुणों की योग्यता भीतर

ही भीतर विद्यमान है, पर परिस्थिति व समयाभाव से वह सब को विकसित नहीं कर पाता, अर्थात् सब को व्यवहार में नहीं ला पाता, तो क्योंकर हम मानव जीवन की सभी समस्याएँ सुलझाने के लिए उससे प्रेरणा पा सकते हैं ? सचमुच ही भाई चारे के लिए मुहम्मद से, सेवा के लिए ईसा से, अहिंसा के लिए महावीर से, दया और मध्यम मार्ग के लिए बुद्ध से, कर्मयोग के लिए कृष्ण से, मर्यादा पालन के लिए राम से, अन्याय के प्रतिरोध के लिए गांधी से प्रेरणा ली जा सकती है। सब को महान मानकर, हरएक की विशेषता से कुछ कुछ सीख कर, अपने जीवन के सभी अंगों को परिपुष्ट किया जा सकता है। लेकिन यदि हम एक को ही पूर्ण, सम्पूर्ण, परिपूर्ण, मान बैठेंगे तो हम जीवन के एक अंग के ही लिए वहाँ पौष्टिक पदार्थ पा सकेंगे और यह एक घाटे का ही सौदा होगा।

हम देखते हैं कि जो व्यक्ति मुसलमान के घर पैदा हो गया है, वह मुहम्मद साहब के ही गीत गाता है, क़ुरान और हदीस में ही ग़ोते लगाता है और हिन्दुओं, जैनियों, बौद्धों आदि सब को व उनके महात्माओं तक को घृणा व तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। उसका यह विश्वास है कि जो कलमा पढ़ लेता है, जो नमाज़ पढ़ता है, जो क़ुरान का पाठ करता है, उसे बहिश्त का पासपोर्ट मिल जाता है और जो अभागा नहीं पढ़ पाता है, उसके लिए दोज़ख रिज़र्वड (Reserved) है। यही हाल एक जन्मगत हिन्दू का है, जो यह समझता है कि राम और कृष्ण के गुणगान में, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, उपनिषद् और वेदों के पठन-पाठन तथा गायत्री मन्त्र के उच्चारण में ही मनुष्य का कल्याण निहित है। एक जैनी को यह विश्वास है कि सूत्रों के वाचन तथा नवकार मन्त्र, भक्तामर व समायिक पाठ के उच्चारण पर ही आत्मा का कल्याण निर्भर है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों को न मानने वाला व्यक्ति चाहे वह कितना ही सदाचारी, परोपकारी व न्यायवान हो, एक जैन की दृष्टि में मिथ्यावादी है और उसका भविष्य दुःखमय है। ईसाई, पारसी, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदायों की यही रफ़्तार बेढंगी है, जो सदियों से अभी तक चली आ रही है। यह तो रही जन्म की बात, लेकिन यदि एक हिन्दू बच्चे का मुसलमान के घर में पालन हो तो बड़ा हो कर वह एक हिन्दू को काफ़िर ही समझेगा और इसी तरह एक मुसलमान के बच्चे का पालन हिन्दू परिवार में हो तो वह भी मुसलमानों को म्लेच्छ ही समझ सकेगा। यह सब संस्कारों एवं शिक्षा का ही परिणाम है। संस्कार अच्छे होते हैं और बुरे तथा शिक्षा दीक्षा भी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की होती है; अतः जो संस्कार या शिक्षा दीक्षा मात्र का परिणाम है, उसका सत्य से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। लेकिन हम देखते हैं कि संस्कार, शिक्षा दीक्षा ने लोगों के दिलों व दिमाग़ों को ऐसा ग़ुलाम बना रखा है कि वहाँ मौलिक रूप से सत्य और असत्य को समझने के लिए कोई आधार ही नहीं है। जो यह समझता है कि "जो मेरा है वह सत्य है," "जो सत्य है वह मेरा है" यह सच्चे दृष्टिकोण को कहाँ से पा सकता है ? कितने हिन्दू मुसलमान, ईसाई, जैनी, बौद्ध आदि ऐसे हैं, जिन्होंने एकांत में बैठ कर ठंडे दिल से यह समझने की कोशिश की है कि आख़िर जन्म व लालन-पालन के कारण अर्थात् संस्कारों व शिक्षा दीक्षा के ही कारण किसी व्यक्ति अथवा वाद विशेष में एकांत रूप से ऐसी पूर्ण श्रद्धा क्यों रखी जाय कि बाहर के विशाल विश्व के किसी भी व्यक्ति व तत्व के लिये वह ज़रा भी शेष न रहे ? क्यों न अपने को मनुष्य मात्र का समझ कर सभी व्यक्तियों और वादों को देखा-भाला जाय और जहाँ भी जो अच्छाई मिले उसे निःसंकोच ग्रहण करके अपने व्यक्तित्व का विकास किया जाय ? संस्कारों का प्रभाव यहाँ तक मन की गहराई में पहुँच गया है कि कभी कभी मनुष्य यह अनुभव भी करने लगता है कि वह सचमुच विवेकपूर्वक ही अपने सम्प्रदाय में आरूढ़ है। यह अवस्था तो और भी भयंकर है, क्योंकि यहाँ मन ही नहीं बुद्धि भी संस्कारों की ग़ुलामी में आ जाती है और फिर वह संस्कारों

के अनुकूल ही विचार करती है और उन्हीं के अनुरूप निर्णय किया करती है और फिर कहने लगती है उस व्यक्ति से, "धन्य है तू जो इस सम्प्रदाय में आने का सौभाग्य प्राप्त कर सका," और इससे वह व्यक्ति पा लेता है कुछ वह जिसे वह संतोष मानना चाहता है। कहने की कोई ज़रूरत नहीं कि संस्कारों की ऐसी ग़ुलामी से निकलना साधारण मनुष्य के लिए मामूली बात नहीं है।

सम्प्रदायवाद की इस चहारदीवारी में घिर कर मनुष्य अपने ऊपर निर्भर रहना नहीं सीख सका है। वह दूसरों के विश्वासों से ही विश्वास पाने और उनकी बुद्धि से ही हर समस्या को देखने की तथा उनके निर्णय को ही अपना निर्णय बनाने की नीति बना कर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। लेकिन वह महा प्रमादी भूलता है कि जिस तरह दूसरों के दांतों से कुछ नहीं खाया जा सकता, दूसरों के कानों से कुछ नहीं सुना जा सकता, दूसरों की नाक से कुछ नहीं सूंघा जा सकता, उसी तरह दूसरों की बुद्धि से कुछ नहीं समझा जा सकता और दूसरों के हृदय से कुछ अनुभव नहीं किया जा सकता। साधु, सन्यासी, पुजारी, गुरु, महन्त, माता-पिता, मित्र, पड़ोसी आदि सभी साथी किसी बात की निन्दा करें, लेकिन उसकी अंतरात्मा उसकी प्रशंसा ही करे, तो ऐसी हालत में दूसरों के हृदयों से घृणा सीख कर वह दूसरों को ही धोखा नहीं देगा, बल्कि अपनी अन्तरात्मा के प्रति भी दग़ाबाज़ी करेगा और इससे किसी भी अंश में उसका कल्याण न हो सकेगा।

मनुष्य को चाहिए कि अपनी अन्तरात्मा के प्रति पूर्ण रूप से वफ़ादार रहे और कभी कभी दूसरों की अन्तरात्मा का ग़ुलाम न बने। दूसरों के मन और मस्तिष्क उसके व्यक्तित्व में समाविष्ट नहीं हैं। ये बाहरी चीज़ें हैं। उसकी अपनी चीज़ तो उसकी अन्तरात्मा ही है, उसका मार्गदर्शक तो उसकी अन्तरात्मा ही है। जब कभी दूसरों के मत से वह सहमत न हो सके तो यह समझ कर ही असहमत रहने के लिए उसे सहमत होना चाहिए कि उनमें और उसमें व्यक्तित्व की दृष्टि से विभिन्नता है। और जिसके व्यक्तित्व के भीतर का उसे पता नहीं है, जिसके सुख दुःख का उसे अनुभव नहीं है, जिसके गुणों और अवगुणों का उसे ठीक परिचय नहीं है। जिसके मनकी उमंगों और विचार धाराओं का उसे प्रत्यक्ष नहीं है, उसके कारण वह अपने व्यक्तित्व को क्यों नष्ट करे, अपनी अन्तरात्मा को क्यों पददलित करे? उसे यह सदैव याद रखना चाहिये अन्तरात्मा अपमानित होने पर विद्रोही बन जाया करती है, जिसके कारण मनुष्य कभी सुख की नींद नहीं सो सकती है, और यदि वह सहयोगी रहे तो उससे बड़ा मित्र, मार्ग-प्रदर्शक भी कोई नहीं है। वास्तव में इस जीवन में अन्तरात्मा ही मनुष्य का सर्वस्व है, वही उसका पिता माता, पति या पत्नी, पुत्र पुत्री, मित्र और पड़ोसी है, वही उसका अपनापन है और वही वह है। ऐसे साथी का अनादर करना निःसन्देह अपने को दूसरों का ग़ुलाम बनाकर अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देना है।

यह दुनिया न मालूम कब से है और कब तक रहेगी, अनादि अनंत है, अथवा कभी इसका जन्म हुआ था और कभी महाप्रलय में विलीन हो जायगी। ईश्वर है या नहीं, परलोक है या नहीं, स्वर्ग नर्क है या नहीं, मोक्ष है या नहीं, इन सब प्रश्नों को लेकर यह मनुष्य नाम का प्राणी बड़े बड़े दावे करता है सो करे, हम तो उससे यही कहना चाहते हैं कि अपने को ही सत्य का ठेकेदार न समझ, जो कुछ तेरा है, उसे ही सत्य मत मान, अपने विचारों को अपरिवर्तनीय न समझ, और सम्प्रदायवाद की चहारदीवारी से निकल कर अपने दिल और दिमाग़ को सभी तरह की ग़ुलामियों से आज़ाद कर के सब में अपने को और अपने में सब को देखने की उदार दृष्टि रखकर अपनी ज़िन्दगी के थोड़े से दिन सन्तोषपूर्वक बिता दे, इसी में तेरे जीवन की सार्थकता है।

अन्तर्ज्वाला

श्री सम्पतिराय भटनागर

यों ही न चली जायेगी, युग - युग की घोर तपस्या।
इन बलिदानों के बल से, हल होगी कठिन समस्या।
लाखों युवकों ने जिसमें, सर्वस्व भस्म कर डाला।
कुछ रंग नया लायेगी, भारत की अन्तर्ज्वाला॥

× × ×

जो देश - प्रेम मतवाले, आज़ादी के दीवाने।
बुनते हैं विषम दशा में, समता के ताने - बाने।
जलने में जो सुख पाते, जिनका तप - त्याग निराला।
उनको प्रकाश पहुंचाती, पग - पग पर अन्तर्ज्वाला॥

× × ×

धन - मद के प्याले पीकर, जो महलों में मदमाते।
पर - घर में आग लगाकर, हैं आप तापने जाते।
वे भी अब समझ सकेंगे, है पड़ा किसी से पाला।
अंगार लिये आती है, कुटियों से अन्तर्ज्वाला॥

× × ×

ये टैङ्क और ये तोपें, दिन रात आग बरसातीं।
विधि की सारी रचना को, जो भस्मीभूत बनातीं।
बमबर्षक करते रहते, इस बसुधा का मुंह काला।
सबको ठण्डा कर देगी, दुखियों की अन्तर्ज्वाला॥

× × ×

है हवन हो चुका पूरा, होताओं की आहुति भी।
विद्युत - सी दमक रही है, प्रज्वलित क्रान्ति की द्युति भी।
लो, अग्निदेव आते हैं, ले साम्य - सोम का प्याला।
सुख - शान्ति लिये आयेगी, दलितों की अन्तर्ज्वाला॥

राजा रवि वर्मा और उनकी चित्रकला

अध्यापक श्री शंकरदेव विद्यालंकार, साहित्यभूषण

उन्नीसवीं शती की चौथी पचीसी में भारत भूमि में जातीय जागरण और सांस्कृतिक समुत्थान की अनेक प्रवृत्तियां आरम्भ हुईं। उन दिनों हमारा राजनीतिक चैतन्य कांग्रेस द्वारा प्रस्फुटित हुआ। धार्मिक एवं सामाजिक सुधार की प्रक्रिया आर्य-समाज, ब्रह्म समाज आदि के द्वारा प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार साहित्य, संगीत, शिल्प और कला आदि के विषय में भी विविध प्रक्रियायें प्रबुद्ध हुईं। चित्र विद्या और शिल्प कला के विषय में उस समय जो नवीन प्रयास प्रारम्भ हुआ, उसके पुरष्कर्ता दो प्रतिभावान् कलाविद् थे—प्रथम श्री राजा रवि वर्मा और दूसरे शिल्पाचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर। इन दोनों कलाकारों ने दो धाराओं में अपना अपना कार्य प्रारम्भ किया। दोनों की शैलियाँ जुदी जुदी थीं। इस लघु लेख में प्रथम कलाविद् स्वर्गीय राजा रवि वर्मा के विषय में विचार किया जायगा।

प्राच्य कला के विशिष्ट मीमांसक डाक्टर आनन्द कुमार स्वामी तथा स्वर्गीय ई० बी० हावेल महोदय ने राजा रवि वर्मा की कला को पाश्चात्य चित्र-शैली का हलका अनुकरण और नाटकीय छाया वाली कह कर उसका योग्य सम्मान नहीं किया है। इन विश्रुत विवेचकों के विधान में थोड़ा सत्य का अंश अवश्य होगा, इतना मान कर भी हम को स्पष्टतया स्वीकार करना होगा कि राजा रवि वर्मा में एक कलाकार का प्रबल उत्साह और नवीन पथ प्रवर्तक की स्फूर्ति विद्यमान थी। कोई कलाकार हमारे अपने माने हुए आदर्शों और मन्तव्यों के अनुसार यदि हमको ठीक नहीं जँचता, तो उसे सर्वथा ही स्वीकार न करना उचित नहीं प्रतीत होता। सच्चे टीकाकार और समीक्षक का दृष्टिबिन्दु ऐसा नहीं होना चाहिए। सच्चा मीमांसक तो शिल्पकार या कलाकार की मानसिक रचना समझने का पहले प्रयत्न करता है। उसकी भावनाओं का हिस्सेदार बनता है। जिस उमंग और रसिकता के साथ चित्रकार चित्र बनाता है, उस उमंग और स्फूर्ति को वह अनुभव करता है और इस प्रकार संसार को उस कलाविद् का परिचय कराता है।

× × ×

सन् १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति—जिसे स्वातन्त्र्य-पुजारी वीरश्रेष्ठ सावरकर स्वातन्त्र्य सिद्धि की पहली सवारी कहते हैं—के पश्चात् भारत में किसी भी स्थान पर पहले की सी स्थिति नहीं रही थी। मुग़ल-साम्राज्य भूशायी हो चुका था। उसमें से बिखरे हुए छोटे मोटे देशी रजवाड़े कला-कारीगरी का पोषक होने का झूठा आडम्बर कर रहे थे। महाराष्ट्र-साम्राज्य के विधायकों ने भी कला के सुन्दर अवशेषों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। और इस प्रकार कलालक्ष्मी शोभाहीन और क्षीण हो गई! उसके बाद भारत में आँग्ल-सत्ता का उदय हुआ। उन दिनों सामान्य प्रजाजनों का ऐसा मत बन गया था कि अगरेज़ लोग जो कुछ करते हैं, वह अच्छा ही करते हैं और वह अनुकरणीय ही होता है। राजा लोग, नवाब और सेठ-साहूकार अपनी गृह-सज्जा और ठाठ यूरोपीय शैली पर सजाने लगे थे। राज्य प्रासादों का निर्माण, उपस्कर (फर्नीचर), पोशाक, रथ, वाहन आदि सभी वस्तुओं में शैलियों का मिश्रण शुरू हो गया था। जो राज्य इस प्रकार के परिवर्तन शीघ्रता से करे, वह सुधारप्रिय और संस्कारवान् माना जाता था। देश के बुद्धिमान् और विद्वान् लोगों की भी यही मनोवृत्ति हो गई थी। पुरानी प्रणालिकाओं पर आरूढ़ हिन्दू रायबहादुर और रायसाहब लोग कचहरियों में जाने के लिए कोट-पतलून का साज सजने लगे थे। भारत माता की कला-लक्ष्मी के नमूने रह गये थे केवल देव मंदिरों में और पर्वतों की कन्दराओं के अन्दर। महलों की

चित्रकारी शनैः शनैः मिटती जा रही थी। राजा-महाराजाओं की चित्र-पोथियाँ अंगरेज़, फ्रेंच, और जर्मन लोग जहाँ तहाँ से खोज-खोज कर हस्तगत कर रहे थे। दूसरी ओर इस देश के राजा और अमीर लोग यूरोपीय चित्रों और मूर्तियों से अपने महल और बंगले सजाने में दत्तचित्त थे। यहाँ के अखुट धन से यूरोप में चित्रकार और कलाकार विशेष प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त कर रहे थे। लोगों की यह धारणा बन गई थी कि इटली, फ्रांस, इङ्गलैण्ड और जर्मनी के सिवाय अन्यत्र कहीं चित्रकार हैं ही नहीं। परदेश से किसी कारीगर के यहाँ आने पर ये राजा, अमीर उमराव और श्रीमान् लोग ऊँची से ऊँची क़ीमत देकर अपनी तसवीर तैयार करने में गौरव समझते थे। इङ्गलिस्तान का कोई भी चित्रकार गवर्नर की चिट्ठी लेकर रजवाड़ों में घूमकर, दो वर्ष के बाद स्वदेश लौटने पर, नवाब बन जाता था। हमारी मातृभूमि में उन दिनों आत्मदैन्य की भावना साहित्य, कला और शिक्षा-दीक्षा आदि सभी क्षेत्रों में फैल रही थी। वह हमारे मानसिक अवसाद का ज़माना था। नए और पुराने के संघर्ष का युग था।

× × ×

ऐसे समय में ट्रावनकोर के राज महल में बालक रवि वर्मा ने चित्र बनाने का खिलवाड़ शुरू कर दिया था। राज परिवार का आत्मीय जन होने के कारण कुमार रवि वर्मा राज्यमहल में सर्वत्र छूट से भ्रमण कर सकता था। उन दिनों एक पुराना चितेरा राज-महल की भित्तियों पर चित्र बना रहा था। रवि वर्मा घण्टों तक उसकी कारीगरी को अनिमेष निहारता रहता था। ट्रावनकोर और मदुरा की ओर एक प्रकार की विशिष्ट चित्र शैली चालू थी, जिसके नमूने अभी तक उपलब्ध होते हैं। रवि वर्मा के चित्रों में इस शैली की छाया होती थी। बाद को उनकी तूलिका के प्रौढ़ हो जाने पर भी, उनके पात्रों में इस शैली की छाया दूर नहीं हुई। ट्रावनकोर की मूल चित्र शैली राजपूत और मुग़ल-शैली से सर्वथा निराली है। उसमें अधिकतया देवी देवताओं के ही चित्र हैं। इन चित्रों में अंकित मुकुटों, हाथ के आभूषणों, स्त्रियों की भृकुटियों, नासिकाओं, तथा ओठों की बनावट मदुरा के चित्रों से खूब मिलती जुलती हैं। रवि वर्मा यूरोपीय शैली से चित्र बनाने लगे, इससे पूर्व ही इस मदुरा शैली के आकार उनके मन पर अच्छा प्रभाव अंकित कर चुके थे। अपने कुमार-काल में रवि वर्मा देवताओं के चित्र बड़े कौशल के बना लेते थे और ट्रावनकोर नरेश की ओर से उनको बहुत प्रोत्साहन प्राप्त होता था। यह बात उक्त राजकीय चित्रकार को पसन्द नहीं थी। अतः जिस समय वह चित्रकारी करता था, उस समय रवि वर्मा को अपने से दूर रहने की युक्ति-प्रयुक्ति किया करता था।

× × ×

कुछ समय बाद एक इटालियन चित्रकार ट्रावन-कोर के राज्य दरबार में आया। उसने राज कुटुम्ब के चित्र तैलरंगों द्वारा, व्यक्तियों को सामने से निहार कर तैयार किए। कुमार रवि वर्मा को यह प्रक्रिया देखने का सुन्दर सुयोग प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं उसने अपने बनाये कितने ही चित्र इटालियन कला-विद् को दिखाए। उन्हें देख कर उक्त चित्रकार ने रवि वर्मा की प्रतिभा के लिए बहुत सुंदर उद्‌गार प्रकट किए। और साथ ही तैल चित्रकारी (Oil Paintry) की बहुत-सी बारीकियाँ रवि वर्मा को सिखाईं।

मनुष्य को निहार कर कारीगरी अधिकाधिक सादृश (तद्रूप) होती है और तैल के रंग अच्छा परिणाम लाते हैं—यह बात रवि वर्मा के मन में घर कर गई और इसी समय से वास्तव में उनका कृतित्व प्रारम्भ हुआ।

चित्र विद्या के प्रति रवि वर्मा के मन में अतिशय प्रेम था। अतः इटालियन चित्रकार के चले जाने पर भी उन्होंने खूब धैर्य और निष्ठा के साथ चित्रकला का अनुशीलन और अभ्यास चालू रखा। थोड़े समय के अन्दर ही वे सजीव पात्रों को निहार कर आबेहूब (तादृश) चित्र तैयार करने लगे। ट्रावनकोर नरेश ने उनको सब प्रकार की अनुकूलताएँ प्रदान कीं।

आत्मश्रद्धा और स्वपुरुषार्थ के बल पर चौबीस वर्ष की उगती उमर में उन्होंने मद्रास प्रांत की चित्र प्रदर्शनी में स्वर्ण पदक प्राप्त कर लिया। मनुष्य को निहार कर चित्र बनाना तो यूरोप के चित्रकारों को ही आता है—इस धारणा को रवि वर्मा ने असत्य सिद्ध कर दिया। उन्होंने मद्रास के गवर्नर तथा अन्य संभ्रान्त पुरुषों के चित्र तैयार किए। "कुएँ के किनारे खड़ी हुई सुन्दरी" नामक मनोहर चित्र रवि वर्मा ने चौबीस वर्ष की उगती जवानी में बनाया था। इस समय रवि वर्मा का नाम एक श्रेष्ठ चित्रकार के रूप में भारत भर में फैल चुका था। उन दिनों राजागण और अमीर लोग यूरोपीय चित्रों को मोल लेने के लिए मनमाना पैसा ख़र्च कर डालते थे। परदेशी प्रेम कथाओं और इतिहास-कथाओं के चित्रों से राजमहलों की दीवारें भरी हुई थीं। देशी कारीगरों की कुछ पूछ नहीं थी। उनका दरजा बहुत हलका माना जाता था।

× × ×

उन्हीं दिनों अमेरिका के शिकागो नगर में एक विश्व-प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। इस प्रदर्शनी के लिए रवि वर्मा ने पौराणिक कथाओं तथा हिन्दू-नारियों के बारह चित्र भेजे। इन चित्रों का वहाँ पर बड़ा सत्कार हुआ। उस समय के प्रवाह के अनुसार गायकवाड़ नरेश श्री सयाजीराव भी अपने महल के लिए यूरोपीय चित्रों पर खूब पैसे ख़र्च रहे थे। रवि वर्मा की कमनीय कृतियाँ उनके देखने में आईं और स्वदेश आते ही उन्होंने रवि वर्मा को बड़ोदा आने का आमन्त्रण दिया।

रवि वर्मा राज-निमन्त्रण को स्वीकार कर बड़ोदा पधारे। उस यात्रा में तैयार किए हुए उनके सोलह चित्र अभी तक बड़ोदा के राज-प्रासाद में विद्यमान हैं। इनमें "मत्स्यगंधा और शान्तनु" तथा "हरिश्चन्द्र" के चित्र बहुत बढ़िया हैं। बड़ोदा का काम समाप्त करके रवि वर्मा ने गुजरात-काठियावाड़ के राजाओं और श्रीमानों में परिभ्रमण किया। इस प्रवास में बनाई हुई कृतियां भी अभी तक यत्र तत्र विद्यमान हैं। भावनगर के राजमहल के लिए भी इस प्रवास में रवि वर्मा ने कई सरस रचनाएँ अपनी चतुर कूँची से तैयार कीं। यूरोपीय चित्रकार कितनी ही देशीय छायाओं को अवगत करने में निष्फल रहते थे। इस कार्य में रवि वर्मा ने बहुत कौशल दिखाया और इसलिए उनको अच्छी ख्याति प्राप्त हुई। भावनगर में रहकर बनाए हुए इनके चित्रों में स्वर्गीय गौरीशंकर उदयशंकर की तसवीर पात्रालेखन का सुन्दर नमूना है।

अभी तक रवि वर्मा सृष्टि के पास जो कुछ था उसको चित्रित करने में ही कुशलता प्राप्त कर सके थे। वस्तु-निर्माण में उनकी कल्पना वेगवती नहीं बन पाई थी। तो भी मानव-शरीरालेखन में उनकी कला-चातुरी स्पष्ट निहारी जा सकती थी। "विश्वामित्र और मेनका" का उनका बनाया चित्र इस बात का अच्छा नमूना है। इस धरती पर उपलब्ध होने वाले नर-नारियों के सिवाय इसमें दूसरा और कोई तत्व नहीं है, ऐसा कहकर इस चित्र को एक किनारे नहीं रख सकते। यद्यपि इस चित्र की रचना नाटकीय है, तथापि उसमें शक्य उच्च सामग्री का उपयोग हुआ है। विश्वामित्र के आलेखन के लिए जैसा तेजस्वी शरीर चाहिए, वैसा बनाने का खूब प्रयत्न किया गया है। ऐसे तपस्वी को दुनिया की तरफ़ आकृष्ट करने के लिए 'मेनका" के रूप-निर्माण में राजा रवि वर्मा शिथिल नहीं हुए।

× × ×

कहा जाता है कि राजा रवि वर्मा के चित्रों में ऊँची जीवन-भावनाएँ नहीं, कल्पना नहीं, प्रेरणा नहीं, और उत्साह नहीं। परन्तु जब हम "सीताभूमि प्रवेश" "राम समुद्र मंथन" आदि चित्रों को निहारते हैं, तब मालूम होता है कि उन्होंने कला के उच्च प्रदेशों में भी सिद्धि प्राप्त करनी आरम्भ की थी! जीवन के उत्तरार्ध में उनका ध्यान वस्तु-विधान पर ख़ूब गया था। "स्नान गृह में बेगम" आदि रचनाएँ तो ऐसी हैं कि उनके मुक़ाबले की कृतियां मिलना मुश्किल है। राजा रवि वर्मा की कला-

चातुरी का पूर्णस्वरूप हम लोग निहार नहीं सके हैं। बावन वर्ष की उमर में राजा रवि वर्मा ने स्वयं अपने उद्गार प्रकट किये थे कि—"कला के सच्चे स्वरूप के दर्शन तो मुझे अब होने लगे हैं, परन्तु अब जीवन-दीप बुझता हुआ प्रतीत होता है।" इस कलास्वामी की कला का आदर्श कैसा रहा होगा ? बड़ोदा-निवास के समय "अर्जुन-सुभद्रा" के चित्र की तैयारी शुरू की कि सायंकाल हो गया। दो दीपक मँगाकर काम चालू रखा। प्रातःकाल चार बजे संतोष-कारक रेखा विधान करने पर ही अपना आसन छोड़ा। ऐसा आग्रह, प्रेम और निष्ठा रखने वाले कलाकार की कला में कुछ तत्व नहीं ऐसा कहना, अन्याय करना होगा।

× × ×

सुन्दर और सुडौल शरीर के व्यक्तियों को देख कर रवि वर्मा किसी प्रकार से उनको सामने बिठा कर, शीघ्र रेखाएँ अंकित कर लेते थे। सम्भव हो तो पूरा चित्र तैयार कर लेते थे। "साधु" नामक उनका चित्र इसी प्रकार तैयार किया हुआ है।

रवि वर्मा भारतीय चित्रों को यूरोप के चित्रों जितनी ही कुशलता के साथ अंकित कर सकते हैं, यह देख कर साहसिक सेठ खटाऊ ने लोनावला में रवि वर्मा लीथो प्रेस स्थापित किया। छपाई के लिए दो जर्मन कारीगर नियुक्त किए गए। लगभग दस लाख रुपये की पूंजी से यह अनुष्ठान किया गया और राजा रवि-वर्मा के हस्ताक्षर वाले कलाचित्र भारतवर्ष में घर-घर पहुँच गए। जर्मन और इटालियन चित्रों की स्पर्धा में इन चित्रों ने अच्छी लोकप्रियता प्राप्त की। देश का पैसा परदेश जाने से रुक गया। इस दृष्टि से रविवर्मा की कृतियों का विजय भारतीय कारीगरी के इतिहास में अंकित होना चाहिए। करोड़ों मनुष्य इन चित्रों से घरों को सजा कर सुन्दर मनुष्य को देखना सीख सके होंगे। कला के आदर्शों पर समीक्षा करने वाला उन दिनों कोई नहीं था। किसी को इसका विचार भी नहीं आता था। जो नयनों को भाया, वह मन को भाया, यही अवस्था विद्यमान थी। अब तो जनता मनुष्य जीवन और कला के साथ उसके गाढ़ सम्बन्ध पर विचार करना सीख गई है।

चिन्ता का विषय तो यह है कि राजा रवि वर्मा के मूल चित्रों की तीन चौथाई खूबी उनके मुद्रित चित्रों में नहीं उतर सकी है तथा दूर प्रान्त के विद्वान् उनका मूल्यांकन करते हुए भूलें कर गए हैं।

राजा रवि वर्मा मानव चित्रकार थे। उनकी कला में "वस्तुविधान" का आकस्मिक योग हुआ। वह पूर्णतया विकसित हो सके उससे पूर्व ही उनका देह विलय हो गया। यदि वे दस वर्ष और जीवित रहते तो अपनी परिपक्व चित्रणा द्वारा भाव भरे चित्र बना-कर दिखा सकते। इतनी कमी होते हुए भी भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजा रवि वर्मा अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और सादृशालेखन में वे पाश्चात्य चितेरों जितनी ही पटुता रखते थे यह तो सर्वमान्य ही है।

इस लेख को तैयार करने में मुझे अपने मान्य चित्र-कार मित्र श्रीयुत रविशंकर रावल से बहुत सहायता मिली है। उनके इस स्नेहमधुर सौजन्य के लिए अनुगृहीत हूँ।—लेखक

नये संसार का राजनैतिक तथा आर्थिक आधार

श्री रवीन्द्रनाथ सान्याल

संसार एक नई दुनिया की प्रसव-वेदना से पीड़ित है। हम लोग जो इस युग से सम्बंधित हैं, घटनाओं के इतने सन्निकट हैं कि उन शक्तियों का ठीक-ठीक अनुमान नहीं कर सकते, जो इस समय काम कर रही हैं। किन्तु एक बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह युद्ध पहले के और सब युद्धों से अधिक भयानक और विनाशकारी है। इसका अंतिम निर्णय युद्धस्थल में नहीं होगा। संसार के सम्मुख जो समस्यायें हैं, वह युद्ध में नहीं बल्कि उसके पश्चात् हल होंगी। यह एक विश्वव्यापी और सामूहिक युद्ध है, जिसमें जाति, वर्ण, वर्ग, शान्तिप्रिय प्रजा और युद्ध में लिप्त सैनिकों में कोई अन्तर नहीं। यह केवल कुछ राजनीतिज्ञों के वश की बात नहीं है कि वे बैठ कर इस युद्ध के भाग्य का निर्णय कर दें, यह सारे भूखण्ड पर फैला हुआ युद्ध है। नया संसार, जो इस युद्ध के फलस्वरूप बनेगा, वह आधुनिक संसार से सर्वथा भिन्न होगा।

विद्यार्थी की हैसियत से हमारा यह कर्तव्य है कि हम संसार के पुनःनिर्माण और संगठन में अपना तुच्छ भाग लेने के लिए तय्यार रहें। हमें इस प्रश्न के मूल तत्व पर विचार करना है। परन्तु हमें एक बात का ध्यान रखना होगा। राजनीति और अर्थशास्त्र के जो नियम और सिद्धान्त हमारे विश्वविद्यालयों में प्रचलित हैं और जिनका हम अध्ययन करते हैं, वे इस कार्य के लिए उतने उपयोगी नहीं हैं; क्योंकि इन सिद्धान्तों का निर्माण उस समय हुआ था जब कि अवस्था आज से बिलकुल भिन्न थी।

१९ वीं शताब्दी में, विशेषतः इङ्गलैण्ड में राज्य को बार-बार इस बात की चेतावनी दी जाती थी कि वह आर्थिक क्षेत्र में जहां तक हो सके कम से कम हस्तक्षेप करे। राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों के भिन्न भिन्न नियम थे और इस बात की चेष्टा की जाती थी कि ऐसे अवसर नहीं के बराबर होने चाहिए जबकि राजनीति आर्थिक स्वतन्त्रता का अपहरण करे।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इस सिद्धान्त को लोगों ने मान ही लिया। हर वर्ग के साम्यवादियों ने, जिनमें फ्रांस के साइमन, इङ्गलैण्ड के ओमेन, मार्क्स और लेनिन इत्यादि का नाम विशेष उल्लेखनीय है, इसकी कड़ी आलोचना की। साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के नायकों ने भी इसका खण्डन किया। जान स्टुअर्ट मिल और मार्शल ने भी इसके विरुद्ध अपना मत प्रकट किया। लेकिन यह सब होते हुए भी १९ वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में इसी सिद्धांत का बोलबाला था।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रचलित आर्थिक सिद्धान्त केवल उसी हद तक राज्य के हस्तक्षेप की आज्ञा देता है, जिससे Private Property सुरक्षित रहे और Free Competition में कोई बाधा न पहुँचे।

इसके विपरीत, राजनीति में भी आधुनिक काल के आरम्भ से ही तीन मुख्य सिद्धान्तों में बड़ा भेद है।

(१) जिन्होंने राजनीति का आधार मनुष्य के स्वत्वों और अधिकारों पर रक्खा है।

(२) जिनका सिद्धान्त उपयोगिता पर निर्भर है।

(३) जो आदर्शवादी हैं।

पहले सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि मनुष्य के कुछ मुख्य अधिकार और स्वत्व हैं और राज का काम उन्हीं की रक्षा करना है। इसके विरुद्ध शेष दोनों दल का विचार है कि अधिकारों और स्वत्वों की बात एक मूर्खता है। राज्य का संचालन इस उद्देश्य से और इस प्रकार होना चाहिए कि अधिकतम जनता को अधिकतम लाभ मिल सके। यद्यपि

सिद्धान्त के विचार से इन दोनों दलों में भी बड़ा मतभेद है। परन्तु क्रियात्मक रूप से दोनों का उद्देश्य विशेष अधिकारों और ख़ास फ़ायदों का विरोध करना है।

आदर्शवादी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि राज का उद्देश्य समाज की उन्नति है। इसका मूल सिद्धान्त है कि व्यक्तिगत हित राज्य के लिए न्योछावर कर देना चाहिए। मनुष्य का कोई व्यक्तित्व नहीं है। उसे समाज के लिए मरना और जीना सीखना चाहिए। साम्यवादी राज्य का संगठन इस प्रकार करना चाहते हैं कि इसका हर एक सदस्य राज्य के नियंत्रण में पूर्णतः रहे।

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्य क्रांति अथवा विकास द्वारा राज्य का ढांचा बदल सकता है और इस प्रकार सारे राजनैतिक सम्बन्ध को फिर से स्थापित कर सकता है। परन्तु प्रायः यह कहा जाता है कि आर्थिक नियमों को बदलना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। यह बात ठीक नहीं है। उन आर्थिक नियमों को जो किसी आर्थिक पद्धति में प्रचलित होते हैं, यह पद्धति स्वयं बदल सकती है। अस्तु, यह बात सत्य है कि राज का विधान सरकार द्वारा निश्चित किया जाता है और आर्थिक नियम राजनीति द्वारा स्थापित नहीं वरन् निर्धारित किए जाते हैं।

एक वर्ग का यह कहना कि मनुष्य के कुछ स्थायी राजनैतिक अधिकार होते हैं, ठीक नहीं। क्योंकि स्थायी शब्द ही भ्रमात्मक है। अधिकार का अर्थ उन स्वत्वों से है, जो एक परिवर्तनशील समाज के लिए उपयुक्त हैं। अधिकार सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर होता है।

अर्थशास्त्र में भी हम इसी प्रकार की भूल करते हैं जब हम जगतव्यापी नियम स्थापित करने की चेष्टा करते हैं और इस बात को मान लेते हैं कि ये नियम सर्वमान्य हैं और प्रत्येक दशा में लागू होंगे।

अर्थशास्त्र का अधिकार से कोई सम्बन्ध नहीं है। अधिकार का निर्णय करना नीति शास्त्र (Ethics) का काम है।

राजनीति और अर्थशास्त्र के परस्पर सम्बन्ध पर यथोचित रूप से प्रकाश डालने वाला सर्व प्रथम लेखक हेगिल (Hegel) था, जिसे हम एक प्रकार से मार्क्सवाद (Marxism) का सौतेला पिता और फ़ैसिस्टवाद का जन्मदाता कह सकते हैं। हेगिल के अनुसार समाज का विकास और उत्थान मनुष्य के आर्थिक सहयोग और सम्बन्ध पर निर्भर है। समाज में वर्गवाद का जन्म आर्थिक सहयोग से होता है। परन्तु हमें भूलना न चाहिये कि हेगिल का वर्गीकरण मार्क्स के वर्गीकरण से सर्वथा भिन्न है। हेगिल ने समाज को तीन भागों में विभाजित किया है—(१) कृषक वर्ग (२) व्यवसायी वर्ग और (३) शासक वर्ग। दूसरे वर्ग को उसने तीन भागों में बांटा है (१) शिल्पकार (२) Manufacturer (३) व्यवसायी। यह बात प्रत्यक्ष है कि हेगिल ने समाज का विभाजन सामूहिक कार्य पर किया है। इसलिये उसके विभाजन में वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) का कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक वर्ग राष्ट्र की एक विशेष सेवा करता है। किसी वर्ग का दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा या द्वेष नहीं है। हेगिल ने पूंजीवाद और मज़दूरों में कोई भेद नहीं रक्खा है। मार्क्स के समान हेगिल के वर्गों में श्रेणी-संघर्ष की कोई सम्भावना नहीं।

मार्क्स का सिद्धान्त आर्थिक और राजनैतिक दोनों दृष्टिकोण से विचारणीय है। यह हेगिल के सिद्धान्त से समानता रखते हुए भी सर्वथा भिन्न है; दोनों का सिद्धान्त यद्यपि विकासवाद पर निर्भर है परन्तु मार्क्स के वर्गों में आपस में घोर संघर्ष, कलह और प्रतिस्पर्द्धा है। हेगिल के समान मार्क्स कभी नहीं कहता कि मनुष्य के कुछ ऐसे स्वत्व हैं जो कभी नहीं बदल सकते।

वास्तविक बात यह है कि राज का ढांचा आर्थिक अवस्था पर बहुत कुछ निर्भर होता है। जब एक बार राज का निर्माण हो गया, तो वह परिवर्तन को संदेहात्मक दृष्टि से देखता है; क्योंकि इससे उसके हितों पर आघात पहुँचाता है। इसलिए राज्य का परिवर्तन उत्पत्ति के साधनों के अनुसार धीरे-धीरे नहीं होता

वरन् एकाएक होता है। क्रांति, जो संचित शक्तियों के फलस्वरूप प्रकट होती है, राज को बदल देती है।

अस्तु, यह बात प्रत्यक्ष है कि इतिहास में परिवर्तन स्वतः नहीं होता, बल्कि यह परिवर्तन मनुष्य के निरन्तर उद्योग का फल होता है। संसार के परिवर्तन करने में मनुष्य का बहुत बड़ा हाथ होता है।

अब हमारे पाठकों को यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि अर्थशास्त्र और राजनीति दोनों को अलग नहीं रक्खा जा सकता।

प्रचलित आर्थिक पद्धति का आधार exchange economy है; परन्तु आगामी आर्थिक जीवन का आधार सम्पूर्ण सामूहिक जीवन होगा।

संसार में जो नई विचार-धारा प्रवाहित हो रही है, उसके लिए हमें प्रस्तुत रहना चाहिये। युद्ध के पूर्व का संसार अपनी अन्तिम सांस ले रहा है। आधुनिक सभ्यता का सुन्दर भवन अब भी उसी शान से खड़ा है। परन्तु इसकी जड़ें हिल चुकी हैं। अब एक नये युग का निर्माण होगा, जिसका आधार व्यक्तिगत स्वार्थ पर कदापि नहीं रक्खा जा सकता। बली निर्बलों का शोषण न कर सकेंगे। हमें समाज के सामूहिक जीवन, सामूहिक हित को देखना पड़ेगा। संसार में जो साधन और शक्ति प्राप्य है, उसका उपयोग ग़रीबी को दूर करने, बीमारी को हटाने और मनुष्य मात्र का जीवन सुखी बनाने में करना पड़ेगा। व्यक्तिगत स्वार्थ को मानव-हित और समाज की रक्षा के लिये तिलाञ्जलि देना होगा।

नभ-वाणी

श्री भगवतीप्रसाद चन्दोला, एम० ए०

आज गरजता मेघ शून्य में,
मुखरित फिर नभ की वाणी—
"आपन आपन मेड़ संभारो
बह्यो जात है पानी।"

झूला डाल ग्राम - बालाएँ
गाती हैं मिल वर्षा - मंगल,
उधर दिहाती युवक जोड़ते
डू - डू आदि खेल के दंगल।

रोमांचित तृण - दल, हर्षित कण,
प्रमुदित तप्त - पिपासित धरणी,
केका - नर्त्तन - चंचल - बन - थल,
भरे पाल तिरती है तरणी।

वह केका - दल, कृषक - लली,
वह ग्राम - वधू औ' ग्राम-युवक,
सब समझ रहे—क्या समझ रहे
नभ की वाणी का मर्म सुभग!

कृषक - लली टकटकी लगाए
देख रही नभ का परिवर्त्तन,
मेघों की द्रुत उमड़ - घुमड़ वह
औ' चपला का चंचल नर्त्तन।

आज गरजता मेघ शून्य में,
मुखरित फिर नभ की वाणी—
"आपन आपन मेड़ सँभारो
बह्यो जात है पानी।"

वर्तमान महायुद्ध के कुछ रहस्य

श्री विजय वर्मा

पोलेंड उन देशों में था जो तैयार न होने पर भी अपने को तैयार समझते हैं, समर्थ न होने पर भी अपने को समर्थ समझते हैं और असहाय होने पर भी अपने को साथियों से सुदृढ़ मानते हैं। जरमन राजनीतिज्ञों को उसकी इन सभी कमज़ोरियों का पता था। वे जानते थे कि आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से और नये ढङ्ग की लड़ाई से अभी पोलेंड कितना दूर है। पूर्वी यूरप के प्रारम्भिक युद्ध क्षेत्र में ही जरमनी अपने नवीन शस्त्रों के प्रभाव की परीक्षा करना चाहता था। युद्ध की सब बातों पर उन्होंने विस्तारपूर्वक विचार कर लिया था। अपनी योजनायें अच्छी तरह तैयार कर ली थीं। मशीन की तरह काम करना भर शेष रह गया था।

पिल्सुडस्की का पोलेंड के निर्माण में काफ़ी हाथ था। खेद की बात है कि पोलेंड के राष्ट्रीय और सैनिक पतन की ज़िम्मेवारी भी उसी के मत्थे पड़ी। विदेशों के मामले में बेक और सैनिक मामले में रीग स्मिग्ली (Rydg-Smigly) इस पतन की ओर और भी शीघ्रता से पोलेंड को ले गये। पोलेंड नितांत अकेला पड़ गया। १९३४ के जनवरी में जरमनी और पोलेंड में जो समझौता हुआ था उसके अनुसार जरमनी अपने को सशस्त्र कर सकता था और वह ऐसा करता गया। अगर पिल्सुडस्की और बेक ने फ्रांस को अपना साथी बना लिया होता तो पोलेंड जरमनी के आक्रमण के समय ऐसा असहाय न होता। किन्तु पोलेंड तो ज़ीकोस्लोवाकिया को भी अपना साथी न रख सका। उसने ज़ीकोस्लोवाकिया को धोखा दिया। फलतः जरमनी का ऐसे स्थान पर प्रभुत्व हो गया जो दक्षिण पोलेंड पर विजय पाने के लिए विशेष महत्वपूर्ण थी।

१९३९ के ग्रीष्म काल में सोवियट की उन शर्तों को मानने से पोलेंड ने इनकार कर दिया जो उसकी रक्षा के लिए आवश्यक थीं। इसके साथ ही उसने पूर्वी यूरप की किसी बड़ी शक्ति द्वारा अपने बचाये जाने का अन्तिम अवसर खो दिया।

अगर ज़ीकोस्लोवाकिया और सोवियट संघ सहायक बने रहते तो पोलेंड अपने पश्चिमी प्रदेशों को—कोरिडर पोसेन और उत्तरी सिलीसिया को—स्वयं आक्रमण करने के लिए बहुत अच्छे स्थान बना सकता। किन्तु अपने सहायकों से अलग हो जाने पर ये ही स्थान उसके लिए ख़तरे के हो गये। उसने फिर भी इनका लड़ाई के लिए उपयोग करने का प्रयत्न किया। इससे उसकी हार निकटतर आ गई।

रीग-स्मिग्ली (Rydg-Smigly) को पोलेंड की रक्षा के लिए क़िलेबन्द पंक्तियों की आवश्यकता ही न जान पड़ी थी! उन्होंने जनरल गेमलिन (Gamelin) से ऐसा स्पष्टतः कह दिया था। वे समझते थे कि नेपोलियन की भांति वे अपनी फ़ौज़ों से तीव्र गति से आक्रमण करा सकते हैं। उन्हें अपनी साधारण फ़ौज की कार्य शक्ति का ठीक अन्दाज़ न था। वे शत्रु की युद्ध-कला की श्रेष्ठता को भी न समझ पाये थे।

जुलाई १९३९ में पोलेंड के प्रचार विभाग ने एक पुस्तिका में जिसका स्कैन्डीनेविया में वितरण किया गया था, कहा था—'अगर जरमनी का पोलेंड पर आक्रमण हुआ तो पोलेंड इसका उत्तर देने को समर्थ होगा। वह पूर्वी प्रशा पर जवाबी हमला करेगा और पोसेन से जरमनी पर आक्रमण कर देगा।' सच तो यह है कि जरमनी ने पोलेंड की फ़ौजी गति-विधि से उसकी रण-योजना अच्छी तरह समझ ली थी। १९३९ के ग्रीष्मकाल से पोलेंड की फ़ौजें जरमनी की चौहद्दी पर रखी गईं थीं। उनका सब से दृढ़ भाग वारसा के उत्तर यानी पोसेन (Posen) और कोरिडर के एक विशेष क्षेत्र में था।

ये दोनों स्थान जरमनी के घेरे में आ सकते थे। कोरिडर और पोसेन में सेनायें रख कर पोलैंड जरमनी का विरोध सिलीशिया में करना चाहता था, डैनज़िग को ले लेना चाहता था और पूर्वी प्रशा पर आक्रमण करना चाहता था। लड़ाई की इससे बुरी योजना कठिनाई से बनाई जा सकती थी। इसमें जरमनी की आक्रमणकारी शक्ति की भयंकरता का कुछ ख़्याल ही न किया गया था, और यह पोलैंड की फ़ौजों से ऐसे कामों की आशा रखती थी जो उनके साधनों की कमी के कारण उनके लिए किसी तरह सम्भव न था। रक्षा की पंक्ति को छोटी रख कर अपना बचाव किया जा सकता था। पर इस ओर उनका ध्यान न था।

फ्रांस के एक सैनिकलेखक ने लिखा था—पोल लोगों को चाहिए था कि अपनी रक्षा के स्थान विसचुला, बग और सान नदियों के किनारे बनाते। ये ही स्थान उसके लिए स्वाभाविक रक्षा के स्थान थे। इसके विरुद्ध रीग स्मिगली ने ऐसी युद्ध-पंक्ति बनाई जो जरमनी के गोलों की आग की पहुंच के भीतर थी और जरमनी के शक्तिशाली पैन्ज़र विभागों का शिकार बन सकती थी। इस तरह पोलैंड ने अपने को जरमनी की फ़ौजों के जाल में फँसा दिया। जनरल ब्राचिस (Brauchitsch) ने मौक़ा देखा और पोलैंड पर केवल आक्रमण ही नहीं किया बल्कि उस आक्रमण को एक महान विजय में परिणत कर दिया।

सैनिक विज्ञान के एक प्रमाणिक जरमन लेखक, जनरल वीज़ेल (Wetzell) ने, जो पिछले महायुद्ध के समय लूडेन डोर्फ के नीचे प्रधान अधिकारी थे और इस समय एक सैनिक पत्र के प्रधान सम्पादक थे, लिखा था—पोल लोगों के पास फ़ौजों की जितनी संख्या थी उसके हिसाब से कहीं अधिक पंक्तियां उन्होंने बना लीं। जरमनी की सेना अधिक होने से और उसके आज कल के युद्ध-विज्ञान में दक्ष होने से पोल लोगों को इस बुरी तरह परास्त कर सकी कि हाल के सैनिक इतिहास में इसकी मिसाल नहीं मिलती।'

जनरल नीसेल (Niessel) का कहना है कि पोल सेना ने मित्रदल से हवाई और समुद्री सेनाओं की सहायता पाने का पूरा भरोसा किया था, किन्तु वे उसी प्रकार भ्रम में थे जैसे मित्रदल के लोग उनकी विरोधिनी शक्ति की अत्यधिक सम्भावनाओं के बारे में। १९३९ के ग्रीष्मकाल तक जनरल गेमीलिन ने लन्दन में पोल सेना की प्रशंसा के गीत गाये थे!

जरमनी की पाँच सेनाओं ने पहली सितम्बर १९३९ को पोलैंड पर आक्रमण किया। ये तीसरी चौथी, आठवीं, दसवीं और चौदहवीं नम्बर की सेनायें थीं। इनमें पैंतालीस पैदल दल थे, पाँच पैंज़र दल, चार हलके मशीन वाले, छः मोटर वाले और दो ऐसे हवाई दल जिनमें तेइस सौ लड़ाई के जहाज़ थे। तूफ़ानी दल का एक विशेष भाग था। जरमनी की इस तीसरी पार्लियामेण्ट (Third Reitch) का युद्ध का ढंग कैसा भयानक था और कैसा वैज्ञानिक था इस सब का पता इसी से लगाया जा सकता है।

जब लड़ाई शुरू हुई तब तक पोलैंड के लोग अपनी सेनायें ठीक तरह सुसज्जित न कर सके थे और न सब लोगों को तैयार कर सके थे! लड़ाई शुरू हो जाने पर तो इसमें अपने आप रुकावट पड़ गई। पहली सितम्बर को पोल सेना में चालीस से लेकर पैंतालीस तक पैदल दल थे। इनमें से कुछ दलों में पूरे आदमी न थे! दस घुड़सवार दल थे और मशीनरी से सुसज्जित केवल एक दल। अगर इन्हें पूरी तरह तैयारी का अवसर मिल जाता तब भी पोलैंड की फ़ौज की विरोधिनी शक्ति विशेष न बढ़ सकती। यह सम्भव न था कि वे आधुनिक शस्त्रों की कमी की कमज़ोरी को किसी तरह पूरा कर लेते। अतः और अधिक सेनायें होने पर केवल क़ैदियों की संख्या और अधिक हो जाती। केवल पैदल सेनाओं की तुलना का इस समय कुछ अर्थ नहीं होता। जरमनी की गोलेबारी की और मशीन की शक्ति भयंकर और कहीं बढ़ी चढ़ी थी।

जरमनी की रण-योजना यह थी कि पोल सेना को अपने घेरे में डाल कर वारसा (Warsaw) बिलकुल तहस नहस कर दिया जाय। वारसा के पश्चिम में पोसेन और कोरिडर में जो पोल सेना थी उसे घेर कर उसे भी वे नष्ट कर डालना चाहते थे। पोलैंड की सीमा से बगर नदी तक क़रीब तीन सौ मील की गहराई की औसत से जरमन सेनायें काम करना चाहती थीं।

चार मंज़िलों में लड़ाई लड़ी गई और समाप्त कर दी गई। पहली सितम्बर से चार सितम्बर तक सीमा पर लड़ाई हुई। यह पहली मंज़िल थी। इसमें बचाव के स्थानों की पोल सेनाओं को चकनाचूर कर दिया गया। जरमनी के तूफ़ानी दल, पैंज़र और हलके दल एक साथ दौड़ पड़े और वे पोल सेनाओं के संगठन को तोड़ फोड़ कर उन्हें पीछे हटाते गये। पहली सितम्बर को ही जरमनी के उन सैनिक हवाई जहाज़ों ने जो लुतवाफ़ा (Luft waffe) के नाम से प्रसिद्ध हैं पोलैंड के हवाई जहाज़ों के क्षेत्रों और अड्डों पर ऐसा तेज़ धावा किया कि पोलैंड की हवाई जहाज़ों की शक्ति बहुत कुछ नष्ट होगई और जरमनी को हवाई श्रेष्ठता प्राप्त हो गई। पोलैण्ड की कोरिडर सेना काट दी गई। जरमनी की चौथी सेना ने, जो पोमरैनिया में थी, अपना सम्बन्ध जरमनी की तीसरी सेना, से जो पूर्वी पुशा में थी, जोड़ लिया। पोमरैनिया वाली जरमन सेना के सेनापति जनरल वान् क्लूग (General von Kluge) थे और पूर्व की सेना जनरल कूशलर (General Kuichler) के अधीन थी।

९ सितम्बर तक जरमनी की आठवीं सेना वारसा (Warsaw) के निकट पहुँच गयी। इसी दिन जरमन की दसवीं सेना के साथ, उसी के एक भाग की तरह काम करने वाली 'पैन्ज़र' सेना विस्चुला नदी के तट, रैडम के दक्षिण में, सैन्डोमीज़ (Sandomyz) के क़रीब जा पहुंची। चौदहवीं सेना का तूफ़ानी भाग गैलीशिया में सान नदी की पंक्ति तक बढ़ गया।

लड़ाई के पहले दस दिनों में सेना का अग्र भाग १२५ से १७५ मील तक चला गया। इसी समय जरमनी की तीसरी सेना जो पूर्वी प्रशा से चली थी वारसा के उत्तर-पूर्व में आ गई। इस तरह चारों ओर से घेरा डालने के साधन आ जुड़े। उत्तर से वह बड़ा घेरा आ रहा था जो वारसा के पीछे से पोल लोगों को फँसा लेना चाहता था। उत्तर और दक्षिण से उन सब स्थानों पर घेरा डालने का प्रयत्न हुआ था जो कूनो (Kutno) के पास, ज़ूरा (Bsura) के तट पर, वारसा और पोसेन के बीच में थे। १० सितम्बर तक इस प्रयत्न में ऐसी सफलता मिल चुकी थी कि यह बीच की जगह उस बोरे के समान हो रही थी जो बराबर सिकुड़ता जाता हो। पोल सेनाओं का गला फँस गया। दक्षिण की तरफ़ से एक घेरा उस त्रिभुज की ओर था जो ब्रेस्ट-वारसा-लबजिन से बना था।

जरमन 'लुत्वाफ़ा' (विशेष हवाई सेना) का भी इस बीच बराबर उपयोग किया जा रहा था। २ से ६ सितम्बर के बीच में इसने पोल सेना के लौटने और सामान पाने के साधनों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। लोव ब्रेष्ट-ग्रोडनो के पश्चिम की रेलवे पर बम्ब फेंक कर उन्हें भी तोड़-फोड़ दिया गया था जिससे पोल सेनायें इकट्ठी नहीं हो सकती थीं। जब पोल सेनायें पूरी तेज़ी से पीछे भागीं तब उन्होंने सड़कें नष्ट की हुई पायीं।

'लुत्वाफ़ा' ने पोलैण्ड की लौटती हुई सेनाओं को ऐसे टुकड़ों में बाँट दिया जो आपस में मिल न पावें और 'पैंज़र' सेनाओं ने इस काम को और भी पूरा कर दिया। इससे पोल सेनाओं का संगठित रूप से युद्ध करना असम्भव हो गया।

लड़ाई के पहले ही, जब यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि पोलैण्ड को पहले जरमनी से लड़ना पड़ेगा या सोवियत् संघ से, एक लेखक ने यह लिख दिया था कि फ़ौलादी सेनाओं (Tank divisions) के सामने पोल सेना खड़ी नहीं रह सकती।

दस सितम्बर तक यह स्पष्ट हो गया कि पोल सेना विसचुला-सान के किनारे अपनी रक्षा पंक्ति अब स्थापित नहीं कर सकती।

इसके बाद अन्तिम सप्ताह आया। यह ग्यारह से अठारह सितम्बर तक रहा। इसमें लड़ाई का तीसरा दौर दिखाई दिया जो अन्तिम प्रमाणित हुआ। इसमें पोल सेना की बरबादी पूर्णता को पहुंच गई। इसके पहले ही जर्मन सेनायें आपस में इस तरह मिल गई थीं कि भिन्न भिन्न दिशाओं से बची खुची पोल सेना को घेर सकें। तीसरी, चौथी और आठवीं जरमन सेनायें जूरा (Bsura) के तट पर वारसा के पश्चिम में आपस में मिल गईं। यहीं पर पोलैंड की कोरिडर (Coridor) सेना, पौसेन की सारी सेना और सिलीशिया की सेना का कुछ भाग घेर लिया गया। इनमें नौ पूरे डिवीज़न थे और बाक़ी दस डिवीज़नों के भाग थे। पोल सेनाओं ने असाधारण साहस के साथ लड़ाई लड़ी। कहीं कहीं, विशेषकर लेन्ज़ीका (Lencigyca) में उन्होंने स्वयं आक्रमण किया। जरमनी को हवाई सेनायें भेजनी पड़ीं। पोल लोगों के पास अब, ऐसी लाभदायक सेना न थी। केवल एक हफ़्ते की लड़ाई में पोल सेना परास्त हो गई और जरमनों ने एक लाख सत्तर हज़ार पोल सैनिकों को बन्दी बना लिया। इसी बीच जरमन की दसवीं सेना रैडम में पाँच पोल सेनाओं (Divisions) को घेर कर साठ हज़ार लोगों को क़ैदी बना चुकी थीं। पोलैण्ड के मध्य और दक्षिण भागों में जरमन की पैन्ज़र सेनाओं ने विशेष हानि पहुँचाई। एक जनरल ने लिखा था—पोलैण्ड की आठ या नौ डिवीज़न सेनायें बग और विसचुला के बीच में घिर गईं। जरमनी के दो या तीन पैन्ज़र डिवीज़नों के कारण उसे बहुत अधिक शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाना पड़ा। वे असंगठित हो गयीं और फिर अपने आप को निश्चित स्थानों पर संगठित न कर पाईं।'

'लुत्वाफ़ा' का भी सब जगह इस्तैमाल किया गया। वारसा और मोडलिन के बीच का स्थान तीसरी जरमन सेना के द्वारा उत्तर पूर्व से घेरा गया। सत्रह सितम्बर को ब्रेस्ट (Brest) के चालीस मील दक्षिण ब्लेडोवा (Bladova) स्थान पर तीसरी (पूर्वी प्रशा की) और दसवीं (सिलीशिया की) सेनाओं के पैन्ज़र विभाग जो देख भाल के लिए नियुक्त थे, आपस में मिल गये। इनके ज़रिए बग नदी पर पोल सेना बिना किसी बचाव की आशा के घेर ली गई।

पूर्वी प्रशा से जनरल गुडेयन (Gudeion) की अध्यक्षता में एक तूफ़ानी फ़ौज चली। यह चौथी सेना पोमेरैनिया (Pomerania) की सेना के एक भाग की तरह आगे बढ़ती गई। कोरिडर पार करके पूर्वी प्रशा होते हुए तीसरी सेना यानी पूर्वी प्रशा वाली सेना के साथ यह मिल गई। नरीव (Nariv) से बील्स्क (Bielsk) और ब्रेस के मैदान में इसने काम किया। दो सप्ताहों में ही इसने साढ़े तीन सौ से चार सौ मील तक की यात्रा की!

अठारह सितम्बर के बाद मुख्य लड़ाई समाप्त हो गई। अब इधर उधर की कुछ सेनाओं को बरबाद कर देना भर बाक़ी रह गया। विरोध के ये क्षेत्र दूसरों से सर्वथा अलग थे, जैसे वारसा और मोडलिन के बीच का स्थान, वारसा, ब्रेस्ट, और लबीलन त्रिभुज के स्थान, ब्रेस्टरप्लीट का क़िला, डीनिया (Gdynia) और हेला।

इन क्षेत्रों में भी, बावजूद इसके कि जरमन सेनायें रण-कौशल में कहीं बढ़ी चढ़ी थीं, उन्हें कई ख़तरों का सामना करना पड़ा। ९ सितम्बर को वारसा के सामने जरमनों का एक पैन्ज़र डिवीज़न मार भगाया गया। बारूद की कमी से उसे भागते हुए गहरे ख़तरे का सामना करना पड़ा। एक और जरमन पैन्ज़र डिवीज़न पर पियेट्र्को (Piotrkou) में पोलैण्ड के एक पैदल डिवीज़न ने बहादुरी के साथ हमला किया। और वह बहुत कठिनाई से अपने को बचा सका।

अंगरेज़ों के सैनिक आलोचक लेफ़्टीनेन्ट कर्नल बर्न (Burne) ने यह ठीक कहा था कि जरमन सेनाओं के बीच में इतना अधिक स्थान रहता था कि

पोल सेनायें आक्रमण कर सकती थीं किन्तु पोल सेनाओं के पास आजकल के टैंक-प्रतिरोधक और हवाई जहाज़ों की मार के प्रतिरोधक थे ही नहीं। उनके पास प्रत्याक्रमण करने के लिए आधुनिक अस्त्र शस्त्र भी न थे। उनकी हवाई शक्ति कुल पाँच सौ से छः सौ हवाई जहाज़ों की थी जब कि आक्रमण करनेवाली जरमन सेना के पास तेइस सौ हवाई जहाज़ थे। पोल सेना के इन हवाई जहाज़ों में से अधिकांश का खात्मा भी लड़ाई के प्रारम्भ में ही कर दिया गया था। उनकी आधुनिक यन्त्रों से सुसज्जित एकमात्र सेना को जरमनी के पाँच 'पैन्ज़र' डिवीज़नों और चार हल्के यन्त्रों के डिवीज़नों का सामना करना पड़ा।

अगर पोल-सेना आधुनिक यन्त्रों और अस्त्रों से सुसज्जित होती और उसे ज़ीकोस्लावाकिया और सोवियत् संघ का सहयोग प्राप्त होता तो वह प्रथम श्रेणी की सेना प्रमाणित हुई होती। उसकी वीरता में सन्देह नहीं हो सकता। स्लाव जाति के सिपाही के सारे गुण उसमें थे। उसकी ऐसी हार इतिहास की एक विशेष घटना है, जिससे सभी देश बहुत कुछ सीख सकते हैं।

जीवन - गीत

श्री सुबोध अग्रवाल एम० ए०, बी० टी०

प्राण की संगीत - लहरी

साँस के दो तार जग के
वाद्य पट झंकृत निरंतर
काल सुख - दुख में विभाजित
हास्य - रोदन राग सुन्दर
सफल जीवन औ' मरण के
मध्य की ध्वनि - तान गहरी—प्राण की संगीत लहरी।

सजग कर आकाश - पृथ्वी
थपकियाँ देता प्रभंजन
ताल पर, लय पर थिरकता
प्रकृति के पग का प्रकम्पन
चन्द्र तारक जड़ित अंचल
प्रात को बनता सुनहरी—प्राण की संगीत लहरी।

कोटि युग से कोटि युग तक
नृत्ययुत संगीत अनुरण
देव का आमोद - साधन—
प्रकृति - मानव का रुनुनझुन
प्रलय - इंगित रोक देगा
तान यदि त्रुटिपूर्ण ठहरी—प्राण की संगीत लहरी।

गणेश

महात्मा भगवानदीन

'श्री गणेशाय नमः, बिस्मिल्लाहिर्रहिमानिर्रहीम, ॐ नमः सिद्धेभ्यः' ये ऐसे वाक्य हैं जिनको लोग अक्सर काम शुरू करने के पहिले ज़बान पर लाया करते हैं। सब से पहिले वाक्य 'गणेशायनमः' में जिन गणेश जी का नाम लिया गया है, उन्हीं का ज़िक्र हम नीचे करेंगे। इससे भी पहिले हम यह बता देना चाहते हैं कि 'नमः' यानी नमस्कार से लोगों का क्या मतलब होता है। नमस्कार शब्द उस क्रिया के लिये काम में लाया जाता है जिसके ज़रिये हम अपनी देहाकृति से दूसरों तक यह भाव पहुँचाते हैं कि जो कुछ आप कह रहे हैं, वह हमें स्वीकार है। आज कल भी किसी सवाल के जवाब में जब हम बिना बोले अपनी स्वीकृति देना चाहते हैं तब अपने सर को झुका देते हैं और अगर अस्वीकृति बतलाना चाहते हैं तो सर को दायें बायें हिला देते हैं। इसलिये नमः शब्द का अर्थ सिर्फ़ इतना ही रह जाता है कि हम उस किताब, आदमी या वाक्य को ठीक समझते हैं जिसको हम नमस्कार करते हैं।

जब हम गणेश जी को नमस्कार करते हैं तो इसका अर्थ होता है कि हम गणेश जी को ठीक मानते हैं। अब सिर्फ़ यह सवाल रह जाता है कि ये गणेश जी कौन और क्या हैं? यों तो सनातनी हिन्दू मानता है कि गणेश जी महादेव के पुत्र और पार्वती-नन्दन हैं और इस नाते वह उनको पूज लेता है और हर एक काम के शुरू में उनकी याद कर लेता है, पर इतना जानने से आज कल के पढ़े लिखों की तसल्ली नहीं होती, वे कुछ और भी जानना चाहते हैं। महादेव जी और पार्वती कौन हैं, इसके सम्बन्ध में तो फर कभी बतलाया जायगा, परन्तु गणेश जी क्या हैं इसको कुछ विस्तार के साथ बताना ही आज के लेख का विषय है।

गणेश जी का रूप बतलाने से पहिले हम आप को आपके छोटे बच्चे की ओर ले चलेंगे। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है, कि हर बचा ज्ञान-प्राप्ति का बड़ा इच्छुक होता है। वह अपनी उस इच्छा को पूरी करने के लिये न मालूम कितनी चीज़ें तोड़ता फोड़ता है और उन टूटी फूटी चीज़ों के टुकड़ों से कितनी अनोखी और बे तुकी चीज़ें तैयार करता है। खेल में लग कर वह किस तरह अपनी भूख प्यास भूल जाता है। अपनी प्यारी माँ की आवाज़ तक ध्यान में मस्त होने के कारण नहीं सुन पाता और किस तरह अपनी मरज़ी के म्वाफिक़ एक भी काम हो जाने पर ख़ुश ख़ुश ख़्याली लड्डू खाता हुआ माँ की गोद में आ बैठता है। इन सब बातों को अगर आज का कार्टून बनाने वाला कोई शक्ल दे तो अजब नहीं कि वह शक्ल गणेश जी की मूर्ति से मिलती जुलती बन जाय। ऐसा क्यों होगा? इस सवाल का जवाब ही गणेश जी की पूरी व्याख्या कर देगा।

असल में गणेश जी ज्ञान की मूर्ति हैं। हिन्दुओं के पुराने चित्रकला मर्मज्ञों ने ज्ञान की यह तस्वीर बनाई है। आइये, अब उस तस्वीर की ओर चलें। उस तस्वीर में हमें नीचे लिखी हुई बातें देखने को मिलेंगी—

१—गणेश जी की सवारी है चूहा।

२—गणेश जी का सारा जिस्म आदमी है, सर हाथी का।

३—हाथी का सर होते हुये भी दाँत एक ही है।

४—हाथ चार हैं।

५—पेट बड़ा है।

६—दायें बायें दो देवियाँ खड़ी हैं एक का नाम ऋद्धि, दूसरी का नाम सिद्धि है।

चित्र का वर्णन यहाँ ख़त्म हो जाता है। हाँ, इनकी ख़ुराक है लड्डू।

गणेश जी ज्ञान की मूर्ति रहें, सवारी चूहा क्यों? यह सवाल है, जो जवाब की अपेक्षा रखता है। अगर हम यह जान लें कि ज्ञान किस चीज़ पर सवार है, यानी ज्ञान के लिये कौन चीज़ ज़रूरी है, तो यह समझने में ज़रा भी देर न लगेगी कि गणेश जी की सवारी चूहा क्यों।

ज्ञान के लिये सब से ज़्यादा ज़रूरी है विश्लेषण (analysis)। किसी चीज़ का विश्लेषण करने के लिये उसे तोड़-फोड़ कर देखना ज़रूरी है, जैसे बच्चे आमतौर पर किया करते हैं। चूहा, गिलहरी, खरगोश इस काट छाँट में उस्ताद हैं, इसलिये विश्लेषण का चिन्ह यही हो सकते हैं। चित्रकार ने इसलिये इनमें से चूहे को छाँट लिया। यही कारण है कि हाथी के सर वाले गणेश जी की सवारी चूहा ठहराई गई।

बच्चों के सम्बन्ध में ज्ञान हासिल करने के लिये दूसरी बात यह बतलाई गई थी कि वे अपनी टूटी फूटी चीज़ों से अनोखी और बेतुकी चीज़ें तैयार करते हैं, इसी क्रिया का नाम संश्लेषण (synthesis) है। मेल-बिठाना (संश्लेषण) ज्ञान का दूसरा नाम है। ज्ञानी विपरीत शक्तियों को एक जगह लाकर अपना काम ले सकता है। आग पानी मिला कर वह रेल-गाड़ी खिंचवा रहा है। ज्ञान की इस बेतुकी संश्लेषणशक्ति को दिखाने के लिये ही चित्रकार ने आदमी के बदन पर हाथी का सर लगा कर बतलाया है।

बच्चे के सम्बन्ध में हमने एक बात और कही थी। वह यह कि वह अपने चित्त को अपने काम में इतना एकाग्र कर लेता है कि दूसरे की सुन तक नहीं पाता। ज्ञानी में इस तरह की एकाग्रता होना ज़रूरी है। ज्ञान का एक गुण और भी है। वह इस जगत के आदि कारणों को खोजने की ओर दौड़ता है। ज्ञान की इस प्रवृत्ति को दिखलाने के लिये चित्रकार के पास यही तीन साधन थे (१) गणेश जी को एक आँख वाला बनाना—पर ऐसा करने से चित्र बदसूरत हो जाता (२) एक कान वाला बनाना—तब भी चित्र दूषित रहता (३) एक दाँत वाला बनाना—यही उसने अपनाया—इससे चित्र की सुन्दरता बनी रही और काम हो गया। बिना सुझाये बहुत कम लोगों का ध्यान इस ओर जाता है कि गणेश जी एक दाँत वाले हैं; यों तो गणेश जी के अनेक नामों में उनका एक नाम एकदन्ता भी है। बस चित्रकार ने ज्ञान की इस आदि कारण-की-खोज-की ताक़त को एक दाँत के ज़रिये दिखलाया।

बहुत काम करने वाले आदमियों के लिये आज के दिन तक यह मुहावरा कि उसके चार हाथ हो गये हैं, काम में आता है। ज्ञानी, अज्ञानी की अपेक्षा बहुत ज़्यादे काम करने की ताक़त रखता है। ज्ञान की इस ज़्यादे काम करने वाली ताक़त को दिखाने के लिये ही चित्रकार ने गणेश जी के चार हाथ बनाये।

ज्ञानी के सिवाय अज्ञानी के लिये यह बात मुश्किल ही नहीं बल्कि नामुमकिन है कि वह किसी बात को छिपाये रक्खे। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है कि बात को न छिपा सकने के लिये, न पचा सकने का मुहावरा काम में आता है। इसीलिये लोग कहा करते हैं कि अमुक आदमी बिलकुल ना समझ है, उसके पेट में कोई बात पचती ही नहीं; और इसलिये भेद की बातें बच्चों और नासमझ मर्द औरतों को नहीं बताई जातीं। यह मुहावरा भी किसी से छिपा हुआ नहीं है कि बहुत बातों को छिपाये रखने वाले आदमी के लिये अक्सर यह कहा जाया करता है कि उसका बहुत बड़ा पेट है; उसके पेट में जो बात गई वह गई। बस ज्ञान की इस भेद-को-हज़्म कर जाने वाली ताक़त को दिखलाने के लिये चित्रकार ने गणेश जी का पेट सेठों जैसा बड़ा बनाया।

दुनिया में कोई ताक़त बग़ैर ज्ञान की मदद के हासिल नहीं हो सकती और न विजय ही प्राप्त हो सकती है। शक्ति और विजय की प्राप्ति में ज्ञान ही कारण होता है, इसलिये ऋद्धि और सिद्धि को देवियों

की शक्ल देकर गणेश जी के दायें बायें खड़ा करके चित्रकार ने ज्ञान के परिणाम को चित्रित किया।

हिन्दुस्तान में आम रिवाज है, कि विजय के बाद मिठाई बाँटी जाती है। गणेश जी की खुराक लड्डू बताकर कलाकार ने यह दिखला दिया है कि ज्ञान का परिणाम सदा आनन्दपूर्ण होता है।

अब रह गई सिर्फ़ यह बात कि हर काम में सब से पहिले गणेश जी ही की पूजा क्यों होती है? इस सवाल का जवाब बिलकुल सीधा और साफ़ है। 'हर काम के शुरू में गणेश जी की पूजा करो', इस वाक्य को चित्रकार की भाषा में न कह कर सीधी भाषा में यों कहा जायगा कि हर काम को शुरू करने से पहिले ज्ञान की सलाह ले लो और उसी का हुक्म मानकर काम को आगे चलाओ, यानी हर काम को सोच समझ कर करो। जो भी आदमी सोच समझ कर काम करता है वह सीधे और साफ़ मानों में गणेश जी की पूजा कर के काम करता है, इस लिहाज़ से गणेश सनातनी हिन्दुओं के देवता नहीं, किन्तु दुनिया के सारे समझदारों के देवता हैं।*

* किसी अगले अङ्क में गणेश के ऐतिहासिक रूप पर भी लेख प्रकाशित किया जावेगा—सम्पादक

(२०६ पृष्ठ का शेष)

सब बातें प्रशंसनीय हैं वहाँ उनकी रचना में कुछ दोष भी दिखलाई देते हैं—उनकी ओर से आँखें बन्द कर लेना न तो वांछनीय है, न उपेक्षणीय और न प्रशंसनीय ही कहा जा सकता है।

शूद्रों की भर्त्सना, स्त्रियों का अपमान, रामभक्ति के आवेश में समाज को अकर्मण्य बनाने की योजना, हिन्दू-मुस्लिम मेल में बाधा डालकर पारस्परिक कलह का परिवर्द्धन करना इत्यादि कुछ बातें ऐसी हैं जो समाज के लिये घातक सिद्ध हो रही हैं। इन्हें कदापि हितकर और मनोनीत नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार उनका ब्राह्मणों के साथ अनुचित पक्षपात भी केवल ब्राह्मणेतर व्यक्तियों को ही नहीं अनेक निष्पक्ष ब्राह्मणों को भी बहुत खटक रहा है।

"पूजिय विप्र शील गुण हीना। शूद्र न पूजिय ज्ञान प्रवीना।" इसका समर्थन शायद ही कोई निष्पक्ष ब्राह्मण कर सके। हम लोगों में गुण दोष विवेचन की क्षमता और सहिष्णुता आनी ही चाहिये। यदि हमारी नीति पक्षपात पूर्ण रहेगी तो देश, राष्ट्र और समाज सब का पतन अवश्यम्भावी है, जो समाज सत्यान्वेषी नहीं होता उसके उत्कर्ष की आशा आकाश-कुसुमवत् है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि साधारण शिक्षित तथा अपढ़ जनता की सदाचारिक वृत्तियों के संशोधनार्थ गोस्वामी जी की रचना में पर्याप्त सामग्री मिल जाती है; परन्तु शिक्षित समाज का बिना विचारे गोस्वामी जी की रचनाओं का अध्ययन करना कदापि श्लाघ्य नहीं है। ऐसे ग्रन्थों को अन्धविश्वास पूर्वक पढ़ने के कारण हमारे भीतर अनेक दुर्गुण भर गये हैं। उनसे समाज की रक्षा करना हम सब का परम कर्तव्य है। रामायणादि ग्रन्थों को सावधानी से ही पढ़ना और समझना चाहिये। इसी से देश, जाति और राष्ट्र का कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं।

वेदों को 'गड़रियों का गीत' आदि लिखा गया है, पुराणों पर अनेक प्रकार के लेख लिखे गये और लिखे जा रहे हैं, इन सब के लिये 'सरस्वती'-सम्पादक की लेखनी क्यों कुंठित हो गई है और यहाँ एक बार ही उनकी धार्मिकता क्यों उमड़ पड़ी है! जो वेदनिंदक चार्वाक का मत समर्थन करे और गोस्वामी तुलसीदास जी का रञ्चमात्र भी दोष देखने का साहस न कर सके उसके हृदय की थाह पाना विशेष रहस्य बन जाता है।

अन्त में हम फिर स्पष्ट कहे देते हैं कि इस प्रकार की टिप्पणियों से न तो ऐसी समालोचना ही बन्द होगी और न गोस्वामी जी ऐसे लोगों के संकुचित विचारों की विवेचना से किसी को विरत किया जा सकता है।

गाँधी और विश्व-व्यवस्था

श्री जैनेन्द्रकुमार

गाँधी जेल में हैं और एक वर्ष के अधिक से उनकी कोई सीधी आवाज़ हमें नहीं मिली। कल एक बन्धु वर्तमान महा पुरुषों को गिन रहे थे। गाँधी को उनमें प्रथम रखने में उन्हें कठिनाई थी। जगद्-व्यवस्था में उनका कोई प्रकट दान नहीं दीखता। शेष नाम जो उनकी गणना में आये, आज के युद्ध से सीधा सम्बन्ध रखने वाले पुरुष थे।

उन भाई की कठिनाई आज के आलोचक की कठिनाई है। शासन के और युद्ध के मैदान से गाँधी अलग हैं और बन्द हैं। विश्व का भाग्य बन रहा है, देशों की सीमाएँ मिट-बन रही हैं और भावी व्यवस्था की दागवेल डाली जा रही है। यह सब गाँधी को बिना लेखे में लिये हो रहा है। इससे क्यों न कहा जाय कि कर्म के धरातल पर गाँधी अनिवार्य नहीं हैं?

प्रकटतः यह सच है। युद्ध में दो ही पक्ष हैं। तीसरा कोई पक्ष नहीं है। और युद्ध समूची मानवता का है। विश्व का भाग्य पलड़े में है और सभ्यता के अगले क़दम का निर्णय होना है। ऐसे समय जो किनारे पर है और इतिहास के मध्य में नहीं है, उसे विश्व-विचार की दृष्टि से शून्यवत् ही समझना चाहिए। शत्रु भी विचारणीय है, मित्र भी विचारणीय है; पर जो यह है न वह ऐसा व्यक्ति हिसाब में आने योग्य नहीं ठहरता।

पर युद्ध में असली दो पक्ष नहीं हैं, वह त्रिभुजात्मक है। तीसरी भुजा मुखर नहीं है किन्तु वही शेष दो को आधारमूल है।

कहा जाता है कि लड़ाई में जर्मनी, जापान और इटली एक ओर हैं; ब्रिटेन, अमरीका, रूस, चीन आदि दूसरी ओर। भाव होता है कि वे देश लड़ रहे हैं। पर युद्ध-घोषणा उन देशों की सरकारों ने की है। देश के नाम पर वहाँ की सरकार को ही बोलने का हक़ है, यह ठीक है। लेकिन यह भी विदित हो कि एक देश की सरकार और उस देश के लोग यानी शासक और शासित, राजा और प्रजा पूरी तरह एक नहीं होते। अनुशासन और क़ानून में वे एक होते हैं; हृदय में और यथार्थ में दोनों अभिन्न नहीं होते। इसी से सरकारें बदला करती हैं; विद्रोही शासक हो जाते हैं और शासक दंडित हुआ करते हैं।

यह पक्ष अधिकांश अलग रहता है। यह असंगठित और गर्भित रहता है। उसके ऊपर से दल-वर्ग ही मुखर हुआ करते हैं। जब यह मूल पक्ष किसी गहरी व्यथा से उभार पाता है तब विस्फोट फूटता है और साम्राज्य ध्वस्त हो जाते हैं।

ऊपर शासकों की लड़ाई है। उनको बल निस्संदेह नीचे जन सामान्य में से पहुँचता है। प्रजा लड़ती और लहू बहाती है। परिणाम में एक शासक गिरता, दूसरा उठता है। रक्त बहा कर शासकों में परिवर्तन होता है। परिवर्तन से शान्ति आती है और फिर शासन चलता है और शासकों में स्पर्द्धा होती और युद्ध होता है। और प्रजा फिर कष्ट सहने को आगे आती है।

सरकारें सब जनता के बल से पुष्ट हैं। क्या आज का लोकतंत्र या अधिनायकतंत्र या क्या फिर पुराना छत्रतंत्र—सबका अधिष्ठान जनता है। जन वहाँ से आते हैं, धन वहाँ से आता है और अन्न वहीं से आता है। बड़े युद्ध उन्हीं के बल-पर और उन्हीं की छाती पर लड़े जाते हैं।

इस भाँति प्रत्येक युद्ध में दीखने में दो भुजाएँ आती हैं। पर उन दोनों को तीसरी का सहारा है। वह तीसरी भुजा जो स्थायी है धरती में चिपक कर रहती है, श्रम जिसका धन है, पर जो मूक है और सहना जिसका काम है।

गाँधी इस युद्ध में वह तीसरी भुजा है। उसकी जेल इसका प्रमाण है कि वह भुजा सजग है।

इस समय विश्व की राजनीति राष्ट्रीय नहीं रह गई है। गाँधी को भी राष्ट्रीय समझना भूल होगी। कांग्रेस राष्ट्रीय हो, गाँधी मानवीय है! अन्तर्राष्ट्रीय शब्द फिर कूट राष्ट्रवादी नीतियों के चक्र का द्योतक है। गाँधी के साथ वह भी नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय चालों के पार उसका शुद्ध मानवी पक्ष है।

देशों के लोग वह मानते हैं जो उन देशों की सरकारों ने उन्हें मानना बताया है। वे अपने हित को दूसरे के विरोध में देखते हैं क्योंकि उन्हें ऐसे देखने की शिक्षा दी गई है। उन्हें अपनी रक्षा की चिन्ता है, दूसरे के आक्रमण का भय है, अपने सत्वों का लोभ है, विस्तार की आकांक्षा है—क्योंकि यह सब उनमें भरा गया है।

पर क्या उन्हीं देशों में लोग नहीं हैं जो जानते हैं कि श्रम से धन उत्पन्न होता है और लड़ाई में समय बरबाद होता है? क्या अन्दर ही अन्दर लड़ने वाले तक नहीं जानते कि दुनिया हम सब की है और परमात्मा एक है और मिल बाँट कर हमें रहना चाहिए?

लेकिन वैर चेता दिया गया है और लोगों को अपनी ही भीतर की बात सुनने का अवसर नहीं है। प्रकृत मानव के प्रतिनिधि हो कर उसकी अन्तस्थ आशा-आकांक्षाओं को वाणी देने वाले लोग हैं भी तो प्रचार के कोलाहल में वे अनसुन रहते हैं, या फिर उन्हें बलात् चुप कर दिया जाता है।

गाँधी मानवता की वही अन्तस्थ ध्वनि है। उसे पहचान लिया गया है। वह जागरूक है और मंद नहीं होगा। बीच के राजकारण के चक्रों में भी वह नहीं घिरेगा। वह स्पष्ट, दृढ़ और ऊर्ध्व, जगा ही रहेगा। और उसे जेल में रोका जायेगा तो यह कृत्य ही स्वयं उसकी जगह बोलेगा।

आगामी विश्व-व्यवथा की चर्चा है। लेकिन ब्रिटेन, अमरीका या किसी और देश का शासक, जो अपने राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा में सोचता और चलता रहा है, क्या विश्व-शान्ति और विश्व-व्यवस्था के संबंध में किसी दूसरी बुद्धि या वृत्ति से निर्णय ले सकेगा? आज अङ्गरेज़ है, अमरीकन है, जर्मन है, जापानी है; वह कहाँ है जो आदमी है? सब अभ्यासी हैं कि अपने को इस-उस देश का मानें और बाद कहीं अपने को आदमी मानें। वह व्यवस्था क्या विश्व-बन्धुत्व की होगी, जहाँ हर व्यवस्थापक अपने देश के स्वार्थ का प्रतिनिधि होगा? क्या इस प्रकार की मंत्रणा बड़ी शक्तियों को और मजबूत और छोटी शक्तियों को पराधीन रखने का ही साधन न हो जायगी? क्या ऐसी परिषद में से शान्ति या व्यवस्था आ सकेगी?

ऐसे समय गाँधी ही है जो प्रकृत मानव का पक्ष लेकर खड़ा है। क्या गाँधी ने नहीं कह दिया कि हिंसा से मिलने वाला स्वराज्य उसे नहीं चाहिए? ऐसा राज्य सब का स्वराज नहीं होगा। आत्मशासन नहीं, किसी न किसी रूप में वह परशासन ही होगा। क्या गाँधी ने हमेशा स्पष्ट नहीं किया कि उसका कर्म देश के लिए नहीं, मनुष्य के लिए है और वह राजनैतिक नहीं, धार्मिक है?

युद्ध जब यह शान्त होगा, देश आपस में निबट चुके होंगे, तब विजयी पक्ष को अपना हिसाब जनता के हाथों सौंपना होगा। या तो युद्ध के परिणाम स्वरूप साम्राज्य महा साम्राज्य होंगे और औसत मनुष्य दुगना जकड़बन्द होगा या फिर राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा में सोचने वालों को विश्व-परिभाषा में रहने वालों के लिए जगह खाली कर देनी होगी। हर हालत में, इस त्रिभुजात्मक युद्ध में विजयी भुजा को, अब नहीं तो फिर, शेष तीसरी भुजा से निबटना होगा।

यही तीसरी भुजा निहत्थी है, क्योंकि उसके पास काम करनेवाले दो हाथ हैं। दुःख उसका बल है। वह धरती से लगी है, क्योंकि इसी में से सब उठते और अन्त में इसी में आ मिलते हैं। सिर ऊँचा करके जो आज शासक बना है और धमक के साथ धरती पर पैर रखता है, आखिर वह भी धरती का है और उसी में आ मिलेगा। इसलिए इन धरती वालों का बल अहिंसा है। क्योंकि कोई उनसे पर नहीं, सब अपने हैं। इसलिए उनमें बैर नहीं है, पक्ष नहीं है। क्या

इङ्गलैण्ड और क्या जर्मनी—ये नाम तो अलग-अलग काम चलाने भर के लिए हैं। धरती मां को सब एक हैं। उसे इङ्गलैण्ड-जर्मनी में अन्तर नहीं। दोनों लड़ते हैं इसलिए दोनों भूल में हैं, क्योंकि दोनों धरती को उजाड़ते हैं। इस तीसरी भुजा का एक ही धन, एक ही बल और एक ही नियम है; वह है श्रम। ऊपर वालों के विलास के और वैर के सब खेल धरती से लगे लोगों के सतत श्रम पर चलते हैं। इस भुजा का धर्म सहते रहना और मेहनत करते जाना है।

गाँधी और कुछ नहीं है, मानवता के इसी अन्त-स्वरूप का प्रतिनिधि है। वह मनुष्य जाति का अन्त-र्मन है। उसे दाब कर लड़ा जा सकता है, उसको टाला जा सकता है, अनसुना किया जा सकता है। पर अन्त में उससे सुलझना ही होगा। उससे अपना हिसाब साफ़ किये बिना गति नहीं। इसमें कितने भी दिन लगें, पर होनहार यही है।

बात कुछ बड़ी मालूम होती है। पर यह भूल है कि गाँधी मर कर मर जायेगा। शायद अशरीरी हो कर वह और प्रबलता से जीयेगा। स्वयं लुप्त होकर जनता के अन्तर भावों में व्याप्त हो कर वह एक ऐसी शक्ति बन उठेगा कि यदि उससे पहले शासकों ने उससे निबटारा न कर लिया होगा, तो फिर वह शक्ति अप्रतिरोध, दुर्निवार्य, अटक न सकेगी और किसी की सुनेगी भी नहीं। गाँधी-पुरुष के हाथों जो संयत है, जनता की प्रकृति से मिल कर वही उद्दाम दुर्द्धर्ष हो उठेगी। तब जो न हो जाय थोड़ा है। जन-मन तब एक अन्धे वेग से उभरेगा। उस बाढ़ में क्या-क्या न तहस नहस हो जायगा, कहा नहीं जा सकता।

पर वह संभावना शुभ नहीं है। विवेक में से ही मुक्ति आयेगी। आवेग तो नवीन बन्धन की सृष्टि कर उठेगा। इसी से गाँधी के जीवन के प्रभाव के दो पक्ष हैं। एक ओर उन्होंने लोक चैतन्य को जगाया है तो दूसरी ओर उसी के उफान पर छींटे भी डाले हैं। कहीं भी गर्मी को भड़कने नहीं दिया है। जब तक रोष की अग्नि विवेक की शांति नहीं बन गई है, गाँधी ने उसे दबाया ही है।

राजनीतिक वर्ग के लिए यह अनहोनी बात है। जिस शक्ति को चेता कर राजनीति अपना काम चलाती है, उसी को अस्वीकार करके गाँधी ने अपने नेतृत्व का निर्माण किया है। क्रोध, स्पर्धा, द्वेष आदि भड़का कर सब कहीं राजनीतिक दल अपने को संग-ठित और सशक्त बनाते हैं। यहाँ इकले गाँधी ने ऐसे सब बलों को मानो थामे रखा है। शासकों के लिए गाँधी के प्रभाव का यह पहलू बहुत क़ीमती है, यद्यपि राजनैतिक उस पर दंग हैं।

इस प्रकार जनता के साथ अभिन्न और उसका प्रिय हो कर भी गाँधी उसका शास्ता है। वह शासकों की भाषा में दूसरे शासकों के साथ निबट सकता है। यह सुविधा गाँधी के साथ ही सम्भव है। अन्यथा लोकनेता (Democratic Leaders) लोक शासित भी होते हैं, और शांति चर्चा में वे विशेष सहायक नहीं होते। गाँधी पूर्णतया आत्म-शासित है, इसलिए वह सर्वोच्च शासक-कोटि का व्यक्ति है। शासकों और नायक की मंत्रणा में गाँधी सिद्धान्त-वादी नहीं जंचेगा। आधुनिक राजनेताओं (Diplomats) से गाँधी इसी जगह अलग है। वह अत्यन्त व्यावहारिक है। उँगलियों से काम करना जानता है। वह श्रमिक है और काम काजी है। वह मुद्दे की बात पकड़ता है और बौद्धिक घुमावों में नहीं पड़ा। वह आदर्श की चर्चा से काम की बात को अलग कर सकता है। अमरीकी विल्सन की तरह आदर्शवादी योजना में उसका बहकना या उसको बहकाना संभव नहीं है। वह स्वप्नदर्शी हो कर भविष्य के लिए वर्त-मान को नहीं टाल सकता, न अल्पदर्शी राजनीतिक की तरह वर्तमान के लिये भविष्य को क़ीमत में दे सकता है।

उसकी नीति सीधी है। अहिंसा के लिये उसे चर्चा नहीं, चर्खा चाहिये। मानव के विषम सम्बन्ध भावनामात्र से सम और शुद्ध न होंगे, उसके लिए कर्म चाहिए। कर्म यानी श्रम। उत्पादक श्रम को केन्द्र मान कर हमें अपने लिये नवीन अर्थ व्यव-स्था का निर्माण करना होगा। इससे धन केन्द्रित न

होगा। एक ओर दरिद्रता का प्रमाद और दूसरी ओर विलास का आलस उससे समाप्त होगा। संगृहीत धन से औरों में दैन्य और संग्रहाधिपति में दंभ बढ़ता है। इस तरह लोभ और द्वेष का चक्कर चल पड़ता है। तब अस्त्र-शस्त्र तैयार होते हैं, जिससे सम्पत्ति की रक्षा और बढ़वारी हो। इस सम्पत्ति को मूल में लेकर शासन-संस्था का जन्म होता है। अपने और प्रजा के बीच छोटे-मोटे सम्पत्तिशालियों और अधिकारियों की श्रेणी पैदा करके शासन अपने को अनिवार्य बनाता है। विभाजन हकूमत का मन्त्र है। ऐसी अवस्था आने पर श्रम की क़ीमत लगभग समाप्त हो जाती है और चाटुकारिता और चतुराई की क़ीमत बढ़ जाती है। श्रमिक दलित होता है और प्रभु-स्वार्थ में साधनभूत हो कर श्रमहीन प्रभुता प्राप्त करता है। ऊपर के लोग तब समय काटने और खाना पचाने के लिए तरह-तरह के उपाय रचते हैं और श्रमिक को पसीना बहा कर भी समय और खाना नहीं जुटता। यह वैषम्य जीवन के प्रकृत मूल्यों को भुलाने से फैलता है और गाँधी का प्रयत्न उन्हीं मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा है।

गाँधी के जीवन में कोई जटिलता नहीं है। वह सहज और स्वच्छ है। बुद्धि उस पर गोरखधन्धा रच सकती है। लेकिन उसमें उलझन नहीं है। उसका मूल भाव है श्रम और प्रेम। श्रम के बिना प्रेम विलास हो जाता है, यज्ञ नहीं रहता। वह ऐसे अकृतार्थ भी होता है। जो प्रेम भोग है वह श्रमहीन है और स्वार्थमय है। वही योग होकर कर्म रूप और पार-मार्थिक होता है। श्रम से चेतना स्वाधीन होती है और व्यक्ति निर्भीक बनता है। तब वह अपने को इन्कार करने की लाचारी में नहीं पड़ता और अपने भीतर के सत्य के स्वीकार में बाहरी किसी बल के भी प्रतिकार में उद्यत रहता है। ऐसा प्रेमी, यानी अहिंसक, सत्याग्रही हो कर विद्रोही होता है।

यह प्रकृत मानव-मान का पक्ष शासकों के विचार में कदाचित ही कभी उपस्थित होता हो। वे दफ़्तरों द्वारा नक़्शों और अंक-गणनाओं से मानव जाति की अवस्था का अनुमान कर अपनी व्यवस्था किया करते हैं। जनता उनकी फाइलों में रहती है। उसके सुख-दुःख के साथ उनके मन के अन्तस्सूत्रों का विशेष सम्बन्ध नहीं होता। प्रकृत नहीं बल्कि मुखर पक्ष की ओर ही उनका ध्यान जाता है और तब या तो लोभ से या दमन से उसे चुप किया जाता है। इन शासकों की व्यवस्था में अथवा युद्ध में एक व्यक्ति एक अंक होता है और गणित से उन्नति नापी जाती है।

दूसरी ओर भावुक लोग हैं जो समक्ष के व्यक्ति में विश्व देखते हैं और वहीं अपने राग का केन्द्र बना बैठते हैं। ऐसा राग द्वेष पर पलता है। अधि-कांश जन इसी गणना में आते हैं। ये ही फिर शासित होते हैं।

इन दोनों वर्गों में ऐक्यरूप, शासकों में शासक, और साधारणों में साधारण है गाँधी। उनकी जनमन के साथ एकता स्थापित हुई है। फिर भी उनकी दृष्टि जनता की अनेकता के पार कहीं ऐसी आंतरिकता पर है कि दायें-बायें असंख्य मरते हुओं, बिलखते हुओं के बीच से उनकी गति, या उनकी मुस्कराहट मन्द नहीं होती। वह निर्ममों में निर्मम हैं। शासक के समान बुद्धि की तटस्थता और भक्त के समान हृदय की आत्मीयता—गाँधी एक साथ स्वयं में दोनों का समन्वय हैं।

गाँधी अपने इकले व्यक्तित्व में दोनों तटों का संयोजक है। आदर्श और यथार्थ, स्वप्न और श्रम, धर्म और राजकारण, समन्वय और विश्लेषण। इसमें इस युद्ध के अन्तर जब कि विश्वशांति परिषद् हो, या जगद्-व्यवस्था के संबन्ध में विचार हो, गाँधी की उपस्थिति वहां अनिवार्य है। गाँधी न हो तो उनकी नीति होगी ही। उस दृष्टि और उस नीति से अलग किसी दूसरी तरह मानवहित-साधन और स्थिर शांति का विधान हो सकेगा यह सम्भव नहीं दीखता।

द्विवेदी जी का "कबीर"

शान्ति भिक्षु

कबीर-वाणी की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक ढंग से परख और पड़ताल हिन्दी में अभी शुरू ही हुई है। फिर भी ज्यों ज्यों यह अध्ययन बढ़ता जा रहा है त्यों त्यों नये नये तथ्य प्रकाश में आते जा रहे हैं। कुछ बरस पहले कबीर पर कही गई बातों में से कितनी ही आज पुरानी पड़ गई हैं और आज जो कुछ कहा जा रहा है उसमें भी आगे चलकर हेर-फेर करना पड़े तो वह कुछ अचरज की बात न होगी। यह हर्ष की बात है कि विद्वानों का ध्यान कबीर (तथा अन्य सन्तों) की ओर आकृष्ट हुआ है और आज तक की पड़ताल के प्रकाश में उनके देखने का प्रयास किया जा रहा है। यहां कबीर पर लिखी एक ऐसी ही पोथी के बारे में पाठकों के सामने कुछ चर्चा करनी है जिसमें काफ़ी ताज़ी सामग्री का समावेश है। इस पुस्तक "कबीर" के लेखक पं० हज़ारीप्रसाद जी द्विवेदी से हिन्दी जगत् सुपरिचित है। द्विवेदी जी की "हिन्दी-साहित्य की भूमिका" को जिन लोगों ने देखा है वे जानते हैं कि उनके विमर्श कितने सुलझे हुए और पक्के आधारों पर निर्भर रहते हैं। द्विवेदी जी की भूमिका ने हिन्दी-साहित्य को पहचानने की बारीक निगाह दी है और आज उनके 'कबीर' से सन्त कबीर की आत्मा को बहुत कुछ ठीक ठीक पहचाना जा सकता है।

आदमी पर उसके वंश और वंश परम्परा के संस्कारों का बड़ा असर पड़ता है। एक देहाती कहावत है : "जिहिकर जस बाप महतारी तिहिकर तस लरिका।" बेटे में मां-बाप और पुरखों के गुण-अवगुण का देखना दुनिया का चलन है। इस चलन के हिसाब से यदि लोग कबीर को भी देखें तो उन्हें कौन रोक सकता है? कबीर के बारे में अब तक यही पता था कि वे मुसलमान जुलाहे के घर पैदा हुए थे, इसलिये उनकी वाणी में जहाँ कहीं इस्लामी विचार-धारा से सादृश्य मिलता, पण्डित लोग यह कूता करते थे कि उसमें इस्लाम मज़हब की छाप है। इस्लाम में दो तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात है—तौहीद (=एकेश्वरवाद), दूसरी बात है जात पांत को न मानना और तीसरी बात है उसका रहस्यवाद जो सूफ़ियों की देन है। कबीर-वाणी में से इन तीनों बातों का पता बता देने वाले बहुत से वचन ढूंढ़ निकाले जा सकते हैं और निकाले भी गए हैं और उन बचनों की आड़ में यह बात चुपके से समझा दी गई है कि सन्त कबीर पर इस्लामी विचारों की बहुत बड़ी छाप है। इधर द्विवेदी जी ने एक बिल्कुल नई कहानी पेश की है। उन्होंने कबीर के वंश की पड़ताल करके जो निष्कर्ष निकाला है वह ऊपर कही गई बात से बिल्कुल उल्टा है। उन्होंने जुलाहा जाति के पुरावृत्त की पड़ताल करते हुए यह बताया कि कबीर जिस जुलाहा जाति में उत्पन्न हुए थे उसको मुसलमान हुए बहुत पीढ़ियां नहीं बीतीं थी और वह आश्रमभ्रष्ट योगियों की जाति थी जिसमें कबीर के समय तक भी योगियों के संस्कारों की प्रचुर छाप थी। इस निष्कर्ष ने कबीर के अध्ययन का नया अध्याय खोला है। जहाँ कबीर पर मुसलमानी प्रभाव कूता जा रहा था वहाँ अब उनकी वाणी में योगियों के प्रभाव कूतने की बारी आई। आज जब हम कबीर की वाणी को देखते हैं तो उसमें योगी या अवधूत को सम्बोधन कर अनेकों बातें कही गई हैं—अनेकों बातें नहीं, बहुत बारीक बातें कही गई हैं और उन बारीक बातों को कबीर ने पोथी पढ़कर नहीं सीखा था और न उनके सीखने के लिये उन्होंने संन्यास ही लिया था प्रत्युत ये बातें उनको अपनी वंश परम्परा से मिली थीं। द्विवेदी जी ने काफ़ी ज़ोर दे कर कहा है—"कबीर पन्थियों का और कोई दावा ठीक हो या नहीं, उनका यह दावा सोलह आने संगत है कि

कबीरदास मुसलमान नहीं थे, क्योंकि मुसलमानी वंश में जन्म और लालन पालन होना ही किसी को मुसलमान नहीं बना देता। जन्म से वे मुसलमान रहे हों या नहीं, विश्वास में वे एक दम मुसलमान नहीं थे। उन्होंने कहीं भी अपने को मुसलमान नहीं कहा। मुस्लिम-धर्म-साधना से उनका सम्बन्ध नाम मात्र को ही था" (पृ० १३६)। द्विवेदी जी ने अपनी पोथी के एक बड़े भाग में योगियों और उनकी विचार-धारा की चर्चा की है। कबीर पर इन योगियों के प्रभाव की बात करने से पहले भारत के धार्मिक और दार्शनिक प्रवाह पर एक निगाह डाल लेना बहुत ही उचित होगा, क्योंकि बिना इस व्यापक और संपूर्ण दृष्टि के योगियों की विचार-धारा समझना सहज नहीं है।

भारत अनेकों पीढ़ियों से धार्मिक और दार्शनिक भाव बटोरता चला आ रहा है। उसने जिन सद्गुणों का संचय किया है उनकी तह में धर्म और दर्शन के भाव छिपे हैं। आज वह जिन दुर्गुणों का शिकार है उनके भीतर भी धार्मिक और दार्शनिक भावों की सड़ाँद घर किए हुए है। भारत के धर्म और दर्शन का प्रवाह ठीक नदी के प्रवाह के समान है। नदी का प्रवाह बन्द हो जाने से जैसे छोटे छोटे जोहड़ बन जाते हैं वैसे ही धार्मिक और दार्शनिक प्रवाह के निरुद्ध हो जाने पर उसमें संकीर्णता आ जाती है और वह जनता की चीज़ न होकर इने गिने लोगों की सम्पत्तिमात्र हो जाता है। ऐसे अवसर पर महात्माओं का उदय वर्षा का काम करता है। संकीर्ण जोहड़ों का पानी वर्षा के पानी में मिलकर बह चलता है। नदी में फिर प्रवाह आ जाता है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग के अन्त में जब महात्मा कबीर हुए धर्म और दर्शन का प्रवाह रुक गया था और अनेकों मत-पन्थों के जोहड़ बन गये थे। कबीर-वाणी की वर्षा में वे जोहड़ फिर नदी बनकर बह चले और वह नदी आज एक तीर्थ बनी हुई है।

वैदिक कर्म-काण्ड, दार्शनिक विवाद और कृच्छ्र तप ऊँचे लोगों की ही चीज़ रह गये थे तब बुद्ध (५२७ ई० पू०) ने अपने उपदेशों से जनता की धार्मिक प्यास को बुझाया था। बुद्ध के धर्म-विनय में स्त्री और शूद्रों को भी वही स्थान था जो क्षत्रिय ब्राह्मण, राजा और बड़े बड़े गृहपतियों (सेठों) को। इसमें "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" या "न शूद्राय मतिं दद्यात्" की बात न थी। फिर भी यह धर्म पूरा आचारप्रधान था और इसमें देवी-देवताओं की पूजा-अर्चा का कोई स्थान न था। जनता शायद उस समय इतनी समझदार न थी कि देवी-देवताओं को एकदम छोड़ देती, फलतः यह धर्म बहुत दिनों तक जनता को आकर्षित न कर सका और पौराणिक धर्म, जिसका बीज वेदों के उपासना-काण्ड में छिपा था, सातवाहन युग (२१० ई० पू० १७६ ई०) में अंकुरित और पल्लवित हुआ। इस युग में देवताओं की प्रतिमायें बनीं और उनकी पूजा वैदिक-पद्धति के होम और यज्ञों से न हो कर मन्दिरों में षोड़शोपचार द्वारा होने लगी। यहां यह फिर ख़याल कर लेना ज़रूरी है कि इस नये धर्म में भी समाज की निचली तह में पड़े चण्डाल एवं तादृश दूसरे अछूतों को कोई स्थान न था। ये न मन्दिर जा सकते थे और न उन्हें पूजा का अधिकार था। वे वृक्षों और प्रेतों पिशाचों की पूजा में ही लगे थे और इस नये धर्म से वञ्चित थे; फलतः इसकी दूसरी प्रतिक्रिया हुई। जनता का देवी देवताओं के प्रति आकर्षण देख कर बुद्ध-धर्म ने भी उनको अपनाना चाहा और आचार्य नागार्जुन के समय (१५० ई०) से उसमें भी बुद्ध और बोद्धिसत्वों की भक्ति और पूजा-अर्चना की प्रथा चल पड़ी। इस पूजा-अर्चना में फिर सब को स्थान मिला। आगे चल कर इस प्रवाह में फिर विकार आया—महायान से एक नया पन्थ वज्रयान निकल पड़ा। छठी शती में अन्ध्रदेश के श्री पर्वत पर यह पहले पहल प्रकट हुआ। इसमें अलौकिक सिद्धियों और उन सिद्धियों के लिये की जाने वाली गुह्य साधनाओं का प्राधान्य था। यही प्रवृत्तियां बाद में पौराणिक धर्म में भी प्रकट हुईं। शैवों में पाशुपत, कापालिक तथा वैष्णवों में गोपी-लीला

सम्प्रदाय आदि इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं। शाक्तों में यह प्रवृत्तियां और भी उग्र रूप में प्रकट हुईं। और होतीं भी क्यों नहीं? उस समय मुक्ति के लिये ही नहीं, मान और पूजा के लिये भी सिद्धियों का पाना ज़रूरी था। वज्र-यान की इन साधनाओं ने मुक्ति को बहुत सस्ता कर दिया सो वह सहज-यान भी कहलाने लगा। ८०० ई० से ११०० ई० तक इस सिद्ध-पन्थ में ८४ सिद्ध हुए जिनमें गोरखनाथ का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इन सिद्ध और योगियों का जनता पर एक चिर तक प्रभाव रहा। भारतवर्ष में इसलाम के प्रवेश और प्रसार के प्रथम युग अर्थात् मुग़लों से पहले इन योगियों का बड़ा मान था। फिर भी सर्व-साधारण से यह बहुत दूर थे। जनता कंकड़ पत्थर पूजने में ही अपने के सनाथ समझ रही थी। पौराणिक धर्म इस समय बहुत जटिल हो गया था। वह भाव-प्रधान या तत्वज्ञान प्रधान न हो कर कर्म-काण्ड-प्रधान हो गया था। पण्डितों का ध्यान भाव और तत्व ज्ञान की ओर था भी नहीं, वे व्रत, उपवास और पूजा-पाखण्ड से ऊपर उठना न जानते थे। हेमाद्रि आदि पण्डितों के स्मार्त निबन्धों में पौराणिक धर्म के इसी जटिल रूप का परिचय मिलता है। उनमें वर्ष के भीतर २००० के लगभग व्रत-उपवासों की चर्चा है। इन सब मत-पन्थों के ऊपर इस्लाम का आक्रमण भी होने लगा था। यद्यपि इस्लाम की तौहीद भारतीयों के लिये नई चीज़ न थी पर उपासना की एकरूपता और सामाजिक-समता एवं उदारता एक ऐसी वस्तु थी जो भारतीयों के पास न थी। फलतः भारत की अनेकों जातियों ने इस्लाम को अपनाना भी शुरू कर दिया था। भारतीय-धर्म का भी इस्लाम पर प्रभाव पड़ा था और चौदहवीं शती में मध्य एशिया में बैष्णवों की भांति इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय में फूट पड़ी थी। इस प्रकार जब भारतीय धर्म अनेक प्रकार की भावनाओं का जमघट था १४५६ ई० में कबीर का जन्म हुआ।

कबीर तक की भारतीय-विचारधारा की मुख्य प्रवृत्तियों को चुने तो पांच रूपों में देखी जा सकती हैं। पहली प्रवृत्ति है वर्ण भेद या समाज में ऊँच नीच और छुआछूत का भाव, यह प्राचीन बैदिक धर्म में भी था पर उतना जटिल नहीं, बाद में वह जटिल हो गया और पौराणिक धर्म तथा परवर्ती हिन्दू धर्म में अपनी छाप जमाए रहा। बुद्ध ने पहले पहल इस भाव का विरोध किया और वही विरोध भाव महायान, वज्रयान, सहजयान और पाशुपत आदि हिन्दू तन्त्र यान में चलता आता रहा। दूसरी प्रवृत्ति है श्रुति स्मृति पुराण आदि पर विश्वास करना, जो वर्ण भेद की भांति ही हिन्दुओं—पौराणिकों—को मान्य है पर बुद्ध से लेकर सिद्ध योगियों तक सब को अमान्य है। तीसरी प्रवृत्ति है बाह्याचार जिसे बैदिक-पौराणिक हिन्दू मानते हैं पर बौद्ध और पाशुपत आदि हिन्दू-तन्त्रयानी नहीं मानते। चौथी प्रवृत्ति है आत्मवाद अर्थात् स्थिर या नित्य किसी ईश्वर, परम तत्व या आत्मा आदि को मानना, इसको बौद्ध और बौद्ध तान्त्रिक नहीं मानते बाक़ी सब मानते हैं। पांचवी प्रवृत्ति है पुरुषार्थ साधना। यह साधना दो प्रकार की है। एक का सम्बन्ध योग से है जिसका आरम्भ विशेष रूप से वज्र-यान से हुआ है और जो पाशुपत आदि हिन्दूतन्त्रों में और भी विकसित हुई है। दूसरी साधना भक्ति है जो पुराने पौराणिक धर्म, महायान और परवर्ती सन्तों में पाई जाती है। इन दोनों साधनाओं के दो रूप हैं—एक क्रियारूप या कर्मकाण्ड रूप जिसका सम्बन्ध बाह्याचार से है, दूसरा भाव रूप जो उसकी विचार-धारा को बताता है। इन प्रवृत्तियों में से सामाजिक ऊँच नीच भेद को न मानना और तौहीद या एक ईश्वर या परम तत्व को स्वीकार करना इस्लाम में भी था।

इन प्रवृत्तियों में से वर्ण भेद या सामाजिक ऊँच-नीच भाव पर कबीर ने कटाक्ष किये हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि इस वर्ण भेद के खण्डन की परम्परा बहुत पुरानी है। बुद्ध से लेकर योगियों तक सब ने इस पर प्रहार किए हैं। फिर यदि कबीर ने भी उसको लताड़ा तो वह कोई नई बात न थी। कबीर ने जहाँ श्रुति स्मृति पुराण और पोथी-पत्रों, पौराणिकों और

योगियों के बाह्याचार को आड़े हाथों लिया वहाँ इस्लाम पर भी उन्होंने दया नहीं की। इस्लाम के बाह्याचार और उसकी उपासना-पद्धति पर वे व्यंग्य कसे बिना न रह सके। उन्होंने कह डाला—"काँकर पाथर जोरिकै मसजिद लई बनाय। ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ ख़ुदाय।" हिन्दुओं और योगियों के बाह्याचार का खण्डन देख लोग यह सन्तोष शायद कर लेते हों कि कबीर पर इस्लाम की छाप है इसलिये खण्डन किया है। पर इस्लाम पर कबीर ने जो फबतियां कसी हैं वह किस प्रभाव के कारण? सचमुच इसका क्या उत्तर है? यह एक उलझन थी जिसे द्विवेदी जी ने सुलझाया है। कबीर के वंश का सम्बन्ध जब योगियों से जुड़ जाता है तब हम देखते हैं कि वर्ण-भेद, श्रुति आदि शास्त्र और बाह्य-आचार पूजा-पाठ आदि के खण्डन की एक पुरानी परम्परा थी और योगी भी उसी परम्परा के एक अंग थे। योगियों से ही वह सब संस्कार कबीर को मिले थे जो कि उनकी वाणी में प्रतिबिम्बित हुए थे।

कबीर के वंश और वंश परम्परा के संस्कारों की पड़ताल के अनन्तर द्विवेदी जी ने कबीर के मत का अनुसन्धान किया है। कबीर सिद्ध-योगी, पौराणिक हिन्दू और मुसलमान सब पर कटाक्ष करते रहे हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि योगियों के सम्बन्ध में वे बहुत बारीक और सूक्ष्म तत्वज्ञान का भी उल्लेख करते हैं। पण्डितों और मुल्लाओं के कोरे बाह्याडम्बर का ही ज़िक्र कर उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। "हिन्दू तुरुक दुहूँ नहिं नेरा" कह कर कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों से भागते रहते हैं। जोगी और अवधूत से वह ख़ूब भिड़ते हैं, उससे ख़ूब गहरी बातें करते हैं पर उसके मार्ग को बेकार ही समझते हैं। ऐसी दुविधा में कबीर का अपना मत क्या है? जैसे जन्म-वंश की परम्परा का ज्ञान किसी व्यक्ति के विचारों को एक हद तक जानने में मदद देता है वैसे ही गुरु-वंश की परम्परा का ज्ञान भी व्यक्तित्व और उसमें ओत-प्रोत विचार-धारा के समझने में सहायक होता है। कबीर रामानन्द के शिष्य थे अतः उनका रामानन्द के साम्प्रदायिक विचारों से प्रभावित होना ही चाहिए। इस सम्प्रदाय में अनन्य भक्ति को ही मोक्ष का अव्यवहित उपाय मानते हैं—इस पर किसी की विमति नहीं है, अन्य बातों में भले ही कुछ मत-भेद हो। कबीर वाणी में भी यही अनन्य भक्ति उस तरह व्याप्त है जैसे इक्षुरस इक्षुकाण्ड में व्याप्त रहता है। इसके बिना कबीर की वाणी रस पेलने के बाद इक्षु की खोई के समान रह जाती है। इस भक्ति को ही केन्द्र मान कर द्विवेदी जी ने कबीर की वाणी को देखा है। योगपन्थी संस्कार कबीर की वंश-परम्परा की देन थे, पर उनसे उन्हें शान्ति न मिली थी। भक्ति उनके गुरु की देन थी और उससे कबीर को शान्ति मिली थी। यही कारण है कि कबीर भक्ति को सिर माथे स्वीकार करते हैं और योग की गहराई को उथला ही समझते हैं। कबीर जिस भगवान् की भक्ति करते हैं उसके लिये मन्दिर और मस्जिद दोनों में नहीं जाना पड़ता, उसकी प्रतिमा भी नहीं बन सकती, वह अवतार भी नहीं लेता बल्कि वह घट घट में रम रहा है और इसी लिये वह राम है। कबीर से पहले मनुष्य ने भक्ति को अपने हृदय से बाहर निकाल दिया था और उसे मन्दिर और प्रतिमाओं के व्याज से कंकड़-पत्थर बना डाला था कबीर ने उसे फिर हृदय में बिठलाने का यत्न किया। कबीर का प्रयत्न सफल भले ही न हुआ हो, भले ही दुनिया मन्दिर और मस्जिद अथवा कबीर के शब्द में कहें तो कंकड़-पत्थर के ढेर को ही भगवान् का घर समझती रही हो, पर कबीर का यत्न सचमुच ही एक अच्छी दिशा में हुआ था। जिसने कबीर के इस भक्ति-भावना को बिना ठीक समझे ही कुछ और ही और समझना चाहा, वह बहुत ग़लतफ़हमी में पड़ा रहा। कबीर की वाणी में कहीं अद्वैतवाद, कहीं विशिष्टाद्वैतवाद कहीं एकेश्वरवाद आदि का लेश देखकर वे यही समझ बैठे थे कि कबीर का अपना कुछ मत था ही नहीं। इधर उधर की अटपटी वाणी बोल कर रौब गाँठना ही आता था। सच बात तो यह है कि कबीर

पर पण्डितों और आलोचकों का अब तक प्रायः उपेक्षा का भाव ही रहा है। लोग जब कबीर पर कुछ कहना चाहते थे तो उनके मन में यह भाव रहता ही था कि कबीर एक जुलाहा था और आज के जुलाहे का चित्र उनके सामने आये बिना न रहता था। आज के जुलाहे को तो समय-गति से ज्ञान प्राप्त करने के बहुत से साधन प्राप्त हैं पर उस समय के जुलाहे की दशा आज से भी गई बीती होगी। उस समय का जुलाहा कोरा ताने बाने का ही जीव होगा। उसके वंश से कौन आशा कर सकता है कि वह कोई विचारक दे सकता है? इस उपेक्षा के कारण कबीर के साथ बहुत अन्याय हुआ है। धैर्य्य के साथ कबीर पर विचार करने की शायद पण्डितों को ज़रूरत ही न मालूम पड़ती थी। जहाँ तक मुझे पता है द्विवेदी जी ने गहराई से इस विषय पर ध्यान दिया है, उन्होंने कबीर-वाणी को धैर्य और श्रद्धा के साथ विवेचन करने का यत्न किया है।

कबीर की वाणी का आज भी कबीर के सम्प्रदाय में परिपालन होता है। कबीर-पन्थियों को परम्परागत वे संस्कार बहुत सुलभ हैं जिनसे कबीर की वाणी के गूढ़ तत्व समझे जा सकते हैं। कबीर पर टीका टिप्पणियां भी हुई हैं जो उनके वचनों को समझने में मदद दे सकती हैं। पर कबीर की वाणी काफ़ी पुरानी है। वह फुटकर पदों के रूप में है, उसमें सम्बद्ध एक कथावस्तु नहीं है। यह भारतीय जलवायु का दोष है कि कोई ग्रन्थ लीजिए उसमें कुछ न कुछ प्रक्षिप्त अंश मिल ही जाएंगे। तुलसी कबीर के अपेक्षा अर्वाचीन है पर उनकी रामायण में अनेकों क्षेपक हैं। और तो और पूरा एक काण्ड ही क्षेपक रूप से उसमें जोड़ दिया गया है। क्षेपक मिलाने के दो कारण होते हैं। पहला कारण होता है ग्रन्थ को अधिकाधिक पूर्ण रूप देना। दूसरी बात होती है उसमें नई विचार-धारा का समावेश। कबीर के बारे में पहला कारण नहीं हो सकता, कबीर ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा था जिसके पूरा करने की ज़रूरत उनके चेलों को पड़ती। हाँ, नई विचार-धारा के समावेश की बात ख़ूब सम्भव है। भारत में कोई सम्प्रदाय ठीक उसी रूप में रह नहीं पाता जिस रूप में उसका प्रवर्तक रखता है। वस्तुतः परिवर्तनशील जगत् में कोई चीज़ वैसे के वैसे रह भी कैसे सकती है?

द्विवेदी जी ने कबीर पर इस दृष्टि से भी विचार किया है। भगवान् की अनन्य भक्ति और वह भक्ति जिसमें बाह्य उपचार की कुछ ज़रूरत नहीं है कबीर का अपना सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त उनकी वाणी में जगह जगह फूटा है। पर कबीर के चेले कबीर को कोरे भक्त के रूप में न देखना चाहते थे, वे कबीर को उस आसन पर बिठाना चाहते थे जहां तक दूसरे न पहुँचे हों। इस प्रकार के आसन पर बिठाना कोई कठिन काम नहीं है। पुराणों ने यह रास्ता दिखा रखा है। जिस पुराण को लीजिये यही बात मिलेगी। अपने अपने उपास्य को ही सब कुछ बनाना उनका ध्येय है। जब इस प्रकार का रास्ता ही खुला है तब कोई मुश्किल बात नहीं जो कबीर को सब से ऊँचे आसन पर न बिठा दिया जाए। कबीर-पन्थियों ने यही किया। उनकी विचारधारा के अनुसार सत्य पुरुष आदि तत्व है, उनसे निरञ्जन हुआ, निरञ्जन ने माया को उत्पन्न किया और उस माया के संयोग से ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न हुए। उनसे यह सृष्टि हुई। निरञ्जन ने सूक्ष्मवेद को हृदय में धारण किया और उनकी सांस से स्थूलवेद ऋक् यजुः साम और अथर्व उत्पन्न हुए। इस प्रकार सारा संसार निरञ्जन और वेदों के चक्कर में पड़ा है। इनसे उद्धार करने के लिये सत्य पुरुष ने जो अपना स्वरूप उत्पन्न किया वही कबीर साहब हैं। वे संसार के त्राणकर्ता हैं। सत्ययुग में सुकृति नाम से, त्रेता युग में मनीन्द्र नाम से, द्वापर में करुणामय स्वामी के नाम से और कलियुग में कबीर के नाम से वे अवतीर्ण हुए। ठीक, यह तो होना ही चाहिए था। जिन कबीर ने बार बार पौराणिक धर्म के आडम्बर और अवतार-वाद का विरोध किया वे स्वयं अवतार धारी बन गए! घट घट व्यापी राम की घोषणा करने वाले कबीर का राम या सत्यपुरुष हाड़मास की गठरी के रूप

में अवतार लेने ही लगा! यह कल्पना स्पष्ट ही परवर्ती है। कबीर के हृदय के साथ इसका मेल बैठ ही नहीं सकता। इस कल्पना के अनुसार संसार का जाल फैलाने वाला निरञ्जन है, पर कबीर के वचनों में अनेकों जगह निरञ्जन उस भगवान के लिये व्यवहृत हुआ है जिसे कबीर घट घट व्यापी मानते हैं। वे साफ़ ही कहते हैं—"एक निरञ्जन सूं मन लागा" जिस निरञ्जन से कबीर ने मन लगाया है वह दुनिया का जाल फैला कर बाद में ठगने वाला बन गया! द्विवेदी जी ने निरञ्जन तथा कितने ही शब्दों की अच्छी पड़ताल की है, पर इस दिशा में एक व्यापक प्रयत्न की आवश्यकता है। सब से बड़ी आवश्यकता है: घट घट व्यापी राम की भक्ति की तथा वाह्य आडम्बर एवं सामाजिक वर्ण भेद के विरोध की—जो कबीर के अभिमत सिद्धान्त हैं उनके प्रकाश में उन सब स्वीकृत और अस्वीकृत विश्वासों का विश्लेषण करना जो कबीर वाणी में गुंथे हुए हैं और यह परखना कि इन सिद्धान्तों के साथ उनका कितना सामाञ्जस्य और असामञ्जस्य है।

यहाँ तक पाठकों से धीरे धीरे बात करते हम कितने ही विमर्शों पर पहुँच चुके हैं। उन सब को यहाँ एकत्र करके देखना है कि कबीर के बारे में हमारी अब क्या धारणा बन सकती है। कबीर मुसलमान जुलाहे के घर पैदा हुए थे और उनका हिन्दुओं से रोजाना ही साबिक़ा रहता था। हिन्दुओं की सामाजिक अनुदारता के वे भुक्तभोगी थे अतः उसकी शिकायत करना उनके लिये बहुत स्वाभाविक था। मुसलमानी धर्म में पले थे वे ज़रूर, पर उसे भी वह हिन्दुओं के जैसा ढकोसलेबाज़ समझते थे, इसलिये उस पर भी उन्होंने व्यंग्य कसे हैं। योगियों के संस्कार उन्हें वंश परम्परा से मिले थे और उस पन्थ की वे गूढ़ातिगूढ़ बातें जानते थे पर उसकी साधना से उन्हें सन्तोष न था। हिन्दू और मुसलमानों के उपासना-मार्ग को वे दिखावा ही समझते थे अतः उससे उनका सन्तुष्ट होना सम्भव ही न था, फलतः हिन्दू, मुसलमान और योगी तीनों के रास्ते, जो कबीर के समय खूब प्रचलित थे, कबीर को शान्ति न दे सकते थे। ऐसी दशा में कबीर को रामानन्द जैसे गुरु मिले और उन्होंने शान्ति पाई। यह भक्ति जो उन्होंने गुरु से पाई अवतारधारी किसी लीलापुरुष राम की न थी, पर घट घट व्यापी राम की थी, जिसके लिये मन्दिर-मस्जिद, पुरान और कुरान दोनों की ज़रूरत नहीं थी। यच्च यावत् वाह्योपचार से विरत हो हृदयेन भगवान् से प्रेम करना ही कबीर को पसन्द था।

कबीर के इस रूप में एक बड़ी विशेषता है। कबीर मुसलमान के वंश में उत्पन्न भले हुए हों पर वे भारतीय धर्म-साधना की परम्परा के जो ब्राह्मणों, श्रमणों, योगियों और तांत्रिकों, और भक्तों की साधनाओं के संयोग से बनी है—एक अनन्य रत्न हैं। कबीर का भक्तों में अपना स्थान है। उनकी भक्ति भी अपनी भक्ति है—भले ही उसको उन्होंने वैष्णवों से सीखा हो। जो वैष्णवों की भक्ति है वही कबीर की भक्ति नहीं। एक को वाह्योपचार की अपेक्षा है और दूसरी को केवल हृदय से ही काम है। कबीर के इस परम्परागत रूप को समझ लेने पर उनकी भक्ति में सूफियों के रहस्यवाद की छाया भाँपने की प्रवृत्ति अपने आप कुण्ठित हो जाती है। और कुण्ठित होनी भी चाहिये क्योंकि कबीर स्वयं अपनी भक्ति को अपने वैष्णव गुरु की ही देन समझते हैं—

कबीर धनि वे सुन्दरी जिन जाया वैस्नो पूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ सब जग गया अऊत॥
सत गुरु के परताप ते मिटि गयौ सब दुख दंद।
कह कबीर दुविधा मिटी गुरु मिलिया रामानंद॥

कबीर के इस परम्परानुबद्ध रूप के समझने में द्विवेदी जी ने बड़ा श्रम किया है। इस रूप के सहारे कबीर की वाणी का एक सर्वाङ्गी विमर्श हिन्दी में लाया जा सकेगा और कबीर पर नये ढङ्ग से पड़ताल करने का मार्ग मिल सकेगा।

———

लड़ाई का हाल

अमरीका से लौट कर चर्चिल साहब ने जो भाषण अपने यहाँ दिया उसमें उन्होंने यह बता दिया कि असिल में मित्र-दल की इटली के जनरल बादोग्लियो और वहाँ के बादशाह से १५ अगस्त को ही सुलह की शर्तें निश्चित हो चुकी थीं। स्पेन में स्थित राजदूत सर होर ने इसमें विशेष भाग लिया था। बादोग्लियो-सरकार की ओर से भेजे गये लोगों ने स्पेन में जाकर मित्र-दल की ओर से भेजे गये लोगों से सब बातें तै की थीं। सिसली आधी जीती गई थी तभी यह समझौता हो जाने से मित्र दल को विशेष लाभ हुआ।

बादोग्लियो के इस आत्म-समर्पण का पूरा लाभ मित्र दल ने इटली पर हमला करते समय उठाया। कई स्थानों पर उनकी फ़ौजें जहाजों से उतर पड़ीं और वहाँ अपना क़ब्ज़ा आसानी से कर लिया। १० सितम्बर को बादोग्लियो ने खुल्लम खुल्ला अपने को मित्र-राष्ट्रों की ओर घोषित किया और जरमनी के विरुद्ध लड़ने के लिए अपने मुल्क वालों से अपील की। इसके पहले ही मुसोलिनी और उनके दल के अधिकांश अधिकारी लोगों को क़ैद करवा दिया गया था और उनकी फ़ौजों में अधिकांश को, जिन्होंने बादोग्लियो-सरकार का साथ नहीं देना चाहा, तितर बितर कर दिया गया था। फिर आज़ादी पा लेने पर मुसोलिनी ने न केवल बादोग्लियो और बादशाह को किन्तु रेडक्रास को भी धोखेबाज़ ठहराने का प्रयत्न किया है। कहा है कि रेड क्रास ने ही 'हमले से बचाने' का आश्वासन देकर फँसा दिया। हिटलर ने विशेष प्रबन्ध करके अपने छतरीवालों के ज़रिये मुसोलिनी को छुड़ाया और उसके कई सरदारों तथा मुसोलिनी के दामाद सियानो को भी। उसने तेज़ी के साथ अपनी फ़ौजें इटली में भेज कर, दो-तिहाई मुल्क पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। बादोग्लियो और बादशाह को इटली छोड़कर भागना पड़ा। इस सब के कारण मित्र-दल को उतना अधिक लाभ न हो सका जितना वे चाहते थे। 'उत्तरी व केन्द्रीय इटली पर कस कर अपना पंजा जमाने के अतिरिक्त मुसोलिनी को नाटकीय और साहसी ढङ्ग से बादोग्लिओ की क़ैद से छुड़ा कर हिटलर ने इटालियन जनता में बुद्धि-भ्रम पैदा कर लड़खड़ाते फासिस्ट शासन-तंत्र को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया है। इस गृह-युद्ध की आड़ में जरमनों को शासन व व्यवस्था के नाम पर और भी अधिक अपना फ़ौजी पंजा कसने का मौक़ा मिलेगा।' पहले सलेरनो में जरमनों ने डट कर मोरचा लिया। मित्र दल को बहुत नुक़सान उठाना पड़ा। पर वे इसकी परवा न कर बराबर नई फ़ौजें और लड़ाई का सामान भेजते गये। इससे वह पाँचवीं सेना जो घिरने पर आ गई थी, साहस के साथ, धीरे धीरे आगे बढ़ने योग्य हो गई। आठवीं सेना भी उससे आकर मिल गई। नेपल्स के रास्ते में दो दर्रों पर जरमन मुक़ाबिला करते रहे, लेकिन उन पहाड़ियों में से जो अभेद्य समझी जाती थीं, कई एक मित्र दल के हाथ में आगयीं। फिर समाचार आया कि नेपल्स को, जो कल-कारख़ानों, शस्त्रों और फ़ौजों का महत्वपूर्ण स्थल है, जरमन तहस नहस कर रहे हैं। और अब यह समाचार आ गया कि नेपल्स पर पूरी तरह मित्र-दल का ही क़ब्ज़ा होगया। दूसरी ओर टारंटो, ब्रिंडसी और बारी आदि के ले लेने से मित्र दल की फ़ौजें फ़ागिया की ओर बढ़ीं जो नेपल्स और सलेरनो को जोड़ने-वाला रेलवे-जंकशन है। 'इस पर अधिकार हो जाने से बलकान के देशों और हंगरी पर हवाई हमले करने के लिए मित्र दल को सुविधा हो जायगी।'

जिब्राल्टर की ओर भी फ़ौजें इकट्ठी हो रही हैं। 'रूमानिया टर्की के ज़रिये मित्र-दल से सुलह की बात चीत कर रहा है। यूरोप के अन्य कई हिस्से भी मित्र दल के स्वागत की तैयारी कर रहे हैं।' कुछ हिस्से ऐसे भी हैं जो केवल रूसी

सेना का स्वागत करना चाहते हैं। स्टैलिन का भी कहना है कि यूरोप में कैसा शासन-प्रबन्ध रहे और वह किस तरह स्थापित किया जाय, इसके बारे में रूस की सम्मति को महत्व दिया जाना चाहिये और उस शासन-प्रबन्ध की स्थापना में सोवियट का हाथ रहना चाहिए। 'ऐसे मत-भेद कहीं और न बढ़ जायँ, ब्रिटेन-अमरीका-रूस के 'त्रि-राष्ट्र'-सम्मेलन में यही भय है।' सम्मेलन के न होने से रूस-जरमन संधि की चर्चायें ज़ोर पकड़ती हैं! बादोग्लियो अब दक्खिन इटली में पहुंच गये हैं। उन्होंने अपने 'साम्राज्य' की वापिसी और अपनी सरकार की स्वीकृति चाही। उनकी ये माँगें स्वीकार नहीं की गईं।

सोमास, कास, सारडीनिया आदि कई द्वीपों पर और ब्रिंडसी के सिवा अन्य कई महत्वपूर्ण बन्दरगाहों पर भी मित्र-दल का क़ब्ज़ा हो गया है।

इधर रूसी क्षेत्र में सोवियट सेना बराबर आगे बढ़ती जा रही है। कीव यूक्रेन की राजधानी है। यूक्रेन ही रूस का खाद्यभाण्डार है। गेहूँ सब से अधिक यहीं होता है। इसके निकल जाने से ही उसे अपने खाने के लिये बहुत अंशों में दूसरों पर अवलम्बित होजाना पड़ा। अगस्त के अंत में कीव क़रीब १७० मील दूर था। इस एक मास में ओरेल, दोनबास, ब्रियान्स्क, नोवोरिस्क के महत्व पूर्ण बन्दरगाह, पोलटावा और सोमेलन्स्क आदि पर क़ब्ज़ा करके, रूसी सेनायें कीव और पावलोग्राड तक पहुंच रही हैं। नीपर नदी को सेनायें छै जगह पार कर चुकी हैं। ओरेल २३ और समोलन्स्क २५ मास जरमनों के हाथ में रहे।

दक्षिणी पच्छिमी प्रशान्त सागर में सालमुआ के हवाई अड्डे पर और न्यूगिनी के अन्तिम बड़े अड्डे 'ले' पर मित्र सेनाओं का अधिकार हो गया है। यह भी प्रकाशित हुआ है कि यहां के जनरल श्री मैक आर्थर को लार्ड मौन्ट बैटन के, जो दक्खिन एशिया की फ़ौजों के कमाण्डर हुए हैं, नीचे काम करना पसन्द नहीं। वे उनकी जगह अपना नेतृत्व चाहते हैं या फिर यह कि दोनों के नेतृत्व अलग अलग रहें। अमरीका ने फिलीपाइन की आज़ादी की घोषणा कर दी है। इससे वे फिलीपाइन वापिस लेकर उसे ही आधार बनाकर वहाँ से ही जापानियों से लड़ना ठीक समझते हैं।

चीन अपने 'साधारण साधनों' से आज कल के सम्पूर्ण वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करने वाले और उनसे पिछले छै वर्षों में चीन के अनेक श्रेष्ठ भागों तथा बन्दरगाहों को अत्यन्त क्रूरता के साथ छीन लेने वाले जापान के साथ वीरता से लड़ता जा रहा है। अब जापान ने 'पूरे' चीन की 'आज़ादी' का प्रलोभन देकर फिर सुलह का प्रस्ताव रखा है। पर श्री सूंग ने कहा है कि उसके जाल में कोई राजनैतिक दल नहीं फँस सकता, 'यद्यपि चीन के बहुत से लोग लड़ते लड़ते थक गये हैं और उनके लिए यह बहुत बड़ा प्रलोभन है।' असल में वे ख़ूब जान गये हैं कि जापान ऐसे साम्राज्यवादी टापू का 'पूरे' चीन और उसकी 'आज़ादी' से क्या मतलब होता है। उनकी कठिनाई यही है कि उनसे 'सहानुभूति' रखते हुए भी उनके देश के ऐसे विशाल होने और उसकी आबादी ४५ करोड़ होने के कारण हवाई जहाजों का बनाना सिखाना तो दूर, उन्हें कोई काफ़ी हवाई जहाज देने को भी अभी तक तैयार नहीं।

अब जल्दी ही जापान के साथ पूरी तेज़ी से 'विशेष मित्र-दल' की—इंग्लैण्ड और अमरीका की—फ़ौज़ों की लड़ाई शुरू कर देने के दिन आरहे हैं!

———

सम्पादकीय-विचार

महात्मा गांधी की ७५ वीं जन्म-तिथि

'अगर हम अपने नमक के प्रति, (हिन्दुस्तानी) क़ौम के प्रति, उन गीतों के प्रति जिन्हें हम गाते हैं सच्चे हों, अगर हम भगवद्गीता और क़ुरान के प्रति सच्चे हों, तो हम अपना प्रोग्राम बाक़ी नौ महीनों में पूरा कर लेंगे, और इसलाम, पंजाब तथा भारत को आज़ाद कर लेंगे। एक लाख परदेशी व्यक्तियों का एक ऐसी क़ौम को जिसमें तीस करोड़ लोग हैं, मनमाने नियंत्रण में रखना उन शासकों और शासितों, दोनों को भ्रष्ट करने वाला है। और वे अपनी मनमानी क्यों करा सकते हैं ? हम में फूट डाल दी गई है इसीलिए उन्होंने शासन किया है। मैं झूम के यह स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेने को कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर चलाई जाती है, कभी भूल नहीं सका हूँ। इसी से असहयोग की सफलता के लिए सब से महत्वपूर्ण जरूरत हिन्दू-मुसलिम एकता की होने से मैं उस पर ज़ोर देता आया हूँ। किन्तु उसे केवल ज़बानी एकता या व्यापारी बनिया की सी एकता न होनी चाहिए। उसे ऐसी एकता होनी चाहिए जिसमें हृदयों के मिलन के आधार पर विशालता आवे।'

ये पंक्तियां महात्मा जी ने अपने 'तरुण भारत' (Young India) के २२ सितम्बर सन् १९२० के अङ्क के लिए लिखी थीं। आज करीब २३ साल बाद भी इनकी हमारे लिए वैसी ही आवश्यकता है। इसी अंक में पहले लेख और 'गाँधी और विश्व-व्यवस्था' में यह भली-भांति बतलाया गया है। 'बापू' के रास्ते पर चलना ही सच्चा श्रद्धांजलि अर्पण करना है। पाठकगण तो यह जानते ही हैं कि 'विश्ववाणी' के संरक्षक पंडित सुन्दरलाल जी महात्मा जी के 'सत्य' और 'अहिंसा' आदि सिद्धान्तों को पूरी तरह मानने वालों में हैं और वे यह भी न भूले होंगे कि इसके संचालक तथा सम्पादक भाई विश्वम्भरनाथ जी ने 'विश्ववाणी' के पहले अङ्क में ही यह लिखा था कि "विश्ववाणी' के सम्पादक ने पिछले बीस बरस में जो कुछ भी सीखा है उसका सारा श्रेय पूज्य पण्डित सुन्दरलाल जी को ही है। उन्हीं के मार्ग प्रदर्शन का परिणाम है कि आज हमने इतना गुरुतर भार लेने का साहस किया है। उन्होंने दया करके विश्ववाणी के मार्ग-प्रदर्शन का ज़िम्मा अपने ऊपर लिया है यह विश्ववाणी के पाठकों का सौभाग्य है।" साथ ही उसी अङ्क में 'हमारा उद्देश्य' लिखते हुए उन्होंने यह भी स्पष्टत: कह दिया था कि "ज्योंही इस अप्राकृतिक हालत से निकल कर दुनिया का दिल और दिमाग़ ठीक होगा वह इस आन्दोलन के ठीक ठीक रूप को देख सकेगी और इस बात को भी समझ सकेगी कि जो अहिंसात्मक तरीक़ा हिन्दुस्तान ने पाशविक शक्ति का मुक़ाबला करने, उसे निकम्मा कर देने और उसकी जगह ले लेने का जारी किया है वही एक मात्र तरीक़ा उस नाशकर चक्र को तोड़ने और उससे बाहर निकलने का है जिसमें यूरोप ने अपने को और सारी दुनिया को फँसा रखा है।" और यह भी कि "अपने देश के सम्बन्ध में 'विश्ववाणी' भारतीय इतिहास की आवाज़ यानी भारतीय आत्मा की पुकार को पाठकों के सामने लाने और उसे समझने की कोशिश करेगी। यह पुकार संक्षेप में भारत के महान आदर्शों की एकता और सारे भारत के स्त्री-पुरुषों की सच्ची समता, मेल और भाई चारे की पुकार है। इसी ने हिन्दुस्तान को उन सब देशों, जातियों और धर्म के लोगों का आश्रय-स्थान और उनका घर बना रखा था जो समय समय पर इस देश में आकर बसते रहे और जिनका इस ज़मीन ने सदा प्रेम के साथ स्वागत किया।"

यह सब हमें इसलिए उन अंकों से फिर लेना पड़ा क्योंकि 'विश्ववाणी' अपना पहला ही साल ठीक तरह बिता सकी। दूसरे साल का अन्त होने के बहुत पहले ही, १० अगस्त १९४२, को इसके संरक्षक पंडित सुन्दरलाल जी को और उसी साल के अन्तिम मास में इसके संचालक और सम्पादक भाई विश्वम्भरनाथ जी को उस 'क़ानून' के अनुसार जिसे स्वयं यहां की सर्वोच्च 'सरकारी' क़ानूनी अदालत 'ग़ैर क़ानूनी' कह चुकी है, 'भारत-रक्षा के लिए' जेल में ले जाकर 'डिटेन' कर लिया गया। वे दूसरे साल इसके सात विशेषांक—और वे भी एक से एक बढ़कर—निकाल चुके थे, जो हिन्दी-संसार में सर्वथा नई बात थी। पर पहले साल ही अक्टूबर वाले अङ्क में गांधी-जयन्ती पर लिखने-लिखाने का अवसर भाई विश्वम्भरनाथ जी को मिल सका। उस अङ्क में सब से पहला स्थान दिया गया था जो कुछ स्व० गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गांधी-जयन्ती पर कहा था उसे। गुरुदेव ने अन्य बातों के साथ यह कहा था—

'पच्छिम के असर से भारतीय संस्कृति की एकता नष्ट-भ्रष्ट हो रही थी, उसमें छूत छात का भीषण और प्राणनाशक रोग लग गया था। हिन्दू और मुसलमान अपने राष्ट्र के कल्याण की ओर से मुंह फेर कर आपस में संरक्षण के उन छोटे छोटे टुकड़ों के लिये लड़ने लग गये थे, जिन्हें शासक लोग खूब समझ बूझ कर उनकी ओर फेंका करते थे। हमारे देश के निवासी इतने अधिक पतित हो गये थे कि बहुत से लोगों को इस बात में सन्देह होने लग गया था कि भारतवर्ष कभी अपने ही आदमियों की प्रतिभा के बल खड़ा हो भी सका था या नहीं। आख़िर में एक ऐसा सच्चा महात्मा और जनता का एक ऐसा बड़ा नेता पैदा हुआ, जो हमारे यहाँ बहुत पुराने समय के ऋषियों और महर्षियों की कोटि का है और जिसका आदर करने के लिये हम सब लोग आज यहां इकट्ठा हुये हैं। वह है महात्मा गांधी। अब इस देश के भविष्य के सम्बन्ध में किसी को निराश होने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि जो अजेय शक्ति सिरजन का कार्य करती है, वह अब हमें प्राप्त हो गई है। महात्मा गांधी ने हम लोगों को एक रास्ता दिखा दिया है। यदि हम लोग उस रास्ते पर चले, तो न केवल अपनी ही रक्षा करेंगे, बल्कि और लोगों को भी उनकी रक्षा के काम में सहायता पहुंचा सकेंगे।'

और यह भी कि—'हम लोगों के बीच में आज जो महात्मा आया है, उसकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह हर तरह के व्यक्ति या राष्ट्रगत स्वार्थ-परता के भाव से बिलकुल मुक्त है।'

इन पंक्तियों के लेखक को भी पूज्य पंडित सुन्दरलाल जी के जीवन और उनकी शिक्षा-दीक्षा से उनके सामने बैठ कर अपनी अत्यन्त साधारण शक्ति के अनुसार कुछ प्राप्त करने का सौभाग्य १९३० के 'स्वतन्त्रता दिवस' के कुछ ही पहले से—यानी अब से एक युग और एक साल के क़रीब से—प्राप्त हो सका है। पंडित जी कांग्रेस के 'पूर्ण असहयोगी दल' में ही सदैव रहे और उस समय तो एक तरह उस सब से भी अलग हो, मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार के जीवन को उस उच्चतर धरातल पर खड़ा करने के साधन में संलग्न हो चुके थे जहाँ न खड़े होने से हमारे परिवार, हमारे देश और हमारी दुनिया का काम ठीक तरह चल नहीं रहा है। जब उनका 'भारत में अंगरेज़ी राज' प्रकाशित हुआ और उसके पहले और पीछे जब वे 'संसार का सांस्कृतिक इतिहास' (Cultural History of the World) लिखने में लगे रहे तब उनके निकट बैठकर काम करने के विशेष सुअवसर मिले। 'माया' को मुस्तफ़ी जी के साथ शुरू करने और साल भर किसी तरह चलाते जाने के समय और 'सहेली' के सम्पादन-काल में तथा इंडियन प्रेस की सुलभ-'सरस्वती सीरीज़' के लिए अपने चारों उपन्यासों को लिखते समय भी बीच-बीच में उनकी ५६ चक वाली सच्ची कुटी में जाकर उनके और भाई विश्वम्भरनाथ जी के पास बैठने से ही बहकाने वाले प्रलोभनों पर विजय पाने

की शक्ति और नवीन आशा, प्रबल विश्वास तथा नई स्फूर्ति की प्राप्ति हो जाती थी। जब-तब श्री मंज़र-अली सोख़्ता और महात्मा भगवानदीन से भी लाभान्वित होने का अवसर मिल जाता था। भाई मुज़फ़्फ़रहुसेन तो पंडित जी के 'विशिष्ट' परिवार में अपनी सरलता के साथ अपने ढङ्ग से विशेष प्रभावदायक हैं ही। उनसे भी वहीं पहले पहल भेंट हुई। 'विश्ववाणी' के प्रकाशन के बाद जब महात्मा गांधी के आश्रम में कई मास रहकर पंडित जी यहाँ आये तब कुछ समय बाद 'हज़रत मुहम्मद और इस्लाम' प्रकाशित की गयी और 'गीता और क़ुरान' पर अध्ययन करने और लिखने का काम-काज चला। इस काम में भी पंडित जी ने मुझे अपने साथ लेने की कृपा की, क्योंकि इस सम्बन्ध में अपने अनेक विचारों को वे समय समय पर मुझे बतला चुके थे। वे इन्हीं कामों में लगे थे तब इस नौकरशाही ने 'भारत-रक्षा' के लिए उन्हें भी १० अगस्त को जेल में ले जाकर ठहरा दिया। श्रद्धेय सोख़्ता जी तथा भाई मुज़फ़्फ़रहुसेन को भी पकड़ा गया और अन्त में भाई विश्वम्भर जी को भी। अब यहाँ रह गया 'विश्ववाणी' का ही काम, जिसमें सहयोग देना आवश्यक हो गया। इसी सब के नाते यह लेखक भी महात्मा गान्धी को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने का एक क्षुद्र अधिकारी अपने को समझने का साहस कर रहा है। सहयोगी 'शुभचिन्तक' के शब्दों में वह कहना चाहता है—

'युग-पुरुष, अरे ओ युग-द्रष्टा,
हे युग-नायक, शत नमस्कार,
युग-निर्माता, हे युग-स्रष्टा,
हे युग-वाणी, शत नमस्कार !'

और 'हिन्दुस्तान' के शब्दों में—

'निराशा में आशा साकार,
अँधेरे में पथ-दीप ज्वलन्त
देश के गौरव, बल, अभिमान,
दीर्घजीवी हों, गान्धी सन्त !'

दोषी कौन ?

बंगाल की पीड़ा और उसके हाहाकार में कमी होने की जगह वृद्धि ही होती जा रही है। और जान पड़ता है बंगाल की सी ही दशा कई सूबों की होने जा रही है। वहाँ अन्नाभाव से लोग तड़प तड़प कर मर रहे हैं। भूख की असह्य यंत्रणा से माता-पिता अपनी सन्तानों को, सन्तानें माता-पिता को, भाई भाई को, पति स्त्री को और स्त्री पति को छोड़ देने के लिए मजबूर हैं। इतना ही नहीं, इनमें से कई एक अपनी और एक दूसरे की हत्या भी कर रहे हैं। माँ-बाप के अपनी सन्तान को दस बीस रुपयों में ही नहीं, कुछ आनों और कुछ पैसों में भी बेंच देने के समाचार प्रकाशित हो चुके हैं। एक स्त्री एक आने की लाई के लिए अपने बच्चे को उतने में ही बेंच रही थी ! ऐसे दृश्य, इतने विकराल और व्यापक रूप में, इस देश के सिवा और कहीं संभव ही नहीं हैं ! स्वयं ब्रिटेन के अनेक पत्रों का यह कहना था—जैसा कि पिछले अङ्क में एक पत्र से लिखा जा चुका है—कि 'भूख की यन्त्रणा लोग इस तरह कहीं भी बरदाश्त न कर सकेंगे।' यहाँ की अंग्रेज़ी सरकार ने यह दिखला दिया कि उनका यह विचार ठीक नहीं ! इतना ही नहीं, हमारी इस दुर्दशा का दोष खुले शब्दों में 'हिन्दुस्तानी मंत्रि-मंडल' पर थोपा जारहा है और हिन्दुस्तानियों की 'स्वशासन की अयोग्यता' को ही इस अवस्था के लिए उत्तरदायी ठहराया जा रहा है। यह भी कहा जाता है कि मंत्रि-मंडल ने पहले कह दिया था कि बंगाल में वहाँ के सब लोगों के लिए चावल काफ़ी है और १९३५ के भारतीय शासन-विधान के अनुसार सूबों को खाद्य पदार्थों के प्रबन्ध के बारे में पूरी आज़ादी दे दी गई है ! बंगाल में हिन्दुस्तानी मंत्रि-मंडल मौजूद है। इसलिए उसी पर इस शर्मनाक हालत की ज़िम्मेवारी है।' कैसी बेहयाई और धोखेबाज़ी से भरा यह सब तर्क है ! बंगाल में उसके 'सब दलों के मंत्रि-मंडल' में से प्रधान मंत्री श्री फ़ज़लुल हक़ को जिस निरंकुशता के साथ अपनी जगह

से हटाया गया उसे कौन भूल सकता है ? उस मंत्रि-मंडल को इसीलिए तो तोड़-फोड़ दिया गया क्योंकि वह जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझकर उसके अनुसार कार्य भी करना चाहता था ! कहा गया कि नया मंत्रि-मंडल खाद्य पदार्थों का प्रबन्ध करने में समर्थ हो सकेगा ! पर बंगाल का चावल एक कम्पनी के और अधिकारियों के ज़रिये ख़रीदकर गवर्नर महोदय अपने विशेषाधिकार से चुपचाप बाहर, अफ़रीका तक, भेजवा सके और बंगाल में भी फौज़ी और 'सिविल' लोगों के लिए आवश्यकता से कहीं अधिक रखवा सके ! साढ़े चार करोड़ रुपये तो उस कम्पनी—इस्पहान एण्ड कम्पनी—को ही इस 'तिजारत' में मिल गये ! तब फिर बंगाल की आधे से अधिक आबादी भूखों क्यों न मरे ? अनाज पिछले मंत्रि-मंडल के समय बीस रुपये और कहीं कहीं तीस रुपये मन था। पर अब पचास रुपये और शहर से बाहर अस्सी नब्बे रुपये मन तक है। ढाके में तो सौ रुपये मन हो जाने का समाचार आया है। पर—जैसा कि डा० श्यामाप्रसाद मुकुर्जी ने जो अपने एक वक्तव्य में कहा है—चावल या आटा कितने ही स्थानों पर 'किसी भाव भी' मिल ही नहीं रहा है। ज़रूरत यह है कि 'छै हज़ार जगहों में केन्द्र खोल कर कम से कम हज़ार हज़ार मन अनाज प्रत्येक केन्द्र में भेज दिया जावे।' 'सरकार' चाहे तो उसके लिए यह कुछ भी कठिन काम नहीं है। पंजाब के प्रधान मन्त्री और रसद-मन्त्री यह बतला चुके हैं कि वहाँ जितना माल केन्द्रीय सरकार के प्रबन्ध के अनुसार ताले के अन्दर गोदामों में रखवा दिया गया था उसका दो तिहाई से अधिक अभी तक वहीं मौजूद है—न तो केंद्रीय सरकार ने उसके रुपये दिये और न उसे हटाया ! (सूबे की सरकारों ने भी इस तरह जो मनमानी की है, उसे सब जानते ही हैं।) ग़ल्ला चारों ओर से बङ्गाल जा सकता है और आजकल के हवाई जहाज़ों के 'वैज्ञानिक' समय में एक दिन में काफ़ी पहुँचाया जा सकता है, पर 'काफ़ी से कहीं अधिक' ग़ल्ला तो बंगाल-सरकार के पास वहीं मौजूद है !

हमारे साथी भाई 'विनोद' जी कलकत्ते में जिन दर्दनाक दृश्यों को अपनी आँखों से देख आये हैं उन पर वे इस अङ्क में बहुत कुछ लिखना चाहते थे। पर एक फोड़े से परेशान होने और फिर उसका ऑपरेशन कराने से वे ऐसा नहीं कर सके। जहाँ जहाँ लोग भूख-यन्त्रणा से तड़प रहे हैं वहाँ सरकारी गोदामों से इस समय ग़ल्ला दे देने और अपने लिए फिर मँगा लेने में क्या कठिनाई है ? यही प्रश्न उनके, हम सब के और अन्य लोगों के सामने है। पर क्या खाद्य विशेषज्ञों और प्रति दिन बढ़ते जाने वाले रसद-विभाग के इतने अधिक अफ़सरों की समझ में यह सीधी-सादी बात भी नहीं आती ? अवश्य आती होगी। तब इसका असली रहस्य क्या है ?

अंग्रेज़ी शासन शुरू होने के बाद १७७० में बङ्गाल में जो 'भयङ्कर अकाल' पड़ा था और जिसमें 'मनुष्यों' (?) द्वारा डाले हुए इस अकाल के समान ही, एक तिहाई आबादी मृत्यु-मुखमें पड़ गई थी, उसके बारे में महात्मा गान्धी के 'यंग इण्डिया' पत्र में लिखते हुए, आँकड़े देकर, दीनबन्धु एन्ड्र्यूज़ साहब ने यह दिखलाया था कि उस साल अँग्रेज़ी-सरकार ने वहाँ से पिछले सालों से भी अधिक रुपयों की तहसील-वसूल की थी ! दो सौ साल के क़रीब यहाँ 'राज्य' करने पर भी इस नौकरशाही-व्यवस्था में वही शोषण का भाव और वही हृदयहीनता मौजूद हैं। असिल में जिस 'अंग्रेज़ी लोकतन्त्र' का गुणगान करते ब्रिटेन के टोरी, 'उदार' और अन्य साम्राज्यवादी दलों के ही लोग नहीं, मजदूर दल के भी अनेक लोग, कभी नहीं थकते और इस समय तो थक ही नहीं सकते, उसकी पोल संसार भर के सामने पिछले महा युद्धों और इनके बीच के ज़माने में पूरी तरह खुल चुकी है। अंग्रेज़ जाति अब भी अपनी उन्नीसवीं सदी की प्रभुता के गर्व के मद में डूबी हुई है। पर अब बीसवीं सदी का भी आधा बीत जाने में सात साल से कम रह गये हैं और बीसवीं सदी के इन तैंतालीस वर्षों में बाक़ी दुनियाँ सोती नहीं रही है। अब यूरुप और अमरीका ही नहीं, एशिया भी सब कुछ समझ-

बूझ रहा है ! इसलिए 'केन्द्रीय' सरकार और सूबे की 'सरकारें' एक दूसरे पर 'अदूरदर्शिता और कुप्रबन्ध का तथा 'रेल के डिब्बे न देने' और उचित सामञ्जस्य न रख सकने का दोष लगाने का खिलवाड़ छोड़ कर संसार के सामने अपने मानवी उत्तरदायित्व को समझें और उसे सँभाल सकें तो सँभालें; नहीं तो अब उनका 'परम सहायक' अमरीका ही उनके मनमाने शासन की बुराइयों का चारों ओर प्रचार कर उनसे यह 'बोझा' छोड़ देने को कहने लग गया है। हाल में ही प्रकाशित श्री ओवन लेटिमोर (जो राष्ट्रपति च्यांगकाई शेक के अमरीकी सलाहकार रह चुके हैं) तथा और और लोगों के बयान और Empire in Transition (बदलता हुआ साम्राज्य) और American Empire in Asia (एशिया में अमरीकी साम्राज्य) नामक नई पुस्तकें इसी के परिणाम हैं। हम फिर कहते हैं कि यह सभी जानने समझने योग्य हो गये हैं कि वस्तुतः दोषी साम्राज्यवादी अंगरेज़ी-सरकार ही है।

नम्र निवेदन

पराधीन देशवालों के कुछ लोगों के कुछ काम प्रत्येक क्षेत्र में—साहित्य के क्षेत्र में भी—स्वाधीन देश वालों के लोगों के कामों से ऐसे दूसरे ढङ्ग के होते हैं कि जब-तब आश्चर्य और दुःख से अभिभूत हो जाना पड़ता है। एक ओर गांधीवाद को पूंजीवाद, फासिस्टवाद, प्रो-नाज़ीवाद और प्रो-जापानी आदि साबित करने, हिन्दुस्तान में चीन की तरह चरख़े चलाने और अपने बेकार आदमियों की ही शक्ति का उपयोग कर अन्य ऐसे आवश्यक कामों को प्रतिक्रियावादी या विज्ञान के विरोधी काम प्रमाणित कर देने और हिन्दुस्तानी भाषा को हिन्दी और उर्दू को बिगाड़ने वाली भाषा दिखला देने के 'दृढ़' प्रयत्न हैं, तो दूसरी ओर राजस्थानी, बुंदेलखण्डी आदि आदि बोलियों को हिन्दी से स्वतन्त्र और विश्वविद्यालय में पढ़ाने योग्य दिखाने तथा राजस्थानी और बुंदेलस्थानी आदि 'जनपदों' को बना कर उनमें सोवियत् रूस के ढङ्ग से उन्हीं 'स्थानों' की मातृ-भाषाओं में 'साहित्य' की रचना कर उसके प्रचार करने की योजनायें हैं और तीसरी ओर हिन्दू संस्कृति को मुसलिम आदि के संसर्ग और प्रभाव से सर्वथा अलग-थलग—अछूती—और 'अपने ढङ्ग से रहने वाली' या 'स्वयं विकसित होने वाली' मानने और तुलसीदास तथा रामायण आदि के विरुद्ध कुछ भी स्वतन्त्र विचार प्रकट करने वालों को राम, कृष्ण और वेद आदि के विरुद्ध लिखने वालों से भी कहीं घृणित तथा 'ज़लील' कार्य करने का सार्टीफिकेट दे देने के 'अजीब व ग़रीब नज़ारे' हैं।

पं० गोरखनाथ चौबे एम० ए० का 'राष्ट्रीयता से लोकप्रियता' शीर्षक एक लेख 'विश्ववाणी' के पिछले अङ्क में प्रकाशित हुआ था। चौबे जी को यह आशा थी कि कोई न कोई लेखक उनके इस लेख पर अपने विचार अवश्य प्रकट करेगा। 'विश्ववाणी' में प्रकाशित अन्य कई विद्वान् लेखकों, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री भीष्म साहनी एम० ए०, पं० श्यामनारायण एम० ए० साहित्यरत्न, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए०, आदि के लेखों की कुछ बातों के बारे में लोगों ने यहाँ हमारे पास आकर चर्चायें तो कीं, पर किसी ने इनमें से किसी के बारे में कुछ भी लिख कर नहीं दिया—यद्यपि ऐसा करने को उनमें से कुछ लोग कह गये थे। परन्तु पिछले अङ्क में एक लेख पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने गोस्वामी जी की विचार-धारा शीर्षक लिखा था, उसके सम्बन्ध में प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' में एक 'नोट' तुरन्त निकल गया। और यह ऐसी पत्रिका है जो आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल और उसके बाद श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी के सम्पादन-काल में ही नहीं बल्कि इस समय भी 'स्वतन्त्र' विचारों से भयभीत नहीं होती, बल्कि उन्हें अपनाना चाहती है। यह हम इसलिए निस्सन्देह कह सकते हैं क्योंकि हमें 'सरस्वती' के दोनों सुयोग्य सम्पादकों के साथ काफ़ी रहने का सुअवसर मिल चुका है। श्रद्धेय पं० देवीदत्त जी शुक्ल से तो इन

पंक्तियों के लेखक का साधारण परिचय उसी समय हो गया था जब श्रद्धेय पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक थे। यह लेखक बख़्शी जी (अब छाया-सम्पादक) के छोटे भाई के साथ कालेज में था। वे भी उस समय कहानीलेखक थे और इस लेखक ने साहित्य-सेवा के क्षेत्र में यकदम महारथी बन जाने की इच्छा और अभिलाषा से बेचैन हो कर एफ० ए० में पढ़ते समय ही अपनी पहली-रचना—भारत रहस्य—का प्रकाशन स्वयं प्रारम्भ कर दिया था और यह 'निश्चय' किया था कि जब तक महात्मा गान्धी का यह 'धर्म युद्ध' चलता रहेगा और यह देश ठीक तरह से आज़ाद न हो जायगा तब तक जनता के सामने 'भारत-रहस्य' उपन्यास के अनेक भागों के रूप में उस युद्ध और सच्चे मानव जीवन के रहस्यों को रखता रहेगा। पर इस संसार में हम कैसे साधारण व्यक्तियों के जाने कितने 'निश्चय' तरह तरह से 'अनिश्चय' में बदल जाते हैं। अस्तु। शुक्ल जी से पिछले डेढ़ युग—अठारह साल से—और श्री उमेश जी से जब से वे 'सरस्वती'-सम्पादक हुए तभी से इस लेखक का इतना काफ़ी साथ रहा है कि वह ऐसा कहने का अपने को अधिकारी समझता है।

अभी 'सरस्वती' के जनवरी-फ़रवरी के अङ्कों में ही श्री अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी के लेख गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण की ही कुछ बातों को इतिहासविरुद्ध प्रमाणित करने को निकले। उनके बारे में दो पत्र-पत्रिकाओं में यह प्रकाशित हुआ है कि उनसे 'आर्ष ग्रन्थों के प्रति अश्रद्धा फैलती है।' इन लेखों का 'सरस्वती' में प्रकाशित होना हमारी बात को पुष्ट करता है। फिर 'सरस्वती' के इसी सितम्बर वाले अङ्क में ही जाति-पाँति के ख़िलाफ़ श्री संतराम जी का एक लेख मौजूद है। श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित ने भी इस जाति पाँत की व्यवस्था बनी रहने के लिए गोस्वामी जी ने जो विचार प्रकट किये हैं उन्हें ही तो देश के लिए हानिकारक बतलाया है। अपने इस विचार में वे अकेले नहीं हैं। अन्य कितने ही मान्य व्यक्ति भी ऐसे विचार प्रकट कर चुके हैं। फिर दीक्षित जी पर और इस लेख पर ऐसा नोट लिखना जिससे संकुचित, प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक भावनाओं को उभाड़ मिले 'सरस्वती'-सम्पादकों के 'कर्तव्यपालन' में कैसे आ सकता है और ऐसा करना उन्हें कैसे शोभा दे सकता है? विश्ववाणी के इसी अङ्क में ब्राह्मणों की 'प्रतिक्रान्ति' पर प्रसिद्ध विद्वान् डा० दत्त का एक लेख है। अगले अङ्क में ब्राह्मणवाद पर हमारे साथी 'विनोद' जी लिखना चाहते हैं। इन सब पर गम्भीरता से विचार करना पड़ेगा—कटु और साम्प्रदायिक भावों के साथ नहीं। अन्त में हम तो यही कहेंगे कि यह हमारी इस डेढ़ दो सौ साल की कठिन और भांति भांति से बहकाने वाली पराधीनता का ही एक विशेष कुफल है कि ऐसे उदार और स्वाधीन विचारों वाले लोगों के हाथों से भी ऐसा 'नोट' निकल गया।

अपनी बात

(१) 'विश्ववाणी' के सम्पादक-त्रय में इसके प्रधान सम्पादक भाई अख़्तरहुसैन कश्मीर-ग्लैशियर की यात्रा में हैं, नहीं तो 'लड़ाई का हाल' और सम्पादकीय विचार वे ही लिखते। पाठकगण यह जानते ही हैं कि उनका समाजवाद 'सच्चे राष्ट्रवाद' का विरोधी नहीं। महात्मा गान्धी के व्रत के समय मार्च १९४३ के अङ्क में उन्होंने जो लाइनें लिखी थीं कम से कम उन्हें ही उन लोगों को पढ़ जाना चाहिए जो यह अब भी नहीं समझ पाते, और व्यर्थ ही 'विश्ववाणी' की नीति के बारे में तरह तरह की बातें फैलाते हैं। उन्होंने स्पष्टत: लिखा था—'भारत ने अपने इतिहास में दो महात्मा पैदा किये हैं—गौतम बुद्ध और गांधी...' और श्री जमनादास द्वारकादास ने अभी गान्धी जयन्ती पर गान्धी जी को सब से बड़ा 'समाजवादी' कहा है। 'समाजवाद' समझने की चीज़ है,—चिढ़ने की नहीं। (२) भाई विनोद जी स्वस्थ होकर, अगले मास में हमारा साथ दे सकेंगे और जो लेख उन्हें लिखना है उसके लिए तो कभी से काफ़ी से अधिक मसाला इकट्ठा कर चुके हैं। (३) जनवरी के अङ्क में हम कुछ विशेषतायें रखना चाहते हैं। (४) यह अङ्क गांधी-जयंती सप्ताह के कुछ बाद निकल रहा है।

—विजय वर्मा

मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

विश्ववाणी

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल (जेल में)



सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख्तर हुसेन रायपुरी

नवम्बर १९४३

इस अंक के कुछ लेख

वार्षिक मूल्य ६)
'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद
एक अङ्क का ।।=)

विषय-सूची

नवम्बर १९४२

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ६ | नवम्बर, १९४३ | अङ्क ५, पूरे अङ्क ३४

यहूदी जनता का धर्म

पंडित सुन्दरलाल

लाखों बल्कि करोड़ों 'यहूदी जन साधारण के सीधे सादे विश्वास, उनके पूजा पाठ आचार-विचार और कर्मकाण्ड पर इन सब लहरों का प्रभाव अत्यन्त परिमित रहा। एक ओर शुरू से आख़िर तक के चारों ओर के हालात और आत्मरक्षा की ज़रूरत ने उन्हें संकीर्ण और स्थितिपालक होने के लिए मजबूर किया, और दूसरी ओर मिश्रियों, सुमेरियों, इरानियों या यूनानियों के समान उनकी कोई अपनी उच्चतर संस्कृति न होने के कारण वे साधारण रूढ़ि-पूजा से अधिक ऊपर न उठ सके। यहूदी क़ौम अधिक विशाल सुमेरी क़ौम की एक टूटी हुई शाख़ थी। इसी तरह वह जिई और इसी तरह उसका अन्त हुआ। यहूदी जन सामान्य की उपासना की विधि और उनकी कुछ मुख्य मुख्य रूढ़ियों के बारे में यहाँ लिखा जाता है।

अबराहाम ने उस समय के बाबुल की हालत को देख कर बड़े बड़े मन्दिरों और धनाड्यय पुरोहितों का विरोध किया था। किन्तु आम लोगों को अपने दिल की तसल्ली के लिए अपनी पूजा-विधि में किसी न किसी तरह के रूप रंग, किसी न किसी स्थूल वस्तु की ज़रूरत होती ही है। इसी बात को देख कर अबराहाम ने भी किसी न किसी तरह के सीधे सादे मन्दिर की ज़रूरत महसूस की और जगह जगह इस तरह के मन्दिर याहवे के नाम पर क़ायम किये।

अबराहाम के पोते याक़ूब ने जलावतनी के दिनों में अपनी जन्मभूमि से दूर जब इस बात को महसूस किया कि ख़ुदा सब जगह एक है तो जिस तरह फ़ीनीशिया के लोग और आसपास की अन्य क़ौमें किया करती थीं उसी तरह याक़ूब ने याहवे के नाम पर एक पत्थर खड़ा करके उस पर तेल चढ़ाया और जगह को 'बैथ-एल' अल्लाह का घर, अरबी-बैत इलाह,' वैदिक संस्कृत—'वस्त्यं इला' नाम दिया। हज़ारों साल तक यह मन्दिर इसी नाम से मशहूर रहा।

जब तक यहूदी ख़ानाबदोश रहे उनके ज़्यादातर मन्दिर ख़ेमों की शक्ल में होते थे। जब वे स्थायी बस्तियों में आबाद हो गये उनके मन्दिर भी पक्के और बड़े बड़े बनने लगे। धीरे धीरे जब सुलेमान ने यरुसलम के मन्दिर को तामीर कराया तो छोटे छोटे स्थानीय मन्दिरों का महत्व घटता गया और यरुसलम के मन्दिर का बढ़ता गया। राष्ट्रीय एकता को बनाये

रखने और उसे मज़बूत करने की ग़रज से ज़्यादातर यहूदी नेताओं और नबियों ने इस प्रवृत्ति में मदद दी।

अबराहाम और मूसा दोनों ने प्रतिमा पूजा का निषध किया था। किन्तु यहूदी मन्दिर में न केवल याहवे की प्रतिमा बल्कि जगह जगह आस पास के और देवी देवताओं की प्रतिमाएं भी रक्खी जाने लगीं। इन दूसरे देवताओं को याहवे से छोटा समझा जाता था, किन्तु उनकी पूजा से निषेध जगह जगह हटा लिया जाता था और याहवे की पूजा के साथ साथ उनकी पूजा होती रहती थी।

अलग अलग युगों में यहूदियों के धार्मिक विचारों पर नज़र डालने और आसपास के देशों के विचारों से उनकी तुलना करने पर दोनों में काफ़ी समानता और सम्बन्ध दिखाई देते हैं। ज़रथुस्त्र से पहले ईरान में अनेक देवताओं की पूजा का रिवाज था। ज़रथुस्त्र ने उस विचार का खण्डन करके एक अहुरमज़्द की उपासना का आदेश दिया। अनेक प्राचीन देवताओं को ज़रथुस्त्र ने केवल अहुरमज़्द के अलग अलग गुणों या शक्तियों का सूचक बताया। अहुरमज़्द के विरुद्ध हर मनुष्य को बहकाने वाली पाप की प्रवृत्ति का भी उसने ज़िक्र किया, किन्तु उसके किसी पृथक् व्यक्तित्व को नहीं माना।

ज़रथुस्त्र के कुछ सदियों बाद ईरानियों के विचारों में फिर से अवनति शुरू हुई। शायद साधारण मनुष्य अधिक दिनों तक केवल शुष्क सदाचार के नियमों और निराकार के पूजा के सहारे नहीं जी सकता। उन्हें किसी न किसी तरह के कर्मकाण्ड और स्थूल पूजा की आवश्यकता होती ही है। यह भी मुमकिन है कि इरानियों को अपने विशाल साम्राज्य के अन्दर जगह जगह जिन रंग-बिरंगे देवी-देवताओं और उनकी तरह तरह की पूजा विधियों से वास्ता पड़ा उन्होंने ईरानियों के दिलों में भी अपना असर डाला। यह भी ज़ाहिर है कि कोई इतना बड़ा साम्राज्य या कोई मनुष्य समूह अनन्तकाल तक एक समान सजीव, सक्रिय, जागरुक और दूसरों के लिए उपयोगी नहीं रह सकता।

ज़रथुस्त्र ने जिन 'अमेशास्पंता' (अमर गुणों) को अहुरमज़्द के केवल गुण विशेष कह कर बयान किया था वे ईरान में अलग अलग देवता मान लिये गये। विश्व के अन्दर या मनुष्य के अन्दर भलाई और बुराई की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के स्थान पर अनेक देवता (असुर) और उनके विरुद्ध अनेक दैत्य (देव) गढ़ लिए गये। इस तरह यूनान में अहुरमज़्द को सहायता देने वाले अनेक फ़रिश्तों उनके काम में बाधा डालने वाले अनेक शैतानों की कल्पना ने जन्म लिया। अनेक प्राचीन वैदिक देवी देवताओं की पूजा भी फिर से होने लगी और कुछ नये देवता दूसरे देशों से आकर ईरान में पुजने लगे। नये नये कर्मकाण्ड फिर से चल पड़े। पुरोहितों का ज़ोर और उनका संगठन बढ़ा। यज्ञों और बलियों को फिर से महत्व दिया जाने लगा। कर्मकाण्ड ने सदाचार की जगह ली। शरीर की पवित्रता और छुआछूत ने हृदय की शुद्धता का स्थान लिया और एक सार्वभौम मानव धर्म बनते बनते ज़रथुस्त्री मत एक देश विशेष का सम्प्रदाय बनकर रह गया। इन सब अनुन्नत विचारों और अन्धरूढ़ियों का किसी न किसी रूप में फ़लस्तीन के अन्दर फैलना भी लाज़िमी था।

बाबुल के निर्वासन से यहूदियों के लौटने के पहले उनके धर्म में फ़रिश्तों और शैतानों का कोई ज़िक्र नहीं मिलता। किन्तु उसके बाद से एक 'याहवे' और मनुष्यों के बीच में अनेक फ़रिश्ते और शैतान माने जाने लगे। फ़रिश्तों को शुरू में यहूदी 'बेनी-इलोहिम' यानी ईश्वर के पुत्र कहते थे। शैतान को वे शुरू में ईश्वर का एक आज्ञाकारी फ़रिश्ता मानते थे, जिसका ख़ास काम मनुष्य के हृदय की बुराइयों का पता लगाकर उन्हें इस तरह के प्रलोभन देना था, जिनसे छिपी हुई बुराई प्रगट हो सके और फिर उसके उन्मूलन के उपाय हो सकें। धीरे धीरे इससे बदल कर ईरानी 'अंग्रमैन्यु' की तरह शैतान भी ईश्वर का बाग़ी और बहकाने वाला रह गया। इसके बाद एक शैतान से अनेक शैतान हो गये। फ़रिश्तों औ शैतानों के जितने नाम यहूदियों में प्रचलित थे

वे सब उन्होंने ईरानियों और बाबुलियों से लिये। मसलन ईरान का "ऐश्मदैव" इबरानी में 'अशमे दइव' हो गया। ईसाइयों और मुसलमानों में आज तक जितने नाम अलग अलग फ़रिश्तों और शैतानों के प्रचलित हैं, वे सब इन्हीं यहूदी नामों से लिये गये हैं और या तो ईरानी और बाबुली नामों से बिगड़ कर बने हैं या उनका अनुवाद हैं।

देवी, देवताओं, फ़रिश्तों और शैतानों की इस रेल-पेल में केवल एक याहवे की पूजा होना नामुमकिन था। यहूदी धर्म-ग्रन्थों तक में याहवे को "दूसरे सब देवताओं से महान"* कहा जाने लगा। इन फ़रिश्तों और शैतानों को अनेक गन्दी गन्दी रस्मों द्वारा प्रसन्न रखने की कोशिशें की जाने लगीं। इनके विषय में अनेक पौराणिक कथायें प्रचलित हो गईं जो इराकी और इरानी कथाओं की नकलें थीं। मिकाइल को जब से यहूदी अपने क़ौम का ख़ास संरक्षक (फ़रिश्ता) मानने लगे, सृष्टि को आदि में उसी तरह शैतान से युद्ध करना पड़ा था जिस तरह इराक़ में ज्योति के देवता 'मरदुक' को और ईरान में अहुरमज़्द को अन्धकार और अन्याय की शक्तियों के विरुद्ध लड़ना पड़ा था।

इसी तरह प्राचीन मिश्र में एक सुनहरे बछड़े की पूजा का रिवाज था। मूसा के पुत्र आरान ने मिश्र से लौट कर यहूदियों में इस सुनहरे बछड़े की पूजा का प्रचार किया और उसे याहवे ही का एक रूप मान कर सदियों उसकी पूजा होती रही। बाबुल में 'बाल' के नाम से उदय होते हुए सूर्य की पूजा होती थी। उसकी अनेक प्रतिमाएं थीं। यहूदियों में भी सदियों बाल की पूजा हुई। अबराहाम के जन्म स्थान उर नगर का ख़ास देवता चन्द्रमा था। यहूदियों में भी चाँद की पूजा ख़ूब होती रही। हर यहूदी महीना शुक्ल पक्ष की दूज से शुरू होता है। आज तक यहूदी दूज को त्योहार की तरह मानते हैं। चाँद को ईश्वर का एक 'शकीना' चिन्ह या साक्षात् रूप मानते हैं और आज तक पूर्णिमा से पहले एक

*PS L××× VI, 6·

दिन नियुक्त करके चाँद को नमस्कार करते हैं। और बहुत से विदेशी देवताओं और नक्षत्रों की पूजा का भी रिवाज था और अनेक यहूदी पुरोहित तक ख़ुशी से उसमें हिस्सा लेते थे।

मन्दिरों की पूजा विधि का तौरेत में पूरा पूरा हाल मिलता है। हर मन्दिर के अन्दर लकड़ी का एक चौखटा सन्दूक़ होता था। यरुसलम के मन्दिर में इस सन्दूक़ के अन्दर पत्थर की वे दो सिलें रखी थीं, जिन पर मूसा ने अपने धर्म की दस आज्ञाएं लिख रखी थीं या जो अल्लाह ने लिखी लिखाई मूसा को दी थीं। छोटे मन्दिरों की सन्दूक़ों में इसकी नक़लें रहती थीं। इस सन्दूक़ को यहूदी अपने मन्दिर की सबसे पाक चीज़ मानते थे। ठीक इसी तरह के सन्दूक़ प्राचीन मिश्रियों के मन्दिरों में होते थे, और जिस तरह मिश्री उन्हें कभी कभी जुलूस में निकालते थे उसी तरह यहूदी निकालते थे। तौरेत में मिश्रियों और उनके रिवाजों का बार बार ज़िक्र आता है।

यहूदी मन्दिरों का मुंह सदा पूरब की ओर होता था। पूजा करने वाले अपना मुंह सदा यरुसलम के प्रधान मन्दिर की ओर रखते थे और उस मन्दिर को तमाम यहूदी अपना 'क़िबला' कहते थे। लोग जूते बाहर उतार कर नंगे पैर मन्दिर में जाते थे। सिर पर टोपी या साफ़ा का होना ज़रूरी था। आज तक यूरोप के अन्दर भी यहूदी मन्दिरों में चमड़े के जूते नहीं जा सकते और सिर पर टोपी या हैट होना ज़रूरी है। मन्दिर के सब से भीतर के हिस्से में सिवाय पुरोहित के और कोई नहीं जा सकता। हर मन्दिर में एक सुनहली शमई या बत्तीदान होता था, जिसमें सात दिये या बत्तियां जलती रहती थीं। यह ख़याल रखा जाता था कि कम से कम एक न एक बत्ती चौबीस घन्टे बराबर जलती रहे। एक छोटी-सी वेदी पर धूप जलती रहती थी। सामने एक चौकी पर जिस पर सोना मढ़ा रहता था चढ़ावा यानी खाने का सामान होता था। बाहर एक बर्तन में पानी होता था और हर मनुष्य भीतर जाने से पहले अपने हाथ पैर धो लेता था। एक तरफ़ हवन की वेदी होती थी, जिसके

पास हवन करने की थालियाँ और तरह तरह के बर्तन रखे होते थे। वेदी अन्दर से लकड़ी की होती थी। उसके ऊपर पीतल मढ़ा होता था।

हर ख़ास मौके पर मन्दिर के अन्दर यहूदी धर्म-ग्रन्थों का पाठ होता था। ये ग्रन्थ मन्दिर ही में अहतिआत से रखे रहते थे। जिस तरह हिन्दुओं में वेद पाठ के अनेक ढङ्ग हैं और मुसलमानों में क़ुरान की क़िरअत के अनेक तरीक़े, उसी तरह यहूदियों में तौरेत बड़ी लय के साथ सोलह विविध तरीक़ों से पढ़ी जाती थी।

थोड़े ही दिनों में तौरेत की इबरानी ज़बान और यहूदी बोल चाल की अरामी ज़बान में वैसा ही अन्तर पड़ गया, जैसा संस्कृत और प्राकृत में या संस्कृत और हिन्दी में। तौरेत के एक एक पद को लोगों को समझाने के लिए अनुवाद करना पड़ता था किन्तु धर्म-ग्रन्थ की ज़बान देव बानी इबरानी ही रही। इस बात में ज़्यादातर यहूदी जन सामान्य इतने संकीर्ण थे कि जिस समय सिकन्दरिया में उन यहूदियों के लाभ के लिए जो इबरानी भूल गये थे, और यूनानी अच्छी तरह जानते थे, तौरेत का यूनानी में तर्जुमा किया गया तो यरुसलम में बहुत बड़ा शोक मनाया गया। ये लोग 'सुअर पालने वाले' को और उस आदमी को जो 'अपने बेटे को यूनानी विद्यायें सिखाता है' दोनों को एक समान याहवे के श्राप का पात्र बताते थे। सिवाय अपने धर्म ग्रन्थों के और किसी चीज़ को पढ़ना भी वे पाप समझते थे।

यहूदियों में अनेक त्योहार मनाए जाते थे। ये त्योहार थोड़े बहुत उलटफेर के साथ आज तक मनाये जाते हैं। ईरानी शासन के शुरू में जब हज़ारों निर्वासित यहूदी बाबुल से लौटे तो इन त्योहारों की संख्या बढ़ी। उनके मनाने के ढंग में भी बाबुली या ईरानी तरीक़ों पर अनेक परिवर्तन हुए। कोई कोई त्योहार कई-कई दिन तक मनाये जाते थे। उनमें तीन मुख्य ये थे—

बसन्त ऋतु में 'पासोवर' था, या ईस्टर का त्योहार जो आज तक यहूदियों और ईसाइयों, दोनों, का ख़ास त्योहार है। यह त्योहार मूसा के साथ यहूदियों के मिश्र से लौटने की यादगार बताया जाता है। किन्तु उसका ख़ास सम्बन्ध ऋतु से था। गेहूं की नई बालें ठीक उसी समय तैयार होती थीं। पुरोहित नई बालों को लेकर याहवे के सामने हिलाता था। हिन्दुओं की होली के समान हवन में उन बालों की आहुति दी जाती थी। कई दिन तक छुट्टी और ख़ुशी मनाई जाती थी। बिना खमीर का भोजन खाया जाता था। एक खास तरह के भजन गाये जाते थे, जिन्हें हल्लेल कहते थे। हवन के अन्दर पशुओं की बलि चढ़ाये जाने का ऊपर ज़िक्र आ चुका है। हर त्योहार पर खास तौर पर बलि होती थी। पासोवर के त्योहार में शराब पिये जाने का भी ज़िक्र मिलता है। आज तक यहूदियों की समरितन सम्प्रदाय के लोग ठीक उसी तरह इस त्योहार को मनाते हैं और पशुओं की बलि भी चढ़ाते हैं। प्राचीन बाबुल में भी यह त्योहार क़रीब क़रीब इसी तरीक़े पर मनाया जाता था।

सात सप्ताह बाद जब गेहूँ और जौ की फ़सल कटकर आती थी 'पेन्टे कोस्ट' का त्योहार मनाया जाता था। कहा जाता है कि उस दिन ईश्वर ने मूसा को दस आज्ञाएँ वाली शिलाएँ प्रदान की थीं। इसमें नये गेहूँ की खमीरी रोटी याहवे के सामने चढ़ाई जाती थी।

शरद ऋतु में सात दिन तक लोग घरों से निकल कर ख़ेमों में रहते थे। इसे 'टैबर नेकल' की दावत कहते थे। इस त्योहार में सबसे ज़्यादा पशुओं की और विशेषकर बैलों की बलि चढ़ाई जाती थी।

दाऊद जैसे पैग़म्बर ने भी महामारी शान्त हो जाने की ख़ुशी में आग के अन्दर पशुओं की बलि चढ़ाई। यहूदी धर्म-ग्रन्थों में आज तक बड़े विस्तार के साथ नियम दिये हुए हैं कि जानवर को कौन वध करे, किस तरह बलि चढ़ाई जावे और कौन किन किन तरीक़ों पर अलग अलग रस्मों को अदा करे।

बाद के दिनों में ऊपर के तीनों त्योहारों पर घर के सब मर्द यरुशलम के मन्दिर की यात्रा करते थे, जिसे यहूदी 'हज' कहते थे।

सन् १६५ ईसा पूर्व से जब कि यहूदी देशभक्त यूदा ने यरुसलाम के मन्दिर को यूनानियों के हाथों से आज़ाद किया, उस विजय की ख़ुशी में यहूदियों में एक नया त्योहार जारी हो गया, जिसे 'दियों का त्योहार' कहा जाता है। दिसम्बर के महीने में आठ दिन हर रोज़ रात को घरों में, गलियों में और बाज़ारों में ख़ूब दिये जलाये जाते हैं, दावतें होती हैं और खुशियाँ मनाई जाती हैं।

जब यहूदियों का नया वर्ष शुरू होता था, तो शुक्ल पक्ष की दूज को वे नौरोज़ मनाते थे और उस दिन दिनभर तुरही बजाते थे। ख़ास ख़ास त्योहारों पर ये लोग कभी कभी दिन भर और कभी ज़्यादा उपवास रखते थे। आज तक बहुत से यहूदी हर सोमवार और बृहस्पतिवार को उपवास रखते हैं। अनेक तीस दिन के लिये शराब, अंगूर इत्यादि कई चीज़ों के न खाने, बाल न बनवाने और मन्दिर में रहकर लगातार भजन करने का व्रत ले लेते थे।

नौरोज़ के दस दिन बाद एक दिन सबके साल भर के पापों के प्रायश्चित का दिन मनाया जाता था। दिन भर सब उपवास रहते थे, अपने शरीर को कष्ट देते थे और शाम को दो बकरे लेकर एक याहवे के नाम पर बलि चढ़ा देते थे और दूसरा सबके पापों का बोझ उसके सिर पर रखकर शैतान ना अज़ाज़ील के नाम पर जंगल में छोड़ आते थे। इस दिन को यहूदी आज तक 'योम किप्पर' (अरबी, योम कफ़्फ़ारह) कहते हैं। अज़ाज़ील और शैतान दोनों ईरान में दैत्य सरदारों के नाम थे।

ज्योति-शिखा

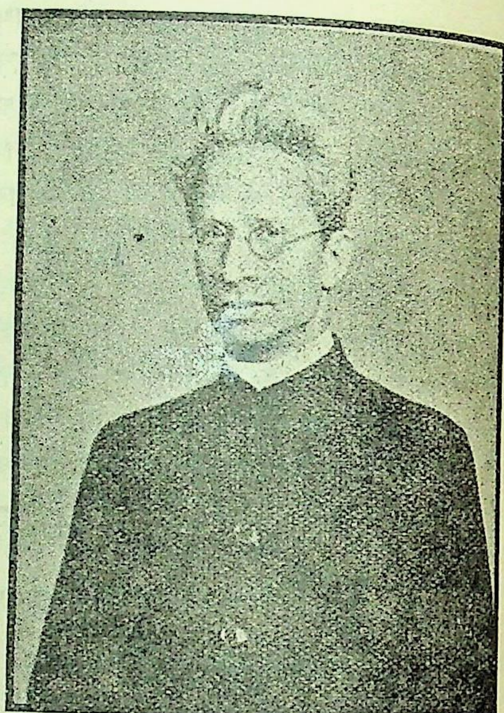
श्री कृष्णदास एम० ए०

दीपक जले जला ही जाए।

आवें कठिन वायु के झोंके,
आवें वे चंचल तम होके;
पर दीपक की ज्योति-शिखा को
कोई बुझा न पाए;—दीपक जले जला ही जाए।
जब तक रहे दिया में बत्ती,
जब तक तेल एक भी रत्ती,
घोर तमिस्रा की छाती पर,
यह प्रकाश घहराए;—दीपक जले जला ही जाए।
मानव अपनी संस्कृति भूला,
निज गति भूला, निज मति भूला,
गति-मति-हीन मनुजता को,
यह मुक्ति-मार्ग बतलाए;—दीपक जले जला ही जाए।
अपना जीवन आप मिटा कर,
अपनी किरणों को बिखरा कर,
घर-घर में प्रकाश की रेखा
यह दीपक विकसाए;—दीपक जले जला ही जाए।

भारतीय राष्ट्रीयता के मौलिक तत्व

सर सर्वपल्लि राधाकृष्णन्



सरसरी तौर पर देखने वाला कोई भी विदेशी यात्री यह समझेगा कि हिन्दुस्तानियों को इस समय किसी चीज़ से इतनी दिलचस्पी नहीं जितनी राजनीति से। जो अधिक गम्भीर विषय युगों से हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते आये हैं उन्हें हम इस समय लगभग भूल चुके हैं। लोगों में यह आम धारणा दिखाई देती है कि दीर्घ पुरातन काल में हम जीवन को जिस सांस्कृतिक दृष्टि से देखते थे वास्तव में वह वैसा नहीं है बल्कि कहीं अधिक कठोर और निर्दय है। मैं इससे इनकार नहीं करता कि राजनीति के प्रति इस दिलचस्पी के लिये काफ़ी वजह है। मात्र शारीरिक आवश्यकताओं के लिये संघर्ष पर जो ज़ोर इस समय दिया जा रहा है, वह इससे पहले भारत में कभी नहीं दिया गया था। बनर्ड शा कहते हैं कि ग़ुलामी से मुल्क की वही कैफ़ियत हो जाती है जो किसी मनुष्य की एक भयानक फोड़े से हो जाय। ग़ुलामी मनुष्य को दूसरी बात सोचने ही नहीं देती। वह हर नीमहकीम को अपनी नब्ज़ दिखाने के लिए तैयार रहता है। पश्चिम से जो हमें शिक्षा मिली है वही इस राजनैतिक उथल-पुथल के लिये ज़िम्मेवार है। इस शिक्षा ने हमारे अन्दर एक सामाजिक धड़ाके का सा काम किया है। उसने हमारी शक्ति पर मानों एक चिनगारी रख दी है। यूनान के प्राचीन नगर और गणतन्त्रों की राजनैतिक विचारधारा ने हमें स्वाधीन नागरिकता और न्याय्य सामाजिक व्यवस्था की शिक्षा दी है। हमने यह सीखा है कि ऐसी हर सरकार जो शासितों की इच्छा के बिना शासन करती है, ग़ुलामी का ही दूसरा नाम है। ठीक ठीक शासन चलाना राज का उतना लक्ष्य नहीं जितना लोगों को शिक्षित करना। राज का उद्देश्य स्वशासन या जन-शासन के लिये लोगों को शिक्षा और अवसर देना होना चाहिये। यदि उनका इस्तेमाल न हो तो माँस पेशियाँ भी गल जाती हैं। यदि फैलाये न जाँय तो स्नायुतन्तु सख़्त हो जाते हैं। नए विचारों की नई झांकी पाकर मानव के हृदय में उत्सुकता और बेचैनी जाग उठती है। वह हर रुकावट पर दाँत काटने लगता है। भारत की इस विद्रोह-भावना को देखकर अंगरेज़ों का हृदय गर्व से भर जाना चाहिये। वह उनके लिये ख़ुश होने और प्रशंसा की वस्तु है, निन्दा की नहीं। मालूम होता है हमने पश्चिम से एक बात और सीखी है और वह यह कि सफलता मिल जाय तो सब साधन जायज़ हैं और अपने देश का फ़ायदा होता हो तो नैतिक कमियाँ भी माफ़ हो सकती हैं। राजनैतिक सदाचार का यह दृष्टिकोण एक बिलकुल अलग चीज़ है और हमारे यहाँ की यह मर्यादा कि हिंसा या अन्याय एक ऐसा पाप है जिसके लिये किसी को क्षमा नहीं

किया जा सकता, बिलकुल एक दूसरी चीज़ है। ये दोनों एक दूसरे से परस्पर असंगत हैं। हमारी असली राष्ट्रीयता का यह मतलब है कि हम अपनी आत्मा को क़ायम रखने के लिये, अपनी आन को बनाये रखने के लिए और अपनी अखंडता के लिये अपनी शक्ति भर हर तरह से कोशिश करें और दुनिया की समस्याओं को हल करने में अपने ख़ास ढङ्ग को क़ायम रखें। हम अपने आपे को क़ायम रखने के लिये आज़ादी चाहते हैं ताकि संसार की भावी उन्नति में हम अपना अलग और ख़ास हिस्सा ले सकें। अगर हम अपना व्यक्तित्व खो बैठे तो हमारे लिये यह सब कर सकना असम्भव होगा। हमें अपनी आत्मा को अंगरेज़ी आत्मा या रूसी आत्मा बनाने की कोशिश नहीं करनी चाहिये, बल्कि हमें इन देशों से भी वे सब चीज़ें ले लेनी चाहियें जो हमारी अपनी आत्मा के उत्तरोत्तर विकास में मदद दें। हम केवल उसी चीज़ से फ़ायदा उठा सकते हैं जिसे हम अपने रंग में रँग कर अपने व्यक्तित्व का अंश बना सकें।

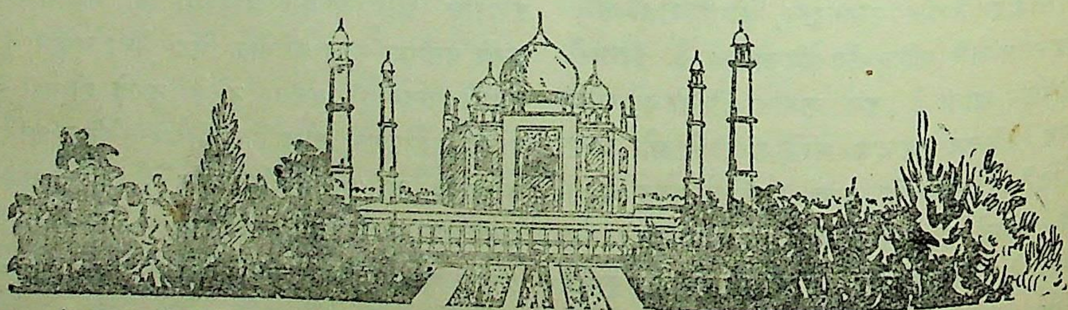
लेकिन सच यह है कि इस सवाल के ऊपर बहुत लोग बहुत ढीले ढाले तरीके से सोचते हैं। हमारे बहुत से नेताओं के दिमाग़ों में भी अंगरेज़ी हुकूमत का विरोध और अंगरेज़ी संस्थाओं से प्रेम ये दोनों चीज़ें एक बड़े अजीब तरीके से मिली हुई हैं। उन्हें अपने देश को पश्चिमी सांचे में ढालने की ख़्वाहिश ज़्यादा मालूम होती है। वे इसे एक दूसरा यूरोप बना देना चाहते हैं। जब कभी वे पश्चिमी संस्थाओं की टीका टिप्पणी भी करते हैं तो उसमें भी कार्लमार्क्स और टाल्सटाय, रोमाँ रोलाँ और बरट्रण्ड रसल जैसे पश्चिमीय विचारकों के विचारों की ही ध्वनि आती है। हम कभी कभी तो बड़े ज़ोरों के साथ पश्चिम का दम भरने लगते हैं और कभी कभी उतने ही ज़ोरों के साथ हिन्दुस्तानियत का। हमारी तबीयतें बदलती रहती हैं। हम एक परिवर्तन के युग में पैदा हुये हैं और उसी में रह रहे हैं। हमारे दिलों पर भविष्य के लिये अनिश्चितताओं का बोझ है। हमारे दिमाग़ों में गड़बड़ और अव्यवस्था है। जो संग्राम चुपचाप मनुष्यों की आत्माओं के अन्दर होते रहते हैं, वे उन दिखावटी संग्रामों के मुक़ाबले में जो राजनैतिक रंगभूमि पर होते रहते हैं, ज़्यादा महत्व के होते हैं। हमारे विश्वविद्यालयों का काम यह होना चाहिये था कि वे इन बुनियादी समस्याओं पर, इन मौलिक चीज़ों पर लोगों के विचारों को ठीक और संगठित करते। लेकिन दुर्भाग्यवश हमारे देश के विश्वविद्यालय उदासीनता और अकर्मण्यता के रोग में फंसे हैं।

सामाजिक और सांस्कृतिक मामलों में हालत इससे बहुत ज़्यादा अच्छी नहीं है। मालूम होता है कि हम परस्पर विरोधी हालतों के बीच में झूलते रहते हैं। कभी हम गर्व से भर जाते हैं और कभी अपने को तुच्छ समझने लगते हैं। हम बराबर अपने कन्धों के ऊपर से मुड़ मुड़ कर यह देखते रहते हैं कि दूसरे क्या कर रहे हैं। हमारी हालत दयनीय है। हमें यह चिन्ता सताती रहती है कि दूसरे हमें देखकर हंसने न लगें। एक तरफ़ तो हम अपने राष्ट्रीय शरीर के नासूरों पर शरमाते रहते हैं और दूसरी तरफ़ हमें यह सूझ ही नहीं पाता कि इन नासूरों को कैसे दूर किया जावे। वह सनातन मर्यादा जो हमारी रक्षा कर सकती थी चीथड़े चीथड़े हो चुकी है। उसमें सैकड़ों पेबन्द लगे हुये हैं। वह क्रान्तिकारी जो चारों तरफ़ की ठोस परिस्थिति को नज़रअन्दाज़ करके केवल बुद्धि से अपना रास्ता तय करना चाहता हो हमारे सारे भूतकाल को एक क़लम मिटा देना चाहता है। प्राचीनता का पुजारी भी उसी दरजे तक सच्चे इतिहास और जीवित घटनाओं को नज़रअन्दाज़ करके वर्तमान काल को साफ़ मिटा देना चाहता है। हमारी अन्दर की एकता टुकड़े टुकड़े हो रही है। हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक शक्तियों की एकाग्रता टूट गई है। और विश्वविद्यालय की उस तालीम से हमें क्या फ़ायदा जो हमारी उस एकता और एकाग्रता को फिर से क़ायम न कर सके, नये और पुराने का सामंजस्य न करा सके?

पुराने ज़माने के बढ़बढ़ कर राग गाना आसान है। लेकिन अगर हम उन विचारों के सनातन जाल में सन्तुष्ट पड़े रहें जो निर्जीव रूढ़ियाँ बनकर रह गये हैं, तो ये हमारे पतन की एक असन्दिग्ध पहचान होगी। जीवन के बहाव में भूतकाल वर्तमान नहीं है और न हो सकता है। उन्नति की पहचान ही नवीनता और साहस है। पतन की पहचान नक़लची होना और रूढ़ियों को चिपटे रहना है। पुराने ज़माने के लोगों की बुद्धि चाहे कितनी भी पूर्ण रही हो जिन नाम रूपों और रूढ़ियों के अन्दर इस बुद्धि ने अपने को प्रकट किया वे नाम रूप और रूढ़ियां अन्तिम नहीं हो सकती। इन नाम रूपों और रूढ़ियों को तोड़कर नये सिरे से गढ़ने की ज़रूरत है। हमें अपने जीवन की आत्मा को, उसकी आन्तरिक भावना को फिर से जगाना चाहिये और उसे नये उद्देश्यों को पूरा करने में लगाना चाहिये। किसी भी क़ौम की आत्मा का पता इससे नहीं चलता कि वह क़ौम पुराने ज़माने में क्या थी और न इससे चलता है कि वह इस समय क्या है। जब हम किसी भी क़ौम के इतिहास को ध्यान से पढ़ते हैं तो हमें कोई न कोई चीज़ गहरी और बुनियादी उस इतिहास में मिलती है। वही चीज़ है जो सदा नई नई शक्लें, नये नये नाम रूप धारण करती रहती है, यद्यपि वह आत्मा किसी नाम रूप में भी अपने पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं होती, अपने को पूरी तरह प्रकट नहीं कर पाती। क़ौम की आत्मा को केवल इस निरन्तर बढ़ते हुये आदर्श के शब्दों में ही बयान किया जा सकता है। यही क़ौम के दिलों और दिमाग़ों में काम करने वाला वह असल उसूल, वह तत्व है जो उस क़ौम की किसी भी समय की अवस्था विशेष में बहुत अधूरा समझा जा सकता है। लेकिन अगर हम उस क़ौम के मुख़्तलिफ़ ज़मानों की हालतों का तरतीबवार एक दूसरे के बाद रखकर अध्ययन करें तो उस तत्व को साफ़ साफ़ देख सकते हैं। जीवन का रहस्य उत्तरोत्तर उन्नति और परिवर्तन में है। भारत में ख़ास ज़ोर इसी बात पर दिया गया है कि मनुष्य और विश्व, पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों के अन्दर जो एक आत्मा काम कर रही है वही जीवन है, वही सत्य है और हमें जहाँ कहीं भी मिल सके वहीं सत्य की खोज करनी चाहिये। भारत ने अपने हाथ हमेशा इसी जीवन को बढ़ाने, उन्नत करने, और विकसित करने की तरफ़ बढ़ाये हैं। अनावश्यक नाम रूपों और रूढ़ियों के जिस गोरखधन्धे ने हमें जकड़ रखा है वह तभी टूट सकता है जब हम अपनी सच्ची आत्मा को फिर से साक्षात कर लें। जितना कूड़ा कर्कट सदियों में हमारे पास जमा हो गया है और पीढ़ी दरपीढ़ी चला आ रहा है उसे जला डालना होगा। केवल उसे जलाकर ही हम अपनी स्थायी और अटल सम्पत्ति को क़ायम रख सकते हैं। इन्हीं मौलिक तत्वों की बिना पर हम राष्ट्रीयता को वास्तविक भारतीय रूप दे सकते हैं।*

---

* एक भाषण—सम्पादक



बैल और किसान

श्री मन्नूलाल शर्मा "शील"

तक तक तक तक बैल !

हुई ठीक दुपहर है प्यारे,
मृगमरीचिका चली किनारे,
खेत पड़ा है पैर पसारे,
ओ मौके के मीत हमारे !

तुम पर बड़ा भरोसा मुझको,
मैंने पाला - पोसा तुमको,
मेहनत के दिन यार न झिझको,
हिम्मत मत हारो मत ठिठको !

तय कर ली है हमने तुमने
साथ हराई गैल। तक तक०

आती होगी घर की रानी,
लिये तुम्हें चोकर की सानी,
मुझको लपसी ठण्ढा पानी,
पली प्रेम में, ठगी, बिकानी !

फर-फर उड़ती चूनर काली,
आती होगी बनी मराली,
रँजे नयन, अधरों में लाली,
अंग - अंग में भरे बहाली !

मृदु मुसकान चपल चितवन से
ठगती छलिया छैल। तक तक०

देखो अन्तर करो न साथी,
बिचक-बिचक पग धरो न साथी,
मेरे साथी, जग के साथी,
तन के साथी, मन के साथी !

बीघा, डेढ़ हो गया उनका,
पूरा काम हो गया उनका,
मुझको रोटी, तुमको तिनका,
है आधार यही जीवन का !

चलो पेट भर लें चल करके
दुखिया बैल डटैल। तक तक०

पूर्वी अफ्रीका में इसलाम और ईसाई धर्म

श्री नारायण दास बी० ए०, सी० ई०

अफ़रीका की जंगली और रेतीली भूमि में सदियों से इसलाम और ईसाई धर्म में प्रतिस्पर्धा चल रही है। उत्तरी अफ़रीका में अरबों और तुर्कों के शासन के कारण इसलाम की जड़ें इतनी गहरी जम गई हैं कि ईसाई धर्म राजनैतिक विजेता की हैसियत से भी उससे टक्कर न ले सका। दक्षिण अफ़रीका में इसलाम की व्यापक पहुँच नहीं हो सकी और इसीलिये वह वहाँ के अफ़रीकी क़बीलों में व्यापक असर नहीं पैदा कर पाया। पूर्वी और पश्चिमी अफ़रीका में सदियों तक ग़ुलामों की बिक्री चलती रही। पूर्वी अफ़रीका में यह व्यापार लगभग अरबों के हाथ में था। पश्चिमी अफ़रीका का ग़ुलामों का व्यापार यूरोप के ईसाइयों के हाथों में था। धीरे-धीरे ग़ुलामों का यह व्यापार समाप्त हो गया और अरबों की राजनैतिक सत्ता भी समाप्त हो गई। पूर्वी अफ़रीका पर इस समय ईसाइयों का राजनैतिक आधिपत्य है; इसलाम वहाँ केवल अपने नैतिक आधार पर स्थिर है। इस दृष्टि से पूर्वी अफ़रीका में इसलाम और ईसाई धर्म की होड़ की विवेचना ख़ासी दिलचस्प है।

इसलामी दुनिया में तुर्कों और ईरानियों को छोड़कर राष्ट्रीयता की भावना उतनी प्रधान नहीं है जितनी मज़हब की है। मज़हब का स्थान विरासत और क़ौमीयत से कहीं ऊंचा है। यदि आप एक अफ़रीकी मुसलमान से उसके क़बीले का नाम पूछें तो वह अपने को 'म्विसलामु' बतायेगा। म्विसलामु का अर्थ पूर्वी अफ़रीका की 'स्वाहेली' भाषा में मुसलमान है। शुरू के ईसाई भी अपने आपको इसी तरह ईसाई कहते थे। ईसा स्वयं व्यक्ति या जाति की उच्चता के क़ायल नहीं थे। हज़रत ईसा स्वयं यहूदी थे, किन्तु यहूदियों में सर्वश्रेष्ठ वर्ग 'फ़ैरिसीज़' के प्रति उनकी बड़ी कठोर भावना थी क्योंकि फ़ैरिसीज़ निम्नस्तर के यहूदियों के साथ बुरा व्यवहार करते थे, जो हज़रत ईसा की नज़रों में एक जघन्य अपराध था। राल्फ़ वाल्डो ट्राइन हज़रत ईसा के सम्बन्ध में लिखता है—"क्रूर राज कर्मचारियों और पापियों के साथ भोजन करते थे। यहूदी पुरोहित और धर्मगुरु इसे घृणित और अशुद्ध बताते थे। ये लोग अपने अहंकार में और अपने बड़प्पन और पवित्रता के ख़याल में और अज्ञान में इतने डूबे रहते थे कि उन्हें अपने अन्दर ईश्वर के कभी दर्शन हो ही नहीं सकते थे।"

लेकिन आजकल के ईसाई धर्म या पादरी धर्म की बाबत यह नहीं कहा जा सकता। आजकल इस धर्म के सबसे अच्छे नुमाइन्दे यूरोप की वे क़ौमें हैं जो अपने को ईसा मसीह का अनुयायी कहती हैं। आजकल का ईसाई धर्म हमें इन्हीं के आचार-व्यवहार और इन्हीं के उपदेशों से समझना होगा। ये लोग जातीय यानी राष्ट्रीय पक्षपात, ख़ास ख़ास जातियों के विशेषाधिकार और गोरी क़ौमों के विशेष उत्तरदायित्व के प्रचारक हैं।

इसलाम और ईसाई धर्म में बड़ा फ़र्क़ यह है कि ईसाई धर्म में क़ौल का अमल से यानी उपदेशों का व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है। अफ़रीका का निग्रो काफ़ी होशियार है। वह इसे ख़ूब देखता और समझता है। इसलाम इस बात में बिलकुल दूसरी तरह का है। नार्मन लेज़ लिखता है—"ईसाई धर्म के मुक़ाबले में इसलाम को फैलने में एक बहुत बड़ी मदद इस बात से मिलती है कि इसलाम के उसूल ज़िन्दगी बसर करने के सीधे सादे और नपे तुले उसूल हैं। एक तरफ़ तो शायद आज तक कोई आदमी भी उस तरह ज़िन्दगी बसर नहीं कर पाया जिस तरह ईसा ने कहा था, और दूसरी तरफ़ लाखों आदमी ठीक उसी तरह ज़िन्दगी बसर कर चुके हैं जिस तरह मुहम्मद ने बतलाया था।"

इसलाम एक एशियाई धर्म है। एशिया वाले ही उसके मानने वाले हैं। वे उसके सीधे सादे उपदेशों को समझते हैं। ईसा के उपदेशों की बाबत यह बात नहीं है। हज़रत ईसा एशियाई थे। उनके उपदेश उस समय इबरानी (हिब्रू) भाषा में ही दिये गये हैं। इबरानी एक एशियाई भाषा है। लेकिन विधि का यह एक चमत्कार है कि हज़रत ईसा के अनुयायी आजकल अधिकतर यूरोप और अमरीका की पश्चिमी क़ौमें हैं। इन लोगों तक हज़रत ईसा के उपदेश सदियों बाद लातीनी भाषा में तर्जुमा हो कर पहुँचे। लातीनी एक पश्चिमी भाषा थी जो इस समय वैसी ही मुरदा है, जैसी सदियों पहले की इङ्गलिस्तान की मलका ऐनी। इसके मुक़ाबले में अरबी अभी तक एक ज़िन्दा भाषा है। वह लाखों की बोलचाल की ज़बान है। क़ुदरती नतीजा यह है कि यूरोप और अमरीका की क़ौमें उस अपने एशियाई पैग़म्बर की बताई हुई रूहानी सचाइयों और उसके उपदेशों को समझने और उन्हें अपने जीवन में ढालने के कम या ज़्यादा नाक़ाबिल हैं। उनकी फ़ितरत के लिये ही ऐसा कर सकना असम्भव है। इसके अलावा जिस तरह इञ्जील के तरजुमे हर ऐरी ग़ैरी ज़बान में आज़ादी के साथ कर लिये जाते हैं, उस तरह से क़ुरान के तरजुमे की इजाज़त नहीं है। इसलिये क़ुरान के उपदेश आज तक ठीक उन्हीं शब्दों में जिनमें हज़रत मुहम्मद ने कहा था या लिखा था और उसी भाव और उसी रंग में लोगों को सुनाये जाते हैं और उसी तरह लोग उन्हें सुनते समझते हैं। यह बात सच है कि इससे फ़ायदा भी है और नुक़सान भी है; क्योंकि अरबी ज़बान का सीखना आसान नहीं है और अधिकांश मुसलमान क़ुरान की बारिकियों से नावाक़िफ़ रहते हैं और अपनी पाक किताब की आयतों को बिना मतलब को ठीक ठीक समझे केवल ज़बान से दोहराते रहते हैं।

लेकिन इससे एक फ़ायदा यह है कि इसलाम धर्म आज तक एक सीधा सादा धर्म है। पूर्वी अफ़रीका के लोग जिसे आमतौर पर इसलाम समझते हैं, वह रहन सहन के नीचे लिखे थोड़े से क़ायदे हैं जिनका न किसी गहरी फ़िलासफ़ी से सम्बन्ध है और न किसी गूढ़ अध्यात्म से। अफ़रीका के मुसलमान सुन्नी हैं। उन्हें अरबों से ही इसलाम का उपदेश मिला है। शिया वहाँ पर केवल हिन्दुस्तान से गये हुये खोजे या बोहरे हैं जो वहाँ के मुस्तक़िल बाशिन्दे नहीं हैं। इसलिये अफ़रीका का इसलाम नीचे लिखी छै बातों के अन्दर पूरी तरह आ जाता है—

(१) अल्लाह एक है और मुहम्मद उसका भेजा हुआ रसूल है।

(२) हर मुसलमान बच्चे को ख़तना कराना चाहिये और मुसलमानों को ऐसे गोश्त से जिसमें ख़ून हो और सुअर के गोश्त से परहेज़ करना चाहिये।

(३) प्रति दिन पांच बार सब मुसलमानों को मिलकर जमात में नमाज़ पढ़नी चाहिये। लेकिन इस एक बात पर अमल आमतौर पर केवल जुमे के दिन एक वक़्त होता है और वह भी बहुत थोड़े से आदमी जमा हो कर नमाज़ पढ़ते हैं।

(४) रमज़ान के पूरे महीने रोज़े रखने चाहियें। इसमें भी आमतौर पर ज़्यादहतर लोग रमज़ान के महीने में सिर्फ़ दो दिन यानी पहले दिन और इक्कीसवें दिन रोज़ा रखते हैं। बाक़ी दिन मामूली खाते पीते रहते हैं।

(५) मुसलमानों को एक ख़ास तरह के नाम और ख़ास तरह की पोशाक रखनी चाहिये। इसमें जहाँ तक पोशाक का सम्बन्ध है तरह तरह के मुसलमानों में सिर्फ़ एक चीज़ ऐसी रह गई है जिसे क़रीब क़रीब सब पहनते हैं और वह है लाल तुर्की टोपी।

(६) सब मुसलमान भाई हैं, केवल नाम के लिये नहीं जैसा ईसाइयों में है, बल्कि असलीयत में। इस भाई चारे की सब से बड़ी अलामत यह है कि पूर्वी अफ़रीका में आजकल अलग अलग क़बीलों और जातियों के क़रीब क़रीब तीस लाख मुसलमान हैं और इन सब की आपस में ब्याह शादियाँ होती रहती हैं।

अब हम इस चीज़ का आजकल के ईसाइयों और ईसाई धर्म के साथ मुक़ाबला करना चाहते हैं। हम इन दोनों धर्मों के केवल अमली पहलुओं का मुक़ाबला करेंगे। उनके बारीक़ सिद्धान्तों या फ़िलासफ़ी से हमारा कोई ताल्लुक़ नहीं। नार्मन लेज़ केनिया के ऊपर अपनी किताब में लिखता है—"पूर्वी अफ़रीका के ईसाइयों में कोई भाई चारा नहीं है। इन लोगों के लिये यह भी ज़रूरी नहीं है कि वे भाई भाई की तरह रहने की कोशिश तक करें।" आगे चलकर वह लिखता है कि—"ज्ञान की कुंजियाँ सब पादरियों के हाथों में हैं। दौलत कमाने के तरीक़ों का भी उन्होंने ही ठेका ले रखा है। कोई दूसरा ईसाई बिना ज़बरदस्त कशमकश और आत्मसंयम के न ज्ञान प्राप्त कर सकता है न धन। मुसलमानों में यह बात नहीं है। हमारी नज़रों में इसलाम का भाईचारा एक थोथी और बेमेल चीज़ हो सकती है; लेकिन अफ़रीका वालों के लिये वह बड़े काम की चीज़ है। यह भाईचारा जितना है सच्चा और असली है। मुसलमान सब एक क़तार में खड़े होते हैं जब कि ईसाई कभी एक क़तार में खड़े नहीं होते।" ये एक सच्चे अंगरेज़ के शब्द हैं।

पूर्वी अफ़रीका में चार पश्चिमी देशों के पादरी अलग अलग अपने धर्म का प्रचार करते हैं। इनके अलग अलग मिशन हैं। फ्रान्स और इटली के पादरी रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के हैं। अंगरेज और अमरीकन आमतौर पर प्रोटेसटैण्ड फिरके के हैं। ये अङ्गरेज़ और अमरीकन पादरी मिलकर काम कर सकते थे; लेकिन इनके अपने देशों में इनमें इतने आपसी झगड़े हैं और और भी कई कारण हैं, जिनकी वजह से ये अलग अलग ही काम करने पर मजबूर हैं। इनमें से जो भी मिशन अपना काम शुरू करता है, वह पहले वहाँ पर एक स्कूल खोलता है जिसमें मामूली लिखना पढ़ना, थोड़ा सा हिसाब और क़रीब चौथे दरजे तक की अङ्गरेज़ी पढ़ाई जाती है। इसके साथ साथ कोई ईसाई भजनों की किताब होती है और एक इञ्जील जैसे जान या लूक की इञ्जील। शुरू में वहाँ की गवर्नमेंट ने इन मिशनों को बहुत कम मदद दी, लेकिन हाल में जब से कि इनके बड़े बड़े पादरी हिन्दुस्तानियों के ख़िलाफ़ आन्दोलन में शामिल हो गये हैं, तब से गवर्नमेंट भी इन मिशनों को बड़ी बड़ी रक़में मदद के लिये देने लगी है।

नार्मन लेज़ लिखता है कि—"इञ्जील के नये अहदनामे का सब से बड़ा उपदेश यह बताया जाता है कि हर ईसाई खुदा का बच्चा है और बादशाह का बेटा और सारी दुनिया का उत्तराधिकारी है इत्यादि। समझदार अफ़रीका निवासियों को जब इस बात का पता चलता है, चाहे मिशनरी उनसे कहें या न कहें तो वह अपने आपको इस बात का हक़दार समझता है कि सब ईसाइयों के साथ एकसा बरताव किया जाय और यूरोपीय या अफ़रीकन सब ईसाई एक दूसरे के भाई हैं...जो भी हो पादरी लोग इस बराबरी और भाईचारे का जहाँ तक हो सकता है बहुत ही कम ज़िक्र करते हैं। सौ में एक यूरोपियन भी ऐसा नहीं है जो यह मानता हो कि यूरोपियन ईसाई और अफ़रीकन ईसाई दोनों को एक दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि मानो वे एक ही कुटुम्ब के आदमी हों।"

ईसाइयों में एक आदमी की एक से ज़्यादा बीबी नहीं हो सकती। मुसलमानों में एक आदमी को चार बीवियों तक की इजाज़त है। लेकिन पर-स्त्री के साथ व्यभिचार ईसाइयों में इतना ज़्यादा बुरा और घृणित नहीं समझा जाता जितना मुसलमानों में समझा जाता है। अफ़रीका के लोगों में एक से ज़्यादा स्त्री के साथ विवाह करने का रिवाज चला आता है। लेकिन पर-स्त्री के साथ व्यभिचार को वे आमतौर पर बुरा समझते हैं और उससे बचते हैं। इस एक बात की वजह से भी वे इसलाम को ईसाई धर्म से ज़्यादा अच्छा समझते हैं और यह स्वाभाविक है।

इन दोनों धर्मों और उनके मानने वालों में आमतौर पर यही फ़र्क़ है। ईसाई धर्म बड़े बड़े ऊँचे

सिद्धान्तों की बातें करता है, लेकिन उसके अनुयायी व्यवहार में उन सिद्धान्तों से कहीं गिरे हुये दिखाई देते हैं। इसलाम सदाचार के कुछ सीधे सादे नियम हमारे सामने पेश करता है और उसके मानने वाले ईमानदारी से उस पर अमल करते हैं।

इस सब के होते हुये भी पूर्वी अफ़रीका में इसलाम बढ़ता हुआ दिखाई नहीं देता। वहाँ के लोग धीरे धीरे अपने शासकों के धर्म यानी ईसाई धर्म की तरफ़ बढ़ते चले जा रहे हैं। जब से तुर्कों ने ख़िलाफ़त का अन्त कर दिया—जो कि इसलाम की एक बहुत पुरानी सीमा-चिन्ह थी—तब से लोग इसलाम की तरफ़ और भी उदासीन होते जा रहे हैं। वजह बड़ी साफ़ है। सरकार ने बहुत से ईसाइयों को क़बीलों का सरदार मुक़र्रर कर दिया है। क़ुदरती तौर पर इन लोगों का बहुत असर पड़ता है और ये बड़े क्रियाशील भी होते हैं। अफ़रीका निवासियों में यही पढ़े लिखे होते हैं। यही ज़्यादा धन कमाते हैं। और इन्हीं की ज़्यादा इज़्ज़त होती है। भविष्य धन वालों और बाअसर लोगों के हाथों में ही दिखाई देता है। जैसे बाक़ी सब दुनिया में वैसे ही अफ़रीका में भी धन का देवता 'मैमन' लोगों के दिमाग़ों और उनके जिस्म दोनों पर शासन करता है, ख़ासकर उस समय जब कि वह देवता ईसाई धर्म की फ़ैशनेबुल और अपटुडेट वेश भूषा में सुसज्जित हो कर हमारे सामने आता है।

फ़ाहियान की भारत-यात्रा

श्री के० पी० एस० मेनन, आइ० सी० एस०

भाप और पेट्रोल से चलने वाली सवारियों के युग में आज बेचारे घोड़े की कोई क़द्र ही नहीं रह गई। रेलवे ट्रेन और मोटरकार भी अब पुरानी पड़ने लगीं। हवाई उड़ान का अब ज़माना आ गया है। पलक मारते सैकड़ों मील दूरी नाप ली जाती है। इस द्रुतगामी युग में जब हम महान चीनी यात्री फ़ाहियान की यात्रा के वर्क़ें उलटते हैं तो हमें हैरत होती है कि दसों हज़ार मील की यात्रा, और वह भी पैदल, कैसे पूरी की होगी! फ़ाहियान चौथी सदी का एक प्रसिद्ध चीनी बौद्ध भिक्षु था। उसकी भारत-यात्रा का उद्देश्य चीनी बौद्धों के लिये यहाँ से बौद्ध धर्म ग्रन्थों का ले जाना था। उसकी महान यात्रा ज्ञान की खोज और सत्य की शोध में थी। मध्य चीन से वह पैदल रवाना हुआ। गोबी के भयंकर रेगिस्तान और हिन्दुकुश की बर्फ़ीली पर्वत-श्रेणियों को पार करता हुआ वह पैदल बङ्गाल की खाड़ी तक आया और वहाँ से जहाज़ द्वारा लंका और जावा की यात्रा करते हुये वह वापस चीन पहुँचा। उसकी समुद्र-यात्रा पैदल यात्रा से भी कहीं अधिक ख़तरनाक साबित हुई। फ़ाहियान की इस यात्रा में १५ वर्ष लगे, जिनमें से ९ वर्ष चलने में बीते और बाक़ी अध्ययन में। वह अपनी यात्रा में न कुछ कम तीस मुल्कों के बीच से होकर गुज़रा। वह अपनी यात्रा की सख़्ती और अकेलेपन के बारे में लिखता है—"यात्रा में हमें केवल अपनी ही परछाईं दिखाई देती थी और जिसे देखकर हमारा दिल उदासी से भर जाता था।" अपने देश की टीस उसके इन शब्दों से ज़ाहिर होती है—"जब मैंने लंका में देखा कि एक व्यापारी रेशमी चीनी पंखा भगवान बुद्ध की प्रतिमा पर भेंट चढ़ा रहा है, तो मेरा हृदय द्रवित हो गया और मेरी आँखें आँसुओं से भर गईं।" यदि फ़ाहियान आज इस बीसवीं सदी में पैदा हुआ होता, तो उसने अपनी यात्रा और ही तरह से की होती। वह नाश्ता करने के बाद अपने घर चांगान से हवाई जहाज़ से रवाना हुआ होता, आसाम के किसी हवाई अड्डे पर उसने दोपहर को

भोजन किया होता और रात के भोजन के समय कलकत्ते पहुंच गया होता। उसने अमरीकन तरीक़े से अपनी भारत-यात्रा पर एक पुस्तक भी लिखी होती जिसे हम 'मार्डन' यात्रा वर्णन कह सकते। किन्तु उसका यह वर्णन उस वर्णन से कितना भिन्न होता जो वह अपनी उस पुरातन यात्रा में बाँस की पत्तियों और रेशम पर लिखकर छोड़ गया है, जिसकी उस यात्रा के सामने आज की बग़ैर रुके अटलांटिक की हवाई यात्रा फीकी और साधारण मालूम होती है। फ़ाहियान की वह यात्रा हमें आज की अपनी जल्द-बाज़ी की उपयोगिता पर सोचने को विवश करती है।

फ़ाहियान के यात्रा-वर्णन से ऐसा मालूम होता है कि यात्रा के प्रारम्भ में उसके साथ कुछ थोड़े से मित्र भी थे। कम से कम उनका कारा शहर तक साथ रहा। कारा शहर रूसी तुर्किस्तान के पास कहीं रहा होगा। वहाँ के बाशिन्दे "तबियतों के ख़ूंख़ार और अजनबियों के प्रति अपने बर्ताव में इतने कमीने" थे कि फ़ाहियान के तीन साथियों ने वापस चीन लौट जाने का निश्चय किया। हुइ-चिंग नामक एक चौथा साथी 'सफ़ेद कोह' की बरफ़ीली चोटियों पर फ़ाहियान की भुजाओं में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। वहाँ इतनी ठण्ड थी "कि दांत कटकटाते थे और सारा बदन थर थर काँपता था।" केवल एक साथी फ़ाहियान के साथ भारत पहुँचा; किन्तु यहाँ आकर जो उसने बौद्ध धर्म की शान देखी और उसकी तुलना में उसे अपने देश में बौद्ध धर्म की अवस्था इतनी शोचनीय मालूम हुई कि उसने भारत में रहकर ही निर्वाण-प्राप्ति की साधना का निश्चय किया। फ़ाहियान के सामने एक महान मिशन था। बड़ी से बड़ी आफ़तें और बड़े से बड़े आकर्षण उसे अपने उद्देश्य से विचलित न कर सकते थे। उसे तो वापस चीन पहुंच कर अपने देश में बौद्ध धर्म की बुनियादों को दृढ़ करना था। उसके रास्ते में ज़बर-दस्त बाधायें थीं। यात्रा के प्रारम्भ में ही गोबी का हज़ारों मील लम्बे चौड़े रेगिस्तान को पार करने का सवाल था। फ़ाहियान लिखता है—"गोबी के रेगिस्तान में न आकाश में पक्षी थे न धरती पर पशु। गरम गरम हवा चारों ओर भूत की तरह भनभनाती फिरती थी, जिसके मुक़ाबले का अर्थ था मृत्यु।"

उत्तर भारत के बरफ़ीले पहाड़ गोबी के मरुस्थल से कुछ कम ख़तरनाक न थे। बारहों महीने, सर्दी और गर्मी में जिनकी चोटियाँ फ़ुटों बरफ़ से ढकी रहती हैं। फ़ाहियान का ऐसा विश्वास था कि उन चोटियों पर—"भयंकर जन्तु रहते हैं जो ज़रा से छेड़ने पर ज़हरीली हवा की फुंकार मारते हैं और जिनके नथनों से बारिश, बरफ़ और पत्थर बरसने लगते हैं।" फ़ाहियान लिखता है—"इन जन्तुओं से दस हज़ार आदमियों में से कहीं एक बचकर निकल पाता है।" फ़ाहियान बचकर निकल आया, किन्तु वह ऐसा वैसा यात्री तो नहीं था। उसके हृदय में विश्वास की एक ऐसी ज़बर्दस्ती भावना थी जो पहाड़ों को हिला सकती थी। चाहे पथहीन रेगिस्तान होता—"जहाँ भूले भटके यात्रियों की सूखी हड्डियों के अतिरिक्त कोई रास्ता दिखाने वाला न मिलता।"; चाहे हिन्दुकुश पहाड़ की बरफ़ीली चोटियाँ होतीं "जहाँ अगला क़दम रखने की जगह न होती और आँखों में अंधेरा छा जाता," और चाहे समुद्र की लहरें होतीं "जो गरजती हुई उठकर एक दूसरे से टकराती और फेन छोड़तीं, जिनमें बड़े बड़े घड़ियाल और समुद्री जीव-जन्तु किलोलें करते"; इन सब आफ़तों में फ़ाहियान के सामने एक ही लक्ष्य रहता कि ज्ञान की मशाल को और धर्म की सच्ची भावना को उसे अपने देश "बाहरी दुनिया" में यानी चीन ले जाना है। "उसकी आत्मा की आन्तरिक ज्योति ही उदास क्षण में उसे ढाढ़स बंधाती और उसका पथ-प्रदर्शन करती थी।"

फ़ाहियान के लिये चीन वास्तव में "बाहरी दुनिया" था। भारत में बौद्ध धर्म का जो गौरव था और जो प्रतिमा थी उसकी तुलना में चीन बाहरी दुनिया ही था। अफ़ग़ानिस्तान से लेकर गंगा के दहाने तक, जहाँ फ़ाहियान दो वर्ष तक बौद्ध सूत्रों

का अध्ययन और बौद्ध मूर्तियों का रेखाङ्कन करता रहा, सारा देश बौद्ध मठों और बिहारों के जाल से गुंथा पड़ा था। बौद्ध धर्म के कुछ पुराने केन्द्र ज़रूर फीके पड़ गये थे। उदाहरण के तौर पर बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु के सम्बन्ध में फ़ाहियान लिखता है—"कपिलवस्तु में न राजा रह गया है न जनता। सारी नगरी खंडहर और वीरान हो गई है, केवल कुछेक पुजारी और लगभग दस परिवार वहाँ रहते हैं। रास्ते में शेर और जंगली हाथियों के हमले का भय रहता है।" फ़ाहियान लिखता है—"कपिल-वस्तु जाने वाले यात्रियों को ख़तरे से बहुत बचकर जाना चाहिये।" कुशीनगर जहाँ भगवान बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुये इसी तरह वीरान पड़ा था। ऐसा मालूम होता है कि अशोक के बाद की शता-ब्दियों में बौद्ध धर्म धीरे धीरे अपनी जन्मभूमि छोड़-कर अधिक उत्तर में केन्द्रीभूत हो गया था। अफ़ग़ा-निस्तान में उस समय कम से कम तीन हज़ार बौद्ध भिक्खु रहे होंगे। सरहद में बन्नू का ज़िला बौद्ध धर्म का केन्द्र था, जहाँ बौद्ध मठों और बिहारों में हज़ारों बौद्ध भिक्खु और सन्यासी रहते थे। ये सबके सब 'हीनयान' के अनुयायी थे। खोतान में 'गोमति' नामक एक बहुत बड़ा बिहार था। पेशावर में सम्राट कनिष्क का एक पागोदा (बुद्ध-मन्दिर) था जो "चार सौ फ़ुट ऊंचा था जिसमें तरह तरह के बेल बूटे, पच्चीकारी और सुनहला काम बना हुआ था।" यह पागोदा यात्रियों के लिये बड़े आकर्षण की चीज़ थी। फ़ाहियान के अनुसार—"संसार के समस्त पागोदाओं में पेशावर का यह पागोदा सब में श्रेष्ठ और सब में उत्कृष्ट है।" किन्तु जिस चीज़ ने फ़ाहि-यान को सब में अधिक आकृष्ट किया वह यह मठ, बिहार और मन्दिर नहीं थे बल्कि बौद्ध भिक्खुओं का भव्य आचार-व्यवहार और बौद्ध धर्म का जनता पर सुन्दर प्रभाव था। यदि आचार-व्यवहार से मनुष्य योग्य और उत्तम होता है, तो इन चीज़ों ने निश्चय ही पुरातन भारत के भिक्खुओं और सन्यासियों को योग्य और उत्तम बनाया था। फ़ाहियान लिखता है—"गोमति के बिहार में भिक्खुओं का आचार व्यवहार बहुत गम्भीर रहता है। वे अपनी पूजा और ध्यान में मग्न रहते हैं। वे निश्चित क्रम के अनुसार व्यवस्था के साथ बैठते हैं। वे ज़रा भी शोर-गुल नहीं करते। अधिकांश समय मौन रहते हैं। वे अपने भिक्षापात्र को नहीं भरते न परोसने वालों से अधिक खाना मांगते हैं। जब किसी चीज़ की ज़रूरत होती है तो हाथ के इशारे से मांगते हैं।" राजाओं का आचार-व्यवहार, उनके तौर तरीक़े उस ज़माने में उतने ही निर्दोष समझे जाते थे, जितने साधुओं और भिक्खुओं के। फ़ाहियान को यह देखकर बड़ा ही सन्तोष हुआ कि राजा लोग साधुओं और भिक्खुओं की बड़ी इज़्ज़त करते थे। "जब ये लोग बौद्ध भिक्खुओं को कोई चीज़ भेंट करते हैं, तो अपने मुकुट सर से उतार लेते हैं और जब उन्हें खाना खिलाते हैं, तो अपने बाल बच्चों और ख़ास ख़ास दर-बारियों सहित सामने खड़े रहते हैं। खाना हो चुकने के बाद वे ज़मीन पर ख़ुद फ़र्श बिछा कर प्रधान भिक्खु की तरफ़ मुंह करके बैठ जाते हैं। इन लोगों के सामने वे चौकियाँ या किसी ऊंची चीज़ पर बैठने का साहस नहीं कर सकते।" बौद्धकाल का यह वर्णन इसलिये और भी महत्व का है क्योंकि फ़ाहियान गुप्त साम्राज्य के समय भारत आया था। अङ्गरेज़ इति-हासकार बड़े ख़ुश हो कर उस काल को—"हिन्दू प्रतिक्रिया का समय कहते हैं।" कम से कम जहाँ तक फ़ाहियान के लिखे हुये वृत्तान्तों का सम्बन्ध है न हमें किसी प्रतिक्रिया की कोई निशानी मिलती है और न बौद्ध धर्मावलम्बियों को किसी तरह की तकलीफ़ें दिये जाने का ज़िक्र मिलता है।" फ़ाहियान यह भी साफ़ लिखता है कि उन दिनों अजोध्या में और उसके आस पास कट्टर हिन्दू धर्म के मानने वाले मौजूद थे। एक जगह उसने लिखा है कि—"यहाँ पर ९६ अबौद्ध सम्प्रदायों के लोग मौजूद हैं जो सबके सब भौतिक संसार को सत्य मानते हैं।" लेकिन एक ऐसे ईश्वर की कल्पना जो एक ख़ास सम्प्रदाय के लोगों से बाहर दूसरी सम्प्रदायों के इष्ट-

देवों को ईर्षा की दृष्टि से देखता हो, जिसे अङ्गरेज़ी में "A Jelous God" कहते हैं, इस तरह की कल्पना ही वास्तव में पाश्चात्य कल्पना है। इस तरह की कोई कल्पना या धार्मिक अनुदारता हमें समुद्र गुप्त और विक्रमादित्य के उन शासनकालों में भी बिलकुल दिखाई नहीं देती, जिन शासनकालों में हमें उत्तर भारत के अन्दर हिन्दू कला और हिन्दू संस्कृति का आश्चर्यजनक पुनरुद्धार देखने को मिलता है।

इस तरह के धार्मिक साम्राज्य का रहस्य जानने के लिये भी हमें दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। फ़ाहियान के अपने वृत्तान्तों से ही हमें इसका पता चल जाता है। बौद्ध धर्म के अन्दर यह चीज़ स्वाभाविक और मौलिक थी। भगवान बुद्ध ने जो सबसे बड़ा काम किया वह यही था कि उन्होंने अपने आन्तरिक ज्ञान की नई मदिरा को हिन्दू धर्म की पुरानी बोतलों में ढाला। किन्तु यह मदिरा इतनी तेज़ थी, इसका असर इतना जादू भरा था कि उसने अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों के उस सब रहे सहे कचरे को जो सदियों के ब्राह्मण-प्रभुत्व ने उन बोतलों में जमा कर दिया था बाहर निकाल कर फेंक दिया। दूसरे शब्दों में बुद्ध ने हिन्दू धर्म का बहैसियत एक धर्म के विरोध नहीं किया, बल्कि ब्राह्मणों ने जिस धर्म को अपना पेशा बना रखा था उसका विरोध किया। ब्राह्मणों ने भी इसका बदला लिया। धीरे धीरे उन्होंने बौद्ध धर्म पर वार किया। उसे अपने क़ाबू में किया, उसके अन्दर मूर्ति पूजा और उसके साथ चलने वाली भावना को प्रवेश दिलाया, बौद्ध धर्म के शुद्ध प्रारम्भिक तेज को रूढ़ियों के बादल से ढक दिया, उसे इतनी चतुराई के साथ तोड़ा और मरोड़ा कि फ़ाहियान के समय का बौद्ध धर्म सनातन हिन्दू धर्म के सब वाह्याडम्बरों से घिरा हुआ दिखाई देता था, यहां तक कि स्वयं बुद्ध भगवान हिन्दू देवताओं में से एक दिखाई देने लगते हैं जिन्हें ब्रह्मा ने अपना सन्देश देकर दुनिया में भेजा था। बौद्ध धर्म का रूप कहां से कहाँ पहुँचा। समय ने उससे किस तरह बदला लिया। बुद्ध ने बिलकुल साफ़ साफ़ शब्दों में—"जादू-टोने, शकुन परीक्षा, फलित, देवताओं के नाम पर बलि, जन्तर मन्तर" जैसी चीज़ों का ज़बर्दस्त निषेध किया था। लेकिन फ़ाहियान जिस बौद्ध धर्म का हमें हाल सुनाता है उसमें ये सब चमत्कार भरे हुये हैं। स्वयं बुद्ध के पद चिन्हों के, उनकी खोपड़ी की, उनके दांतों की, उनके पीकदान की, उनके दण्ड कमण्डल की, सब की पूजा होती थी। जहाँ कहीं बुद्ध भगवान ने अपने गीले वस्त्र सुखावे या अपने केश मुंडवाये या पैर के नाखून कटवाये वहीं एक स्तूप खड़ा हो गया। चीनी भाषा में तक्षशिला का अर्थ "सिर मुंडवाना" है। तक्षशिला का नाम तक्षशिला इसलिये पड़ा क्योंकि कहा जाता था कि वहाँ पर बुद्ध ने एक भूखे बाघ को आहार पहुँचाने के लिये अपना शरीर दे दिया था! बुद्ध भगवान अपनी माता को, जो मर चुकी थी, अपना धर्म समझाने के लिये तीन महीने स्वर्ग में जाकर रहे थे। जब वहाँ से उतरे तो पहले पहल कपिशा में क़दम रखा; इसीलिये वह एक तीर्थ बन गया। अयोध्या के बाहर एक जगह है जहाँ बुद्ध भगवान ने दतून करके उसे ज़मीन में गाड़ दिया था और वह दतून उसी क्षण एक दस फ़ुट ऊँचा दरख़्त बन गया। बनारस में बुद्ध ने जिन लोगों को अपना धर्म समझाया, उनमें से पाँच सौ अन्धों को उसी समय से दिखाई देना शुरू हो गया। इन चीज़ों के होते हुये फ़ाहियान की पुस्तक में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के कोई आपसी झगड़े दिखाई नहीं देते तो क्या आश्चर्य है। क्योंकि उस समय तक बौद्ध धर्म इतना बदल गया था कि वह हिन्दू धर्म ही का एक ऐसा विचित्र और अप्राकृतिक रूप रह गया था जिसे देखकर हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के समय में भी ब्राह्मण लोग हंसते थे और घृणा दिखाते थे।

अन्धविश्वासों का जो घना जंगल शुरू के बोधि-वृक्ष के चारों तरफ़ उग खड़ा हुआ था, उससे बाहर निकल कर उस स्वतन्त्र वायुमण्डल में प्रवेश करना, जिसका ख़ाका फ़ाहियान ने खींचा है, बड़ा सुखद

मालूम होता है। गुप्त सम्राटों के ज़माने में राजनैतिक जीवन की सबसे ख़ास चीज़ मालूम होता है आज़ादी थी। फ़ाहियान का अपना बयान इतना चमकता हुआ है कि उसे उसी के शब्दों में देना ठीक होगा। वह लिखता है—"लोग सुखी और ख़ुशहाल हैं। न किसी की रजिस्ट्री होती है और न राज की तरफ़ से किसी तरह की रोक थाम है। सिर्फ़ जो लोग राजा की ज़मीन जोतते हैं वे जो कुछ उस ज़मीन से मुनाफ़ा करते हैं उस पर लगान अदा कर देते हैं जो जाना चाहते हैं जा सकते हैं। जो ठहरना चाहें ठहर सकते हैं। राजा की तरफ़ से किसी को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता। मुजरिमों पर उनके जुर्म के अनुसार केवल जुर्माना ले लिया जाता है। यहाँ तक कि राज के ख़िलाफ़ बग़ावत करने वाले का भी यदि वह दूसरी बार वही जुर्म करे तब सिर्फ़ दाहिना हाथ काट लिया जाता है। देश भर में कोई किसी जानदार की हिंसा नहीं करता, न कोई शराब पीता है, न कोई प्याज़ या लहसन खाता है। लेकिन चांडालों को बस्ती से अलग रखा जाता है। चांडाल एक तरह के पतित लोग होते हैं।" वास्तव में वह एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें एक मात्र कलंक की चीज़ चांडालों का अस्तित्व था। इस शान और क़रीब क़रीब आदर्श शासन को उस फ़ौलादी स्वेच्छा शासन के साथ तुलना करनी चाहिये जिसका कौटिल्य ने समर्थन किया है। इस तरह की तुलना से हमें समाजवाद और व्यक्तिवाद का वह भेद जो युगों से चला आ रहा है साफ़ दिखाई देने लगता है। कौटिल्य एक ऐसे समाज का चित्र हमारे सामने पेश करता है "जनता को पीस देने वाली नौकरशाही के प्राणनाशक फ़ौलादी पंजे के अन्दर जिसका दम घुट रहा था।" पाँच सदियाँ गुज़र जाने के बाद एक ऐसी शासन पद्धति देखने को मिलती है जहां ज़्यादा से ज़्यादा राजनैतिक क्षमता और उसके साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कम से कम हस्तक्षेप दोनों मिले हुये दिखाई देते हैं। क्या वह बौद्ध धर्म जो राजर्षि अशोक ने इतनी दया के साथ दुनिया के सामने रखा इस परिवर्तन का कारण नहीं था? यदि था तो यह सोचकर कुछ सन्तोष होता है कि यद्यपि बौद्ध धर्म के धार्मिक पहलू को ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड और रूढ़ियों के जंगल में चारों तरफ़ से ढक दिया था फिर भी राजनैतिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म की जड़ें दूर दूर तक गहरी पहुँच गई थीं। बौद्ध धर्म ने हिन्दू समाज में इनसानियत पैदा की। बौद्ध धर्म ने भारतीय राजनीति से कौटिल्य की कुबुद्धि को इस तरह बाहर कर दिया, जिस तरह किसी का भूत झाड़ा जाता है। लेकिन राजनीति में कौटिल्य बार बार पैदा होते रहते है और दिखाई देते रहते हैं। यूरोप में कौटिल्य ने मैशियेवैली के रूप में जन्म लिया, विज्ञान के सूक्ष्म परों के ऊपर इसी भावना ने फिर से एशिया में प्रवेश किया। कौटिल्य की भावना फिर हमारे राजनैतिक जीवन पर क़ाबू हासिल कर रही है और करेगी, जब तक कि बुद्ध जैसी ही कोई महान आत्मा आकर हमारी उससे रक्षा न करे।

दो भाई

श्री रामस्वरूप बी० ए०, एल-एल० बी०

जेठ का महीना था और दोपहर का समय। लू और धूप बेरहमी के साथ सताने में लगी हुई थीं। इने-गिने ही ऐसे व्यक्ति दिखलाई दे रहे थे जो किन्हीं विशेष कारणों से वाध्य होकर घर में छिपकर न रह सकते थे।

ठाकुर तेजसिंह नन्दगाँव के ज़मींदार थे। आज उनके मुक़दमे की तारीख़ थी। वे शहर आ रहे थे। इक्केवाला घोड़े की सामर्थ्य और उसके कष्ट को न समझ कोड़े मार मार कर उसे भगा रहा था। ठाकुर ने देखा सड़क पर फिरते हुए एक दुर्बल और नंगे बालक को। वह सोच ही रहे थे कि किस प्रयोजन से यह बालक इतनी कड़ी धूप सह रहा है कि उनका इक्का लड़के के समीप पहुँच गया और उसने करुण स्वर में पुकारा "बाबू!"

इक्का लड़के को छोड़कर आगे बढ़ गया परन्तु ठाकुर की आज्ञा से फिर लड़के के समीप पहुँचाया गया।

"क्या है?"—ठाकुर ने पूछा।

"बाबू भूख लगी है—दो दिन से कुछ नहीं खाया।"

आशापूर्ण नेत्रों से लड़के ने ठाकुर को देखा।

"तेरे माँ-बाप क्या करते हैं?"

"मेरे माँ बाप कोई नहीं हैं। ऐसे ही फिरता रहता हूं और जब कोई कुछ दे देता है तो खा लेता हूँ।"

ठाकुर को उस अनाथ और असहाय बालक पर दया आ रही थी, परन्तु वे सोच न सके कि क्या करें। वे सोच रहे थे—'इसे आज यदि मैंने कुछ दे भी दिया तो इससे क्या होगा? रोज़ रोज़ तो मैं यहाँ आता नहीं। मैंने सुना था कि मुसलमानों में अपनी जाति बल्कि धर्म वालों के लिए बड़ा प्रेम है। वे अपने में से किसी की विपत्ति नहीं देख सकते फिर इस बच्चे को कोई क्यों नहीं अपनाता? विचारा भूख से मरा जा रहा है……।'

"बाबू, बहुत देर हो रही है"—इक्के वाले ने सावधान किया।

"बाबू, भूख लगी है।"

"मेरे साथ गाँव चलोगे?" ठाकुर ने कुछ हिचकिचाते हुए कहा।

"गाँव? मुझे ले जायँगे? नहीं, मुझे कुछ खाने को दिलवा दीजिए।"

"वहाँ तुमको रोज़ खाना देंगे।"

कुछ समय तक लड़का ठाकुर के मुख को देखकर मानों उसके मन के भाव पढ़ता हुआ शान्त रहा; फिर बोला—

"चलिए।"

× × ×

इक्का चला जा रहा था। बच्चा चुपचाप बैठा हुआ शायद कल्पना में मग्न था और ठाकुर बच्चे की ओर स्नेह से देख रहे थे कि इक्के वाले ने कहा—"मालिक यह तो मुसलमान का लड़का है; इसे आप……।"

"तो क्या हुआ? कोई हर्ज नहीं। क्या इसका मतलब यह है कि मुसलमान का लड़का होने के कारण इसे मैं भूखों मरने के लिए छोड़ दूं? आदमियत क़ौमों और धर्मों के भेद को नहीं देखती, कर्तव्य को देखती है।"

"लेकिन अगर कोई मियाँ आपसे इसके लिये झगड़े तो?"

"तो मैं बच्चे को उन्हें सौंप दूँगा बशर्ते कि वे इसे पालने की ज़िम्मेदारी ले लें।"

"लेकिन मुसलमानों ने कब हमारा ख़्याल किया है?"

"सब मुसलमान एक से नहीं होते ! मुझे याद है एक बार मेरे एक रेल के डब्बे में घुसते ही एक ने कहा—

"एक और आए।"

दूसरे ने धीरे से कहा—"काफ़िर।"

"परन्तु आदमियत रखने वाले भले आदमी भी वहां थे। उन्हीं में से एक ने इन दोनों को फटकारा—"इसी तरह अमरीका रूस वग़ैरह की तरह आज़ादी हासिल करोगे ? सिर्फ़ मज़हब के मुख़्तलिफ़ होने से ही क्या हमें किसी को बुरी निगाह से देखना चाहिए ? हम लोग जब तक इसे समझ कर एक मक़सद से मिलने की कोशिश न करेंगे, तब तक क्या कुछ हो सकेगा ?"

'यह सुन मैंने भी कहा था—"जैसे अमरीका की कांग्रेस ने कैथेलिक, प्रोटेस्टेन्ट आदि को जो इङ्गलैण्ड में बेहद लड़ रहे थे, अपने यहां आपस में मिला दिया वैसे ही हमारी कांग्रेस भी हिन्दू और मुसलमानों को मिलाने की कोशिश कर रही है और हम अगर ज़रा भी सोचें, तो समझ जांय कि ऐसा करने से हमारे मुल्क भर की, और हरेक की हमारी सब की भलाई है। भला एक घर में कहीं दोस्त और दुश्मन रह सकते हैं ? यह नामुमकिन है। अगर घर पर अपना क़ब्ज़ा रखना है, तीसरे के क़ब्जे में अपने घर को न आने देना है और अमन-चैन की ज़िन्दगी बसर करना है तो आपस की दुश्मनी या ग़लतफ़हमी हटाओ, अपने दिलों को मिलाओ, दुनिया को देख कर चलो—आँखें खोलो, पुराने ज़माने में जाने या रहने की कोशिश में मत लगे रहो। हम हिन्दोस्तानी पहले हैं और हिन्दू-मुसलमान बाद को। हिन्दोस्तान हिन्दू और मुसलमान दोनों का एकसा वतन है—दोनों को इसी में रहना है और इसी की मिट्टी में मिलना है। इनमें से कोई भी दूसरे को धोखा देकर या दूसरे पर अन्याय करके ख़ुद ठीक तरह नहीं रह सकता।" मेरी बातें सुनकर सब लोग ख़ुश हो गये। फिर उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा "आओ, आओ, भाई जान, बैठो।"

'इस रेल की घटना ने मुझे ऐसी बुद्धि दी—मेरी आँखें इस तरह खोलीं कि ठीक राह पर चल खड़ा हुआ। उस समय से मैं क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सबको अपना भाई समझता हूँ—चाहे उनका व्यक्तिगत धर्म कुछ भी हो—शिया, सुन्नी, वैष्णव, शाक्त राधास्वामी, आर्यसमाज़ी, सिक्ख आदि के भेदों की तरफ़ न देखकर मैं आदमियत की ही तरफ़ देखता हूँ। यह बचा सच्चा आदमी बन सकता है।"

तो आपकी इच्छा ! मैंने तो अपने मन की बात कही थी……।"

"मैं तुम्हारे संकुचित विचारों से सहमत नहीं।"

× × ×

एक वर्ष बाद—

ठाकुर तेजसिंह के यहाँ बहुत-सी औरतें इकट्ठी होकर गाने बजाने में लगी हुई थीं। बाहर गाँव वालों को मिठाइयां बांटी जा रही थीं। ठाकुर बहुत प्रसन्न दिखलाई दे रहे थे। प्रसन्न होते भी क्यो न ! आज उन्हें एक पुत्र के पिता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ठाकुर ने इब्राहीम की उँगली पकड़ी और अपनी स्त्री के पास जा पहुंचे। मुसलमान दाई ने बच्चे को उठाकर ठाकुर को दिखलाया तो वे कहने लगे—"ख़ुदा दिल देखता है और कुछ नहीं। जब उसने देखा कि हम लोग बचा पाल सकेते हैं, तो तुरन्त एक बचा और दे दिया। देखा, इब्राहीम को भाई किस तरह मिला है।"

"मैं भी यही सोचती हूं; लेकिन उधर भी देखा ?"—आँगन की ओर संकेत करके ठकुरानी ने कहा।

"क्या बात है ?"

"तुम इन्हें (इब्राहीम की ओर नेत्र से संकेत करके) अपने साथ लिये हो इसी से कुछ औरतें नाराज़ होकर लौटी चली जा रही हैं। बोलने की हिम्मत नहीं पड़ी; नहीं तो न जाने क्या क्या कहतीं।"

"क्या कहतीं ? मेरी समझ में नहीं आता कि रूठकर या नाराज़ होकर धमकी देने से लोग क्या कर लेंगे ? जिन्हें ऐसा बहुत द्वेष है कि एक लड़के का हमारे साथ सुख से रहना नहीं देखा जाता, उन्हें यहां आने की कोई ज़रूरत नहीं है। मैं तो इसे नहीं छोड़ सकता। इब्राहीम ही तो मेरा पहला लड़का है।"

"पराए लड़के के लिए—चाहे वह अपने भाई का ही हो—टोला-पड़ोस वालों से तनकर रहने से क्या लाभ ?"

"पराया लड़का ? दूसरे से उत्पन्न होने से ही लड़का पराया लड़का हो जाता है ? जिससे भी प्रेम किया जाय वही अपना है। मैं तो इसे अपने लड़के की ही तरह प्यार करता हूँ इसलिए यह मेरा लड़का है। तुमको ईश्वर ने लड़का दे दिया है इसलिए अब तुम इसे पराया कहने लगी हो। परन्तु ख़बरदार आगे कभी तुम्हारे मुंह से ऐसी बात न निकले। अगर निकली तो मनुष्य भले ही कुछ न कहे, लेकिन दुनिया जिसके सहारे चलती है, वह इसे कब तक सहेगा ?"

ठकुरानी इब्राहीम को प्यार ज़रूर करने लगी थीं —पहले उसे मुसलमान समझकर उसके कुछ दूर दूर रहती थी, फिर उसकी निष्कपट बातों ने, स्नेह ने, और कामों ने उनके मातृस्नेह को उभाड़ दिया। पर अपने पेट से उत्पन्न हुए लड़के से इब्राहिम के लिए ठाकुर का अधिक प्रेम देखकर उन्हें दुःख और द्वेष हुआ। परन्तु वह ठाकुर के स्वभाव को जानती थीं और ईश्वर के कोप से भी डरीं इसलिए नम्र भाव से बोलीं—"मुझसे ऐसी ग़लती न होगी। अगर मैं इब्राहीम से पराए जैसा व्यवहार करने लगूँ तो ईश्वर जरूर नाराज़ हो जायगा।"

(२)

अब इब्राहिम १७ साल का जवान था। गांव के वातावरण में पला तथा ठाकुर के स्नेह से सिंचित वह एक सुदृढ़ पुरुष था। ठाकुर का पुत्र कमलसिंह ११ वर्ष का था। दोनों भाई की तरह रहते थे और दिन रात के साथी थे। इतना प्रेम था दोनों में जितना शायद सहोदरों में भी न हो।

इब्राहीम को शिक्षा उर्दू में ही दी गई थी, परन्तु कमलसिंह के साथ उसने हिन्दी का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसके लिए 'मुस्लिम संस्कृति द्वारा स्वीकृत कपड़ों' का आयोजन किया गया था; परन्तु कमलसिंह भी उसी की तरह कुरते और पाजामे में ही रहना पसन्द करता।

ठाकुर को इब्राहीम की शादी की चिन्ता हुई तो उन्होंने कुछ आदमी दूर के गाँवों में भेजे, परन्तु कोई भी कन्या देने को राज़ी न हुआ। मुसलमानों ने कहा "लड़के को हमारे यहां भेज दो तो शादी कर देंगे।"

ठाकुर ने कहलवाया--"इब्राहिम और उसकी बीवी के लिये अलग मकान का इन्तज़ाम कर दिया जायगा।"

तब भी राज़ी न होने पर ठाकुर ने इब्राहीम से सब बातें बतलाईं।

इब्राहिम ने कहा, "कोई फ़िक्र नहीं, मैं आपको छोड़कर नहीं जा सकता। मुझे शादी की ज़रूरत ही नहीं है।"

"तुम्हारी शादी तो मैं ज़रूर करूँगा।"

"आपका हुक्म सर आंखों पर, लेकिन शादी के लिए मैं आपको छोड़कर किसी और का नहीं बनूंगा। मैं ऐसे लोगों की लड़की को अपनी बीवी नहीं बनाना चाहता, जो मुझे सिर्फ़ इस वजह से बद समझते हैं कि एक हिन्दू ने मुझे पाला है और मैं हिन्दू के यहां से और कहीं जाना ना मंज़ूर करता हूँ।"

"इस हिन्दू और मुसलमान के फ़र्क़ को मैं भी पसन्द नहीं करता और यही वजह है कि मैं कांग्रेसी बनकर एक ऐसी जमात में जा मिला हूं, जिसमें हम सब भाई-भाई हैं और वतन की आज़ादी ही हमारे लिए सब कुछ है।"

"मैं भी अपनी ज़िन्दगी वतन के लिए ही लगाऊँगा। यही मेरा भी मक़सद है, जिसे मैं किसी वक्त नहीं भूलूंगा।"

"शाबास! मैं तुम से बहुत ख़ुश हूँ। मेरे मरने के बाद तुम ही मेरे इस चिराग़ में तेल दोगे, जिससे आज़ादी की लौ रोशन रहेगी।"

× × ×

चार वर्ष बाद—

"बेटा कमल! तुम बेकार की जिद्द क्यों करते हो? अगर तुम्हारे पिता इस बारे में कुछ नहीं कह रहे हैं, तो क्या मैं भी चुप्पी साधे रहूँ? मैं अब बूढ़ी हो गई बेटा! मेरे लिए एक सहारे की—बहू की—ज़रूरत है......।"

"मां, मैं तुमसे कई बार कह चुका कि मैं शादी नहीं करूँगा। सहारे के लिए महाराजिन और इतनी नौकरानियां हैं तो सही।"

"बेटा, इब्राहिम को तो कोई लड़की देने को तैयार नहीं है इसी से वह क्वांरा बैठा है, नहीं तो......।"

"पहले उनकी शादी होगी और तब मेरी।"

"देखते हो कमल कैसी जिद्द कर रहा है?"

"कमल होशयार लड़का है, वह तुम्हारे फ़ुसलाने में नहीं आएगा। यह तो क़ायदे की बात है कि पहले बड़े लड़के की शादी हो"—दफ़्तर से आए हुए ठाकुर ने कोट उतारते हुए कहा।

"तुम लोग कांग्रेसी हो गए हो तो इसका मतलब यह थोड़े ही है कि देशप्रेम के लिए अपने घर को उजाड़ लो। बेटा कमल, तुम सोचो तो कि हमारा वंश, घर-गृहस्थी......।"

"यदि देश की भलाई के लिए वंश, जाति, घर-गृहस्थी, सुख, आनन्द सब की भेंट चढ़ानी पड़े तो भी मैं पीछे न हटूंगा। भारतवासी होने के नाते भारत के प्रति जो हमारा कर्तव्य है पहले उसे करना है। वंश और जाति की रक्षा में अंधे बने रहकर ही तो हम परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ते गए। अब जब हमारी आंख खुली है तो हम बेड़ियों को तोड़ने की प्राणपण से चेष्टा करेंगे।"

"ठीक है बेटा! हम तीनों का यही कर्तव्य है। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि जीवन-पर्यन्त देश की भलाई में लगे रहेंगे। जब शादी का ठीक समय आ जायगा तो भगवान् देरी न करेगा"—ठाकुर ने कमल की पीठ को थपथपाते हुए कहा और छत से अपने अन्तरिक्ष में बैठे भगवान् की ओर देखना चाहा।

(३)

इब्राहीम, कमलसिंह और ठाकुर तेजपालसिंह अपने अनुपम त्याग और सेवा द्वारा प्रसिद्ध नेताओं में गिने जाने लगे। जनता इनका जितना आदर करती ये लोग उतने ही नम्र बनते जाते थे, कर्मशील तो थे ही; अपने व्याख्यानों द्वारा नर-नारियों को एकता की सलाह देते और उनके हृदयों को देश-प्रेम की लगन तथा उत्साह से भर देते थे।

ठकुरानी बेटों की जिद्द से उदास और निराश हो चुकी थीं, परन्तु जब कभी वे अपने पति और बेटों के बारे में चर्चा सुनतीं उनके हृदय में आनन्द का स्रोत बहने लगता और सर गर्व से ऊँचा हो जाता। यह सब होते हुए भी उन्हें कमलसिंह के अविवाहित रहने का इतना दुःख था कि कभी-कभी वे सोचने लगतीं—"मैं बिना बहू देखे मरी जाती हूं"—और वे रोने लगतीं।

इस समय इन तीनों नेताओं का यश सम्पूर्ण भारत में फैल चुका था। एक अन्य नेता आजिम-बेग़ ने अपनी लड़की इब्राहिम को देने की इच्छा प्रकट की। ठाकुर ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। इब्राहिम की शादी हो गई। कमलसिंह ने भी अपने भाई का अनुसरण किया। पंढरपुर के ठाकुर ने अपनी इकलौती कन्या का हाथ कमलसिंह को सौंप दिया।

× × ×

अब ठाकुर तेजसिंह और उनकी पत्नी इस संसार में नहीं हैं। इब्राहीम और कमलसिंह पहले की ही तरह देश-सेवा में लगे हुए हैं। यदि कभी उनकी पत्नियों में खटपट हो जाती है तो दोनों उनको ठीक राह पर ले आते हैं। आज भी ये दोनों भाई ठाकुर के जलाए हुए चिराग़ में तेल देकर उसे जलाए हुए हैं।

वर्तमान संकट और संसार का भविष्य

श्री विजय वर्मा

हिसाब लगा कर देखा गया है कि अगर इस दुनियाँ की आबादी अबकी तिगुनी बढ़ जावे तब भी उसे खाने-पहरने आदि की कमी नहीं हो सकती। पर ऐसी कमी न होने के लिये कुछ आवश्यक शर्तें हैं। क्या इन शर्तों को पूरा करने वाली अवस्था लाने के लिये ही संसार में लड़ाइयों पर लड़ाइयां हो रही हैं? यथेष्ट अन्न और काफ़ी वस्त्र प्रत्येक को मिलने की सम्भावना होने के स्थान पर दुनियां की तीन चौथाई आबादी की लूट खसोट बढ़ती जाती है। लूटने वाले साथी भी आपस में एक दूसरे का गला दबोच देने की ताक में हैं! सुव्यवस्था तथा शान्ति की जगह संसार के प्रत्येक भाग में—प्रत्येक समाज और प्रत्येक देश के घर घर और कोने कोने तक में—दुर्व्यवस्था तथा अशान्ति अपना डेरा डाले हैं। ऐसा नहीं है कि लोग सिद्धान्त में इन शर्तों को न मानते हों। विशेषतः रूस और अमरीका तो बहुत ज़ोर-शोर से इस बात का प्रचार करते आये हैं कि उन्हें इन शर्तों को बाक़ी सबसे मंज़ूर कराने के लिए ही यूरुप और एशिया के सभी देशों के युद्धों में भाग लेना है। पर इन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए वर्तमान समय के सत्ताधारियों में से सचमुच कितने तैयार हैं? पैबन्दों से तो अब कुछ काम चलता नहीं।

पहले महायुद्ध के पहले ग्रेटब्रिटेन की अपने देश से बाहर दूसरे देशों में चार अरब पौंड की पूंजी लगी हुई थी। फ्रांस की थी केवल एक अरब अस्सी करोड़ और जर्मनी की एक अरब बीस करोड़। इसी तरह ग्रेटब्रिटेन का साम्राज्य भी फ्रांस और जरमनी आदि का कई गुना था। अपने इस तरह फैले हुए राज्य में अपना माल भेजने में जो सुविधा ग्रेट ब्रिटेन को थी वह दूसरों को कैसे नसीब होती? इसी तरह अपने राज्यों से अपनी आवश्यकतानुसार कच्चा माल लेने का जो अधिकार वह अपना समझता था और समझता है वह दूसरे देशों को कैसे मिलता? इसका नतीजा यह था कि जरमनी या अन्य देश अपनी मशीनों के बल से चाहे जितना अधिक माल तैयार कर सकते पर बिना ग्रेट ब्रिटेन की मरज़ी के वे उसे खपा न सकते थे और उसकी स्वीकृति अपने देश की भलाई को प्रथम स्थान देने के बाद भी अन्य कई बातों पर विचार करके दी जाती थी। पहले महायुद्ध के पहले जरमनी को और दूसरे महायुद्ध के पहले जापान को भी यह अवस्था अत्यन्त अपमानजनक एवं असह्य जान पड़ी। वास्तव में इसमें जरमनी या जापान को उतना बुरा मानने का अवसर न था जितना स्वयं उन देशों को जिनका तरह तरह का कच्चा माल बाहर भेजा जाता है और दूसरे देशों से 'पक्का' होकर फिर वहीं आकर कई गुने मूल्य पर बिकता है और जिन्हें अपने खाने पहरने का आवश्यक सामान भी दूसरे देशों को देकर उनसे सैकड़ों-हज़ारों ऐसी वस्तुएँ मंगानी पड़ती हैं जिन्हें बना लेने के सब साधन उनके पास हैं—सिवा स्वतन्त्रता के।

यूरुप की आबादी जितनी है उसके लिए खाने की सामग्री यथेष्ट तब समझी जाती है जब क़रीब दस करोड़ आदमियों के लिए खाने-पीने का सामान बाहर से आवे। १९१९ के जुलाई महीने में क़रीब डेढ़ करोड़ परिवार बेकारी की दशा में रहते थे। जो देश स्वाधीन हैं वे अपने यहां के सब लोगों का ऐसा हिसाब रखते हैं कि उन्हें सदैव यह मालूम होता रहे कि उनके यहां कौन कौन और कितने लोग बेकार हैं। वे बेकारी की दशा में लोगों के खाने-पहरने का प्रबन्ध भी करते हैं, उनके बाल बच्चों के खाने-पीने और शिक्षा के लिए ज़िम्मेदार होते हैं, और वृद्धावस्था में प्रत्येक को पेन्सन देते हैं। यह सब गवर्नमेंट का आवश्यक कर्तव्य निर्धारित हो गया है। इस बात

का भी प्रयत्न किया जाता है कि बेकारों को जल्दी से जल्दी कोई न कोई काम मिल जावे। उस लड़ाई के पहले जरमनी अपने देश की आवश्यक खाद्य सामग्री का पचासी प्रतिशत अपने ही यहां पैदा कर लेता था। उसे केवल पन्द्रह प्रति शत बाहर से मंगाना था किन्तु फ्रांस आदि देशों की दशा ऐसी न थी। लड़ाई के बाद जरमनी की शक्ति भी चालीस प्रति शत कम हो गई इसलिए वहां के लोगों को भी भूख की यन्त्रणा का सामना करने के लिए तैयार होना पड़ा।

मई १९१९ में केवल आस्ट्रिया में क़रीब चार लाख आदमी राजयक्ष्मा के अस्पताल में पड़े हुए थे। समाचार पत्रों में उन बच्चों के चित्र छप रहे थे जो बारह वर्ष से नीचे थे और बिना उचित खाद्य सामग्री के दुर्बल से दुर्बलतर होते जाते थे—गाल पिचके जाते थे, आँखें बैठी जाती थीं।

हिन्दुस्तान ऐसे देश में जो स्वाधीन नहीं है और इसीलिये जहां के बेकारों की संख्या का कोई हिसाब तक नहीं रखा जाता, न बेकारों के प्रति कोई विशेष कर्तव्य समझा जाता है, तरह तरह के रोगों के शिकार होना और कीड़ों मकोड़ों की तरह मर जाना एक साधारण सी बात है किन्तु स्वाधीन देशों में ऐसा होना साधारण बात नहीं है। ऐसा होने पर वहां गवर्नमेंट का चलना ही असम्भव हो जाय। इसी लिये जरमनी सबसे पहले अपना यह कर्तव्य समझता था कि अपने यहां के सब लोगों के खाने और पहिरने का ठीक प्रबन्ध करे। पर पिछली लड़ाई समाप्त होने के बाद उस पर गहरा जुर्माना किया गया था। उसकी वसूली के लिए उससे दस करोड़ पौंड प्रति वर्ष माँगा जाता था। वह इसे कैसे अदा करता?

अगर लड़ाई के प्रारम्भ होने के पहले की भांति भी वह दूसरे देशों से कच्चा माल पा जाता तो अपनी मशीनों द्वारा तरह तरह की चीज़ें बना कर बाहर भेजता। किन्तु यह असम्भव हो गया था। फलतः उसने उधार लेने की इच्छा प्रकट की। अमरीका महाजन के रूप में तुरन्त सामने आया और इस अवसर से उसने पूरा लाभ उठाना चाहा किन्तु नतीजा उल्टा हुआ। क़रीब चालीस करोड़ पौंड उधार देने के बाद अमरीका ने यह साफ़ तौर से देख लिया कि उसका यह धन पानी में ही चला गया क्योंकि जरमनी के सिक्के—मार्क—की क़ीमत बेहद गिर गई—इतनी अधिक कि वह नहीं के बराबर कही जा सकती थी।

दूसरी ओर स्वयं ग्रेट ब्रिटेन पर अमरीका का सत्तानबे करोड़ बीस लाख पौंड का क़र्ज़ा चढ़ गया था और इंगलैण्ड भी इसे देने में असमर्थ हो रहा था। १९२२ में ही उसने भी अपनी यह इच्छा प्रकट की कि अमरीका 'परोपकार के भाव से नहीं बल्कि स्वार्थ के भाव से ही इस ऋण को छोड़दे क्योंकि बिना ऐसा किए स्वयं उसके व्यापार का चलना सम्भव न होगा और उसके मज़दूरों को काम न मिलेगा।'

यह बात न थी कि अंगरेज़ी पूंजीपतियों के पास धन की विशेष कमी हो गई रही हो किन्तु उनकी चाल यह थी कि अगर यह क़र्ज़ा न अदा करना पड़े तो संसार भर में उनकी शक्ति और भी दृढ़ हो जायगी और उनका रंग पूरी तरह जम जावेगा।

उधर फ्रांस अपनी शक्ति बढ़ाने और जर्मनी की शक्ति को पूरी तरह मटियामेट कर देने की चालें चल रहा था। वह चाहता था कि जर्मनी छोटी छोटी कई रियासतों में बँट जावे। और उसकी कोयले की मुख्य खदानों के स्थानों पर यानी आल्सेस-लोरेन में स्वयं फ्रांस का आधिपत्य रहे तथा जर्मन जनता कभी शस्त्रों से सुसज्जित न हो पावे। इसीलिए १९२२ में उसने रूहर (Ruhur) के कोयले के क्षेत्र पर क़ब्ज़ा कर लिया। किन्तु इसका फल भी सर्वथा उल्टा हुआ। सम्पूर्ण जर्मन जाति में एक बिजली सी चमक गई। वे हिटलर के नेतृत्व का महत्व स्वीकार करने लगे। ग्रेट ब्रिटेन और इटली ने भी फ्रांस के इस कार्य को पसन्द नहीं किया। अंगरेज़ी शक्ति की यह इच्छा कभी न थी कि यूरुप

में फ्रांस अन्य सब शक्तियों से इतना बढ़ जाये। वह तो शक्ति-संतुलन की नीति को ही यूरुप के लिए काम में लाना चाहता था—जिससे वह सबका सरपंच बना रहे।

रूस में जो समाजवादी पंचायती राज्य लेनिन के नेतृत्व में स्थापित हो गया था उसकी निगाह में फ्रांस, जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन, तीनों ही में पूंजीवादी शासन-पद्धति होने के कारण जनता अर्थात् मज़दूरों और किसानों आदि साधारण लोगों के पास अभी तक यथेष्ट विकास प्राप्त करने के साधन नहीं हैं। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने के कई साल पहले १९०७ ईसवी में स्टटगर्ट की द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में लेनिन ने ही यह प्रस्ताव रखा था कि अगर यूरुप में युद्ध छिड़े तो साम्यवादियों को चाहिये कि वे अपने अपने देश के किसान और मज़दूरों को उभाड़ कर ऐसी राज्यक्रांति खड़ी कर दें जिसमें पूंजीशाही का लोप हो जाय और संसार भर में साम्यवादी राज्य की स्थापना सम्भव हो सके। किन्तु जब १९१४ में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तब लेनिन के बहुत समझाने पर भी 'समाजवादी नेताओं में से अधिकांश ने अपने अपने देश का ही साथ दिया।' फ्रांस और इङ्गलैण्ड और अमरीका तक के मज़दूर यह देख रहे थे कि अगर संसार भर में साम्यवादी राज्य हो जाये और प्रत्येक देश स्वतन्त्र हो जावे तो पराधीन और पिछड़े हुए देशों का शोषण बन्द हो जाने से वे इतनी अधिक मज़दूरी न पा सकेंगे। केवल जरमनी में 'यहूदी व्यापारियों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के कारण उनके कारख़ानों के मज़दूरों ने ऐसे साम्यवादी राज्य का स्वागत करना चाहा और इसका एकमात्र फल यह हुआ कि जर्मनी की राष्ट्रीय शक्ति कमज़ोर पड़ती गई और अन्त में यही उसकी हार का एक प्रधान कारण हुआ। फलतः हिटलर ने इसे यहूदियों के संसारव्यापी षड़्यन्त्र का नाम दिया और यहूदियों का कट्टर बैरी बन बैठा। उन्हें जरमन देशों से निकाल देने का उसने दृढ़ संकल्प कर लिया।'

जिन लेखकों ने उस महायुद्ध के वास्तविक रहस्यों के परदे खोले उनमें एच० जी० वेल्स का नाम विशेष प्रसिद्ध हुआ। जिस बेदरदी के साथ, बिना जनता के वास्तविक लाभ के विचारों के, सिपाहियों को युद्धक्षेत्र की अग्नि में झोंका गया उसका उन्होंने सच्चा और हृदयदावक वर्णन लिखा। उन्होंने यह आशा भी प्रकट की कि भावी संसार उन लोगों को जो उस युद्ध के समय विचक्षण बुद्धिमान्, देशभक्त और प्रतापी नेता माने गये थे संकीर्ण बुद्धि, संकीर्ण हृदय और पागलों जैसा समझेगा। विशेषतः वरसाई की संधि में जिस क्षुद्रता का परिचय दिया गया उसने उन्हें ग्लानि और रोष से भर दिया था। १८७० ई० में जरमनों ने फ्रांस को पराजित करके वरसाई में सुलह की थी। उसी स्थान पर इस तरह संधि की गई मानो जरमनी की उस पिछली जीत का पूरा बदला व्याज सहित चुकाया जा रहा हो। लोगों को सब से अधिक निराशा अमरीका से हुई। उसके प्रेसिडेन्ट उडरो विलसन ने लड़ाई के समय ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था जो सभी देशों की जनता को अपने लिए सचमुच लाभप्रद दीखे थे। उनका नाम दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक बड़े आदर के साथ लिया जाने लगा था। किन्तु जब उन सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने का समय आया तब वे सब हवा में उड़ गये! साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शक्तियाँ प्रबल से प्रबलतर हो गईं। हिन्दुस्तान ज्यों का त्यों पराधीन रहा, यद्यपि उसने अपने धन-जन की पूरी आहुति दी थी। जरमनी को ऐसा जकड़ने का प्रबन्ध किया गया कि वह किसी तरह अपने बन्धन न तोड़ सके! उस के सब प्रदेश (Colonies) छीन लिये गये और उस पर इतना जुरमाना किया गया कि वह उसे देकर किसी तरह पनप न सके बल्कि पराधीन देशों के समान निर्बल हो जावे। रूस में सोवियत् राज्य क़ायम हो जाने से अंग्रेज़ी और अमरीकन गवर्नमेण्टें उससे

[३०५ पृष्ठ]

ब्राह्मण्यवाद

बैजनाथ सिंह "विनोद"

जिस प्रकार व्यक्ति में अन्तरमुखता और वाह्य-मुखता होती है, उसी प्रकार समाज में और जातियों में भी ये वृत्तियाँ होती हैं। दरअसल सामुदायिक जीवन और सामाजिक वर्तन की प्रणाली के घात-प्रतिघात से ही व्यक्ति और जाति में इन दोनों वृत्तियों का विकास होता है। संसार में सभी जगह ये दोनों वृत्तियां मिलती हैं। हिन्दुस्तान के इतिहास में भी हम इन दोनों वृत्तियों को पाते हैं। सामूहिक जीवन में हम इन दोनों वृत्तियों को जातीयता तथा अन्तर्जातीयता या राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता कह सकते हैं।

यहाँ एक भ्रम भी सम्भव है। आज जिस राष्ट्रीयता को हम देख रहे हैं, वह हमारे प्राचीन इतिहास में नहीं है; पर वह उसी जाति की चीज़ है, जिसका विकसित रूप आज की राष्ट्रीयता है। प्राचीन भारत की राष्ट्रीयता या जातीयता ब्राह्मण्यवाद के सहारे थी। दूसरे शब्दों में प्राचीन भारत में ब्राह्मण्यवाद राष्ट्रीय धर्म था। उसी तरह प्राचीन भारत में अन्तर्जातीयता या अन्तर्राष्ट्रीयता भी थी। जन्मगत, देशगत और रंगगत बन्धन से परे, आचार मूलक और कर्मों के आधार पर विकसित इसी अन्तर्जातीयता के भाव ने बौद्ध धर्म का रूप लिया। दूसरे शब्दों में प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व बौद्ध धर्म कर रहा था।

प्राचीन भारतीय समाज के मूल में संरक्षित सामग्री के रूप में हमें ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त का वह मन्त्र मिलता है, जिसमें लिखा है "उस प्रजापति के मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, उरु वैश्य थे, और पदों से शूद्र उत्पन्न हुए।"[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन महोदय कहते हैं—"ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द कम ही आया है। जहाँ आया है वहाँ भी ज्ञानी या पुरोहित के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। क्षत्रिय शब्द का उल्लेख भी बहुत ज़्यादा नहीं है और वैश्य तथा शूद्र का तो एक मात्र उल्लेख पुरुष-सूक्त के इस मन्त्र में ही है।"[2] और पड़ताल करने के बाद आचार्य सेन कहते हैं—"इस प्रकार देखा गया कि यह वर्ण-भेद जन्मगत है। ब्राह्मण से ब्राह्मण, क्षत्रिय से क्षत्रिय, वैश्य से वैश्य और शूद्र से शूद्र उत्पन्न होता है।"[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश में चार वर्ण की यह वर्ण-व्यवस्था बहुत पुरानी है; और जब से है तभी से जन्मगत है।[4] पर क्या यह हमारे ही देश में है? प्राचीन चीन के चौ (Chou) वंश के राजत्व काल में चीनी समाज भी चार श्रेणी में विभक्त था। इजिप्ट, बेबीलोनिया और प्राचीन एशिया माइनर के समाज में भी इसी तरह श्रेणी-विभाग था। प्राचीन बेबीलोन के पुरोहित जिस ढङ्ग के वस्त्र पहनते थे, उसी ढङ्ग के वस्त्र से आवृत्त मूर्ति मोहन-जो-दड़ो में मिली है। ईरान आदि देशों में भी पुरोहितों का प्राधान्य था। पुरोहित शासक भी होता था। आर्यों के अन्दर भी ऋषि लोग थे। हिन्दुस्तान में आर्यों के आगमन के बाद आर्यों के ऋषियों और यहां के पुरोहितों का स्वार्थ एक होने के कारण यह दोनों धार्मिक क्रियाओं द्वारा समाज पर प्राधान्य रखने वाले दल एक हुए हों तो अचरज नहीं। बहुत से विचारकों का ऐसा मत है भी। वृत्तासुर राजा था, उसे इन्द्र ने मारा। इन्द्र को ब्रह्महत्या का पाप भी लगा, जिसका उसने प्रायश्चित् भी किया।

आर्यों के समाज में ऋषि विचारक हैं, तपस्वी हैं, मान्य हैं; किन्तु समाज के नेता या संचालक इन्द्र हैं। इन्द्र योद्धा हैं, तपस्वी नहीं हैं। इन्हीं इन्द्रों में से

१, २, ३—आ० क्षितिमोहन सेन "भारतवर्ष में जाति भेद" पृष्ठ ७

४—यद्यपि शुरू में उसके अन्दर लचीलापन भी था। आज की सी वर्जनशीलता पहले नहीं था।

किसी ने पुरों की दासता-जन्य सभ्यता के ढहा कर पुरन्दर की उपाधि धारण की थी; किन्तु फिर उन्हीं दासता की (सामन्ती) सभ्यता के लोगों में उन्हीं का शासक होकर इन्द्र अपनी सभ्यता के साथ उन्हीं में मिल गया। लेकिन एक समय के इन संघर्षों के परिणाम स्वरूप शासन-तन्त्र पर से पुरोहित के हटना पड़ा और उस पर राजन्य आसीन होगया। किन्तु शासन-तन्त्र पर से पुरोहित के हट जाने पर भी, बिना उसके शासन-तन्त्र का चलना शायद सम्भव नहीं था। पर फिर भी राजन्य के ब्राह्मण वर्ग राजा मानने के राज़ी न था। वह सोम के अपना राजा मानता था और राज कर देने के लिए भी तैयार नहीं था। यह संघर्ष सदियों तक चलता रहा। पर आगे चल कर यह समन्वय या समझौता हुआ कि "केवल पुरोहित ब्राह्मण कर से मुक्त है।"[५] धार्मिक मामलों में पहले तो वैदिक यज्ञ और अवैदिक पूजा-पद्धति में विरोध रहा। पर आगे चलकर धीरे-धीरे दोनों में समझौता चलने लगा। जिस विष्णु के भृगुने लात जमाया, उसी विष्णु ने इन्द्र की जगह हथियाली। महादेव भी शिव बनकर, रुद्र का रूप धारण करके आ घुसा। उधर यज्ञ में कर्मकाण्ड का विधान इतना बढ़ा कि सामन्त, राजा, महाराजा और राजाधिराजा याज्ञिक क्रिया-कलापों भर ही रह गये। लड़ना, सम्पत्ति जुटाना और यज्ञ कर के ब्राह्मणों के दान देना ही उनका काम रह गया।

पर जब से ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों का बखेड़ा पैदा हुआ, उसी समय से आचार और मानवी कर्मों को प्रधानता देने वाले अन्तर्जातीय या अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का जन्म भी मुनियों और यतियों के अन्दर हो चला था। उसका विकास धीरे-धीरे समाज में हो चला। गणतन्त्रों में उसका प्रभाव बढ़ा। परिणाम स्वरूप उपनिषदों की विचार-धारा का जन्म हुआ। उपनिषदों की विचार धारा में राजन्य या क्षत्रियों की प्रधानता थी। ज़ाहिर है कि यह ब्राह्मण्यवादी कर्मकाण्डों के विरुद्ध हुए संघर्षों का फल या समन्वय था। पर आगे चलकर इसी विचार-धारा की परम्परा में महावीर और बुद्ध का विकास हुआ। इनमें से एक आत्मवादी और दूसरा अनात्मवादी था। आगे चलकर हज़ार साल तक जो इन दोनों के विचारों को लेकर भारतीय संस्कृति में संघर्ष चला, उसी के परिणाम स्वरूप भारतीय संस्कृति मानव संस्कृति की अधिकारिणी बन पाई।

ब्राह्मण्यवाद किसी कबीले का धर्म नहीं; यह धर्म समाज पर सत्ता क़ायम रखने वाले समूह का है। शुरू में रक्त शुद्धि या दूसरे कबीले से अलग रहना और वर्जनशीलता की "मैना" भावना सभी प्राचीन जातियों में पाई जाती है। यह भावना हिन्दुस्तान की पुरानी जातियों में भी थी। रक्त-शुद्धि की भावना ही कौलीन्याभिमान के मूल में है। आर्यों के संघर्ष के बाद सत्ता पुरोहितों के हाथ से हटी; किन्तु यहां के समाज की प्रकृति में उनका प्राधान्य था; इसलिए बिना उनके शासन-शकट का चलना कठिन था। प्रकृति को संतुष्ट रखने का उपदेश कौटिल्य भी देता है। इसलिए राजन्य या क्षत्रिय शासकों को ब्राह्मण प्राधान्य कबूल करना पड़ा। इस तरह दोनों का स्वार्थ एक हो गया। दोनों अन्योन्याश्रित हो गये। इसीलिए ब्राह्मण्यवाद योद्धा और धर्मभाव समन्वित हुआ।

ब्राह्मण्यवाद के अन्दर भिन्न-भिन्न समय में भिन्न भिन्न जातियाँ मिलती गई हैं। शुरू में ब्राह्मण्यवाद विदेशी जातियों से संघर्ष करता है; इस संघर्ष में देश की सामाजिक प्रकृति का उपयोग करता है और बाद में विदेशी जातियों के देवता के अपने किसी देवता के अन्तरभुक्त करके उसे मिलाता है और उस जाति के पुरोहित वर्ण के ब्राह्मण तथा सैनिक और सामन्तों के क्षत्रिय वर्ण का करार दे देता है। यही कारण है कि हिन्दुस्तान में सैकड़ों कबीलों के टोटेम देवता के रूप में मौजूद हैं, और ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की सैकड़ों क़िस्में हैं। इस तरह ब्राह्मण्यवाद

५—जायसवाल—"हिन्दू राज-तन्त्र" [भाग २] पाद टिप्पणी २२६: और डा० दत्त "परिचय" वर्ष १०, खण्ड २, संख्या १

तब तक किसी विदेशी जाति से संघर्ष करता है, जब तक वह वर्ण-व्यवस्था के क़बूल न कर ले। और वर्ण-व्यवस्था के क़बूल कर लेने के बाद उस जाति का पुरोहित और योद्धा वर्ग तो हिन्दू समाज के अन्दर उच्च और अच्छी श्रेणी में चला जाता है; बाक़ी ज़्यादा से ज़्यादा संख्या—जिसमें शिल्पी, रथ-कार, और सेवकों की श्रेणियां हैं—शूद्र श्रेणी में जाकर अपने भाग्य के कोसती और पूर्व कर्म के नाम पर रोती हैं। यही कारण है कि हिन्दू समाज में शूद्रों की संख्या अन्य तीनों वर्णों (द्विजों) के बराबर ही नहीं, ज़्यादा है।

इस तरह ब्राह्मण्यवाद किसी एक जाति या किसी एक कबीले का धर्म नहीं है। यह बहुत-सी ऐसी जातियों और कबीलों का धर्म है, जिसने वर्ण-व्यवस्था को क़बूल किया हो। यह वर्ण-व्यवस्था वैसे तो चार श्रेणियों में मानव-समुदाय के बांटती है; किन्तु इसी के अन्दर एक और विभाजन है, जिसके ज़रिये द्विज और शूद्र दो श्रेणियों में मानव-समुदाय बंट जाता है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से ये द्विज सर्वश्रेष्ठ शक्ति सम्पन्न हैं। शूद्र तो एक मात्र सेवा के लिये समझा गया है और तरह तरह से उसको उसी लायक़ बनाए रखने की व्यवस्थाएं भी बनती रही हैं। कौटिल्य से पहले आम शूद्र को नागरिकता का अधि-कार तक नहीं था। सिर्फ़ कहीं कहीं बहुत धनी शूद्र ही पौर-जनपद के सदस्य हो सके थे। सब से पहले कौटिल्य ने ही 'आर्य-प्राण' कह कर शूद्रों को नाग-रिकता का अधिकार दिया।

बौद्ध धर्म के प्रभाव से जब ब्राह्मण्यवाद का ज़ोर कुछ कम हुआ, तो शूद्र कहे जाने वाले लोगों का कुछ निस्तार शुरू हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस दिशा में राजनीतिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण काम किये। फिर अशोक ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया। जहाँ पहले यह था कि मुक़दमों का फ़ैसला करने के लिए न्यायाधीश ब्राह्मण ही हो, वहाँ उसने इस नियम को अमान्य किया। उसका प्रधान मन्त्री राधा गुप्त भी ब्राह्मण नहीं था। उसके ऐलानों में भी ब्राह्मणों का विशेष महत्व नहीं क़बूल किया गया। अशोक ने बौद्ध धर्म के बहुत आगे बढ़ाया। बौद्ध धर्म का प्रचार ब्राह्मण्यवाद पर आघात भी करता था—उससे पुरोहित श्रेणी के स्वार्थों पर बाधा पड़ती थी। पर चूंकि बौद्ध धर्म अन्तर्जातीय धर्म था; इसलिए उसमें विदेशी शकों और तुखारों आदि को आने का मौक़ा था। और जब मौर्य साम्राज्य सैनिक दृष्टि से निर्बल पड़ गया, तो शकों ने गङ्गा जमना के कछार तक अपना अधिकार जमा लिया। इधर मौर्यों की नीति अहिंसा की थी और उधर शक अपने राज्य में अपने विरोधी ब्राह्मणों को मारते और उनके धार्मिक कामों के असम्भव बनाते जा रहे थे।[९] इसीलिए मौर्यों के विरुद्ध समाज में असन्तोष बढ़ा, जिसके परिणाम स्वरूप सेनापति पुष्य-मित्र ने बृहद्रथ के मार कर राज्य पर अधिकार कर लिया। और ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ता ही गया।

सेनापति पुष्यमित्र ने राज्य पर अधिकार करके ब्राह्मण्यवाद का खुला समर्थन किया और अशोक द्वारा क़ायम की हुई सामाजिक व्यवस्था के बदल दिया; इधर पुष्यमित्र और उधर गौतमी पुत्र सातकर्णी ने ब्राह्मण्यवाद के प्रोत्साहन दिया। इसके बाद ही

९—"एक बौद्ध-धर्म ही ऐसा था, जिसके द्वारा विदेशी शक लोग उस प्राचीन सनातनी और अभिमानी समाज का मुकाबला कर सकते थे· जो मनुष्यों के प्राकृतिक तथा जातीय विभागों के आधार पर संगठित हुआ था। ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था के कारण ये म्लेच्छ शासक बहुत ही उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, जिससे उन म्लेच्छों को बहुत बुरा लगता था और इसलिए उस सामाजिक व्यवस्था के नाश के लिए वे लोग अनेक उपाय करते थे, जो उन्हें बहिष्कृत रखती।" [पृष्ठ ९२]

"ये म्लेच्छ लोग ब्राह्मणों की हत्या करते हैं और उनके यज्ञों तथा धार्मिक कृत्यों में बाधा डालते हैं······।"

···"उस समय वेदों के वाक्य व्यर्थ हो जायँगे, शूद्र लोग "भो" कह कर समानता सूचक शब्दों में [ब्राह्मणों को] सम्बोधन करेंगे और ब्राह्मण लोग उन्हें आर्य कह कर सम्बोधन करेंगे। जायसवाल—'अन्धकार युगीन भारत" [पृष्ठ ९८-९९]

नागों, वाकाटकों और भारशिवों का काल आता है। ये सभी ब्राह्मण या ब्राह्मण्यवादी राजा थे। उस समय जैसी सामाजिक अवस्था थी, उसको देखते हुए यह ब्राह्मण्यवादी प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी थी। उस ब्राह्मण्यवाद के अन्तर्गत ही देश का राष्ट्रीय जीवन अपने को सुरक्षित रख सकता था। उस समय की अन्तर्राष्ट्रीयता जगत् व्यापी नहीं थी कि हम अपनी राष्ट्रीयता को उसके लिए कुर्बान कर देते--यद्यपि उस समय भी ब्राह्मण्यवाद में अनेक खामियाँ थीं। पर जिस समय—"शकों ने ख़ूब समझ बूझ कर सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। उनकी योजना यह थी कि उच्च वर्ग के लोगों और कुलीनों का दमन किया जाय, क्योंकि वही लोग राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के रक्षक थे। इस प्रकार वे लोग ब्राह्मणों और क्षत्रियों का सब प्रकार से दमन करते थे। हिन्दू राजाओं की सैनिक शक्ति से शक लोग नहीं घबराते थे, क्योंकि उस पर वे विजय प्राप्त कर ही चुके थे; पर हिन्दुओं की सामाजिक प्रथा से उन्हें बहुत डर लगता था। वे जन साधारण के मन में भय उत्पन्न करके और उन्हें बल पूर्वक धर्म भ्रष्ट करके तथा अपने धर्म में मिला करके आचार भ्रष्ट करना चाहते थे।...उन्होंने कई बार एक साथ बहुत से लोगों की जो हत्याएं कराईं थीं, उनका उल्लेख गर्ग-संहिता और पुराणों में भी है। वे लोग इस देश का बहुत सा धन अपने साथ बैक्ट्रिया लेते गये थे।"[७] जिस समय राष्ट्र के के सिर पर ऐसी विपत्ति हो, उस समय वही राष्ट्र का धर्म होगा, जिससे उसकी रक्षा हो। चूंकि ब्राह्मण धर्म ने वह काम किया, इसलिए जनता का वह धर्म बना। और चूंकि बौद्ध धर्म ने इन शकों को अपने में क़ायम रखा; इसलिए ही उसी समय से बौद्ध धर्म के प्रति उच्च श्रेणी में एक प्रकार की उपेक्षा और विरोध का भाव शुरू हुआ।[८]

इस काल में ब्राह्मण्यवाद का जो ज़ोर हुआ, उसके मूल में नागों का विशेष महत्व है। मालवगण भी ऊपर चल कर नागों की एक शाखा में मिल जाता है। विद्वानों की राय है कि नाग जाति का निवास हिन्दुस्तान में आर्यों के आगमन के भी पहले था। बहुत सम्भावना यह है कि नागों के हाथ से आर्यों ने सत्ता छीनी और फिर वह नागों की सनातनी सभ्यता में अपनी वैदिक सभ्यता के साथ मिल गये। वाकाटक वंश का संस्थापक विन्ध्य शक्ति"...जो जन्म भर कट्टर ब्राह्मण बना रहा (चकार पुण्येषु परं प्रयम्), वस्तुतः किलकिला के वृषों का एक सेनापति था।" वृष भारशिवों को कहते थे। इस तरह हम देखते हैं कि ब्राह्मण्यवाद का पुनरुद्धार करने में प्राचीन काल के ब्राह्मण्यवादियों का ही विशेष हाथ है।

पर इस काल में ब्राह्मण्यवाद का जो पुनरुद्धार हुआ, उसमें भी काफ़ी लचीलापन था। विन्ध्य-शक्ति के लड़के प्रवरसेन प्रथम ने क्षत्रिय राजकुमारी से शादी की थी। ब्राह्मण्यवाद को क़बूल कर लेने पर छोटी जातियों का ऊपर उठना उस काल में सम्भव था। उसी काल में एक सर्व भारतीय साम्राज्य की नींव पड़ी, जिसे गुप्तों ने पूरा किया। उसी काल के लगभग (अर्थात् २५० ई० में) संस्कृत के पक्ष में एक बड़ा साहित्यिक आन्दोलन आरम्भ हुआ था; जिसकी पूर्ण सफलता गुप्तों के समय में हुई। उस समय सामाजिक पुनरुद्धार या सुधार का जो आन्दोलन शुरू हुआ, उसमें वर्ण-व्यवस्था पर ज़ोर दिया गया था और ऐसा इसलिए किया गया था कि कुशान शासन के समय जो बातें समाज के अन्दर घुसी थीं, उन्हें निकालना था। लेकिन चाहे मलेरिया रोग को मारने के लिए ही कुनैन का प्रयोग किया गया हो; पर उसका शरीर पर बुरा असर तो होगा ही। सना-

७—जायसवाल "अन्धकार युगीन भारत" १०१-१०२

८—राष्ट्रीय शत्रु होने के कारण ही आज अंग्रेज क़ौम हिन्दुस्तान की घृणा का पात्र है। और अंग्रेजों की साम्राज्य-वादी नीति के कारण ही कम्युनिस्टों के "पीपुल्स वार" के नारे के प्रति लोगों की उपेक्षा है। यदि अंग्रेज़ी सरकार कांग्रेस की मांग मंजूर कर लेती, तो हिन्दुस्तान में दूसरी ही फ़िज़ा होती।—लेखक

तनी वर्ण-व्यवस्था की पुनर्स्थापना का बुरा फल भी सामने आने लगा। बौद्ध प्रभाव वाले गणतन्त्र—चाहे वह विदेशियों के प्रभाव में न भी हों—बुरी नज़र से देखे जाने लगे। कैवर्तों, पंचकों, मद्रकों, लिच्छवियों और कारस्करों आदि को इसलिये बुरा कहा गया—शूद्र कोटि में रखा गया—कि वह लोग सनातनी चातुर्वर्णाश्रम को नहीं मानते थे। वेद को प्रमाण न मानने वालों को व्रात्य कह कर गालियाँ दी गईं। गुप्त राज-वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम का इसलिए विरोध किया गया था कि उसका लिच्छवियों से सम्बन्ध था और उसने ब्राह्मण सम्राट् प्रवरसेन प्रथम का साम्राज्याधिकार मानने से इन्कार किया था। पर जब समुद्रगुप्त ने ब्राह्मणयवादी नीति के आगे आत्मसमर्पण कर दिया—वाकाटक सम्राटों के ब्राह्मणयवादी पुनरुद्धार नीति को क़बूल कर लिया, संस्कृत को राजकीय भाषा बनाकर उसे अपने दरबार में स्थान दिया—तब उसे विष्णु के समकक्ष स्थान दिया गया। "एरन में समुद्रगुप्त द्वारा स्थापित जो विष्णु की मूर्ति है, उसे जिस किसी ने देखा होगा, उसे स्वयं समुद्रगुप्त का भी स्मरण हो आया होगा और उसने उस मूर्ति में स्वयं समुद्रगुप्त की आकृति और परिच्छद देखे होंगे।"[१] यह सही है कि गुप्तों की नीति उदार और शान्तिप्रिय थी; पर यह उदारता वहीं तक थी, जहाँ तक ब्राह्मणयवाद में सम्भव था।

अन्ध्र सातवाहन काल के पहले से शुरू करके वाकाटक भारशिव तक दक्षिण में ब्राह्मणयवाद जा चुका था। पल्लव राजे ख़ुद भी कुलीन ब्राह्मण थे और उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का प्रचार भी किया। गुप्तों के काल में यह प्रक्रया और भी बढ़ी। साम्राज्य की नीति ब्राह्मणयवादी होने के कारण आम लोगों पर भी उसका ख़ासा असर बढ़ रहा था। फलतः ब्राह्मणयवाद विरोधी व्रात्यों के प्रति समाज में हीन भावना भी बढ़ रही थी। गुप्तों की नीति गणतन्त्रों के समूल नाश की थी। वह गणतन्त्रों की सामाजिक प्रथा और शासन-तन्त्र को मिटा कर एक साम्राज्य के लिये सभी जगह एक-सी सनातनी वर्ण-व्यवस्था के कायल थे। इसीलिए गुप्तों का गणतन्त्रों से बराबर संघर्ष था। पर अन्त में गुप्तों ने इन गणतन्त्रों का ख़ात्मा करके भारतीय स्वाधीन-चिन्तन और आत्म-चेतना का एक बारगी दम घोंट दिया। पर इसका यह अर्थ नहीं कि बौद्ध धर्म सर्वथा मिट गया। नहीं ऐसा नहीं था। किन्तु ये दोनों धर्म भी अपने पूर्व रूप में नहीं रह गये थे। जैन धर्म ब्राह्मणयवाद से समझौता की ओर झुक गया था। बौद्ध धर्म में भी महायान पन्थ के साथ घुन लग गया था। महायान का सारा साहित्य संस्कृत में है, जो बताता है कि किस सामाजिक ज़रूरियात से प्रेरित होकर बौद्धों ने जन-भाषा में लिखना बन्द करके पुरोहित-सामन्त भाषा (संस्कृत) में लिखना शुरू किया। महन्ती प्रथा का विकास हुआ, जिससे बौद्ध संघों में भी नाना तरह की बुराइयां पैदा हो गईं। पर बौद्धों के दार्शनिक चिन्तन का असर बाकी था। नालन्दा और विक्रमशिला विद्यापीठों का विकास भी इसी काल में हुआ। किन्तु शासन सूत्र पर ब्राह्मणयवाद का प्रभाव था, जिसका असर बहुत व्यापक था। गणतन्त्र नष्ट कर के उनकी परिषद् की जगह गुप्तों के करद राजे नियुक्त हुए। इसीलिये इस काल में सारा देश सामन्ती शासन के अन्दर आ गया। सनातनी वर्ण-व्यवस्था के अनुकूल सारा साहित्य तैयार होने लगा। पौराणिक देवताओं में वैदिक रूह फूंक कर और सम्पूर्ण देश की प्रधान नदियों की अर्चना करके ब्राह्मणयवाद की साया में एक भारतीय संस्कृति का निर्माण किया गया।

पर जिस गुप्त साम्राज्य के अन्दर इस भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ; जिस गुप्त साम्राज्य की छाया में हिन्दू धर्म का ८५% प्रतिशत बना है, उस गुप्त साम्राज्य के सम्बन्ध में इतिहास कहता है—"विष्णु पुराण के इतिहास लेखक का राजनीतिक सिद्धान्त यह था कि वह कभी किसी के साथ शक्ति और बल का प्रयोग करना पसन्द नहीं करता था;

१—जायसवाल "अन्धकार युगीन भारत" पृष्ठ २६१

और उसकी कही हुई जो एक मात्र बात हिन्दुओं को पसन्द आ सकती थी, वह उस प्रकार की शासन प्रणाली थी, जैसी भारशिवों ने प्रचलित की थी, जिसमें सब राष्ट्रों का एक संघ स्थापित किया गया था और जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को पूरी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त थी। हिन्दू गण-तन्त्रों में जो संघ वाली शासन प्रणाली किसी समय प्रचलित थी' उसी का विकसित और परिवर्द्धित रूप भारशिवों वाले संघ का था। वह बराबरी का अधिकार रखने वाले राष्ट्रों का एक संघ था, जिसमें सब लोगों ने मिलकर एक शक्ति को अपना नेता मान लिया था। यदि गुप्त लोग भी इसी प्रणाली का प्रयोग करते, तो पौराणिक इतिहास लेखक अधिक अच्छे शब्दों में उनका उल्लेख करता।"[१०] पर गणतन्त्रों का नाश कर के सामाजिक असमानता के सिद्धान्त पर गुप्तों ने अपने काल में सामाजिक व्यवस्था कायम की। और गुप्तों ने यह सब किया अपनी साम्राज्यवादी नीति की सफलता के लिए।

पर इसका फल आगे चल कर बहुत बुरा हुआ। शूद्रों की संख्या बढ़ती गई। ये शूद्र सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी मामलों में पिछड़े, सताए और दबाए हुए थे। शकों ने अपने समय में इन्हें कुछ ऊपर उठाया भी था; इस तरह उनमें से कुछ अपना मूल्य भी समझ रहे थे। जो कुछ बौद्ध बच गए थे, उनके साथ भी सामाजिक द्वन्द चल रहा था। गुप्त साम्राज्य की केन्द्रिय शक्ति के कमज़ोर होते ही सूबों के गवर्नर स्वतन्त्र हो गए; छोटे-छोटे सामन्तों में द्वन्द चलने लगा। उन्हें रोकने वाला सामाजिक अनुशासन ख़तम ही हो गया था। पर इस समय भी हर्षवर्धन के रूप में एक हिन्दू शक्ति थी। हर्ष ने हिन्दू साम्राज्य को कायम रखने की कोशिश की; लेकिन सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से जर्जर व्यवस्था गिरती ही गई। बौद्ध होने के कारण हर्ष-वर्धन को मारने का षड़यन्त्र भी ब्राह्मणों ने किया। शैव शशाङ्क ने नालन्दा विहार को जलाया और बौद्धों पर जुल्म भी किया। पर हर्ष की कोशिश से उत्तर-पच्छिम भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव था। शायद इसी प्रभाव को मिटाने के लिए ब्राह्मणों ने आबू पहाड़ पर आख़िरी बार शुद्धि मूलक यज्ञ कर के एक अग्निकुल को जन्म दिया। याद रहे इस अग्निकुल की पैदाइश उस जगह होती है, जहाँ क्षत्रपों का शासन था; जहाँ विदेशी शकों का प्रभाव था। इसी-लिए डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त महाशय कहते हैं—"इसका अर्थ यह है कि क्षत्रप चस्तन ही "सिंह" उपाधि धारण करके शुद्धि क्रिया द्वारा क्षत्रियत्व को प्राप्त हुए, एवं इन्हों ने ही "अग्निकुल राजपूत" नाम धारण किया।"[११] इस तरह ब्राह्मणवाद ने आख़िरी बार अपनी सत्ता की रक्षा के लिए "राजपूतों" यह का कवच धारण किया था। आबू पहाड़ पर यह शुद्धि मूलक यज्ञ सातवीं शताब्दी में हुआ। और शुद्धि की यह प्रक्रिया दसवीं शताब्दी तक जारी थी। इसके बाद जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था ठोस होकर अचल होगई। यह आन्दोलन बिहार तक व्यापक था। इस आन्दोलन ने बचे हुए भारतीय मानव समुदाय को द्विजत्व की दो श्रेणियों में बाँट दिया। सरदार, सामान्त, विद्वान और पुरोहित तथा बड़े बड़े व्यापारी तो द्विज की उच्च श्रेणी में मिल गए, बाकी लोग शूद्र बनकर ब्राह्मणवाद की बलि चढ़ गए। इस तरह जो परम्परा से उपेक्षितों, शोषितों और अपमानितों की संख्या थी, वह इस काल में और भी बढ़ गई।

हम यह देखते हैं कि शुरू में राष्ट्र-सत्ता पर ब्राह्मणों का अधिकार था। वह समाज-सत्ता के भी स्वामी थे। बाद में जब राष्ट्र-सत्ता पर क्षत्रियों का अधिकार हुआ, तब भी समाज के अधिकारी होने के नाते ब्राह्मणों की प्रधानता थी और उन्होंने अपने स्वार्थ को क्षत्रियों में भी बाँट दिया। फिर वैश्य भी उसमें मिले। इस तरह ब्राह्मणवाद की राष्ट्रीय प्रकृति में समाज की उच्च श्रेणी या यों कहें कि शोषक श्रेणी

१०—जायसवाल—"अन्धकार युगीन भारत" पृष्ठ ४६५

११—डा० दत्त—"परिचय" वर्ष ११, खण्ड १, संख्या ३

का स्वार्थ निहित है। राष्ट्र पर इसी श्रेणी का आधिपत्य था, इसीलिये ब्राह्मणयवाद राष्ट्रीय धर्म था। इस तरह ब्राह्मणयवाद एक सबल, सशक्त ऐसी श्रेणी का धर्म है, जिसका समाज पर बराबर से अधिकार रहता आया है। और इसीलिए ब्राह्मणयवाद क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रियों के स्वार्थ के लिये ही जीता और बढ़ता है। जो पहले इसमें कुछ अच्छाई नज़र आती है, उसका कारण उसके विरोधी और भारतीय प्रकृति के धर्मों का जीवित रहना है। इसलिये हम बौद्ध धर्म के पतन के साथ साथ ब्राह्मणयवाद में ठोसपन, पथराना और पतन पाते हैं। ब्राह्मणयवाद दूसरों के श्रम पर निर्भर रहता है, वह परोपजीवी धर्म है, इसलिए वह शूद्रों को बराबर क़ायम रखता है और उनकी आत्म चेतना को मारने के लिये नाना तरह के विचारों को धर्म के नाम पर फैलाता रहता है। ब्राह्मणयवाद असमानता मूलक है, असमानता लेकर ही वह सदैव चला है; इसीलिए कभी उसमें समानता नहीं आई। ब्राह्मण धर्म की इस असमानता ने ही सदैव उसका विरोधी पैदा किया है और इन्हीं विरोधों के कारण उसमें परिवर्तन हुआ है। ब्राह्मणयवाद में ऐसा परिवर्तन तब तक भारतीय मालूम होता है; जब तक विदेशी जाति अपनी संगठित सामाजिक व्यवस्था को लेकर नहीं आती। पर जब दसवीं शताब्दी में तुर्क विजेता अपनी समानता मूलक इसलामी व्यवस्था लेकर आते हैं और ज़ोरों से "मुसलमान बिरादरान" का ऐलान करते हैं, तब असमानता मूलक ब्राह्मणयवाद अपनी सैनिक शक्ति के साथ छिन्न-भिन्न हो जाता है। तुर्क विजेताओं द्वारा सिन्ध जीतने का रहस्य सैनिक शक्ति में उतना नहीं है, जितना 'समनियों' बौद्धों द्वारा उनको भेद बताने और उनका स्वागत करने में है। समनियों के ऐसे कामों का रहस्य सिन्ध के ब्राह्मणयवादी राजा की उस नीति में छिपा है, जिससे प्रेरित हो कर उसने इन समनियों के मन्दिरों को छीना, पूजा बन्द कराया तथा इन पर और भी जुल्म किये। तारानाथ का कहना है—"मगध के अनेक बौद्ध भिक्षु तुर्कों के दूत का काम करते और चारों ओर के राजाओं तथा सर्दारों के साथ तुर्कों का सम्बन्ध क़ायम करते थे।" किन्तु यहाँ यह याद रहे कि उस समय राजनीतिक सत्ता सभी जगह ब्राह्मणयवाद के हाथ में थी। बौद्ध धर्म सभी जगह समाज की निचली श्रेणी में तन्त्र-मन्त्र और टोना टोटका आदि के ज़रिये शूद्र श्रेणी के सहारे जीवित था। इसी श्रेणी के लोगों ने आगे चल कर बहुत ज़ोरों से इसलाम कबूल किया और आज मुसलमानों में मोमीन नाम से उन्हीं की संख्या सब से ज़्यादे हैं। इस तरह अन्तर्जातीय भावों के लोप और ब्राह्मणयवाद के चरम उत्कर्ष ने हिन्दुस्तान को ऐसी जगह पहुँचा दिया, जहाँ से उसकी धारा ही दूसरी हो चली।

पहली शताब्दी ई० पू० से, जब से ब्राह्मणयवाद का पुनरुत्थान शुरू हुआ, हिन्दुस्तान के अन्दर सम्प्रदायवाद की प्रकृति बढ़ने लगी। इस सम्प्रदायवाद ने सातवीं शती में ठोस रूप धारण कर लिया। इसी समय से हिन्दुस्तानी समाज का श्रेणी-संघर्ष सम्प्रदायों के अन्तर्गत हो गया। इन सभी सम्प्रदायों में वैष्णव धर्म की प्रकृति अन्तर्जातीयता परक थी। इसीलिये उसमें ग्रहणशीलता बहुत थी। शायद इसी को लक्ष करके डा० दत्त साहब ने वैष्णव धर्म को आक्रमण शील कहा है। पर रामानुजाचार्य के समय से इस वैष्णव धर्म में भी घुन लग गया। इसीलिये सम दृष्टि सम्पन्न युग गुरू रामानन्दजी को उनसे अलग होना पड़ा। रामानन्द जी गुण और भक्ति को प्रधान मानते थे, जाति को नहीं, कुल को नहीं। पर उन्होंने शास्त्र पंथावलम्बियों, वर्ण-व्यवस्थावादियों, का शायद विरोध भी नहीं किया। यही कारण है कि जहाँ कबीर सरीखे अन्तर्जातीयता वादी महात्मा उनके शिष्य हुए, जिसके अन्दर सभी भारतीय जातियों को एक कर देने की तीव्र प्रेरणा थी; वहाँ ही महाकवि तुलसीदास भी उनके शिष्यों में हुए, जो शास्त्र-पंथी, जन्म जात के अभिमान, जाति-पाँति और वर्ण-भेद के सब से बड़े समर्थक थे। इसीलिये उन्होंने प्रचारित किया—"पूजिय शूद्र न वेद प्रवीणा।" तुलसीदास का समाज-दर्शन घोर प्रतिक्रियावादी मनु का एडीशन है।

पर वैष्णव प्रभाव के कारण तुलसीदास जी मनु ऐसे क्रूर नहीं थे; इसीलिये उनके समाज में शूद्र अपनी पतित हालत के साथ भगवान की उपासना कर सकता है। शायद यही कारण है कि उन्होंने अपने राम से किसी तपस्वी शूद्र की गर्दन नहीं कटवाई। तुलसीदास जी की भाषा भी लोक प्रचलित अवधी नहीं हैं; संस्कृत गर्भित संभ्रान्त अवधी है। किसी भी दृष्टि से देखा जाय तुलसीदास जी ब्राह्मणवादी ही सिद्ध होंगे। और ब्राह्मण्यवाद मध्य काल में राष्ट्रीय धर्म नहीं रह गया था। वह सिर्फ़ एक वर्ग का मुर्दा धर्म रह गया था। मध्य काल में जिस धर्म की नींव कबीर ने डाली, उसी में भारत की राष्ट्रीयता थी। पर कबीर का मत स्थापित स्वार्थ के लोगों के हितों के विरुद्ध था। उस मत में ब्राह्मण, मन्दिर, शास्त्र, संस्कृत जन्म-जात का अभिमान, जाति-वाद और ब्राह्मण्यवाद सभी का विरोध था। इसीलिये स्थापित स्वार्थ के (द्विज) लोगों ने कबीर के मतवाद को नहीं चलने दिया। जीते जी कबीर को गालियाँ दी गईं। पर जब कबीर के विचारों की नींव समाज के अन्दर चली गई, तब ब्राह्मण्यवादियों ने जुलाहे कबीर को विधवा ब्राह्मणी का सन्तान बताकर उस पर ब्राह्मण्य-वादी प्रभाव सिद्ध करना चाहा। जैसे उन्होंने बुद्ध को विष्णु का अवतार बना कर किया था।

इसके बाद हम ब्रिटिश काल में आ जाते हैं। इस काल के पहले जिस जाति ने हिन्दुस्तान को विजय किया, वह हिन्दुस्तानी हो गई। पर अंग्रेज़ों ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने हिन्दुस्तान से दूर बैठ कर हिन्दुस्तान को चूसने की नीति क़ायम की। अंग्रेज़ों के हिन्दुस्तान में जमने के साथ ही यूरोप में व्यावसा-इक क्रान्ति हो चुकी थी। स्वार्थ मूलक शासन और शोषण की नीति ने पहले तो अहलकार और क्लर्क पैदा किया; फिर गुमास्ता और एजेन्ट् भी उसी नीति से पैदा हुए। पहले तो अंग्रेज़ी शिक्षा और यूरोप-प्रवास शुरू हुआ; बाद में उसी के ज़रिये नए क़िस्म की राष्ट्रीयता हिन्दुस्तान में आने लगी। सम्पन्न श्रेणी - सजग और अंग्रेज़ों के साथ दोस्ती के कारण यह राष्ट्रीयता पहले हिन्दुओं में आई और अंग्रेज़ों ने पहले हिन्दुओं को—स्वाभाविक कारणों से—बढ़ाया। इस काल में ब्राह्मण्यवाद की समाधि पर चिराग जलानेवाले स्व० राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती हुए। स्वामी दयानन्द सर-स्वती जी का ब्राह्मण्यवादी रुझान वेद पर उसी तरह ज़ोर देता है, जिस तरह मुसलमानों ने क़ुरान पर ज़ोर दिया है। बाद में वेद के दयानन्द भाष्य को वही स्थान दिया गया, जो इसलाम में पैग़म्बर को है। स्वामीजी ने अपने आन्दोलन को वैदिक आदर्श पर चलाना चाहा। पर समाज उससे कहीं आगे बढ़ चुका था। राजा राम-मोहन राय यूरोप से प्रभावित थे। उनके आन्दोलन में बुर्जुआज़ी का ज़्यादा असर था। इन दोनों समाज सुधारकों का असर हिन्दू समाज पर ज़्यादा पड़ा। अंग्रेज़ों की शोषण और विषम नीति के कारण तथा यूरोप के प्रभाव से हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता बढ़ती गई। फिर अंग्रेज़ों ने उस राष्ट्रीयता पर नियन्त्रण रखने के इरादे से कांग्रेस को जन्म दिया। किन्तु चोर चोरी के लिए ही रोशनी जलावे; पर उससे जागने वाला तो चोर को पहचान कर उसके पीछे लाठी लेकर पड़ेगा ही। वही हुआ भी। कांग्रेस दिनों दिन अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की विरोधी संस्था होती गई। और आज तो महात्मा गान्धी जी के नेतृत्व में वह अंग्रेज़ों के हाथ से शासन-सत्ता छीनने के लिए बिलकुल तैयार है। इसी काल में हिन्दुस्तान में भी वैज्ञानिक उद्योग वाद का ज़ोर बढ़ा। युगों से चले आते गृह-उद्योग नष्ट होने लगे। शिल्पी अपनी स्वाधीनता खो कर मिलों के मज़दूर होते गए। रेल की पटरियों और मिलों के साथ मजदूरों की संख्या बढ़ती गई। ग्राम छोड़ कर शहरों के प्रवास और मिलों में सामूहिक मेहनत और सामूहिक जीवन ने उनके पुराने रूढ़ि-जन्य विश्वासों को ढीला किया। फिर एन० एम० जोशी से लेकर पी० सी० जोशी तक ने उन्हें एक नई चेतना दे दी। उद्योगीकरण ने सम्पत्ति का केन्द्रिय करण शुरू किया। इसमें ब्रिटिश नीति ने भी योग दिया।

फलतः धीरे-धीरे ज़मीनों पर से किसानों का अधिकार हटने लगा। किसानों की हालत ख़राब होने लगी और उसी के साथ सरकारी एजेंटों के रूप में एक ज़मीन्दार श्रेणी का जन्म हुआ। फिर इस नीति ने किसानों के अन्दर अंग्रेज़ों तथा ज़मीन्दारों दोनों के विरुद्ध संघर्ष की भावना पैदा कर दी। मुसलमानों के अन्दर सर सैयद अहमद ख़ां के ज़माने से हिन्दुओं से भय—जिसका कारण ब्राह्मणवाद की वर्जनशीलता और स्वार्थ था—और अपने अलग संगठन की भावना पैदा हुई। और ब्रिटिश कूट नीति के साथ मिलकर आज पाकिस्तान के रूप में हमारे सामने है।

इस तरह आज हम यह देखते हैं कि जिन आधारों पर ब्राह्मणवाद क़ायम था, वह सब नष्ट होने जा रहे हैं। विज्ञान की नई रोशनी में वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद के लिए कहीं जगह नहीं है। ब्राह्मणवाद के अन्दर हिन्दुस्तान का श्रेणी-संघर्ष वहाँ आ गया है, जहाँ उसका अन्त निश्चित है। आज की राष्ट्रीयता वहाँ पहुंच गई है, जहाँ सभी जातियों के लिये आत्मनिर्णय का अधिकार और सभी के लिए विकास का समान अवसर लाजमी है। अतः हम कह सकते हैं कि अब हिन्दुस्तान ब्राह्मणवाद के अन्धकार से निकल कर साम्यवाद के प्रकाश में जा रहा है।

टिड्डी दल

श्री एस० टी० मोजेज़ एम० ए०, एफ़० ज़ेड० एस०, एफ़० आर० ए० एल०

सभ्य मानव का सब में ज़बर्दस्त और पुराना दुशमन टिड्डी दल ही रहा है। वेद पुराण और बाइबिल में इसका वबा और बला की तरह वर्णन किया गया है। जिधर इसका आक्रमण हो जाता है समृद्ध से समृद्ध जनता दाने दाने को मुहताज हो जाती है। छान्दोग्य उपनिषद में इस बात की चरचा है कि ऋषि साकरायन को कुरुओं का देश इसलिये छोड़ना पड़ा चूंकि टिड्डी दल के हमलों के कारण वहाँ भयङ्कर अकाल और निर्जनता फैल गई थी। बाइबिल में भी इस बात का वर्णन है कि प्राचीन मिस्र में टिड्डी दल को भयङ्कर प्लेग के ही रूप में देखा जाता था। टिड्डी दल मानव जाति के लिये सदा से घातक और विनाशकारी रहा है। एक प्राचीन यूनानी राजनीतिज्ञ ने, जो सम्भवतः प्राणिविज्ञान के ज्ञाता नहीं थे, एक जगह न रहने वाले पक्षियों का दो श्रेणियों में बंटवारा किया है। एक श्रेणी में उन्होंने अबाबील जैसे पक्षियों को रखा है जो अपने पीछे अपने ठहरने का कोई निशान नहीं छोड़ जाते। दूसरी श्रेणी में उन्होंने टिड्डी दल को रखा है, विनाश और वीरानी जिनके पदचिन्ह हैं। प्राचीन तामिल साहित्य में टिड्डी को तीनों की जाति में गिना गया है। मलयाली साहित्य में उसे पक्षी अथवा गाय भी कहा गया है। कन्नड़ साहित्य में उसका एक ऐसे घोड़े के रूप में वर्णन किया गया है जो लंगड़ी लूली हालत में पीछे पड़ा रह गया है। पिछले दस बारह वर्षों से दक्षिण अफ़रीका, मिस्र, फ़िलिस्तीन, यमन, तुर्किस्तान, चीन और हिन्दुस्तान सब टिड्डी दल के कमोबेश शिकार हो रहे हैं। अनेक वर्ष बीते जब सिन्ध प्रान्त में ज़बर्दस्त बाढ़ आई। बाढ़ की मुसीबत अभी ख़त्म भी न हुई थी कि टिड्डी दल का आक्रमण हुआ और रबी की तमाम फ़सल चट कर डाली। भारत सरकार की 'सेण्ट्रल एग्रिकलचरल रिसर्च कौंसिल' ने टिड्डी दल के सम्बन्ध में काफ़ी सोच विचार किया है, किन्तु अभी तक इस बला से बचने का कोई निश्चित उपाय नहीं निकला है। टिड्डी दल अपनी यात्रायें किसी एक ही देश तक सीमित नहीं रखता। बड़े बड़े समुद्र उसके रास्ते में बाधक नहीं। उसके भ्रमण अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं।

कोषकार टिड्डी को पतिंगे से भिन्न बताते हैं। किन्तु प्राणि विज्ञानविशारद पतिंगों को दो श्रेणियों

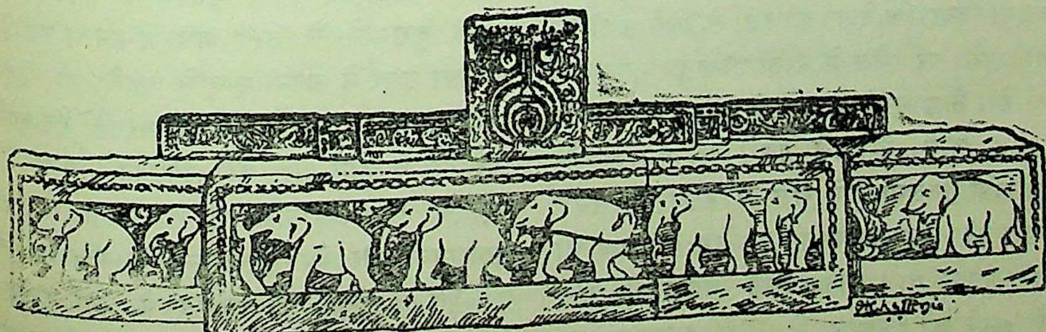
में बाँटते हैं। एक वे जिनकी लम्बी शलाकायें होती हैं और जो मट्ठर होते हैं और दूसरे वे जिनकी छोटी शलाकायें होती हैं और जो तेज़ होते हैं। प्राणि-विज्ञानशास्त्री टिड्डी को इसी दूसरी श्रेणी में रखते हैं। वैसे सभी पतिंगे पौधों के लिये हानिकारक होते हैं। नर पतिंगे अकसर गवैये होते हैं और अपने संगीत से ही मादा पतिंगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ईसप की कहानियों में लिखा है कि एक मूर्ख गधे को यह विश्वास था कि पतिंगों का संगीत वास्तव में ओस चाटने का परिणाम है। चुनांचे उसने ओस चाटना शुरू किया ताकि अपनी रेंक को संगीत में बदल सके। ग़रीब बेचारा ओस चाट चाट कर मर गया किन्तु उसका रेंकना संगीत में न बदला। वास्तव में पतिंगों का संगीत उनकी शलाकाओं की रगड़ से उत्पन्न होता है। हालांकि हमारे कानों के लिये उनकी आवाज़ केवल एक बेसुरी 'भन भन' होती है फिर भी उस आवाज़ में इतना प्रबल आकर्षण होता है कि वह मादा पतिंगे में काम प्रवत्ति का संचार करके उसे नर पतिंगे की तरफ़ बरबस खींच लाती है। लम्बी शलाकाओं वाले पतिंगे अपनी शलाकों और पैरों को रगड़ कर संगीत स्वर पैदा करते हैं और छोटी शलाकों वाले अपने पंखों से संगीत पैदा करते हैं। अमरीकन टिड्डी का स्वर उच्चारण कुछ इस प्रकार का होता है—"काटी डिड, ओ शी डिड, काटी डिड।" किन्तु उसकी प्रियतमा 'काटी' का प्रत्याह्वान होता है यह भेद प्राणि-विज्ञानशास्त्रियों पर अभी नहीं खुला।

ये पतिंगे अपने अंडे ज़मीन पर या पौधों पर रखते हैं। भिन्न भिन्न पतिंगों के अंडों की तादाद भी भिन्न भिन्न होती है। धान के पौधों की पतिंगी एक मरतबा में ६० अंडे रखती है जब कि टिड्डी एक बार में १००-१२० अंडे रखती है। प्राचीन अरब साहित्य में टिड्डी के अंडों की तादाद ९९ लिखी हुई है। अरब साहित्य में जो टिड्डियों का उल्लेख है उसमें टिड्डी कहती है—"ऐ इनसानों! हम अल्लाह की फ़ौज हैं। हममें से हर टिड्डी ९९ अंडे देती है, जिस दिन हम सौवाँ अंडा देने लगेंगी उस दिन दुनिया में क़यामत बरपा हो जायगी।" टिड्डियों के अंडों से जब बच्चे निकलते हैं तब उनके पंख नहीं होते। वे रेंगते हुये फ़ौजी अनुशासन के साथ क़तारों में खेतों में घूमते हैं। धीरे धीरे उनके पर फूटते हैं और कई बार बदलते हैं। पंखहीन अवस्था में जब वे एक साथ क़तारों में रेंगते हैं तभी उन्हें आसानी से नष्ट किया जा सकता है। टिड्डियों के अंडे सुरक्षित हालत में लम्बे अरसे तक पड़े रहते हैं। निरन्तर प्रवासी टिड्डियों की उम्र भी लम्बी होती है। अनेक देशों के साहित्य में "टिड्डियों जैसी बड़ी उम्र होने" का आशीर्वाद दिया जाता है। टिड्डियों के मुक़ाबले में पतिंगों को रक्षा के स्वाभाविक साधन हासिल होते हैं। हर मौसम और पौधों के रंग के अनुसार पतिंगों के पंखों का रंग भी बदल जाता है। उनके पंखों में पत्तों जैसी नसें भी उभड़ आती हैं। सन् १६८८ में लेडन शहर में पतिंगों और टिड्डियों की एक नुमाइश हुई। इसमें एक भारतीय टिड्डी भी थी जिसके पंख दालचीनी के पत्तों की तरह थे और जिसे कौतुक से लोग चलता फिरता पत्ता कहते थे।

अथर्ववेद में टिड्डियों को नष्ट करने के लिये बहुत से मन्त्र दिये गये हैं, किन्तु दुर्भाग्य से ये मन्त्र इनके नष्ट करने में आज कल कामयाब नहीं होते। आधुनिक विज्ञान इसके लिये हवाई जहाज़ इस्तेमाल करता है। हवाई जहाज़ से एक ख़ास क़िस्म की गैस टिड्डियों पर छिड़की जाती है जिससे वे मर जाती हैं। और कई तरह के कीड़े पाले जाते हैं जो टिड्डियों पर छोड़ दिये जाते। ये कीड़े टिड्डियों को खा जाते हैं। पक्षी बन्दर और गिलहरियाँ भी बड़े चाव से टिड्डियों को खाते हैं। टिड्डियों से बचने का पहला काम यह होना चाहिये कि टिड्डियों को उतरने ही न दिया जाय। खूब शोरगुल मचाने, घन्टे घड़ियाल और टीन बजाने से टिड्डियों का उतरना रोका जा सकता है। यदि मादा टिड्डियाँ खेतों में या झाड़ियों में उतरें तो उन्हें अन्डे देने से पहले बटोर कर दफ़न कर दिया जाय या जला दिया जाय। टिड्डियों को नष्ट करने में जलती

मशालों से भी काम लिया जा सकता है। सिन्ध में टिड्डियों को नष्ट करने में ऐसा ज़हरीला गैस भी इस्तेमाल किया गया है जो दूसरे पौधों के लिये विनाशकारी न साबित हो। अफ़रीका में टिड्डियों को नष्ट करने के लिये संखिया की गैस इस्तेमाल होनी शुरू हुई। नतीजा यह हुआ कि यूरोप के वे समस्त पक्षी जो अफ़रीका में सरदी बिताते हैं, संखिया के ज़हरीली गैस से मरी हुई टिड्डियों को खाकर मर गये। टिड्डियों को नष्ट करने के लिये चाहे जो तरीक़ा इस्तेमाल हो प्रधान चीज़ यह है कि नष्ट करने में जल्दी करनी चाहिये। इन्तज़ार और सुस्ती इसमें घातक होती है। सब गांव वालों को मिलकर इसमें मदद देनी चाहिये। मलाबार में धान के कीड़ों से बेहद नुक़सान पहुंचा और व्यक्तिगत प्रयत्न से वे नष्ट नहीं किये जा सके। उनके ख़िलाफ जब सामूहिक लड़ाई छेड़ी गई तभी उन्हें नष्ट किया जा सका। टिड्डी मेंड़ों और बांधों में अन्डे देती हैं। पहली बरसात के समय अन्डे देकर वे खेतों में निकल आती हैं। यदि मेंड़ों और बांधों को दूर दूर तक गरमियों में खुरच दिया जाय तो जेठ बैसाख की गरमी से अन्डे नष्ट हो कर एक बड़ी मुसीबत से किसान आसानी से बच सकते हैं।

अनेक देशों में टिड्डियाँ चाव से खाई जाती हैं। फ़िलिप्पाइनो, अरब, निग्रो, हाटेनटाट, चीनी आदि जातियां टिड्डियों का तरह तरह से भोजन करती हैं। टिड्डियों को सुखा कर बंगाल में भी उनकी रसेदार तरकारी बनाई जाती है। हज़रत मूसा ने यहूदियों को चार क़िस्म की टिड्डियाँ खाने की इजाज़त दी है। कहा जाता है सन्त जान दी बैपटिस्ट आदतन अपने भोजन में टिड्डी और शहद खाया करते थे। कई पादरियों का कहना है कि ईसाई धर्म ग्रन्थों में सन्त जान की जिस रोटी का ज़िक्र है वह टिड्डियों के चूरे से ही बनाई जाती थी। टिड्डियों के साथ शहद एक ज़रूरी जुज़ है। शहद में मिला कर खाने से टिड्डी जल्द हज़म होती है। हाटेनटाट जाति के लोग टिड्डियों के अन्डों का ज़ायकेदार शोरबा बनाते हैं। अरब भी टिड्डियों को पीस कर उनका आटा इस्तेमाल करते हैं। इस आटे में प्रोटीन और चरबी की मात्रा बेहद होती है और कारबो हाइड्रेट प्रधान चीज़ों के साथ मिलाकर खाने में यह बेहद स्वास्थ्यवर्धक साबित हुआ है। अफ़रीका में यह भोजन पशुओं और सुअर को बेहद खिलाया जाता है। मुर्गियों के खाने में यदि इसका पाँच फ़ी सदी चूरा मिला दिया जाय तो उनके अन्डे देने की शक्ति बढ़ जाती है। दक्षिण अफ़रीका से हर साल टिड्डियों का तेल और भोजन यूरोप भेजा जाता है। टिड्डियों के तेल में ख़ास तारीफ़ यह है कि अधिक से अधिक उंचाई पर भी वह जमता नहीं। इसलिये इस तेल को हवाज़ जहाज़ के इञ्जनों में बेहद इस्तेमाल किया जाता है और उसकी बड़ी मांग है। हमारे देश हिन्दुस्तान में जहाँ टिड्डियों की भरमार है हम दक्षिण अफ़रीका से सबक़ सीख कर इस मुसीबत को भी व्यापारी फ़ायदे की चीज़ बना सकते हैं। टिड्डियों का तेल और भोजन हमारे विदेशी निर्यात की एक प्रधान चीज़ बन सकती है।



जज़िया : इतिहास और असलियत

श्री हमीद हसन बी० ए० एल-एल० बी०

आम तौर पर समझा जाता है कि जज़िया एक जाबिराना टैक्स था जो मुसलिम राज में ग़ैर मुसलमानों से ज़बरदस्ती लिया जाता था। ग़ैर मुसलमानों के ऊपर इस्लाम का यह एक अन्याय था। लेकिन न परदे का रिवाज, जिसे आजकल इतना बुरा भला कहा जाता है, इसलाम के साथ दुनिया में आया और न जज़िया पहले पहल इसलाम ने वसूल किया।

इसलाम की पैदायश से बहुत पहले ईरान की उन्नति के दिनों में जज़िया नाम का टैक्स उस देश में मौजूद था। ईरान के मशहूर बादशाह नौशेरवान आदिल के ज़माने में जो ज़रथुस्त्री धर्म का मानने वाला था और उससे पहले भी जज़िये का ईरान में आम रिवाज था। नौशेरवाँ ने अपनी फ़ौज के अफ़सरों और सिपाहियों को जज़िया माफ़ कर दिया था। जज़िया अरबी शब्द नहीं है। यह एक ईरानी शब्द है जो बाद में अरबी भाषा में भी शामिल हो गया। इसका मतलब यह था कि ज़रूरत पड़ने पर अपने देश की रक्षा के लिये फ़ौज में भरती होना हर मज़बूत जिस्म वाले आदमी का फ़र्ज़ है, जो फ़ौज में भरती हो जाते थे उनसे जज़िया नहीं लिया जाता था। लेकिन जो भरती होने से इनकार करते थे उनसे इस सेवा के बदले में कुछ नियत सालाना टैक्स ले लिया जाता था। इसी टैक्स का नाम ईरान में जज़िया था। इसलाम की पैदायश के दिनों में मुहम्मद साहब ने यह नियम बना दिया कि देश की रक्षा के लिये कभी भी ज़रूरत पड़ने पर फ़ौज में भरती होना हर मुसलमान का फ़र्ज़ है। सिर्फ़ मुसलिम मदरसों के अध्यापक और कुछ ख़ास ख़ास पेशेवाले इससे बरी थे। जो ग़ैर मुसलिम लोग मुसलमानों के राज में रहते थे उनके जान माल की हिफ़ाज़त करना मुसलिम बादशाह का फ़र्ज़ माना जाता था। लेकिन उन्हें ज़बरदस्ती फ़ौज में भरती करने की इसलाम ने कभी इजाज़त नहीं दी। अकसर ग़ैर मुसलिम क़बीलों के लोग मुसलमान बादशाहों की फ़ौजों में भरती होना पसन्द भी नहीं करते थे। इसलिये कुदरती तौर पर जो ग़ैर मुसलिम ज़रूरत पड़ने पर भी फ़ौज में भरती होने से इनकार करते थे उनसे उनकी रक्षा के बदले में थोड़ा सा मुक़र्रिरा टैक्स ले लिया जाता था जिसे जज़िया कहते थे। मुसलमान बादशाहों ने जज़िये का शब्द और उसका रिवाज दोनों ज़रथुस्त्री ईरानियों से सीखे। इसके साथ ही जो ग़ैर मुसलिम क़बीले भी ज़रूरत पड़ने पर फ़ौज में भरती होने के लिये तय्यार हो जाते थे उनसे जज़िया नाम का कोई टैक्स नहीं लिया जाता था। मशहूर मुसलिम विद्वान शिबली ने जज़िये पर एक छोटी सी किताब लिखी है जिसमें उन्होंने जज़िया शब्द की व्युत्पत्ति और उसके इतिहास पर ख़ासी अच्छी बहस की है।

हज़रत मुहम्मद और पहले चार ख़लीफ़ाओं ने जिन्हें 'ख़ुलफाये राशिदीन' कहा जाता है, ग़ैर मुसलिम रियासतों के साथ जो जो सन्धियाँ कीं उनमें यह साफ़ लिखा है कि ग़ैर मुसलिम रिआया या ग़ैर मुसलिम रियासतों से उनके जान माल की हिफ़ाज़त के बदले में जज़िया लिया जावेगा। हज़रत मुहम्मद ने मुसलमान बादशाहों की ग़ैर मुसलिम रिआया के बारे में जो फ़रमान लिखे हैं उनमें ये शब्द साफ़ आते हैं— "उनकी हिफ़ाज़त करना मुसलमानों का फ़र्ज़ है। उनके दुश्मनों से उन्हें बचाना हमारा फ़र्ज़ है।" ख़लीफ़ा उमर ने अपनी मृत्यु से पहले जो हिदायतें मुसलमानों को दी उनमें एक यह थी कि ग़ैर मुसलिम रिआया के जान माल की हिफ़ाज़त मुसलमानों का फ़र्ज़ है। अल्लामा शिबली ने अपनी किताब में मुसलमानों और ग़ैर मुसलमानों के बीच इस तरह की बहुत सी सन्धियों की नक़ल दी है जिनमें मुसलमानों के इस फ़र्ज़ और उसके बदले में उनके जज़िया वसूल

करने के हक़ इन दोनों का ज़िक्र है। सन् १२ हिजरी में ख़ालिद इब्न वलीद ने ग़ैर मुसलमानों के साथ जो सन्धि की उसमें ये शब्द आते हैं—"सलूबा बिन नस्तोमा और आपके क़बीले वालों के साथ मैंने जज़िया लेने और आपकी हिफ़ाज़त करने का अहद-नामा किया है। इसलिये आपकी हिफ़ाज़त करना और आपके जान माल की सलामती हमारा फ़र्ज़ है। जब तक हम अपने इस फ़र्ज़ को पूरा करेंगे तब तक ही हमें जज़िया लेने का हक़ है। अगर हम यह फ़र्ज़ पूरा न कर सकेंगे तो हमें जज़िया लेने का कोई हक़ न होगा।"[१]

अरब और इराक़ के बहुत से मुसलिम हाकिमों ने वहाँ के ग़ैर मुसलमानों के साथ समय समय पर बहुत से अहदनामे किये। पैग़म्बर-ए-इसलाम के कई एक साथियों ने भी जो सहाबा कहलाते हैं इस तरह के अहदनामों पर दस्तख़त किये। इन अहदनामों में साफ़ लिखा है, 'जब तक जज़िया बराबर लिया जाता रहेगा ग़ैर मुसलमानों की हर तरह से हिफ़ाज़त की ज़िम्मेवारी मुसलमानों पर होगी।' इन अहदनामों में एक बात और भी बढ़कर है। इनमें लिखा है कि अगर वहाँ के ग़ैर मुसलमान बाहर की किसी क़ौम के साथ कोई समझौता करेंगे तो मुसलमान हाकिम उन समझौतों को मानेंगे और बाहर की जिन क़ौमों को भी यह ग़ैर मुसलमान मदद देना चाहेंगे या उनकी रक्षा करना चाहेंगे मुसलिम हाकिम अपने देश में उन्हें पनाह देंगे। एक सन्धि में इराक़ के लोगों ने लिखा है—"हमने ख़ालिद से जिस जज़िये को देने का वादा किया था उसे हमने अदा कर दिया है इस शर्त पर कि अगर कोई मुसलमान भी या किसी दूसरी क़ौम के लोग हमें किसी तरह का नुक़सान पहुँचाना चाहेंगे तो मुसलमान जमात और उनके अफ़सर हमारी इस सलामती के लिये ज़िम्मेवार होंगे।"

ये अहदनामे और समझौते बिलकुल साफ़ हैं। उस ज़माने के इतिहास से साफ़ पता चलता है कि इस तरह के अहदनामे और आपसी समझौते महज़ रद्दी के टोकरे की चीज़ें नहीं समझे जाते थे बल्कि दोनों पक्ष उन पर सचाई से अमल करते थे।

इस सचाई की शाम (सीरिया) के इतिहास में एक बड़ी सुन्दर मिसाल मिलती है। दो मुसलमान सेनापति अबु ओबैदा और ज़र्राह रोमी सेनाओं के मुक़ाबले में मुल्क पर मुल्क जीतते चले जा रहे थे। रोम के सम्राट् हरकुल ने एक बहुत बड़ी नई सेना जमा करके मुसलमानों पर हमला किया। दोनों मुसलमान सेनापतियों ने रोम की इस नई सेना का मुक़ाबला करने में अपने को असमर्थ पाया। उन्होंने जितना धन उस वक़्त तक वहाँ के ग़ैर मुसलमानों से बतौर जज़िये के वसूल किया था उसकी एक एक पाई उन्हें वापस कर दी। मुसलमान सेनापतियों के फ़रमानों में ये शब्द आते हैं—"जब कभी जो कुछ जज़िया और ख़िराज वसूल किया गया है वह जिनसे लिया गया है उन्हें तुरन्त वापस कर दिया जावेगा। उन्हें कह दिया जावे कि हमने यह धन तुमसे इस शर्त पर लिया था कि हम तुम्हारे शत्रुओं से तुम्हारी हिफ़ाज़त करेंगे। लेकिन अब हालात ऐसे हैं कि हम तुम्हारी हिफ़ाज़त की ज़िम्मेवारी अपने ऊपर नहीं ले सकते।"

उस देश के ग़ैर मुसलमान, जो अधिकतर ईसाई थे बहुत ख़ुश थे और उन्होंने अपने इन मुसलिम हाकिमों को आशीर्वाद देते हुये उनसे कहा—"ईश्वर करे कि हमारे नगरों का शासन फिर से आप ही के हाथों में आजावे। अगर आपकी जगह रोम वाले होते तो वे कभी हमें एक पैसा भी वापस न देते, बल्कि जो कुछ हमारे पास रहा सहा है वह उसे भी हमसे छीन लेते।"

यह बात भी याद रखनी चाहिये कि जो ग़ैर मुसलमान अपने मुसलिम शासकों के मातहत फ़ौज में भरती होना स्वीकार कर लेते थे उन्हें जज़िये से उसी तरह बरी रखा जाता था जिस तरह मुसलमानों

१—Vide Tabain Annals—Edited by Rosegarten, Vol. II, P. 48.

को। इसकी कुछ मिसालें यहाँ दी जाती हैं। ख़लीफ़ा हज़रत उसमान के ज़माने में हबीब बिन मुसलेमा ने जरा जिमाह के देश को फ़तह किया। वहाँ की ग़ैर मुसलिम रिश्राया ने फ़ौज में भरती होना स्वीकार कर लिया। उनसे किसी तरह का जज़िया नहीं लिया गया। बहुत दिनों बाद ख़लीफ़ा वासिक़ बिल्ला अब्बासी के ज़माने में ग़लती से उन पर जज़िया लगा दिया गया। उन्होंने ख़लीफ़ा से शिकायत की। फिर से फ़ौरन उनका जज़िया हटा दिया गया। ख़लीफ़ा उमर के ज़माने में भी जो ज़िम्मी यानी ग़ैर मुसलिम फ़ौज में काम करना मंजूर कर लेते थे उनसे जज़िया नहीं लिया जाता था। ख़लीफ़ा उमर ही के ज़माने में आरमीनिया के ग़ैर मुसलिम सेनापति के साथ यह सन्धि की गई थी—"इस शर्त के ऊपर सुलह की जाती है—जब कभी किसी से जंग होगी या और कोई ज़रूरत होगी तो आप मुसलमानों का साथ देंगे। इस शर्त पर आप से जज़िया नहीं लिया जायगा। लेकिन जो कोई भी घर पर रहना चाहे वह आज़र-बाइज़ान के लोगों की तरह अपने घर पर रहे और जज़िया दे दे।" जार्जिया और दूसरे देशों के ग़ैर मुसलमानों के साथ जो सन्धियां की गईं उनमें लिखा है—"अगर हम किसी ज़िम्मी (ग़ैर मुसलिम) से लड़ाई में मदद लेंगे तो उससे जज़िया नहीं लिया जायगा।...जिनसे जज़िया लिया जाता है उसके बदले में हम उनकी भीतर और बाहर के शत्रुओं से हिफ़ाज़त करने के लिये ज़िम्मेवार होंगे। अगर हम तुम्हारी हिफ़ाज़त नहीं कर सकेंगे तो ज़जिया का धन तुम्हें वापस कर दिया जावेगा। जो लोग फ़ौज में भरती होने को तय्यार हैं वे हमेशा जज़िया देने से बरी रहेंगे।"

अल्लामा शिबली ने लिखा है कि जज़िये से जो कुछ रुपया वसूल होता था वह फ़ौज के लिये सामान ख़रीदने में, सरहदों की हिफ़ाज़त में और क़िले बन्दी करने में ख़र्च होता था। अगर कुछ इनसे बचता था तो वह पुलों, नहरों और मदरसों पर ख़र्च होता था।

जज़िये की बाबत एक और टैक्स था जिसे 'सदक़ा' कहते थे। 'सदक़ा' सिर्फ़ मुसलमानों से लिया जाता था, ग़ैर मुसलमानों से नहीं। इस सदक़े का रुपया ग़रीबों और मुहताजों पर ख़र्च किया जाता था। इन ग़रीबों और मुहताजों में मुसलिम और ग़ैर मुसलिम का फ़र्क़ नहीं किया जाता था।[२]

हज़रत शिबली ने दिखलाया है कि जज़िया आम तौर पर हर आदमी से ढाई फ़्रैंक सालाना से लेकर नौ फ़्रैंक सालाना तक लिया जाता था और मुसलिम इतिहास भर में कभी भी किसी से तीस फ़्रैंक सालाना से ज़्यादा जज़िया नहीं लिया गया। किसी लखपती या करोड़पति से भी कभी इससे ज़्यादा नहीं लिया जाता था। एक फ़्रैंक आजकल के क़रीब क़रीब दस आने के बराबर होता है। औरतों से, २० वर्ष से नीची उम्र के और ५० वर्ष से ऊपर उम्र के आदमियों से, अपाहिजों, लंगड़ों, लूलों, पागलों, अन्धों और उन ग़रीब लोगों से जिनकी कुल सम्पत्ति दो सौ दिरहम या इससे कम हो कोई जज़िया नहीं लिया जाता था। एक दिरहम क़रीब पांच आने के बराबर होता था।

हिन्दुस्तान में भी जो ग़ैर मुसलिम मुसलमान बादशाहों की फ़ौजों में भरती हो जाते थे उनसे कभी जज़िया नहीं लिया जाता था।

[किताबुल ख़िराज के अनुसार जज़िया आमतौर पर इस हिसाब से लिया जाता था—अमीरों से ४८ दिरहम, यानी क़रीब १५ रुपया सालाना, औसत दरजे के लोगों से २४ दिरहम, यानी क़रीब साढ़े सात रुपया और बाक़ी लोगों से जैसे कारीगर वग़ैरह १२ दिरहम, यानी पौने चार रुपया सालाना। जज़िया में नक़द के बजाय तिजारत का सामान, मवेशी और सुइयाँ जैसी चीज़ें भी ली जा सकती थीं, सिर्फ़ सुअर, शराब और मुरदा जानवर देने की मुमानियत थी। किसी भी धर्म के पुरोहितों और महन्तों से जज़िया

२—'किताबुल ख़िराज'—लेखक इमाम अबु यूसुफ़; पृष्ठ—७२।

नहीं लिया जाता था। अबु यूसुफ़ लिखता है कि जज़िया जमा करने वाले अफ़सरों को ख़ास हिदायत थी कि उसकी वसूली में किसी से किसी क़िस्म की सख़्ती न करें। इसके अलावा यद्यपि आमतौर पर जज़िया मुसलमानों से नहीं लिया जाता था लेकिन फिर भी मुसलिम इतिहास में दोनों तरह की मिसालें काफ़ी मिलती हैं। एक इस बात की जो ग़ैर मुसलिम फ़ौजी ख़िदमत से इनकार नहीं करते थे उनसे कभी जज़िया नहीं लिया जाता था और दूसरी इस बात की कि जो मुसलमान फ़ौजी ख़िदमत से इनकार करते थे उनसे भी उसी तरह जज़िया वसूल किया जाता था जिस तरह ग़ैर मुसलमानों से। मिसाल की तौर पर मिस्र में वहाँ के मुसलमानों ने फ़ौजी ख़िदमत से बरी किये जाने की दरख़्वास्त की तो उनसे बजाय फ़ौजी ख़िदमत के जज़िया वसूल किया जाने लगा।[3] इस तरह की मिसालें भी मिलती हैं कि जिनमें ग़ैर मुसलमानों ने मुसलिम फ़ौज की सिर्फ़ इस तरह की कोई ख़िदमत की जैसे उन्हें पानी पहुंचाना तो उनसे जज़िया नहीं लिया जाता था।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि इस वक़्त तक संयुक्त राष्ट्र अमरीका की कई रियासतें ऐसी हैं जिनमें सब बालिग़ मरदों के लिये फ़ौजी ख़िदमत लाज़मी है, और जो लोग इस ख़िदमत से बरी होना चाहते हैं उनसे फ़ौज के ख़र्च के लिये फ़ी आदमी कुछ सालाना टैक्स ले लिया जाता है।

—सम्पादक]

३—De La gonquiere–P. I4.

अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्रकुमार

वे बोले, "आदमी का वश थोड़ा है। सत्य की जिसे लगन है सम्प्रदाय उसे न फंसायगा। पर जो विभूति में से भाव और ऐश्वर्य में से ही ईश्वर को ले सकने योग्य हैं, उसके लिए दूसरी क्या गति है? सम्प्रदाय की वृहत्ता में से धर्म की महत्ता उसे पकड़ मिलती है। तो भी पीछे क्या होगा इसका कौन बोझ ले। आज वह बीज नहीं डाल जाना है जिसका कल कटु फल हो, यही ध्यान रखा जा सकता है।"

मैंने कहा, "आश्रम पीछे मठ बन गये हैं।"

"और व्यक्ति मूर्त्ति!" हँसते हुए बोले, "अरे भाई, आदमी के मोह का क्या कर लोगे? आश्रम मिटाकर मठ की सम्भावना मिटे तो मूर्त्ति की सम्भावना को मेटने के लिए अपने को ही न मिटा देना होगा! निस्सन्देह इष्ट वही है। तो भी जिन्होंने आत्मा की साधना में अनात्म का परिहार ही किया, आत्मा की जगह उनकी हड्डी पूजी जाती है। इस बिडम्बना के नाश का सिवा इसके क्या उपाय है कि हर व्यक्ति सत्य के सम्मुख हो?"

मैंने कहा, "आश्रम का नाम और आपकी निकटता का परिचय जो आपके रहते लोगों के व्यवसाय की पूंजी बन रहा है सो पीछे तो जाने क्या होगा!"

बोले, "परमात्मा में अविश्वास रखने को तुम मुझे नहीं न कह सकते भाई! भविष्य उसके हाथ मानकर मैं चुप हूं। आज तो मैं अपने को नास्तिवत् यानी शून्य बनाने का ही प्रयास कर सकता हूँ। वह कर रहा हूँ। यह सच ही है कि मुझसे हुआ वह मैंने किया नहीं है। अपने में मैं असमर्थ हूं। सामर्थ्य मुझसे यदि कुछ प्रगटी तो मेरी वह कब थी। अपना रहकर तो मैं तुच्छ ही था। अतिरिक्त यदि मुझमें कुछ मिला तो मेरा वह नहीं था। यह मैंने कहा है और कहता हूँ। मेरी निजता तो अविचारणीय ही है। प्रार्थनीय एक वह है। यह भी सच है कि मैं नहीं रहूंगा और मेरा कुछ नहीं रहेगा। कोई नहीं रहेगा और किसी का कुछ नहीं रहेगा। कोई कितना

भी मेरे या किसी के बारे का कुछ पार्थिव रोक रखना चाहे, पर वह तो धूल ही होगा। इतिहास में पुरुष कल्पना के पुरुष होकर ही ज़िन्दा रह सके हैं। कल्पना पार्थिव के पार पारमार्थिक की ओर बढ़ती है। वह अपने रूपाकार तक बना लेती है। जो राम और कृष्ण भगवान के रूप में भारत के हृदय में विराजमान हैं वे भारत की आदर्श निष्ठा में से बने हुए हैं। महाभारत और रामायण के कथानक उस आस्था को धारण रखने वाले उपकरण के रूप में ही सत्य हैं। अन्यथा तो राम के कुटुम्बी अथवा कृष्ण की रानियों की किसी को चिन्ता नहीं है। पार्थिव-आधार लेकर जो सत्य प्रकट हुआ है, वह उस पार्थिव लाग लपेट में घिर कर नहीं रहने वाला है। इसलिए उसके पार्थिव पक्ष पर बहुत ज़्यादा ठहरने की ज़रूरत नहीं है। आज जो नैमित्तिक रूप में साधक है, वही आगे अहंकृत हो कर बाधक हो रहेगा। पर सत्यार्थी के लिए यह बाधा नहीं है, बुद्धि-दोष के लिये ही वह तो है। किन्तु यदि अपनी मूर्त्ति के पत्थर पर भक्त किसी का अंगुलि-स्पर्श न सहे तो इसमें उसकी भूल क्या समझी जा सकती है ? अपनी उपासना केंद्रित करने को उसे मूर्त्ति और मूर्त्ति के लिए पत्थर चाहिए। इस लिहाज़ से क्या पत्थर के प्रति तुम कुछ सदय नहीं हो सकते ? आश्रम-वासी दयापात्र ही हैं और मैं भी दयापात्र हूँ—लेकिन छोड़ो, यह बताओ कि पिछले दो सप्ताह कैसे तुम टाल गये।"

मैंने कहा, "कारण इसमें दया भी है।"

बोले, "दया होगी ही। बचपन के एक तुम साथी हो। पर उसके बाद के दावेदार अनेक हैं भाई ? अब मेरे पास मेरी अपनी सुविधा नहीं है। मेरा मन कौन देखे ? इससे अब मैंने अपने मन को उस बारे में चुप कर दिया है। इससे ज़्यादा तरस की बात कुछ और बता सकते हो ! पर सच मानो कि तरह-तरह की प्रवृत्तियों में मैं रस लेता दीखता हूं सो उससे कुछ अधिक रस तुम्हारी साथ की बातों में मुझे मिलता है। लेकिन सुनो तो भाई, एक दम विरक्ति को ही क्या तुमने अपना विषय बना लिया है। घर में कौन कौन हैं—कभी उनको साथ लेकर आओ न !"

बात इस तरह मुझ पर आ लौटेगी सो पता न था।

उस दिशा में मैं भाग्यशाली नहीं हूं। पत्नी खो चुका हूं। बेटी विधवा है, सुसराल से तिरस्कृत है, पास रहती है। इधर उसमें अन्तर देखता हूं। तेज़ी से वह बड़ी-बूढ़ी बनी जा रही है। अभी तक अपनी कन्या में और उस रास्ते से बाक़ी बातों में भी वह रस लेती थी। पर उदिता सयानी हो रही है। स्वाधीन चिन्तना पसन्द करती है। चाहती है कोई उसको अपनी ज़िम्मेदारी न माने। आई० ए० का इम्तहान देकर इलाहाबाद से छुट्टियों में आई हुई है। लड़का आई० सी० एस० है और भारतीयता उसे विदेशी है। कुछ रोज़ रहने को अभी आया था। पर यहां एक से दूसरा दिन उसे भारी होने लगा और चला गया। इस तरह घर का हाल, तीन-तेरह है।

यही संक्षेप में मैंने सुना दिया। बोले, "कभी उन मां-बेटियों को और नहीं तो घुमाने ही साथ ले आये होते।"

बोला "मैंने कहा था। पर उसने उत्साह नहीं दिखाया। तो भी एक रोज़ खींच कर लाना होगा। उदिता चली जाय तब—।"

"क्यों, उदिता क्यों चली जाय ?"

"वह गुस्ताख़ जो है। सब का मज़ाक करती है। उसकी काट छांट कहीं रुकती नहीं। कन्या है, इससे और बिगड़ी है। वह तो भागी यहां आये, मैं ही रोक रहा हूं।"

बोले "कन्या है, इसी से न रोक रहे हो ! आख़िर अदालती न्यायी ठहरे न !"

आख़िर मैंने माना कि उदिता आयगी।

फिर पूछा "करुणा कौन है ?"

बोले, "इतनी बार यहां आये और उसे नहीं जाने। नन्दिनी उसी के ज़िम्मे है। और मैं भी।

बम्बई के सेठ की लड़की है। पति से बनी नहीं। इससे यहां है।

पूछा "जाना नहीं चाहती ?"

हँस कर बोले "देख नहीं लिया तुमने कि पूछते हैं तो हरबार मूंड़ी हिलाती है !"

सुन कर मैं चुप रहा और असंगत बातें मन में उठने लगीं। मुझे देखते रहे, देखते रहे। अनंतर बोले, "क्यों, कहां पहुँच गये हो ?"

इधर बिना ध्यान दिये मैंने कहा, "एक बात पूछना चाहता हूँ। सोचता था कि पूछूं कि नहीं।"

बहुत हँसे, बोले, "इजाज़त चाहते हो ? इजाज़त है। पूछो।"

"आपका विवाह हुआ ?"

बोले, "हुआ।"

"वह हैं ?"

"स्वर्ग में ? हो सकती हैं।"

सुनकर मैं उनकी ओर देखता हुआ चुप रह गया। कुछ देर इस तरह मुझे सह कर बोले, "नहीं, इस तरह नहीं चलेगा।"

मैंने कहा, "मैं कुछ और ही सोच कर आया था। पर अब—

हंस कर बोले, "चलो, मुझे कहने का कष्ट बचा। हां, अब अगली बार।"

कह कर बिना देर लगाये वह उठ खड़े हुए। शाम का समय था। गौ नन्दिनी के पास ही करुणा थी। पहुँच कर उसकी पीठ पर धौल जमाया, कहा- "गौ की भाषा की बारह खड़ी एक दिन की है पर दीखता है तुम अब तक नहीं सीखी हो—नन्दिनी !" पर गौ पहले ही आंख मूंद कर और मुंह खोल कर उनकी ओर मुख़ातिब हो कर कुछ कर रही थी।

× × ×

मंजु नहीं, उदिता ही आयी। वह तो उसी पर निहाल हो पड़े। देखते ही खिलखिला कर हँसे। उदिता के कंधे पर हाथ रखकर बोले, "तुम्हीं न उदिता हो ! चलो मैं तुम्हें करुणा को सौंप आऊँ। वह यहां का सब तुम्हें दिखा लायगी, तब घूमने चलेंगे। चलोगी ?" कहते हुए उसे साथ लेकर वह तभी चले गये। और मुझे बैठे वहाँ रहने के लिए कमरे में छोड़ गये।

पाँच-सात मिनट में अकेले वह लौटे। बोले, "उदिता की माँ नहीं आई न ? फिर सही ! दर्द का अब क्या हाल है ? वह प्रयोग किया था ?"

मैंने कह दिया कि किया था पर दर्द को तो रहना ही दीखता है।

बोले, "जिसका संचय दीर्घकालिक यत्न से हो उसका परिहार तुर्त-फुर्त क्यों होने लगा भाई ! रोग यत्न से जुड़ता है। स्वास्थायें अनायास एक बार मिल कर लौटता प्रयत्न से ही है। पर करने की उमर जवानी, भोगने की बुढ़ापा यह भी सच है। बस जो जवानी को याद रहे कि कल वही बूढ़ी होगी—

सुनकर मुझे अच्छा नहीं लगा। कहा, "जवानी की कमाई पर बुढ़ापा चले, पर बुढ़ापे की भी कुछ कमाई होती है। अब तो उसी की आशा है। सिर-दर्दी तो साथ ही चलनी है।"

बोले, "चले तो चले, पर मिट्टी का प्रयोग छोड़ना नहीं। लेख देख लिया। मुझमें प्रतिपादन नहीं। बात जैसी बनी कह छोड़ता हूँ। पुष्टि औरों का काम है।"

पूछा, "आपका उस बारे में अभिप्राय क्या है ? आप अहिंसा कहाँ से पाते है ?"

"सत्य में से।"

इतना कह कर वह चुप गंभीर दिखाई दिये।

मैंने शंका की, "है सो सत्य। हिंसा भी है ही। तो सत्य में से अहिंसा पाने का मतलब ठीक-ठीक मैं नहीं समझा।"

बोले, "सत्य खंडित नहीं हो सकता। यदि है सो सब सत्य में अखंड है, अपने से दूसरे के प्रति हमारा अनैक्य भाव असत्य है। सबके प्रति यह ऐक्य भाव आत्मौपम्य ही अहिंसा है।

मैंने कहा, "अखंड में तो हिंसा-अहिंसा का द्वैत भी सम्भव नहीं। उस दृष्टि से अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए।"

बोले, "हाँ सत्य से एकाकार होने पर वह प्रश्न भी नहीं रह जायगा। साधना-पथ में वह है ही है। हम सब नहीं हैं इसी से अहिंसा हमारे लिए धर्म है।"

पूछा, "तब आचरण में अहिंसा का क्या अभिप्राय माना जाय ?"

बोले, 'आत्मैक्य भाव अहिंसा का मूल है। "दूसरे के साथ न करें जो हम अपने लिये न चाहें।" "आत्मवत् सर्वभूतेषु," इत्यादि नीति-नियम उसी में से प्राप्त होते हैं।"

"दया हम अपने लिए नहीं चाहते। तो भी दूसरे के लिए इष्ट बताई है। तो क्या दया धर्म नहीं है ?"

"हाँ, दया अहिंसा की शुद्ध अथवा चरम अवस्था नहीं है। अपने प्रति दया-ममता को हमें जगह नहीं देनी होगी। अपने को तो कसते रहना ही शुभ है। सच्चे अहिंसक को दूसरे भी अपने ही जैसे हैं। इससे वह सदय से अधिक निर्दय दीख सकता है। सदय बन कर क्या हम अपने को आराम-भोग दें ? सच्चे लोग अपने तईं वैसा आराम न देंगे। इससे अहिंसा दया से आगे भी जायगी। असल में दूसरों को माना हुआ सुख देने के विचार से अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। घर में एक-दूसरे का ख़याल रखकर सब चलते ही हैं। एक दूसरे के लिए दुख और पाप तक उठाते हैं। फिर भी यथार्थ न होने के कारण वहां अहिंसा का मर्म नहीं है। अहिंसा का आचरण राग भाव से नहीं किया जा सकता। अहिंसा की साधना स्वयम् उत्तरोत्तर वीतराग होते जाना है। वीतरागी का जीवन ही अहिंसामय है। इस तरह दूसरे के प्रति की जाने वाली चीज़ न होकर अहिंसा तो आत्मसाधना का ही रूप है। हिंसा-अहिंसा का मन के परिणामों से सम्बन्ध है। किसी के मरने जीने या दुख-सुख उठाने से उसका सम्बन्ध नहीं है। न-मरने या सुख पहुँचाने की परिभाषा में उसका मतलब समझना भूल में डाल सकता है। ज़्यादातर बहस उसी धरातल पर चला करती है। हिंसा-अहिंसा को कर्म में देखना ग़लती है—वह तो कर्ता में यानी मन में हैं।

मैंने कहा, "ऐसे तो अहिंसक-हिंसा और हिंसक-अहिंसा जैसे शब्द सम्भव हो सकेंगे। इससे तो गोलमाल होगा।"

बोले, "गोलमाल है ही। कर्म का विशेषण मान कर हिंसा और अहिंसा का भेद पाना असम्भव है। कर्म का कितना भाग हमें दीखता है ? भावांश तो उसका दीखता नहीं है। उससे अलग करके कृत्यांश पर से कुछ फैसला नहीं हो सकता। योगी भी खाता है, भोगी भी खाता है। पर दोनों के मन में अन्तर है। अन्तर मानसिक भूमिका है। अहिंसा को मैं इसी से कायिक नहीं, आत्मिक गुण का स्थान देता हूँ।"

मेरा मन माना नहीं। मैंने कहा, "ठहरिये। राम ने रावण की सेना का संहार किया। रूपक छोड़कर उस युद्ध को लीजिये। कृष्ण ने भी शस्त्र धारण किया। दोनों को हम पूर्ण मानते हैं। प्रगटतः उन्होंने हिंसा की। लेकिन उनकी हिंसा-अहिंसा थी—क्या हम यह न मानें ? इसलिए नहीं कि उसमें प्राणिघात नहीं था, बल्कि इसलिए कि वे धर्मारूढ़ पुरुष थे और उनमें व्यक्तिगत कषाय न थी ?'

बोले, "रूपक के बिना राम और कृष्ण पर विचार करना सम्भव नहीं है। व्यक्ति तो पूर्ण होता नहीं। अतः भगवत्-रूप देकर हम उन्हें लेते हैं। इसलिए उनसे होने वाले प्राणिघात को भी रूपक में ही मानना चाहिये। जगत में आँख प्रत्यक्ष ही मृत्यु हमारी सहायता कर रही है। यमदेव उन ईश्वर के ही तो प्रहरी हैं। फिर भी ईश्वर को हम दयालु जानते हैं। दुनिया में मृत्यु को जीवित रखना हमारे निकट हिंसा का नहीं वरन् करुणा का प्रमाण है। राम और कृष्ण में हम वही उपमा लें। व्यक्ति हो कर व्यक्ति का वध करने का हक़ किसी को नहीं आता। उसमें प्रमाद गर्भित है। वह तो विधाता का दायित्व है। व्यक्ति कर्त्तव्य जान कर यदि उस दायित्व को अपने हाथ लेता है तो उसकी बुद्धि अप्रमत्त नहीं मानी जा सकती। लेकिन अपने से उतनी दूर जाकर अहिंसा का विचार हमसे खो

जायगा। किसी के जीने या मरने से अहिंसा का सम्बन्ध बेशक नहीं है। मर्दुमशुमारी बढ़ गई, यह दावा अहिंसा का नहीं हो सकता। पर मारने और मरने में फ़र्क़ है। मारने में व्यक्ति का निमित्त आ जाता है। मारने वाला मारने का कर्तृत्व मन पर लिये बिना हाथ नहीं उठा सकता। पर कर्तृत्व सब ईश्वर का है। ईश्वर का साधन बन कर मार रहा हूँ—यह दावा मेरी समझ से पूरा नहीं उतर सकता। क्योंकि वह काम भावावेश के बिना सम्भव नहीं। इसलिए इस कारण नहीं कि कोई मरता है, बल्कि इस कारण कि मारने वाला मारना विचारता है वह हिंसक है। मारने का फल मरना न भी हो, बल्कि उसके फल में किसी को किंचित् मात्र भी चोट न पहुंची हो, तो भी वह हिंसा है। फल चाहे डटकर सुखकारी भी दिखलाया जा सके, तो भी वह हिंसा है। फल से उसकी अपेक्षा नहीं, भाव में ही बंध है। इस तरह अहिंसा मुख्यता से दूसरे के प्रति नहीं की जाती, विधाता के प्रति किये गये आत्मार्पण यानी विधान के प्रति साधी गई एक स्वरता का ही वह तो रूप है।"

मैं उस बात को सहसा समझा नहीं। पूछा, "अहिंसा सामाजिक नीति यदि बने तो वह अन्तर्मुखी ही तो नहीं रह सकती। मानव सम्बन्धों पर समाज का आधार है। अपने में कोई अहिंसक हो, यह नहीं, बल्कि औरों के प्रति अहिंसक हो, यह समाज की मांग है।"

बोले, "सो तो सही। लेकिन समाज तो भी एक दायरा है उसे आगे भी कुछ है जिसके आगे कुछ और है। अहिंसक अखिल के प्रति होना होगा कि नहीं? उस अखिल के प्रति अहिंसक होने की बात को समझा जायगा तो मालूम होगा कि उसका अर्थ फिर आत्म-सम्मुख होने के अतिरिक्त दूसरा नहीं रह जाता। अखिल हम से अलग नहीं, हममें भी है। हम उसमें हैं। उसको पाने के लिये हाथों को लपकाने से तो नहीं चलेगा। ऐसे ही समाज को पाने के लिए एक-एक करके आदमी की गिनती को चुकाने की कोशिश से भी नहीं चलेगा। इसलिये सच्चे तौर पर सामाजिक और समाजगत बनने के लिये भी हमें अपने भीतर के विकारों को शांत करने से शुरू कराना होगा। बाहर के लोगों पर अहिंसा उतारने की चेष्टा के बजाय अपनी वृत्ति में अहिंसा को गहरी उतारने में लाना होगा। सीमित शरीर और क्षेत्र में रहकर भी अहिंसा की उत्तरोत्तर असीम उपलब्धि होगी तो ऐसे ही। अन्यथा परिमाण और विस्तार के माप में आने वाली वस्तु नहीं है अहिंसा। उसको अहिंसा कहा, प्रीति, सहानूभूति या किसी ऐसे दूसरे शब्द से नहीं कहा। कारण प्रीति, सहानूभूति आदि व्यक्ति से की जाती है, अहिंसा व्यक्ति के प्रति नहीं होती। सत्य में अखण्ड लगन रखने से 'अहिंसा फलरूप आप ही प्राप्त होती है। दुनिया में भलाई नाम से जो हम पहचानते हैं, वह एक तरह से स्थिति को ही मज़बूत बनाती है, गति में वेग नहीं देती। इसलिये उस भलाई की अपर्याप्तता ही हमेशा प्रकट होती रही है। जो पीछे युगप्रवर्तक माने गये हैं, उनसे युग रुष्ट भी रहा है। भले आदमी भलाई का आदर्श नहीं बन पाये। भलाई-बुराई के आधार पर आपस में भेद-भाव और ऊंच नीच की विषमता रचकर चलने वाली समाजनीति को संस्कार और गति उनसे मिली है, जो स्वयं उससे उत्तीर्ण रहे हैं। महापुरुष वे हुए हैं जिन्हें काफ़ी लोग असाधु ही कह सके। अहिंसा भी केवल मात्र स्वीकृत नहीं है। उसमें निषेध की प्रबलता है। स्थिति में स्थित्यंतर लाये बिना अहिंसा सध नहीं सकती। इसीलिये उसका दायित्व समाज के व्यक्तियों और समाज की मान्यताओं के प्रति नहीं है, बल्कि उन सब को पार कर उस महत्व की ओर है, जो नित्य और अखण्ड है। उपयोगिता के बल पर इसीलिये उसको समझने में सदा कठिनाई रही है और रहेगी।"

यह तो पुरानी ही बात आ गई। धर्म व्यक्ति और भगवान के बीच की बात है और अहिंसा भी व्यक्ति और भगवान के बीच का धर्म है। "ऐसे" मैंने शंका की "अहिंसा धर्म असामाजिक न हो रहेगा?"

बोले, "नहीं, समाज-संस्कृति से विकास की क्षमता उसमें तभी आ पायेगी। समाजहित में जो आबद्ध है वह गति द्वारा समाजस्थिति को लाभ पहुँचाने में असमर्थ हो रहेगा। यानी उपकार या परहित की दृष्टि सची अहिंसा के लिये ना काफ़ी है।"

मैंने कहा कि यह तो हम सनातन आदि प्रश्न से आ टकराये। आदि जीव है कि जगत? 'मैं' पहले कि 'यह' पहले? आदि में चित् है, कि सत् है? पदार्थ पहले कि पदार्थित्व की चेतना पहले? स्रष्टा अथवा कि सृष्टि—कौन आदि या अनादि? प्रस्तुत के पार हो कर जिसको हम मानें, वह भी फिर हमारी ही कल्पना तो है—इत्यादि तर्क देकर लोग साबित करते हैं—जगत को माया कह कर जैसे किसी ईश्वर को सत्य कहना ठगाया जाना है। इसलिए वे किसी ऐसे भ्रम को अंगीकार नहीं कर सकते जिसका अंतिम समर्थन लोक-मंगल नहीं है। अहिंसा को क्या जन-कल्याण के लक्ष से बँधा न माना जाय?"

बोले—"नहीं। प्राणवान् पुरुष कब बँधा रहा है? वह देखो—उदिता किससे बँधी है? आओ—देख चुकीं?"

कहने के साथ उदिता पास आई और प्रश्न कर उठी—"करुणा क्यों मेरे साथ नहीं आई? आपने मने कर रखा है?"

बोले—करुणा अक्सर खुद ही अपने को मनै कर लिया करती है। थकीं तो नहीं? अब चलें।

करुणा ने भँवें मोड़ लीं। कहा—"ज़िन्दगी एक बाड़ा है, जिसे निषेधों की काँटेदार बाड़ों से रोक रखना होगा कि कोई चर न जाये—क्यों स्वामी जी, यही न?"

सुनकर हैरत में मैंने उदिता को देखा।

स्वामी हँसते हुए अपनी जगह से उठे, बोले—चलो काँटे की बाढ़ से बाहर निकल कर बात होगी। घूमने चलती हो न? आओ।"

कहने के साथ उदिता को बाँह से पकड़ कर उन्होंने साथ ले लिया।

चलते-चलते हँसते हुए स्वामी ने उदिता से कहा—"तुम अपने इस बाबा को तत्व में लगने देती हो, अपने आस पास क्यों नहीं लगाये रखती?

उदिता जल्दी हारती नहीं। उसका ख़याल है कि नारी जाति के गौरव की रक्षा का दायित्व हम न उठाएँगी तो हिन्दुस्तान गिरता ही जायगा। इसलिए वह जवाब में सदा उद्यत रहती है। हम चले तो बोली—"आपके आश्रम की विराग-वृत्ति का मैं तो समर्थन कर नहीं सकूंगी, स्वामी जी!"

वह बोले—"समर्थन नहीं, आलोचना तो करोगी। वही चाहिए। पर आश्रम को तो अब हम छोड़ रहे हैं।—यह देखो, इधर आओ। यूनिवर्सिटी कब जाओगी?

"पाँच-सात रोज़ में जाऊँगी" और बोली—"एक बात बताइए। आप घड़ी को उल्टी क्यों चलाना चाहते हैं? सभ्यता बढ़ आई है। हम बर्बर युग में नहीं पहुंच सकते। और आप पुरानी दकियानूसी बातों को पोषण देते हैं। आपका असर इतना है, पर वह काम ज़िहालत को मज़बूत करने में आता है।"

मैंने कहा—"उदिता—"

पर वह हँस कर बोले—"बताओ, क्या करूँ?"

उदिता ने बेधड़क कहा—"मज़हब ने हमें मूर्खता में डाल रक्खा है। वह सत्यानाश की जड़ हैं। मज़हब है तब तक ग़ुलामी है। ईश्वर को मालिक मान कर धरती पर भी मालिक की हमें ज़रूरत रहेगी। बस ऐसे स्वतन्त्रता कभी आही नहीं सकती। मज़हब हुकूमत के हाथ का हथियार है। ग़रीब इससे चुप रहते हैं और अमीरों की अमीरी को खटका नहीं आता। मज़हब है तब तक उनमें अपनी क़िसमत को बदलने का हौसला नहीं है। मैं मानती हूँ कि दुनिया को झूठ और ईश्वर को सच मानकर दुनिया की तरक़्क़ी तो हो नहीं सकती। और इस दुनिया से दूसरे लोक को किसी ने देखा कि उसकी बात करने जायँ?"

उदिता की नासमझी पर मैं कुछ कहूँ कि वह बोले—"देखो अभी इधर जितने रोज हो और भी

आना और यहाँ का सब कुछ बारीकी से देखना। काफ़ी कुछ तुम्हारे पास जमा हो जाय तब यूनिवर्सिटी पहुँच कर एक-एक त्रुटि मुझे लिखना कोई बात तुम्हारी न समझ सकूं और अपनी न समझा सकूं तो ख़याल रखना कि जिस जनता पर तुम मेरा असर बतलाती हो मैं उन्हीं की-सी बुद्धि का हूँ। हिन्दुस्तान मूढ़ है तो मैं उन मूढ़ों के बीच का ही आदमी हूँ। मुझे उनके लायक रहना भी है। काबिल बनकर उनकी पहुँच से दूर पड़ जाऊँ तो इसमें मुझे अपना भी भला नहीं दीखता। पर उदिता, मुझको सहारा दो कि मैं थकूं नहीं।

कह कर एक हाथ उदिता के कंधे पर रख लिया और बोले—"पैदल कितनी दूर तुम चली चल सकती हो ?"

बोली—मैं चली तो ज़्यादा नहीं, पर कोई चले तो उसके साथ मैं हार नहीं सकती।"

"जीत सकती हो ?"

"हाँ। राइरिटिंग, स्विमिंग, बोरिंग—

"उदिता, खाना बना कर खिलाने को मुझे बुलाओ, तो मैं तुम्हारे घर आऊँगा।"

बोली—"सुना है आप तो आग का बना खाते नहीं।"

बोले—"सो मुझ पर छोड़ो। तुम बनाओ और बुलाओगी, यह कहो।'

बोली—"बनाया तो नहीं, पर हाँ बनाऊँगी।"

"राम रे, कच्चा-पक्का खिलाओगी ? नहीं तुम्हें तसल्ली हो जाय कि तुम्हारे हाथों बना खाना मुझ जैसे बूढ़े आदमी को खा लेना चाहिए, तब तुम बुलाना, भूलोगी तो नहीं ? कब आशा करूँ ?"

मैंने कहा—"उदिता, कल से ही अभ्यास शुरू कर दो। तुम्हारी वजह से ही यह वैरागी अपने घर आयें, तो बड़ी बात है।"

बोले—"बैरागी कहकर अभी मेरे मामले को डिसमिस कराने की इच्छा क्यों करते हो भाई ? भूँट को भी जिसे बैरागी कहा जा सके, उसे उदिता घर में न घुसने देगी। क्यों उदिता ?"

उदिता का मुंह शर्म से लाल पड़ गया और उसने धीमे सिर हिला कर इस बात से इन्कार किया।

बोले—"उदिता, इन अपने बाबा को कहो कि बिरागी अगर होऊँ भी, तो तुम्हारे सामने मुझे बिडम्बना से बचायें। नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि आलोचना का वास्ता भी तुम मेरे साथ न रखो और मुझे जो अपनी और आश्रम की त्रुटियाँ मालूम हो सकती हैं, वह फ़ायदा भी मेरा रह जाये।"

उदिता सुनकर चुप रह गई थी और वह हठात् लाल पड़ी आ रही थी।

बोले—"उदिता तुमने संस्कृति पढ़ी या नहीं ?

"मैंने तो नही पढ़ी। इसीसे कहता हूं कि तुम ज़रूर पढ़ना। इन्कार करने के लिए ही सही, एक बार अपने शास्त्रों को जान लेना ज़रूरी है। हमारी परम्परा और हमारा समाज जिन मान्यताओं के आधार पर चल रहा है उनके मूल में पुरुषाओं से प्राप्त हुई हमारी क्या विरासत है, इसको समझ-देखने में कुछ हानि तो नहीं है, उदिता ! परिवर्तन भी तो समझ बूझ कर ही होगा। लेकिन अब आगे कहाँ चलोगी, चलो लौट चलें।"

लौटते हुए उदिता के कन्धे का सहारा लिये-लिये मुझ से बोले—"अहिंसा की बान का मेल पश्चिम के समाजवाद और समाज शास्त्र से इसी से तो नहीं होता है कि अपने से पार कुछ समर्थनीय आदर्श वे नहीं मान पाते हैं। तभी तो समाजवाद और शास्त्र से घोर व्यक्तिवाद यानी अहंवाद को जन्म लिया गया है। अहिंसा के बिना जनतंत्र या समाज-तंत्र, अधिनायक तन्त्र को बुलावा ही है। हमारी दृष्टि और हमारा प्रयोजन कितनी दूर तक जाता है उस परिधि को चारों ओर लेकर हम अपने समाज का निर्माण करते हैं। राष्ट्रवाद इसी प्रकार का तो एक समूह या समाजवाद है। राष्ट्र के भीतर वह अहिंसा की उपयोगिता देखता है, पर राष्ट्र के बाहर अपनी वैदेशिक नीति में उसे हिंसा भी उचित लग आती है। इसी से तो कहता हूं कि हिंसा पर समाज का दायरा

ठीक नहीं। बाहरी समाज के लिए हिंसा मानली जायगी तो उस समाज के लिए भी एक दिन हिंसा उचित दीख सकने लगेगी। इससे अहिंसा के तो स्वयं सिद्ध मूल्य ही रखो। प्रयोजन को लेकर ही नहीं, साधन के रूप में हीनहीं, बल्कि साध्य के रूप में भी अहिंसा ही धर्म है, यही मान कर चलने में श्रेय है।"

मैं चुपचाप साथ चल रहा था। तारे उग आये थे। हम तीन ही थे। शेष सुनसान था। उनकी चाल तेज़ थी। उदिता जोर लगा कर साथ दे रही थी। मुझे भी साथ रखने में असुविधा होती थी। लेकिन बात करते-करते वह चुप हुए तो चाल कुछ और भी तेज़ हो गई। उनकी निगाह सामने थी। हम साथ हैं, क्या यह उन्हें याद था?

अन्त में मैंने कहा—"ज़रा धीमे न चलिए?"

बोले—"तुम आना। हमने बातों में देर कर दी है। उदिता तू तो दौड़ सकती है? या लठिया ले कर मैं अकेला चलूं? प्रार्थना में देर होगी, चल।"

साफ़ था कि उदिता पिछड़ना नहीं चाहती थी।

बोली—"चलिए न, मैं तो नहीं थकी।"

कहकर आवश्यकता से अधिक लम्बे डग वह भरने लगी।

उन्होंने हँस कर कहा—"अच्छा, तो क्या मुझे भगाएगी?"

कहकर वह सचमुच कदम उठा कर भागने लगे। हँसती हुई उदिता भी साथ भाग चली।

अकेला पड़कर मैं अपने विचारों में हो रहा। सोचने लगा कि यह व्यक्ति अपने महत्व से भी बड़ा है। प्रतिष्ठा या सम्मान उसके ऊपर हो कर नहीं रह सकता। मानो हर क्षण हर बोझ अपने ऊपर से परे झाड़ देकर वह निस्संग निर्ग्रंथ भाव से चल रहा है। गुरु-गम्भीर है, पर शिशु-सरल है। उसकी अनायासता किसी ओर से भी कुंठित नहीं हो सकी है।

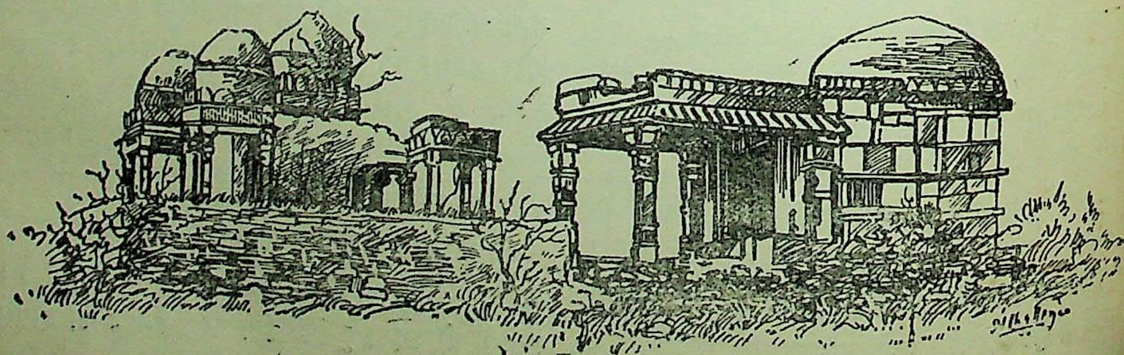
कि देखा उदिता गाड़ी लिये आ रही है। बोली—"बाबू जी, आपको प्रार्थना में रहना हो तो चलिए आपको उतार आऊँ। मैं तो सीधी घर जाऊँगी। आप रहें तो गाड़ी भेज दूँगी।"

गाड़ी में बैठते हुए मैंने कहा—"तू तो प्रार्थना में रहना चाहती थी न उदिता?"

बोली—"हाँ पर अब नहीं। आपको आश्रम छोड़ दूँ?"

मैंने कहा—"नहीं, चलो घर ही चलो।"

कहना चाहिए कि मुझे उदिता का व्यवहार समझ में नहीं आया।



[२८२ पृष्ठ से आगे]

भी बहुत चिढ़ी हुई थीं। सोवियत् राज्य ने उस बेढब क़र्ज़ को जो ज़ार ने अपने निरंकुश शासन-काल में लिया था, अदा करने से इन्कार कर दिया था। फिर नाराज़ी क्यों न होती ? उसे 'पंचों की सभा' में बुलाया तक नहीं गया। उसे भी इसकी क्यों परवाह होती ? पोलैण्ड को स्वाधीनता मिली, पर वह पुरानी स्वाधीनता न थी। उसमें एक तिहाई संख्या वाले दल को दबाये रखना अनिवार्य था। सम्पूर्ण यूरुप और भी अनेक नये 'देशों' की 'राष्ट्रीयता' में बँट गया।

हिटलर ने अपनी कट्टरता के कारण यह विश्वास प्रकट किया कि उसे ईश्वर ने एक विशेष और 'महान्' कार्य के लिए इस समय दुनिया में भेजा है। उस कार्य का कुछ बयान उसने जब वह १९२४ में लेन्ड्सबर्ग के जेलखाने में डाल दिया गया था और उसकी पार्टी गैर क़ानूनी क़रार दे दी गई थी तब एक पुस्तक में, जिसका नाम उसने 'मेरा संघर्ष' रक्खा, लिखा। इसमें उसने बताया कि 'कार्लमार्क्स का साम्यवाद यहूदी पूंजीपतियों के अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र का परिणाम है।' वह अंगरेज़ों तथा अमेरिकनों के 'लोकतन्त्रों' को 'अपने अपने देश की जनता को बेवकूफ़ बना कर वोट लेने और अन्य देशों की जनता का शोषण करने का साधन' मानता है। जरमनी को 'अपमानित अवस्था से छुड़ा कर उसकी फिर से उन्नति करने और गत अभ्युदय को ही नहीं बल्कि उससे बढ़कर वैभव और आत्मसम्मान प्राप्त करने के लिए, जो 'उग्र कार्यक्रम' उसने तैयार किया वह दो मुख्य आधारों पर अवलम्बित था।

इनमें पहला था संसार की सभी जातियों में आर्य जाति की श्रेष्ठता और इनमें भी जरमनों की श्रेष्ठता की घोषणा। हिटलर ने सिद्ध करना चाहा कि 'संसार में आर्य जाति विशेष प्रतिभा और गुण सम्पन्न जाति है। अन्य कोई जाति उसका सामना नहीं कर सकती। इसी जाति का यह परम कर्तव्य है कि वह संसार भर के लोगों का उनके सच्चे सुख, सच्चे ऐश्वर्य और सची शान्ति के लिए नेतृत्व करे और अन्य जातियों का यह कर्तव्य है कि वे आर्य जाति के नेतृत्व को स्वीकार करें।' जरमनी में वह आर्य जाति का 'शुद्धतम' रूप देखता है। यहूदियों को, जिन्हें वह अनार्य कहता है, अपने देश से इसलिए भी निकलवा देना उसने उचित समझा।

यहूदियों की सभ्यता को वह ऐसे पूंजीपतियों की सभ्यता समझता है 'जिन्हें अपने देश का और मानवता का उचित ध्यान नहीं है और जिन्होंने राष्ट्रीयता को तोड़ने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूरों के दल के नाम से एक ऐसी पार्टी बनाई है जो अपने अपने देश का तो यथेष्ट अहित कर सकती है किन्तु संसार भर में फैले हुए इन पूंजीपतियों का कोई वास्तविक अहित नहीं कर सकती।' इसलिए नाज़ी-पार्टी इन पूंजीपतियों की सब से अधिक विरोधिनी है।

हिटलर के कार्यक्रम का दूसरा आधार था जरमन साम्राज्य का 'पूरा विस्तार'। पहले महायुद्ध में जो भूलें हो गईं थीं उनसे बच कर इस तरह आगे बढ़ने का निश्चय उसने किया जिससे वह जरमन साम्राज्य में पोलैण्ड और रूस के यूक्रेन प्रदेश को, यूरोप के ज़ेकोस्लेवेकिया तथा नारवे, बेलजियम आदि देशों को और अन्त में सम्पूर्ण यूरुप को अपने अधीन कर सके। भीतर ही भीतर उसने यह निश्चय भी किया कि संसार में सब से अधिक फैले हुए अंगरेज़ी साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर के उसकी शक्ति नष्ट कर दी जावे और अफ्रीका में जरमनी के जिस उस 'प्रदेश' (Colony) को युद्ध में छोड़ देना पड़ा उसे फिर से प्राप्त किया जावे तथा चीन और सम्पूर्ण पूर्व एशिया में जापानी साम्राज्य के फैलने में सहायता दी जावे।

आर्थिक स्वार्थों की एकता होने से रंग-भेद, भाषा-भेद, धर्म-भेद आदि के बावजूद जरमनी और जापान की घनिष्ठता बढ़ती गई। दोनों ही यह चाहते थे कि एक ओर रूस के और दूसरी ओर

ब्रिटेन-अमरीका के फैलाव को रोका जावे और अपना फैलाव किया जावे । यूरुप में चालीस करोड़ के क़रीब संख्या वाले लोगों को—'सब युरोपियनों भर. को'—'एक राष्ट्र' बना कर' शक्तिशाली नई व्यवस्था चला देने' का दम जरमनी के नेताओं ने भरा। और ऐसी ही बातें पूर्वी एशिया के सब लोगों के लिए जारी कर देने के लिये जापान ने। वस्तुतः दोनों ही के नेताओं ने अपने अपने देश वालों की शौर्यपूर्ण समृद्धिकी वृद्धि और दूसरे देशों के समृद्धि-नाश एवं उनके शोषण की ही योजनायें बनाईं । दूसरे देशों को कृषिप्रधान रखकर और अपनी मशीनों के तथा कारख़ानों के सामानों के ख़रीदार उन्हें बना कर वे ऐसा करना चाहते हैं। दूसरे देशों के आदमियों से अपनी एजेन्सी, मज़दूरी और क्लर्की आदि के ही काम लेना चाहते हैं। 'युरोपीय-संघ', या 'यूरोप के राष्ट्रों का संघ, 'एशिया संघ' या 'एशिया के राष्ट्रों का संघ' आदि बनाने की लम्बी चौड़ी बातें वे इसीलिये करते हैं।

सर्व साधारण लोगों की कठिनाई यह है कि उन्हें अमरीका, रूस आदि की 'उद्धारक शक्ति' पर भी वैसा विशेष भरोसा नहीं हो सकता। ज़ीकोस्लावकिया के एक विशेष अधिकारी ने यह साफ़ कह दिया है कि "बिना बाहरी शक्ति से सहायता पाये 'भीतरी बग़ावत' इस वैज्ञानिक युग में—हवाई जहाज़ों, टैंकों आदि के समय में—सफल हो ही नहीं सकती।' स्मट्स साहब ने अमरीकन सेनाओं की विशेष संख्या यूरुप में कई मोरचों पर अगले साल उतरने की बात कही । पर अमरीका को यह बात पसन्द नहीं आई। 'अपने तरुण सिपाहियों की जानें हमें अपने उन सामानों से जो उधार और रेहन खाते दिया जा रहा है कहीं अधिक प्यारी हैं।' एक अधिकारी ने कह दिया है। और साथ ही कुछ 'सिनेटर' ब्रिटेन अधिकारियों को इसके लिए दोष दे रहे हैं कि 'वे इस समय और लड़ाई के बाद भी अपने देश के स्वार्थों और हितों पर तो विशेष दृष्टि रखना चाहते हैं पर जब अमरीकन ऐसा करते हैं तो उन्हें 'मित्र-दल के हितों का विरोधी' कहने लगते हैं।' 'अब अमरीकनों को भी अपने देश के हितों का विशेष ध्यान रखना होगा।'

पर वस्तुतः इस बार अमरीका इस लड़ाई के शुरू से ही अपने देश की ही ओर ख़ास तौर से देख रहा है। इस समय तक भी वहां चाइनीज़ लोगों तक के ख़िलाफ़ क़ानून (Chinese Exclusion Act) रद्द नहीं हो पाया। एशिया के लोगों का रहन-सहन वे अपने से कहीं नीचा समझते हैं और कहते हैं कि 'इनके ख़िलाफ़ क़ानून न रहे और ये लोग आकर अमरीका में बसने लगें तो हम आफ़त में पड़ जावेंगे।' हाँ, अपने कमान्डर-इन्चीफ़ के अधीन अपनी फ़ौजें अमरीका ने चीन में भेज रखी हैं—यद्यपि उतने हवाई जहाज़ वह कभी नहीं भेज सका जितने चीनी चाहते हैं। पाँच सौ हवाई जहाज़ों से ही वे बहुत कुछ कर सकने का दावा करते थे। इतने भी नहीं मिले!

इधर ओवन लेटिमोर आदि ने साफ़ साफ़ लिखा—'राजनैतिक समस्या के साथ विश्व-समस्या का एक पहलू भी जुड़ा हुआ है—वह है जातीय समस्या। पहले से यह तअस्सुब चला आ रहा है कि जिन लोगों का रंग सफ़ेद नहीं है वे उन्हीं लोगों द्वारा शासित होने लायक़ हैं जो गोरी जाति के हैं।' ब्रिटेन का कट्टर साम्राज्यवादी दल जिसमें चर्चिल एमेरी आदि मुख्य हैं, अपने दिमाग़ को ऐसे ही संस्कारों से भरा पाता है। फलतः वह महात्मा गांधी और कांग्रेस के भी यह बार बार विश्वास दिलाने पर भी कि 'यह मुल्क फ़ैसिस्टों का पूरा तरह सामना करना चाहता है' अपनी वर्तमान दमन-नीति को इस हद तक भी नहीं छोड़ पाता कि सब नेताओं को आज़ादी देकर उन्हें कुछ कहने सुनने का अवसर दे। अपने यहाँ की अनेक जातियों, अनेक धर्मों और बिल्कुल अलग अलग प्रकार की अनेक भाषाओं आदि के इतिहास की ओर ध्यान न दे वह इस देश को इन्हीं आधारों पर अनेक 'स्वतन्त्र भागों' और 'आज़ाद क़ौमों' में बाँट देने की और अपने मनमाने

ढङ्ग से बढ़ना चाहता है। इस देश में तरह तरह से उसके इशारों पर नाचने वाले और इसे ही 'रूसी लोकतन्त्र' कह उसकी 'नौकरशाही' के कंधे से कंधे भिड़ा कर साथ देने वाले तो हैं ही।

परन्तु जापान ने हाल में ही चीन की नानकिंग-सरकार से नई सुलह की है, जिसे नानकिंग-गवर्नमेण्ट के प्रेज़ीडेन्ट डा० वांग चिंग वी ने इन दोनों के बीच 'सदा क़ायम रहने वाली मित्रता और महान एशिया के निर्माण के प्रति एक बड़ी देन' बताया है। 'न्यूपिल्स बार' में यह भी प्रकाशित हुआ कि जापान ने सुभाष बाबू को सभापति बना कर हिन्दुस्तान की 'क़ौमी सरकार' बना डालने का स्वांग भी रच डाला है। अब जब 'मित्र-दल को अपनी विजय निकट आती दीखती है और रूस और अमरीका परस्पर विरोधी विधानों के होते हुए भी मिल रहे हैं' तब ब्रिटेन के अधिकारियों का भी यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वे कांग्रेस का विश्वास करें, उसे अपने साथ लें और उसकी बातें मान कर उसे यह सुअवसर दें कि वह अपने देश भर को ऐसी पूरी तरह फ़ासिस्टों के विरुद्ध खड़ा कर दे जैसा और कोई नहीं कर सकता। संसार में स्थायी शांति और 'चारों प्रकार की सच्ची स्वतन्त्रताओं' की बातों में तभी सब को विश्वास हो सकता है और यही संसार के उज्जवल भविष्य के लिए और यहां के वर्तमान संकटों को यथा शक्ति कम करने के लिए सब से बड़ी आवश्यकता है, जैसा कि अब 'प्रिवी कौन्सिलर' श्री श्री निवास शास्त्री आदि तक कहने लगे हैं।

वे लोग भूल करते हैं जो यह समझते हैं कि इस देश के चालीस करोड़ लोगों को अब भी मनमाने ढङ्ग से बेवकूफ़ बनाया जा सकता है और 'मियां की जूती मियां का सिर' चरितार्थ करते हुए उनका मनमाना शोषण किया जा सकता है। यह सच है कि इन डेढ़ दो सौ वर्षों में ब्रिटेन ने यहां देहात देहात में फैले हुए मदरसों और उद्योगों को हटा कर अपनी शिक्षा का ऐसा ढङ्ग चला लिया है कि मुश्किल से पन्द्रह फ़ीसदी लोग 'पढ़े-लिखे' हैं और जनता के अपने पैरों पर खड़े होने के औद्योगिक सहारे इतने कम रह गये 'जो नहीं के बराबर' कहे जा सकते हैं, और न तो यहां यूरुप, अमरीका आदि में चलने वाले कई हज़ार कारख़ानों की भांति के कारख़ाने हमारी ज़रूरी चीज़ों के लिए खोले जाते हैं, न उनकी जगह पुराने ढंगों से ही चीज़ें बनाने दी जाती हैं, फिर भी यह सत्य दोपहर के सूर्य के प्रखर प्रकाश के समान दिखलाई दे जाना चाहिए कि जाग्रति की जो लहरें इस विशाल देश में अब तक फैल चुकी हैं वे किसी तरह अब हटाई नहीं जा सकतीं। और इन्हें हटाने का प्रयास मानवी सभ्यता और वास्तविक लोकतन्त्र के अनुकूल हो भी नहीं सकता।

जापान ने सर्व साधारण चीनियों से जो 'हैन्स' (Hans) कहलाते हैं वहां के मुसलमानों को जो 'हुई हुई' कहे जाते हैं अलग करना चाहा था, पर वह कामयाब न हुआ। वे सब चीनी ही रहे और सब हिन्दुस्तानियों को भी उन्होंने हिन्दुस्तानी ही रहने का सन्देश भेजा। इसी तरह 'कम्युनिस्टों' ने भी 'चीनी' ही रह कर अपने देश का साथ दिया है। महात्मा गान्धी ने एक बार लिखा था 'हम ऐसी केन्द्रीय शक्ति बना सकते हैं जिसमें 'हिन्दुओं के बहुमत' का प्रश्न ही न रह जावे।' वस्तुतः हुकूमत की समस्यायें धर्म से नहीं बल्कि राजनीति और अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली होती हैं। आज इङ्गलैण्ड में जो हुकूमत है उसे कोई 'प्रोटेस्टैन्टों के बहुमत' की हुकूमत तो नहीं कह सकता। अमरीका आदि के लिखित विधान के आधारों को हिन्दुस्तान का नाम आते ही क्यों ध्यान से उड़ा दिया जाता है? क्या कोई ऐसा देश भी है जहां कभी 'जन्म से श्रेष्ठता का भाव' न पैदा हुआ हो? क्या अनेक देश ऐसे नहीं हैं जहां यहां से भी बुरी जाति-श्रेणियां बनीं और क्या कई देश ऐसे नहीं हैं जिनमें ऐसी अवस्था अब भी है? किन्तु क्या वे इन कारणों से 'पराधीन' किये या रखे जा सकते हैं? ऐसी कसौटियों पर कसे जाने से, या वैसी 'अव्यावहारिक समता' चाहने से

जैसी यहाँ चाहा जाया करती है, कभी कोई देश स्वाधीन हो सकता है ? स्वाधीनता के बाद जो आज 'अव्यावहारिक' हैं वही बहुत कुछ या पूरी तरह व्यावहारिक बनाया जा सकता है पर क्या उसके पहले ऐसा करना सम्भव है ?

संसार का भविष्य अपनी संकीर्णताओं को छोड़ कर बीसवीं सदी के नये दृष्टिकोण और नवीन जागृति को ध्यान में रख कर, चीन और हिन्दुस्तान जैसे विशाल देशों को अपना 'वास्तविक साथी' बना लेने से ही मित्र-दल के लिए यथेष्ट उज्जवल होगा न कि यह कहने से कि 'बंगाल की इस असहाय अवस्था ने यह साबित कर दिया कि हिन्दुस्तानी राज्य-प्रबन्ध करने के क़ाबिल अभी नहीं है,' और 'बंगाल की ग़रीबी ने यह दिखलाया कि अभी लोकतन्त्र हिन्दुस्तान में कहीं चल सकना क्योंकि इसके चलाने के लिये लोगों के पास खाने-पहरने की चिन्ता से मुक्त होकर सोचने-समझने और लोककार्य करने का समय चाहिए जो ऐसी अवस्था में हिन्दुस्तानियों को नसीब नहीं।' यह सब कहना जले पर नमक लगाना और कटु भावों को कहीं अधिक बढ़ाना है। विलायत के 'न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' आदि की भाँति के पत्रों ने सब कांग्रेसी नेताओं आदि के छोड़ने की राय दी है। उसे मान लेने की सुबुद्धि आनी ही चाहिये।

देशव्यापी अन्नसङ्कट

श्री हर्षवर्धन

आज सारा देश अन्न-संकट से ग्रस्त है। पिछले अगस्त से राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ़्तारी और कांग्रेस के ऊपर दमन के कारण देश में जो विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, उसने इस अन्न संकट को और भी जटिल तथा भयंकर बना दिया है। चीज़ों के दाम चौगुने-पंचगुने बढ़ गए हैं। खुले बाज़ारों से ग़ल्ला बिलकुल ग़ायब है। भारतीय जनता के सर पर भूख, काल और महामारी के भूत सवार हैं। परिस्थिति दिन प्रति दिन बिगड़ती ही जा रही है। कलकत्ते से रोज़ ही कितने लोगों की भूख से तड़प-तड़प कर मरने की ख़बरें आती हैं। सैकड़ों भूख से अधमरे, निस्सहाय अस्पतालों में भर्ती किए जाते हैं। तमाम देश से सहायता जाने और कितने ही मुफ़्त भोजनालयों (लंगरों) के खुलने के बावजूद भी परिस्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हो सका है। अन्य स्थानों से भी लोगों के भूख से मरने, बच्चों के खाना मांगने पर, अपनी विवशता से खीझ कर या तो उन्हें ही ख़त्म कर देने या आत्महत्या कर लेने तथा बच्चों को सड़क पर भाग्य के सहारे छोड़ कर भाग जाने और मुट्ठी भर अनाज के लिए तन बेचने या ४,३ रुपयों में लड़कियों के बेच डालने की कितनी ही ख़बरें नित्य ही अख़बारों में आती हैं। देश का विशाल जन-समूह अन्नाभाव से पीड़ित है। अब प्रश्न केवल बहुत ऊँचे दामों या अनाज की कमी का नहीं है। आज परिस्थिति यह है कि अधिकतर देशवासियों को खाने-पीने की चीज़ें मिलने का कोई ठिकाना ही नहीं है। नियन्त्रित अनाज सारे देश में खुले बाज़ारों से बिलकुल ग़ायब है। अधिकतर शहरों में स्त्री-पुरुषों को सेर आध सेर अनाज के लिए अन्त-विहीन पाँतों में खड़ा रहना पड़ता है। एक दिन चूल्हा जलाने के लिए कितनी ही मुसीबतें उठानी पड़ती हैं। केवल शहरों की ही नहीं, गाँवों की दशा इससे भी बुरी है। अन्न की चोरी और निर्यात ने देश के बहुत से भागों में अकाल की दशा पैदा कर दिया है। राष्ट्रीय सङ्कट जनता की सबसे सामान्य आवश्यकता, अन्न तक फैल गया है। इसीलिए अन्न के दंगे होने लगे हैं। जब लोग भूख से पागल होते हैं, वे स्वार्थ वश अन्धे हो कर एक दूसरे को खाने लगते हैं। सारे देश में अव्यवस्था तेज़ी के साथ फैल रही है। राष्ट्रीय अव्यवस्था

बढ़कर सामाजिक अव्यवस्था का रूप धारण कर रही है।

उपरोक्त बातों से जो प्रश्न उपस्थित होते हैं उनके उत्तर में सरकार सारा दोष अनाज चोरों के सर मढ़ कर अपनी उन पापपूर्ण करानियों को छिपाना चाहती, जिनके वशीभूत होकर उसने लाखों टन ग़ल्ला फौज़ के लिए ख़रीद कर और उसको रोक कर सड़ाया है तथा बहुत कुछ विदेश भेजा है। और ऐसा करके वह भूखी जनता को सारे व्यापारी वर्ग के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न करती है। वह कहती है कि ये सारा अन्न दबा कर बैठ गए हैं और वह इस मामले में बिलकुल निर्दोष है। इस कथन में यहां तक तो सत्यता अवश्य है कि आज देश का बहुत कुछ अन्न इन्हीं अनाज चोरों की खत्तियों में छिपा है। लेकिन प्रश्न यह उपस्थिति होता है कि आखिर अभी हाल में ही क्यों इन इजारेदारों ने अनाज जमा करना शुरू किया है। किन बातों से यह चोरी सम्भव हो सकी है? सरकार अपनी सफाई दे कर यह छिपाना चाहती है कि राजनीतिक और आर्थिक मामलों में उसकी दिवालिया और दोषी नीति ही के कारण ही देश में अनाज चोर और इजारेदारों का जन्म हुआ है या वह अपने को बचा कर चोरी को प्रोत्साहन देती है।

इसके विपरीत, अनाज-चोर फौज़ी अधिकारियों की खरीदारी और अनाज के बाहर भेजे जाने की ओर संकेत करके अपने पापों पर परदा डालने का प्रयत्न करता है। 'उनका कहना है कि बर्मा से चावल आना बन्द हो गया है और फौज़ी अधिकारी हिन्दुस्तान और मध्य-पूर्व की सेनाओं के लिए बहुत सा अनाज खरीदते रहते हैं; इन्हीं दो कारणों से अन्न की कमी हो गई है और लोगों की यह दुदर्शा है।' इनके कथन में भी हमें कुछ सत्यता मिलती है। यह सच है कि सरकार ने सेना के लिए अन्न खरीदते समय जनता के हितों की ओर क़तई ध्यान नहीं दिया है। फौज़ी अधिकारियों के ठाकेदार सीधे देहातों में जा कर ज़्यादा दामों में अन्न इकट्ठा करते हैं। कभी कभी ये नियन्त्रित भाव से अधिक दाम दे कर किसानों से अन्न खरीद लेते हैं और कभी उनको बिलकुल अनुचित दामों पर अनाज बेचने के लिए मजबूर करते हैं। मार पीट और घूसखोरी में सरकारी कर्मचारियों और पुलिस वालों का पूरा सहयोग रहता है। लेकिन इन सब का नतीजा ऊँचा दाम और अनाज की कमी हो सकती है। इससे इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि आख़िर देश का सारा अनाज चला कहां गया? जब कि यहाँ केवल गेहूं और चावल की पैदावार ९८ करोड़ मन प्रति वर्ष है। इस प्रकार से वह भी अन्न संकट की गम्भीरता की सफ़ाई देने में असफल हैं। 'उसकी इस सफ़ाई का भी केवल यही नतीजा होता है कि जनता में निराशा बढ़ती है और अव्यवस्था फैलती है।'

'अतः सरकार और अनाज-चोर, दोनों के उत्तर केवल कुछ अंशों में सच हैं। दोनों एक दूसरे पर दोष लगा कर स्वयं अपने पापों को और इस सङ्कट के शुरू करने के दायित्व को छिपाने का प्रयत्न करते हैं और दोनों असली कारण को नहीं बता पाते।'

वास्तव में अन्न-सङ्कट राष्ट्रीय सङ्कट का ही अत्यन्त गम्भीर और नग्न तथा भयंकर रूप है। इस बात में भी कोई सन्देह नहीं कि इसका मूल कारण सरकार की ही आर्थिक और राजनीतिक नीति है।

लड़ाई के आरम्भ होते ही, देश में दाम बढ़ने की पहली बड़ी लहर १९३९ में आई। सरकार इससे कुछ हिली डुली तो अवश्य लेकिन सप्लाई का बिना कोई उचित प्रबन्ध किए और जनता से सहयोग पाने के प्रयत्न किए बिना, नियन्त्रित दामों की घोषणा कर दी। इसके फलस्वरूप मंहगी और बढ़ी। फ्रांस की पराजय, सोवियत् पर आक्रमण होने और जापान के युद्ध में प्रवेश करने से दाम और बढ़े। 'इस प्रकार से युद्ध के बाद से जब कभी सट्टेबाज़ी के कारण दाम बढ़े, सरकार की मूल्य नियन्त्रण नीति उन्हें क़ानूनी क़रार देती गई।'

अन्न पर बड़े बड़े महाजनों के अधिकार जमा लेने से छोटे छोटे व्यापारियों का भी व्यापार नष्ट हो रहा है। बड़ी मछली छोटी को निगलने में व्यस्त है। कहीं कहीं तो सरकार ने तैयार माल पर तो नियन्त्रण लगा दिया है, किन्तु कच्चे माल में दामों को यूं ही छोड़ दिया है। मिसाल के लिए, सरसों और सरसों के तेल के सम्बन्ध में यही हुआ। दूसरे, प्रान्तीय सरकारों की सप्लाई की नीति पर केन्द्रीय सरकार का कोई नियन्त्रण नहीं है। पंजाब में कितने ही मन गेहूं के इकट्ठा होने पर भी, दूसरे प्रान्तों के ज़िक्र को छोड़िए, वहीं के लोगों को उसके दर्शन तक नहीं होते। नीलगिरी में आलू पड़े सड़ते हैं, किन्तु बाहर जाने पर रोक लगी हुई है। उत्तरी भारत से चीनी बम्बई लाई जाती है और बम्बई की चीनी उत्तर को भेजी जाती है। रेलों पर तो पूर्णतः 'मिलिट्री' का क़ब्ज़ा है। शहरी आबादी का सारा जीवन अस्त-व्यस्त होता जा रहा है, लेकिन इस ओर उनका ध्यान भी नहीं जाता। उत्पादन को बढ़ाने के लिए भी सरकार की ओर से सक्रिय प्रयत्न नहीं किया गया है। भारत में अभी १० करोड़ एकड़ भूमि परती पड़ी है और वह खेती करने के योग्य है, लेकिन उसका एक इन्च भी अभी तक काम में नहीं लाया गया है।

जापान के युद्ध में प्रवेश होने के बाद और विशेषकर वर्मा पर जापानी आधिपत्य जाने से परिस्थितियाँ और भी विकट हो गईं। अब हिन्दुस्तान पर भी जापानियों ने हवाई आक्रमण करना शुरू कर दिया है। इससे परिस्थिति के और भी भयंकर होने की सम्भावना है। अंग्रेज़ शासकों के सम्मुख यह प्रश्न नग्नरूप में उपस्थित है कि जनता के सहयोग से इस देश की रक्षा की जाय या उस निरीह जनता को संगीनों द्वारा कुचल कर ? उनकी साम्राज्यवादी नीति ने उन्हें दूसरे रास्ते को अपनाने के लिए विवश किया है। उन्होंने जनता की शक्ति बढ़ने की अपेक्षा फासिज़्म को अधिक उकसाया है !

तो क्या ऐसी दशा में भी यह प्रश्न हल हो सकता है ? हाँ ! अवश्य। उसका कारण यह है कि देश में अब भी इतना ग़ल्ला अनाज-चोरों की खत्तियों में छुपा है कि यदि जनता महाजनों पर दबाव डाल कर उसे बाहर निकाल सके तो सब को अन्न मिल सकता है। यह निकम्मी सरकार ऐसा नहीं कर सकती, और न तो जनता में उसके प्रति कोई प्रीतिकार भाव है। यह सरकार तो स्वयं अपनी दमनकारी नीति के कारण इतनी कमज़ोर और अकेली हो चुकी है कि उसे कोई रास्ता ही नहीं सूझ रहा है।

'८ अक्टूबर को रेडियो पर बोलते हुए बङ्गाल के गवर्नर सर टॉमस रदर फोर्ड ने स्वयं अपने मुंह से शासन-व्यवस्था की असफलता और दिवालियेपन को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि दुर्भिक्ष-ग्रस्त बङ्गाल के किसी भी क्षेत्र में अकाल के नियमों को नहीं लागू किया जा सकता, क्योंकि लाख कोशिश करने पर भी सरकार के पास इतना स्टॉक नहीं जमा हो सका कि वह अकाल-नियमावली के अनुसार भी लोगों को भोजन देने की व्यवस्था कर सकें। उन्होंने यह भी कहा, "सट्टेबाज़ी लोगों के प्राण ले रही है। क्या किसी सामाजिक दबाव के द्वारा मनुष्य जाति के विरुद्ध इस महाअपराध को रोका नहीं जा सकता !"

इससे प्रत्यक्ष है कि सरकार अपने निकम्मेपन को महसूस कर रही है और निस्सहाय होकर जनता का मुंह ताक रही है। लेकिन इस महसूस करने से कुछ नहीं हो सकता। देश को अन्न-सङ्कट से उबारने का रास्ता एकमात्र राष्ट्रीय नेताओं की रिहाई है। पर हमें सरकार की कोरी आलोचना न करनी चाहिए। इस समय अपने अन्दर के झगड़े को भी अलग रखने की ज़रूरत है। इस समय ज़रूरत इस बात की है कि हम भूख से मरते लोगों के लिए कन्धा से कन्धा भिड़ा कर सहायता कार्य करें, और ग़ल्ले की समस्या को लेकर अपना संगठन करें अपने कामों के अन्दर पैदा हुई कठिनाइयों को संसार के सामने रखकर हुकूमत को यथा सम्भव दबावें। इस गहन कुहासे में भी हमें हिम्मत न हारना चाहिए।

लड़ाई का हाल

पिछले दिनों रूस के मैदान में पीछे हटते-हटते जब जर्मन सिपाही नीपर नदी के पार पहुंच गये तो जर्मन हाई कमान की ओर से ऐलान हुआ कि यह हमारी वापसी की आख़री हद है। जर्मन सेना रूसियों को आगे न बढ़ने देगी। इस ऐलान के बाद लाल सेना ने नया हमला शुरू किया और इस नदी को कई जगह पार कर लिया। जर्मन जान तोड़कर मुक़ाबला कर रहे हैं और लड़ाई दक्षिण में मारियोपोल के शहर के अन्दर और यूक्रेन की राजधानी कीफ़ के बाहर हो रही है। सफ़ेद रूस में रूसी गोमेल-विटेब्स्क लाइन पर प्रहार कर रहे हैं; अगर नीपर की क़िलाबन्दी टूट गयी तो जर्मनों को बहुत पीछे हटना होगा और यह देखते हुए कि जाड़े का मौसम आ रहा है इसकी सम्भावना भी है। पीछे हटने से युद्ध-क्षेत्र संकुचित हुआ या नहीं और हिटलर अपनी फँसी हुई फ़ौजों का कुछ हिस्सा दक्षिणी और पश्चिमी यूरोप के लिये निकाल सका या नहीं, यह कहना कठिन है।

रूस की लड़ाई के पीछे जो राजनीतिक दांव-पेंच हो रहे हैं, उनके विषय में भी ठीक से कुछ नहीं मालूम। यह तो सच है कि जर्मनी और रूस में किसी न किसी तरीक़े से समझौते की बातचीत हुई और इसकी पहिल जर्मनी की ओर से हुई। पर यह भी निश्चित है कि रूस की शर्तें इतनी कड़ी थीं कि बात चीत आगे न चल सकी। नाज़ी जर्मनी और सोवियत् रूस में अब कोई सुलह नहीं हो सकती, यह ध्रुव सत्य है। यह दूसरी बात है कि सैनिक आवश्यकता अकेले लड़ते हुए रूस को किसी जगह दम लेने के लिये रोक दे। यह बात मास्को की त्रि-राष्ट्र कानफ्रेंस के बाद साफ़ हो जायेगी। युद्ध की भावी गति ही नहीं बल्कि यूरोप का पुनर्निर्माण भी इस सम्मेलन की सफलता पर निर्भर करता है।

इस देश में रूस की ख़बरें जिस ढँग से छपती हैं उनसे अन्दाज़ा होता है कि इस सम्मेलन में रूस का यह रुख़ होगा :

(१) ब्रिटेन और अमेरिका पश्चिमी यूरोप में इसी साल दूसरा मोर्चा खोलें। इसके बिना जर्मनी की समर-शक्ति नहीं टूट सकती।

(२) रूस की सीमा वही होगी जो मई सन् १९४१ में थी। रूस इस विषय में किसी से बातचीत भी नहीं करेगा।

(३) जब तक यूरोप की लड़ाई ख़तम न हो, रूस पूर्वी एशिया के मामलों में हस्तक्षेप न करेगा।

(४) यूरोप के पुनर्निर्माण और स्लाव देशों के (पोलैंड, चेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लाविया, बलगारिया आदि) भविष्य के बारे में ख़ास तौर पर, रूस की सम्मति अनिवार्य है।

मास्को कानफ्रेंस अभी शुरू ही हुई थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के धनीधोरी मार्शल स्मट्स ने न जाने क्यों कह दिया कि यूरोप में दूसरा मोर्चा अगले साल क़ायम होगा। यह महानुभाव कभी ऐसी-वैसी बात नहीं कहते और उनके कथन से रूसी ज़रूर खटकेंगे। दूसरे मोर्चे की राह में सब से बड़ी रुकावट जहाज़ों की कमी बतलायी जाती थी, पर अमेरिका के एक सरकारी मोहकमे ने बतलाया है कि मित्र राष्ट्रों के पास इतने जहाज़ हैं कि पचास लाख अमेरिकन सिपाही सामान के साथ यूरोप में उतारे जा सकते हैं। इस हालत में कौन कह सकता है कि दूसरा मोर्चा सैनिक समस्या है या राजनीतिक ?

इटली में मित्र-सेनाएँ धीरे-धीरे रोम की ओर बढ़ रही हैं। उनकी गति इतनी सुस्त है और जर्मन ऐसे कड़ियलपन का सुबूत दे रहे हैं कि यह लड़ाई जल्दी ख़तम होती नज़र नहीं आती। मित्र सेनाओं की सुस्ती का कारण यह भी हो सकता है कि वह दक्षिणी यूरोप के दूसरे हिस्सों पर चढ़ाई की तैयारी

कर रही हैं। उन्होंने मार्शल बोडेग्लियो को अपना सैनिक सहयोगी मान लिया है और इस पर अबीसीनिया के बादशाह ने तीव्र आक्षेप किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इटली के गृह-युद्ध से मित्र-राष्ट्रों को लाभ हुआ है। पर बोडेग्लियो ने इटली के जनवादी दलों का सहयोग लेने से इन्कार क्यों किया और क्या यह सच नहीं हैं कि वह बीस साल तल फ़ैसिस्ट सरकार की सेवा कर चुका है? अगर मित्र-राष्ट्र ऐसे ही लोगों के हाथ में शासन-सूत्र देना चाहते हैं, तो उन पर यह अभियोग लग सकता है कि उन्हें फ़ासिज़्म से विरोध नहीं, बल्कि ब्रिटेन और अमेरिका के विरोधी फ़ासिस्टों पर आक्षेप है कि वह नाज़ीवाद को ज़रूर मिटाना चाहते हैं पर साथ ही साथ सामाजिक क्रांति के ख़तरे को भी रोकना चाहते हैं। और इसके लिये उन्हें इटली और पोलैण्ड की प्रतिक्रियावादी आश्रित् सरकारों के सहयोग की ज़रूरत है। देखने वाले देख रहे हैं कि जैसे जैसे मित्र राष्ट्रों की विजय की सम्भावना बढ़ती जाती है, उनके कार्यक्रम का प्रगतिवादी अंश काफ़ूर की तरह उड़ता जाता है।

आस्ट्रेलिया के युद्ध क्षेत्र में अमेरिका की नौ-शक्ति और हवाई ताक़त का आधिपत्य है। पर इससे यह नतीजा न निकालना चाहिये कि जापान हर जगह कमज़ोर है। यह जापान के नये साम्राज्य का सबसे दूर का इलाक़ा है। अपने नैतिक प्रभाव को बढ़ाने के लिये अमेरिका ने फ़िलीपीन द्वीप-समुदाय की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी है। उधर जापान ने भी अपने विजित इलाक़ों में से कई को आज़ाद कर दिया है। ब्रिटेन ने अब तक ऐसा नहीं किया। बल्कि उसके नेता साफ़ कहते हैं कि वे अपने साम्राज्य के लिये लड़ रहे हैं। इन नेताओं में पूँजीपति और मज़दूर सभी शामिल हैं।

२१ अक्तूबर

सम्पादकीय-विचार

स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी

३० सितम्बर सन् १९४३ की शाम को क़रीब ७½ बजे कलकत्ते में "मार्डन रिव्यू" और "प्रवासी" के सम्पादक, और "विशाल भारत" के मालिक तथा संस्थापक बाबू रामानन्द चटर्जी का स्वर्गवास हो गया। बाबू रामानन्द चटर्जी इस देश के सबसे पुराने, सबसे वृद्ध और चोटी के पत्रकार थे। अंग्रेज़ी मासिक "मार्डन रिव्यू" और बंगला मासिक "प्रवासी" दोनों को उन्होंने आज से क़रीब ३६ साल पहले उस समय इलाहाबाद से निकालना शुरू किया था, जब कि रामानन्द बाबू कायस्थ पाठशाला कॉलेज इलाहाबाद के प्रिन्सिपल थे। "प्रवासी" का नाम प्रवासी इसीलिये रक्खा गया क्योंकि वह बंगाल के बाहर से निकलनी शुरू हुई थी। ये दोनों पत्रिकाएं इस देश की मानी हुई सर्वोच्च कोटि की पत्रिकाएँ हैं। थोड़े ही दिनों में प्रयाग का क्षेत्र रामानन्द बाबू की सेवाओं के लिये और दोनों पत्रिकाओं के फलने फूलने के लिए बहुत तंग दिखाई देने लगा। रामानन्द बाबू को कलकत्ते जाना पड़ा और वहीं पर ७९ साल की आयु में उनका देहावसान हुआ।

स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी एक मामूली पत्रकार न थे। जिन लोगों ने "मार्डन रिव्यू" या "प्रवासी" की पहले १४ साल की जिल्दों को ध्यान से पढ़ा है, उन्हें मालूम है कि बाबू रामानन्द चटर्जी का पद इस देश में शुद्ध राष्ट्रीयता के तामीर करने वालों में बड़ा ऊँचा पद था। देश की विविध नैतिक राजनैतिक और सामाजिक, समस्याओं पर स्वर्गीय रामानन्द बाबू के लेखों और उनकी टिप्पणियों ने हज़ारों ही शिक्षित देशभक्तों की शिक्षा और उनके मार्ग-प्रदर्शन का काम किया है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में रामानन्द बाबू को इन ३५ वर्ष के अन्दर के आधे से अधिक शिक्षित भारतीय देशभक्तों के 'मानसिक पिता' कहना अत्युक्ति न होगा।

स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी केवल एक पत्रकार ही न थे। वह एक गम्भीर और प्रौढ़ विचारक भी थे। अपनी आत्मा के साथ वे निष्कपट, निर्व्याज, और सर्वथा सच्चे थे। किसी तरह के दिखावे या बनावट की उनमें छाया तक न थी। इतने सच्चे देश सेवक और योग्य विद्वान होते हुए भी उनमें अपने बड़प्पन या किसी तरह की चमकने की ज़रा भी चाह न थी। वह स्वभाव से एकान्त प्रेमी और शरमीले थे। जिन लोगों का ३५ वर्ष तक उनके साथ लगातार परिचय रहा है, उनका ख़याल है कि अपनी अन्तरतम आत्मा की आवाज़ के विरुद्ध स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी के क़लम या उनकी ज़बान ने कभी एक शब्द भी नहीं निकाला।

कलकत्ते पहुंचने के बहुत दिनों बाद बाबू रामानन्द चटर्जी ने "मार्डन-रिव्यू" या "प्रवासी" के तर्ज़ पर एक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक निकालने का विचार किया। "विश्ववाणी" के संरक्षक पण्डित सुन्दरलाल जी की सलाह से, जिनका स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी के साथ सन् १९०७ से घनिष्ट व्यक्तिगत स्नेह था, "विशाल भारत" के सम्पादन का भार पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी को सौंपा गया। पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने जिस लगन और योग्यता के साथ "विशाल भारत" का सम्पादन किया, और उसे वास्तव में देश की सर्वोच्चकोटि की पत्रिकाओं में स्थान दिया, यह हिन्दी पाठकों को बताने की ज़रूरत नहीं है। हिन्दी संसार में "विशाल भारत" द्वारा पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी की अमूल्य सेवाएँ सदा के लिए यादगार रहेंगी। इस सम्बन्ध में केवल एक बात ख़ास बताना ज़रूरी है। बाबू रामानन्द जी "विशाल भारत" के मालिक थे। पं० बनारसीदा उनसे वेतन पाने वाले सम्पादक। देश की साम्प्रदायिक समस्या जैसे गम्भीर और नाज़ुक विषय पर दोनों के दृष्टिकोणों में साफ़ और गहरा अन्तर था। पं० बनारसीदास जी जैसे के लिए भी अपनी अन्त आत्मा के विरुद्ध कोई शब्द लिख सकना या चुप रह जाना दोनों नामुमकिन थे। दोनों में दिल खोलकर बात चीत हुई रामानन्द बाबू ने पं० बनारसीदास जी को अपने ढंग से अपने स्वतन्त्र विचार इस समस्या और हर समस्या पर प्रगट करने, यहाँ तक कि स्वयं रामानन्द बाबू के लेखों और तक़रीरों पर स्वतन्त्रता के साथ टीका करने की पूरी आज़ादी दी। "विशाल भारत" की जिल्दें अभी तक मौजूद हैं। पं० बनारसीदास जी ने इस आज़ादी का पूरा पूरा उपयोग किया। निस्सन्देह स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी का यह स्वतन्त्रता-प्रेम और उनकी उदारता इस देश के पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में शायद ही अपनी दूसरी मिसाल रखती हो। संसार के पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में भी इसकी कम ही मिसालें मिलेंगी।

स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी के इलाहाबाद के ज़माने के उनके ख़ास मित्रों और साथियों में हिन्दी प्रदीप के विद्वान् सम्पादक, स्वतन्त्रता के शैदाई और कायस्थ पाठशाला कॉलेज के उस समय के संस्कृत के प्रोफ़ेसर स्वर्गीय पं० बालकृष्ण जी भट्ट का ज़िकर न कर सकना असम्भव है। भट्ट जी की गणना वर्तमान हिन्दी के जन्मदाताओं और निर्माताओं में की जाती है। रामानन्द बाबू और भट्ट जी में घनिष्ट स्नेह था। दोनों में से किस की देशभक्ति ने किससे अधिक प्रोत्साहन पाया यह कह सकना कठिन है। "राइज़ आफ़ दी क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया" के ख्यातनामा लेखक स्वर्गीय मेजर बामनदास बसु से भी रामानन्द बाबू का सदा घनिष्ट प्रेम और लगभग कौटुम्बिक सम्बन्ध रहा। कलकत्ते चले जाने के बाद से रामानन्द बाबू जब कभी इलाहाबाद आते तो स्वर्गीय मेजर बसु ही के यहां ठहरते थे। ब्रह्म-समाज के साथ भी रामानन्द बाबू का ख़ास तआल्लुक़ था। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबन्धु सी० एफ़० एन्डरूज़ और बाबू रामानन्द चटर्जी इन तीनों की घनिष्टता इतनी बढ़ी हुई थी कि आमतौर पर इन तीनों की एक त्रिमूर्ति मानी जाती थी। तीनों क़रीब क़रीब हम उमर थे। रामानन्द बाबू इनमें सबसे छोटे थे। एक दूसरे के बाद यह तीनों महा-

पुरुष इस पृथ्वी से अपनी अपनी लीला समाप्त करके उठ गए। वर्तमान भारत के गौरव में तीनों का ज़बरदस्त हाथ था। भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में रामानन्द बाबू का हिस्सा एक अपने ही शान्त ढंग का था किन्तु इन तीनों में किसी से कम ठोस न था।

बाबू रामानन्द चटर्जी का देहावसान इस देश के पत्रकारों की दुनिया में और राष्ट्रीयता के क्षेत्र में एक ऐसी महान क्षति है, जो आसानी से पूरी नहीं हो सकती। "विश्ववाणी" के नज़रबन्द सम्पादक परिडत विश्वम्भरनाथ जी और आजकल के सम्पादक डा० अख़्तर हुसेन रायपुरी तथा संयुक्त सम्पादकों को भी स्वर्गीय रामानन्द बाबू के साथ व्यक्तिगत स्नेह का सौभाग्य प्राप्त था, जिसका उन्हें सदा गर्व रहेगा। "विश्ववाणी" की ओर से हम इस शोक के अवसर पर स्वर्गीय रामानन्द बाबू के ज्येष्ठ पुत्र बाबू केदार नाथ चट्टोपाध्याय, उनकी पुत्रियों श्रीमती तारादेवी और श्रीमती सीतादेवी और उनके कनिष्ठ पुत्र श्री अशोक चट्टोपाध्याय के साथ हार्दिक समवेदना प्रगट करते हैं, और स्वर्गीय आत्मा की ओर भरे हुए दिल से अपनी श्रद्धा की अंजलि अर्पित करते हैं।

—य०

पुराने और नये वायसराय

लार्ड लिनलिथगो चले गये और आशा है कि हमेशा के लिये चले गये। उनके जाते समय इस अभागे देश में जेलों के सिवा हर तरफ़ सूनापन है। अंगरेज़ों के राजकाल में भारत को कभी इतने बड़े संकट का सामना न करना पड़ा था। दमन, भूख, हमले का ख़तरा—एक मुसीबत हो तो गिनायी जाय। लार्ड लिनलिथगो के वकील इन सब की सफ़ाई आसानी से पेश कर सकते हैं। वह कहेंगे कि यह सङ्कट दूसरों की अभिसन्धि का परिणाम है। कांग्रेस की साज़िश के कारण सरकार को दमन के लिये विवश होना पड़ा; दुर्भिक्ष के लिये नालायक़ वज़ारतें और अनाज चोर ज़िम्मेदार हैं; जापानी ख़तरे का डर देशद्रोहियों के कारण बढ़ गया है। अगर बात यही है तो सरकार किस मर्ज़ की दवा है। अगर अनाज होते हुये भी न मिल सके, अगर कांग्रेस हिंसा के ख़िलाफ़ और देश-रक्षा के पक्ष में हो, अगर जनता अपने देश के लिये लड़ने को तैयार हो—और यह तीनों बातें निर्विवाद हैं—तो मुजरिम कौन है? जुर्म उस शासनमद का है जिसने मिस्टर अमेरी और लार्ड लिनलिथगो की आंख पर पट्टी बांध रखी थी। उन्होंने कांग्रेस और जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिये क्या किया और बंगाल को दुर्भिक्ष से बचाने के लिये क्या किया?

दुःख है कि बहुत दिनों से ब्रिटिश पार्लमेंट ने अपने कर्मचारियों से जवाब तलब करने का तरीक़ा छोड़ दिया है। रायटर ने सूचना दी है कि किसी ने पार्लमेंट को लार्ड लिनलिथगो से जवाब तलब करने की राय दी है। लार्ड क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स पर जो मुक़दमे चले थे, उनसे भारत के अंगरेज़ शासकों के मिज़ाज दुरुस्त हो गये थे। क्या अच्छा हो कि और कुछ नहीं तो भारत के दुर्भिक्ष को ही लेकर लार्ड लिनलिथगो से जवाब मांगा जाये। राजनीतिक अंधेर के विषय में इनसे पूछना बेकार है। यह वही कर रहे थे जो मि० चर्चिल और मि० अमरी कह कह रहे थे। वह दोनों ब्रिटेन के प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवाद के प्रतीक हैं।

× × ×

लार्ड वेवल नये वायसराय बनकर आये हैं। ऐसे मौक़ों पर पहिले राजनैतिक क्षेत्रों में ख़याली घोड़े दौड़ाये जाते थे कि अब पॉलिसी बदलेगी और इस इस तरह की तबदीलियाँ होंगी। पर इस बार किसी ने अटकलपच्चू बातें न कीं। ठोकरें खा कर सब समझ गये कि आज़ादी ख़ैरात में नहीं बँटा करती। इस बरदान के योग्य बनने के लिये राष्ट्र को बड़ी सख़्ती झेलनी पड़ती है। इस अग्निपरीक्षा में हम असफल रहे, यह चुपचाप मान लेना चाहिये। लार्ड वेवल जो चाहें करें। यह देश ब्रिटेन के पास बन्धक है और हम अपनी हैसियत किरायेदार से

ज़्यादा नहीं समझते। पराजय की ग्लानि और क्षोभ ही ऐसी बात कहला सकती है, पर आज के दिन भारतवासियों का मनोभाव यही है।

बंगाल का दुर्भिक्ष

यों तो देश में हर जगह अन्नाभाव के कारण हाहाकार मचा हुआ है, पर बंगाल की दुरव्यवस्था सब को ख़ून के आँसू रुला रही है। कलकत्ते में रोज सौ दो सौ आदमी भूखे मरते हैं और इन सरकारी आंकड़ों से बङ्गाल के शहरों और देहातों की हालत का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। अगर बंगाल में फ़सल ख़राब होती तो बात समझ में आ सकती थी। लेकिन फ़सल अच्छी थी। फिर यह अनाज क्या हुआ? अनाज पूंजीपतियों के गोदामों में बन्द है। गोदामों के ताले क्यों नहीं तोड़े जाते और इन अनाज-चोरों को कड़ी सज़ा क्यों नहीं दी जाती? यह सरकार का काम है और क्योंकि उसने अब तक ऐसा नहीं किया, इसलिये उसकी उदासीनता और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता अक्षम्य है। केन्द्रीय सरकार ने प्रांतीय सरकारों की खाद्य-नीति में तारतम्य क़ायम नहीं किया, एक जगह से दूसरी जगह अनाज ले जाने की आसानी पैदा नहीं की, नोटों की बहुतायत और क़ीमत की बढ़ती को नहीं रोका। जापानियों की निकटता के कारण बङ्गाल में जो समस्याएं पैदा हो गयीं थीं, उन्हें नहीं समझा और वहां की जनता को अन्न पहुंचाने के लिये कोई प्रबन्ध न किया। यह सब इसलिये हुआ कि शासकों और शासितों में न कोई सहयोग है न परस्पर विश्वास। जनता की सहानुभूति से बेपरवाह होकर शासन पूंजीपतियों के सहारे पर निर्भर करता है, और यह जानते हुए भी कि वही अनाज-चोर हैं उन्हें कुछ नहीं कहना चाहता।

इस ट्रेजेडी से लाभ उठाकर जो राजनीतिज्ञ अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं, वह नफ़रत के क़ाबिल हैं। मि० अमेरी को हिन्दुस्तानियों की निन्दा का एक नया मौक़ा मिला है और वह कहते हैं कि प्रांतीय स्वशासन के कारण यह गड़बड़ हो रही है। डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी और उनके मित्र मुस्लिम लीग की वज़ारत को भला बुरा कह रहे हैं। अभी कुछ महीने पहिले जब यह लोग वज़ारत की गद्दी पर थे तो कौन सा तीर मार लिया था। श्री किरण शङ्कर राय को किसी भी हालत में मुस्लिम लीग का सहयोग मंज़ूर नहीं। ग़रज़ यह कि बंगाल के भूखों की लाश पर गिद्ध मण्डला रहे हैं।

मि० अमेरी ने अपनी ज़िम्मेदारी को यह कहकर टालने की कोशिश की है कि बाहिर से अनाज लाने के लिये जहाज़ कहां से आयेंगे। उन्हें याद न रहा हो कि यूरोप की भूखी जनता से नाज़ी भी यही कहते हैं कि हमारे जहाज़ बाहिर से सामान नहीं ला सकते।

अंग्रेज़ों को अपने ही हित में बंगाल में हर तरह का सुप्रबन्ध रखना चाहिये था, क्योंकि यह सूबा जापानियों की मार पर है। पर अपनी कमनज़री के सबब वह ऐसा नहीं करते और समझते हैं कि देशद्रोहियों का नाम ले लेने से उनकी सारी ज़िम्मेदारी ख़तम हो जायेगी।

राजा जी का ग़लत सुझाव

श्री राजा गोपालाचार्य का ख़याल है कि राष्ट्रीय कांग्रेस को सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स की तजवीज़ को मंज़ूर कर लेना चाहिये। यह प्रस्ताव करते हुए वह दो बातें भूल गये। ब्रिटिश सरकार ने इस तजवीज़ को वापिस ले लिया है और जब तक उसका पुनरुद्धार न हो, उस पर पुनर्विचार बेकार है। दूसरे कांग्रेस मौजूदा हालत में तब तक कोई ऐसी बात नहीं कह सकती, जब तक मुस्लिम लीग अपनी अड़ंगानीति को न छोड़ दे। कांग्रेस का दमन करके ब्रिटिश सरकार उससे यह कहलाना चाहती है कि वह ९ अगस्त के बाद के हंगामों की ज़िम्मेदार है, हालांकि उससे पहिले कांग्रेस के लगभग सब ज़िम्मेदार नेता पकड़ लिये गए थे और वह ख़ुद ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गई थी। इस सूरत में कांग्रेस से किसी पहिल की आशा करना उसके साथ अन्याय है। यह हमारी नैतिक शक्ति की परीक्षा है। राजनीतिक संकट ब्रिटेन

का पैदा किया हुआ है और उसी को इसका अन्त करना है। हमें दुःख है कि राजा जी जैसे दूरदर्शी नेता ने ऐसा असामयिक प्रस्ताव किया।

देश की परिस्थिति पर विचार करने के लिये कुछ राष्ट्रीय कार्यकर्ता दिल्ली में मिल रहे हैं। यह अच्छी बात है। हमें ख़ुशी है कि श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव ने अपने ग़लत क़दम को वापिस ले लिया और कांग्रेस के बम्बई वाले प्रस्ताव को रद्द करने की ज़िद न की। यह प्रस्ताव ग़लत हो या सही, इसे कांग्रेस नेताओं की अनुपस्थिति में वापिस लेना एक तरह उनकी आलोचना और ब्रिटिश दृष्टिकोण का समर्थन होता। आशा है कि यह सम्मेलन देशव्यापी दुर्भिक्ष, हिन्दू-मुस्लिम एकता और विदेशों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रचार की ओर विशेष ध्यान देगा।

साम्राज्यवाद के मज़दूर दलाल

पाठकों ने मि० मारीसन का नाम सुना होगा। आप ब्रिटिश मज़दूर पार्टी के नेता और ब्रिटेन के गृह-मन्त्री हैं। यह न समझना चाहिये कि इन्हें दलितों और दरिद्रों से बड़ी हमदर्दी है। पार्लमेंट में जब बेवरिज स्कीम और कोयले की खानियों के राष्ट्रीयकरण पर बहस हुई, तो इन्होंने मज़दूरों का विरोध किया। यों समझिये कि यह अपने गुरु मेक-डानल्ड के पद-चिन्हों पर चल रहे हैं। अंग्रेज़ मज़दूरों की अनुदारता और राजनीतिक अज्ञान की ज़िम्मेदारी ऐसे ही लोगों पर है।

हाल ही में मि० मारीसन ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की तारीफ़ में एक बयान दिया। यह ख़िदमत आप आये-दिन अंजाम देते हैं। बड़ी बेशर्मी से इन्होंने मलाया और बर्मा के ब्रिटिश शासन का गुणगान किया और कहने लगे कि जो आज़ादी क़ाबिल होता है उसे हम फ़ौरन् आज़ाद कर देते हैं। हिन्दुस्तान की ग़ुलामी का सबब हिन्दू-मुस्लिम फूट है। ऐसे ढीठ भाटों से कौन पूछे कि आप ऐसे ही निस्स्वार्थ हैं तो हमें हमारी हालत पर क्यों नहीं छोड़ देते। आख़िर आपने फूट फैलाना छोड़कर एका कराने का पेशा कब से अख़्तियार किया है?

—अख़्तर हुसैन

त्रिराष्ट्र सम्मेलन

एँग्लो-अमरीकन राजनैतिक क्षेत्रों में सोवियत् रूस की युद्ध कालीन और युद्ध के पश्चात् की नीति के सम्बन्ध में अरसे से तरह तरह की भ्रमपूर्ण चरचायें होती आ रही थीं। बलकान राष्ट्रों को लेकर रूसी और एंग्लो-अमरीकन समाचार पत्रों में कुछ कटु टीका टिप्पणियां भी हुईं। सोवियत् रूस गत २८ महीनों से जर्मनी के सैनिक प्रकोप का अधिकांश भार वहन कर रहा है। अंग्रेज़ और अमरीकन जनता ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और उसे मित्र राष्ट्रों का लड़ाका अग्रणी बताया है। किन्तु बावजूद इसके आपस की ग़लतफ़हमी बढ़ती गई और उसकी गहराई का आभास हमें मास्को से प्रकाशित "वार एण्ड वर्किंग क्लास" नामक समाचार पत्र में देखने को मिला। पत्र के वाक्य हैं—

"इसी गरमी में चेकोस्लोवेकिया के निर्वासित राष्ट्रपति बेनेस की मास्को आने की आशा थी, किन्तु वे नहीं आये। गत वर्ष जून में जब मोलोतोव लन्दन गये थे, ब्रिटिश विदेशी मन्त्री श्री ईडेन ने उनसे कहा था कि सोवियत् यूनियन और ब्रिटेन को युद्ध के पश्चात् की समस्याओं पर यूरोप की उन सरकारों से सुलह नहीं करनी चाहिये, जिनकी सरकारें अपने देश से बाहर हैं। सोवियत् की सरकार जब कि उसूलन इससे सहमत थी उसने ब्रिटिश सरकार से निश्चित प्रस्ताव मांगे, किन्तु कोई निश्चित प्रस्ताव ब्रिटिश सरकार ने नहीं रखे। इसीलिये इस सम्बन्ध में कोई सुलहनामा लिखित या बयानी दोनों सरकारों के बीच में नहीं हो पाया।"

हाउस आफ़ कामन्स में मिस्टर ईडेन से जब इस सम्बन्ध में सवाल किये गये, तो उन्होंने भी मोलोतोव को इस उसूल का प्रस्तावक बताया और बेनेस के मास्को न जाने की ज़िम्मेवारी मोलोतोव पर डाली। पोलैण्ड को लेकर भी इंगलिस्तान, अमरीका और

सोवियत् में ख़ासा मतभेद है। इंगलैण्ड में बैठी हुई पोलैण्ड की सरकार सोवियत् से अपना राजनैतिक सम्बन्ध विच्छेद कर चुकी है। यूरोप के दूसरे मोर्चे को लेकर भी आपस का विवाद अख़बारी दुनिया तक पहुंच गया है। चर्चिल-रूजवेल्ट की अब तक जितनी मुलाक़ातें हुई हैं, उसमें किसी में भी सोवियत् को निमन्त्रण नहीं दिया गया। सोवियत् के फ़ौजी अख़बार 'रेड स्टार' ने इस पर साफ़ साफ़ लिखा भी था। भूमध्य सागर को लेकर जो कमीशन मुक़र्रर हुआ था, उसमें भी पहले सोवियत् को निमन्त्रण नहीं मिला; बाद में सोवियत् की मांग के परिणाम रूप उसमें सोवियत् को शामिल किया गया। यूरोपीय राष्ट्रों की समस्या की जटिलता अंग्रेज़ और अमरीकन बग़ैर सोवियत् की मदद के हल नहीं कर सकते। दरेंदानियाल, बुलगारिया, रूमानिया, चेकोस्लोवेकिया क्रीट, यूनान, पोलैण्ड सभी में किसी न किसी रूप में सोवियत् को गम्भीर दिलचस्पी है। सोवियत् यदि पेतां और बोदोग्लियो के बजाय सीधा जर्मन जनता से सुलह की बात करना चाहता है और उसके लिये 'जर्मन नैशनल कमेटी' का निर्माण कर सकता है तो इससे पैदा होने वाली पेचीदगी बात करके ही दूर की जा सकती है। यूरोपीय राष्ट्रों की सरकारें आज डाइनिंग स्ट्रीट के चारों ओर फिरने वाले छोटे ग्रहों की तरह रह गई हैं और इसमें रूस को संशय हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इन्हीं समस्त समस्याओं पर ग़ौर करने के लिये मास्को में अंग्रेज़, अमरीकन और रूसी वैदेशिक मन्त्रियों का सम्मेलन हो रहा है। सम्मेलन की कार्रवाई का विस्तृत ब्योरा तो सम्मेलन के बाद ही प्रकाशित होगा; किन्तु जो कुछ भी समाचार प्रकाशित हुये हैं, उनसे पता चलता है कि सोवियत् यूरोपीय युद्ध को इसी १९४३ में समाप्त कर देना चाहता है और इसके लिये वह इटली के अतिरिक्त यूरोप में मित्र-राष्ट्रों द्वारा दूसरा मोरचा खोलने की ज़बर्दस्त मांग करता है।

अंगरेज़ और अमरीकन समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ था कि इस सम्मेलन में सोवियत् की सीमाओं पर भी विचार होगा। इन पत्रों का इशारा बेसराबिया, पोलिश, यूक्रेन और फ़िनलैण्ड की लाडोगा झील और हैंगो द्वीप की तरफ़ था। इस पर "प्रवदा" ने, जो सोवियत् का मुख पत्र है, लिखा था कि सोवियत् की सीमायें निश्चित हैं और उस पर बहस करना वैसा ही है जैसा इंगलिस्तान और अमरीका की सीमाओं पर पुनर्विचार करना।

बहर हाल इस त्रिराष्ट्र सम्मेलन की सफलता पर यूरोप की युद्ध-पश्चात् शान्ति निर्भर करती है। हम इसके अन्तिम और निश्चित प्रस्तावों की उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे।

ग्रेट ब्रिटेन का बढ़ता हुआ असदाचार

२ जुलाई ४३ के 'मैनचेस्टर गाजियन' के अंक में श्री पीटर ग्रीन ने अनेक उद्धरण देकर इंगलैण्ड की वर्तमान सदाचारिता पर निम्नलिखित पत्र छपवाया है—

"एक महिला, जो विलायती नर्सों के बीच में बहुत ऊँचा ओहदा रखती थीं और लड़ाई से पहले जिन्होंने अवकाश ले लिया था और लड़ाई के बाद जो युद्धकालीन अवधि तक फिर कुछ अस्पतालों के चार्ज में हैं, लिखती हैं—

'जब तक सरकार इंगलिस्तान के विविध हिस्से में छै या आठ ऐसे अस्पताल नहीं खोलती, जहां अविवाहित लड़कियां जाकर अपने बच्चे जन सकें तब तक मेरी समझ में नहीं आता कि परिस्थिति का कैसे सामना किया जायगा। मौजूदा अस्पतालों और मातृ-सदनों से यह काम पूरा नहीं हो सकता।

"एक अंगरेज़ डाक्टर, जिन्हें लड़ाई के पहले भारत का काफ़ी अनुभव था और बाद में जो उत्तरी अफ़रीका में और अब इंगलिस्तान में हैं, लिखते हैं—

"इंगलिस्तान में इस समय जो परिस्थिति है उसकी गम्भीरता पर कोई अतिशयोक्ति करना असंभव है। लड़कियों का आचरण लड़कों की अपेक्षा भी कहीं अधिक दूषित है। इनमें से अधिकांश लड़कियां उस समय तक विवाहित होने की कोई आशा नहीं

रखतीं जब तक वे किसी मर्द को ललचाकर उससे गर्भवती न हो जांय।'

"एक प्रसिद्ध पादरी लिखता है—

'सभ्य सामाज तक की लड़कियों ने अपने को इतना सस्ता बना दिया है कि देखकर दिल दहल जाता है। कोई भी मर्द उन्हें सिनेमा का एक शो दिखाकर या एक बार खाना खिलाकर उन्हें दुराचार के लिये राज़ी कर सकता है।'

"लड़कियों की देखरेख करने वाली एक सरकारी महिला कर्मचारिणी लिखती हैं—

'मैं सोलह से अठारह वर्ष तक की कई सौ लड़कियों के सम्पर्क में रहती हूँ। उनमें से अधिकांश लड़कियां प्रति सप्ताह तीन पौंड तक (लगभग ४५ रुपया) सिगरेट और शराब में फूंक देती हैं। उनकी बात चीत का विषय भी दिन रात यही रहता है कि उनका किस किस लड़के से सम्बन्ध है और उन लड़कों का किस किस लड़की से सम्बन्ध है। इस तरह की बातें वे खुलेआम करती हैं और इसमें ज़रा भी शर्म अनुभव नहीं करतीं।"

"मिडलैण्ड का रहने वाला एक पादरी लिखता है—

'यहां दो तरह की बातें मुझे दिखाई दीं। पहली यह कि स्त्रियां अपनी या अपनी लड़कियों की नाजायज़ औलादों पर ज़रा भी शर्म अनुभव नहीं करतीं। जब मैं १८ वर्ष पूर्व यहां आया था, तब इस तरह की दुर्घटना के 'दुर्भाग्य' कहकर बयान किया जाता था; किन्तु आजकल यह इज़्ज़त और बधाई की बात समझी जाती है। दूसरी बात यह दिखाई दी कि आजकल कामाचरण कच्ची उम्र में ही लोग शुरू कर देते हैं। हमारे इस ज़िले में ऐसे अनेक केस मिले जब १२-१४ वर्ष के लड़कों ने नन्हीं लड़कियों के साथ बलात्कार किया। एक केस में तो लड़की की मां ने तीन लड़कों के पकड़ कर पुलिस के हवाले कर दिया। इस पर ज़िले भर की अंगरेज़ औरतों ने उस औरत को कोसना शुरू कर दिया कि क्यों उसने ग़रीब लड़कों के मुसीबत में डाल दिया।'

"मैनचेस्टर शहर की प्रोवेशन कमेटी की स. ९९४२ की रिपोर्ट में लिखा है—

'मैजिस्ट्रेटों को यह देखकर बहुत चिन्ता हुई कि अँगणित लड़कियां जो अभी तेरह से पन्द्रह वर्ष के हैं सिफ़लिस और गोनोरिया जैसी गन्दी बीमारियों की शिकार हैं। दुख यह है कि उन्हें निरोग करने की पूरी चेष्टा भी नहीं की जा रही है।' "

हमें इंगलिस्तान की इस भयंकर असदाचारिता के साथ दिली हमदर्दी है। हम मिस मेयो की तरह उसे प्रचार का विषय नहीं बनाना चाहते। वास्तव में समाज जिन उसूलों पर क़ायम होता है, उसी तरह के परिणाम उसे भुगतने पड़ते हैं। महात्मा गान्धी इसीलिये आज ब्रह्मचर्य के महत्व पर ज़ोर देते हैं। इंगलिस्तान की सभ्यता गर्भ निरोध और स्वेच्छा कामाचरण की क़ायल है। परिणाम इसके अतिरिक्त और क्या होगा, जो आज दिखाई दे रहा है। अंग्रेज़ समाज इस भयंकर परिस्थिति से तभी अपने के बचा सकता है, जब वह समाज के ढांचे में आमूल परिवर्तन करे। सम्राज्यवाद और शोषण की नीति का परित्याग करे, अन्यथा कोई ताक़त अंगरेज़ समाज के दुराचार के भीषण गर्त से बाहर नहीं निकाल सकती।

—य०

मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

विश्ववाणी



संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख़्तर हुसैन रायपुरी

दिसम्बर १९४३

इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण लेख, कविताएं, कहानियां और टिप्पणियां

...क मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद एक अङ्क का ।।=)

विषय-सूची

दिसम्बर १९४२

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ६ | दिसम्बर, १९४३ | अङ्क ६, पूरे अङ्क ३६

राजपूतों का उत्थान

डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद के युग से मुहम्मद बिन गोरी के सन् ११९२ ई० के आक्रमण तक, राजपूतों का उत्थान हिन्दुस्तान के सामाजिक इतिहास का एक मनोरंजक अध्याय है। पालों, गुर्जर-प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों की शक्ति के क्षीण होने के बाद हमें बहुत से ऐसे क़बीले मिलते हैं, जो अपने को क्षत्रिय कहते थे। ये सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में छोटे छोटे राज्य स्थापित कर रहे थे। ये क़बीले नस्ली झगड़ों और नस्ली सम्बन्धों के रिवाज को मानते थे। सम्मान, पद और उपाधियों को विशेष गुण माना जाता था, फिर—जन्म और जाति गत गर्व की भावना भी उनके अन्दर बहुत मज़बूत थी। एक स्वेच्छाचारी शासक क़बीले का राजा होता था। हर एक सिपाही लुटेरों की तरह का होता था और हर एक क़बीले के ख़ान्दानी भाँट घराने हुआ करते थे, जो उनकी वीरता के गीत गाया करते। थोड़े में प्राचीन क़बीलों का ज़माना वापस आ गया था। आगे चलकर राजपूत अपने साथ निखरा हुआ सामन्तवाद भी ले आये।[1] उनकी सामन्तवादी राजनीति और उनके लगातार क़बीलेवार झगड़ों ने उनका एक हो जाना और एक राष्ट्र बन जाना असम्भव कर दिया। इसलिये मुसलमानों के आक्रमण के साथ साथ एक एक करके राजपूत रियासतों का पतन हो गया। उनके पतन के साथ ही उत्तरी हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की स्वतन्त्रता भी चली गई।

प्राचीन भारतीय साहित्य में राजपूत नाम नहीं मिलता। हमने देखा है कि वैदिक काल में "राजन्य" शब्द का प्रयोग होता था। बाद में वर्ण बताने के लिये क्षत्रिय शब्द का प्रयोग होने लगा था। लेकिन इसी समय से हम राजपूतों का नाम सुनने लगते हैं। "राजपूत" संस्कृत के "राजपुत्र"—राजा का लड़का—शब्द का बोला जाने वाला रूप है। इसलिये इसका भी अर्थ वही है जो वैदिक शब्द "राजन्य" का है। लेकिन यह और "क्षत्रिय" के लिये बोला जाने वाला "छत्री" शब्द एक नहीं है। एक राजपूत क्षत्री अथवा "छत्रिय" तो है, लेकिन साथ ही वह कुछ और भी है। वह बिल्कुल स्पष्ट और दूसरों से अलग एक समाज का सदस्य भी है। वह चन्द-राजरासौ में वर्णित ३६ कुलों का है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस पुस्तक में जिन ३६ कुलों को गिनाया गया है

१—P. N. Banerjee—'Public Administration in Ancient India,' P 52.

वही सच्चे राजपूत हैं और उन्हीं में आपस में शादी-ब्याह हो सकता है। इन कुलों के बाहर भी बहुत से समुदाय हिन्दुस्तान के विभिन्न हिस्सों में हैं, जो अपने को उच्च क्षत्रिय कहते हैं और समाज में ये लोग वही काम भी करते हैं, यानी वे भी फ़ौजी पेशे के हैं, फिर भी वे राजपूत नहीं हैं। इसलिये हमें राजपूतों के बारे में छान बीन करनी चाहिये।

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद के काल में हमें बहुत से ऐसे लेख मिलते हैं, जिसमें अफ़सरों की सूची में "राजपुत्र" शब्द का प्रयोग है। लेकिन ऐसा लगता है कि यह किसी पद की उपाधि है, किसी जाति का सूचक नहीं है। नहीं तो यह शब्द बङ्गाल और दक्षिण भारत के शिलालेखों में न मिलता। इस शब्द का अर्थ राजा का लड़का भी है। देशी बोली में, उत्तरी बिहार में इस शब्द को ख़राब अर्थ में इस्तेमाल किया जाता है और "ब्रह्मवैवर्त पुराण" "तथा बल्लाल चरित" में राजपूत अथवा छत्री को ब्राह्मण और क्षत्रियों का वर्ण-संकर कहा गया है। लेकिन यह शब्द शुरु चाहे जैसे भी हुआ हो, रियासतों के शासक होने के नाते इनका आदर बहुत था। श्री वैद्य कहते हैं, "शुरू में तो वे ब्राह्मणों से भी ऊँचे माने जाते थे। इसके पहिले की सदी के अरब यात्रियों ने जिन राजपूतों के ऊँचे स्थान का वर्णन किया है उसकी चर्चा अलबरूनी—जो देखी हुई बातों से अधिक हिन्दू शास्त्रों की बात कहता है—नहीं करता। लेकिन वे हर तरह से ब्राह्मणों के बराबर माने जाते थे, जैसा कि अलबरूनी स्वयं मानता है उनका स्थान ब्राह्मणों से बहुत नीचे नहीं है।"[२] आज कल के जानकार यह जानते हैं कि राजपूताना में जहाँ अब भी राजपूत सामन्तवादी ढंग से राज करते हैं, राजपूत सबसे ऊँचा वर्ण है।

यह पहिले ही कहा जा चुका है राजपूत समाज में बाहरी लोग पैठ नहीं सकते। इन ३६ कुलों अथवा क़बीलों का एक ऐसा समाज था, जिसमें बाहर वालों के घुसने की गुंजायश नहीं थी, और ये लोग आपस में ही अन्तर्विवाह कर सकते थे। श्री वैद्य कहते हैं, "साधारण तौर से राजपूत या हिन्दुस्तान के शासक कुलों[३] ने (११०० ई० के क़रीब) जो शुद्ध क्षत्रिय थे, उन राज्य घरानों को मिला कर अपने को एक उपश्रेणी में बाँट लिया। पंजाब चूंकि उस समय मुसलमान शासन में था, इसलिये स्वाभाविक था कि वह इस श्रेणी में शामिल न किया जाता। दूसरे कारणों से हिमालय-वर्ती कुल···इसमें शामिल नहीं किये गये। दक्षिण भारत के शासक कुल भी इसमें शामिल नहीं किये गये, क्योंकि वे शुद्ध आर्य जात और क्षत्रिय घराने के नहीं माने जाते थे। महाराष्ट्र के क्षत्रिय घराने···शामिल कर लिये गये, क्योंकि उत्तरी भारत क्षत्रिय शासक कुलों के साथ लगातार उनका विवाह सम्बन्ध रहा है।" आगे चलकर श्री वैद्य कहते हैं कि बङ्गाल के सेन इस सूची के बाहर हैं क्योंकि जैसा कि उनका विचार है, उस समय तक सेनों का प्रभुत्व बंगाल में स्थापित नहीं हुआ था लेकिन वह समय आया जब कि इन लोगों ने अपना सम्बन्ध मरहठों से तोड़ लिया। नतीजे में इस काल के बाद, मरहठा क्षत्रिय जिसमें शिलाहारस भी शामिल थे—(रासो के ३६ राज्य कुलों में इनकी चर्चा है)—अलग से एक समुदाय अथवा उप जात बन गये और इनमें भी ९६ मरहठा कुलों की गिनती हुई। इन लोगों का शादी ब्याह अब इन्हीं ३६ कुलों में हो सकता था।"[४]

इसी प्रकार प्राचीन आन्ध्रों में भी क्षत्रिय हैं जो राजू और वेल्लाल कहे जाते हैं। उनका अपना एक समुदाय है। फिर हिन्दुस्तान के सुदूर दक्षिण में कुछ ख़ान्दान हैं, जो अपने को क्षात्रिय तो कहते

२—Vaidya—History of Mediaeval Hindu India, Vol. III PP. 383–384

३—Vaidya, Vol III PP. 383-384, 385.

४—Vaidya, Vol, III, PP. 383–384, 385.

हैं, लेकिन रहते सब से अलग हैं। अन्त में बङ्गाल में, ग्यारहवीं अथवा बारहवीं सदी के अन्त में हमें ऐसे सेन मिलते हैं, जो अपने को करनाट ब्रह्म-क्षत्रिय[५] कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मूल रूप से ये लोग कर्नाट (दक्षिण भारत) से सम्बन्ध रखते थे। ये लोग ब्राह्मण थे और इन्होंने क्षत्रियों का पेशा अख्तियार कर लिया था। इन्होंने चालुक्यों से अन्तर्विवाह भी किया था।[६] आनन्द भट्ट के 'बल्लाल-चरित' में, जो १५ वीं सदी में लिखा गया था, बङ्गाल के ब्रह्म-क्षत्रियों और राजपुत्रों की चर्चा मिलती है। 'शेख शुभोदय' एक नवीन आविष्कृत संस्कृत ग्रन्थ है, जिसका लेखक लक्ष्मण सेन का प्रसिद्ध मन्त्री हलायुध माना जाता है। लेकिन आलोचक इसे उस समय का मानते हैं जब कि टोडरमल ने बंगाल में भूमि की जाँच पड़ताल की थी। इस ग्रन्थ में "राजपुत्र" जाति का वर्णन मिलता है। फिर, 'प्रेम विलास' में, जो १७ वीं सदी में लिखे हुये बंगाल के वैष्णव साहित्य का एक अंश है, ऐसे ब्रह्म-क्षत्रियों की चर्चा मिलती है, जो पद्मा नदी के किनारे रहा करते थे। उन पालों की भी चर्चा नहीं मिलती, जो मगध (बिहार) में उस समय राज करते थे और जो बहुत अर्से से क्षत्रियों से अन्तर्विवाह करते आये हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजपूतों ने अपना एक ऐसा समुदाय बना लिया था, जिसमें बाहर वालों के आने की इजाज़त नहीं थी। वैद्य के अनुसार ऐसा इसलिये हुआ कि वे "आर्य जाति" के शुद्ध क्षत्रिय थे। तो अब हम इन क्षत्रियों के जातीय मूल की ओर बढ़ें।

राजपूतों की उत्पत्ति का मूल

श्री वैद्य की राय है कि "हम आसानी से यह मान सकते हैं कि राजपूत वैदिक क्षत्रियों के वंशज हैं।"[७] और उन्होंने वेदों के गोत्र और प्रवरों को क़ायम रखा है।"[८] इसी तरह से वे सोचते हैं कि मराठा जाति भी प्राचीन वैदिक वंशीय है। मरहठों के बारे में बताते हुये श्री वैद्य कहते हैं, "ये बरार और दक्षिण में बसने वाले आर्य चन्द्र कुल के हैं।[९]

प्राचीन कुल के पवित्र वंशज होने के दावे को सही मानने के लिये इन जातियों के स्त्री पुरुषों की शारीरिक बनावट की परीक्षा करनी होगी। राजपूतों के बारे में हमने जो आँकड़े इकट्ठा किये हैं उसका फल हम देख चुके हैं। जहाँ तक मरहठों का सवाल है, हडन्[१०] कहता है कि मराठी गतियों का साधारणतया कपाल-मान ७८-३ और नासिका मान ८१.० रहता है और सुकुम सले मराठों का औसतन् ८२ २ कपाल-मान और ७४० नासिका मान रहता है। अर्थात् पहिले वाले मध्य कपालिक—मध्य नासिक होते हैं। (mesocephal-mesorhinian) और दूसरे गोल-कपालिक मध्य नासिक (brachy-cephal-mesorrhiniar) होते हैं।

इस प्रकार हम एक ही जाति के भीतर अन्तर पाते हैं। इससे यह साफ़ हो जाता है कि वे एक वंश के नहीं हैं। आजकल के मानव तत्ववेत्ता बताते हैं कि बम्बई अहाते में रहने वालों में गोल-कपालिक "युरेशीयाटिक" या "आरमेनाइग" रक्त-प्रभाव वाले लोग मिलते हैं।[११] फिर अभी हाल में हिन्दुस्तान में मानव-तात्विक जो रिपोर्ट निकली है, उसमें विभिन्न प्रान्तों की जातियों के अन्तर सम्बन्धों की चर्चा है।

५—N. G. Mazumdar-"Inscription of Bengal," Vol III vide "Madhai nagar grant of Samanta Sena," P. 44.

६—लक्ष्मण सेन की मां चालुक्य राजकुमारी थी (Tarpandighi plate), Vide Mazumdar, P. 144.

७—Vaidya Vol IV, PP. 49-50.

८—Ibid.

९—Vol. I, P. 80.

१०-११—Haddon, The Races of Man, PP. 107-111.

उसमें कहा गया है कि पश्चिमी हिन्दुस्तान और उत्तरी हिन्दुस्तान के लोगों के संयोग के बहुत कम प्रमाण मिलते हैं।[१२] आगे चल कर उसी रिपोर्ट में कहा गया है कि, मरहठों और बंगाल के पोदों (एक अछूत जाति) में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है।[१३]

इस तरह हम यह नहीं कह सकते कि शरीर की बनावट के दृष्टिकोण से राजपूत और मरहठे एक हैं। उनके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों एक ही नस्ल के (Biotypes) हैं और जैसा कि हम कहीं कह चुके हैं इण्डो-आर्यन् नस्ल की बात कहना ग़लत है। इसलिये प्राचीन क्षत्रिय, आज के राजपूत और मरहठे एक ही जाति के नहीं कहे जा सकते। गोत्रों और प्रवरों के एक हो जाने से जाति भी एक नहीं हो जाती, क्योंकि दूसरी जातियों के गोत्र भी एक होते हैं।[१४] गोत्र बदले जा सकते हैं और नये गोत्र अपनाये भी जा सकते हैं।[१५] आज दिन भी हिन्दुस्तान में ऐसा होता है।

दक्षिण के मरहठे हमेशा शूद्र माने गये हैं, हालाँकि कुछ अमीर कुलों ने अपने को राजपूतों का वंशज कहने का गर्व दिखाया है। चूंकि वे राजपूतों के वंशज हैं, इसलिये वे प्राचीन क्षत्रियों में गिने जा सकते हैं अथवा उनके वंशज माने जा सकते हैं। वैद्य भी चाहते हैं कि हम उनकी इस बात पर विश्वास कर लें।[१६] यह सवाल मरहठा साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी की राजगद्दी के समय सामने आया था। जैसा कि श्री यदुनाथ सरकार कहते हैं, "शिवाजी और उनके ससुर गायकवाड़ मरहठे थे अथवा नीची जाति के लोग थे···शिवाजी को उन ब्राह्मणों के द्वारा अपनी यह बेइज़्ज़ती बहुत अख़रती थी, जिनकी रक्षा और समृद्धि के लिये उन्होंने अपनी सारी ज़िन्दगी लगा दी थी। चूंकि ब्राह्मणों ने शिवाजी को शूद्र ही मानने की ज़िद की, इसलिये मज़बूर होकर उन्हें कायस्थों के नेता और ब्राह्मणों के घमण्ड के शिकार बाला जी आवा जी के हाथों में चला जाना पड़ा। बाला जी स्वभावतः अपने मालिक के साथ सहानुभूति रखते थे और उन्होंने शिवाजी को सामाजिक दृष्टि से ऊँचा उठाने के लिये गागा भट्ट को रखा, जिसने शिवाजी को शुद्ध क्षत्रिय बना दिया[१७]।" लेकिन अब भी मरहठा जाति का क्या सामाजिक स्थान हिन्दू वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर है यह प्रश्न विवादास्पद है। अब भी मरहठों को ब्राह्मणों ने जाति की हैसियत से क्षत्रिय नहीं माना है। क्षत्रियत्व के दावे का प्रश्न तब उठा जब कि शिवाजी के नीचे मरहठे एक स्वतन्त्र राष्ट्र की तरह उन्नति कर चुके। कुनबी[१८] खेतिहर जो कि शूद्र माना जाता है, जब लड़ाकू मरहठा बन गया और उसने शिवाजी

१२—Census of India. 1931, Vol 1, India, Pr. III Ethnographical by B. S. Guha

१३—Ibid

१४—बंगाल की तमाम हिन्दू जातियों के ब्राह्मण गोत्र और उसके साथ के प्रवर होते हैं। लेकिन इससे वे ब्राह्मण नहीं हो जाते।

१५—सनसेप की वैदिक कहानी को देखिये। जिसे विश्वामित्र ने गोद लिया था तब उसने विश्वामित्र के गोत्र को भी ग्रहण कर लिया। इसी प्रकार हर रोज हिन्दुस्तान में लोग अपने गोत्र बदल रहे हैं। फिर, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों द्वारा भी अपने गोत्र बदलते हैं जैसा कि दक्षिण भारत के लिगंयातों ने किया है।

१६—ऐसा हो सकता है कि कुछ पुराने मरहठा राज वंश राजपूतों से आये हों, लेकिन इससे वे अथवा सारी जाति क्षत्रिय नहीं हो जायगी।

१७—J. N. Sarkar, "Shivaji and his times," PP. 84-85. शिवाजी की वंशावली के विवाद के सम्बन्ध में पाठकों को मि० सरकार, वैद्य एस० यन० सेन, वी० के० राजवाड़े और सर देसाई के लेखों को पढ़ना चाहिये।

१८—ऐसा लगता है कि यू० पी० के कुनबी खेतिहरों, दक्षिण के कुनबियों और लड़ाकू मरहठा कुनबियों में जाति गत सम्बन्ध है। देखिये Risley—'People of India.'

के नेतृत्व में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, तब उसने प्राचीन क्षत्रिय जाति का सदस्य होने का दावा किया। लेकिन दक्षिण के ब्राह्मण शिवाजी के उत्थान के पहिले उसी प्रदेश में बहुत शक्तिशाली थे और शिवाजी के मरने के बाद इन्होंने ही सारे राजनीतिक अधिकारों को हड़प लिया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक संघर्ष के बाद ही मरहठे ऊँची श्रेणी पा सके थे। लेकिन शिवाजी के बाद के ज़माने में उन्हें शासक और लड़ाकू ब्राह्मणों से सामाजिक संघर्ष करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप उनकी सामाजिक स्थिति कमज़ोर पड़ गई। उधर जहाँ तक राजपूतों का मामला है, उनकी सामाजिक स्थिति उनकी राजनीतिक शक्ति के कारण बनी रही। इसलिए ब्राह्मणों ने उसे स्वीकार भी किया।

अब हम राजपूतों के उद्भव के प्रश्न को लेंगे। शरीर विज्ञान की दृष्टि से (Somatologically) हमने यह देख लिया है कि ये एक ही कुल के नहीं हैं। यह स्पष्ट है कि विभिन्न जातियों ने मिल कर राजपूत जाति का निर्माण किया; इनमें सब से अधिक संख्या उन लोगों की है, जो आजकल दूसरी जातियों में पाये जाते हैं। इसी कारण वे दूसरे हिन्दुस्तानियों से अलग नहीं किये जा सकते।[१९] इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वे अलग से एक विशेष समुदाय हैं। अगर ऐसा है तो हमें उनके बारे में और अधिक विस्तार से छानबीन करनी चाहिये।

जब कि उत्तरी भारत ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में चला गया और राजपूताना ने भी उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली तब कर्नल टाड राजदूत की हैसियत से राजपूत रियासतों में भेजे गये। उन्होंने अपने राजपूताना के इस प्रवास में विभिन्न राजपूत क़बीलों की कहानियों और परम्पराओं का अध्ययन किया और इसके फलस्वरूप संसार को विस्मयकारी समाचार दिया कि राजपूत प्राचीन आक्रमणकारी सिथियनों और हूणों के वंशज हैं। इसके साथ ही उन्होंने दुनियां को यह भी बताया कि आबू पहाड़ पर ब्राह्मणवाद के उन्नायकों का निर्माण करने के लिये ब्राह्मणों ने एक यज्ञ भी किया था। यही "अग्निकुल" के राजपूतों के जन्म की प्रसिद्ध कहानी है। तभी यह कहानी बार बार हर जगह दोहराई जाती है और राजपूतों के विदेशी उद्भव के पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क भी पेश किये जाने लगे हैं।[२०]

श्री वैद्य कहते हैं "यज्ञ की यह कथा, चन्दबरदाई द्वारा लिखित पृथ्वी राजरासो में केवल कवि-कल्पना की उड़ान मात्र है;" लेकिन इस कथा का वर्णन हमें नेमिरथ मन्दिर के जैन अभिलेखों में मिलता है।[२१] इस परम्परागत कथा के तथ्य पर और बाहरी गवाहियाँ भी मिल सकती हैं।

अग्निकुल राजपूतों में एक परिहार जाति भी है और श्री भण्डाकार ने साबित किया है[२२] कि परिहार और प्रतिहार एक ही हैं, और हमने प्रतिहारों को गुर्जरों की एक शाखा माना है। इसलिये सवाल उठता है कि कब से गुर्जर क़बीला वैदिक क्षत्रिय बन गया? यही इतिहासकार आगे कहते हैं[२३] कि सोलंकी (चालुक्य), चौहान (चहुमान) और परमार जो अग्निकुल वालों की सूची पूरी करते हैं, मूल रूप से गुर्जरों की ही शाखा हैं। इसमें होयरुल

१९—डा० गुहा "हिन्दुस्तान के लोगों की जातिगत समता" के बारे में १९३१ की मर्दुमशुमारी बताते हुये कहते हैं कि बंगाल के पोदों का बंगाल के बाहर की दूसरी जातियों में मरहठों और राजपूतों से ज़्यादा गहरा सम्बन्ध है। पृष्ठ ७

२०—देखिये विन्सेन्ट स्मिथ, भण्डारकार, वैद्य आदि। मानव-तत्व शास्त्री इस मामले में ऐतिहासिकों से भिन्न विचार रखते हैं।

२१—Vide Epi. Ind. Vol. VIII P.201

२२—Bhandarkar, J. R. A. S., 1905 PP. 1-4, 31-32.

२३—Ibid.

(Hocrule) तोमर और कछवाहों[२४] को भी जोड़ना चाहते हैं।

पुरा-लेख सम्बन्धी (epigraphy) A के खोजों से यह पता चलता है कि मेवाड़ के गहलौत आनन्दी पुर के नागर ब्राह्मण गुहदत्त के वंशज थे। अतपुरे (Atpure) के अभिलेख में उसे 'महिदेव' और 'विप्रकुल नन्दन' कहा गया है। उनका वैजयोप (Vaijayope) गोत्र है। यह गोत्र नागर ब्राह्मणों में मिलता है। चात्स् (chatsu) अभिलेख में गुहिला बालादित्य को ब्रह्म क्षत्रवित कहा गया है। B जो इस धरा धाम पर उस समय अवतरित हुआ जब सूर्य कुल लुप्त हो गया। C कहा जाता है कि परमार वशिष्ठ मुनि के क्रोध से पैदा हुये। D चाहमान या चौहान राजा सामन्त 'बिज्जो-लिया' के अभिलेख में वत्स गोत्र के विप्र अथवा ब्राह्मण कहे गये हैं। E आबू पहाड़ के लुंतिग देव के अभिलेख में यह कहा गया है कि सूर्य कुल और चन्द्र कुल नष्ट हो जाने पर वत्स ऋषि ने एक फ़ौजी जाति का निर्माण किया—यह था चाहमान कुल! F इन लेखों से यह साफ़ मालूम होता है कि प्राचीन क्षत्रिय वर्ण के अन्दर मध्य युग में नई भर्ती हुई है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुराने ज़माने में एक 'संगठन' और शुद्धि आन्दोलन ज़रूर हुआ, जिससे क्षत्रिय राजाओं की एक नई धारा निकली, जिन्हें राजपूत कहते हैं। फिर इब्बेट्सन, पुलकयन स्टेट्स गज़ेटियर (Pulkian States Gazetteer) से एक उद्धरण देते हैं, जिसमें कहा गया है कि "चन्द्रवंश की विभिन्न शाखायें—बद गूजर (बड़ गूजर), कछवाहे, शेखावट, खाँप[२५] एक ही जगह से निकले हैं। फिर उन्हीं महाशय ने मि० विल्सन को उधृत किया है, जो कहते हैं कि राजपूतों की गूजर, बड़ गूजर जाति अक्सर साथ ही पाई जाती है, इससे यह मालूम पड़ता है बड़ गूजरों का सम्बन्ध गूजरों से वही है, जो ख़ानज़ादों का मेयो से है, और जो अधिकतर राजपूतों का जाटों से है।"[२६] यानी शासक श्रेणी में पहुँच जाने के कारण ये आम जनता से अलग हो गये और उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं मानते। और भी, पंजाब में नाभा में, विभिन्न गूजर जातियाँ अपने को अस्पष्ट तौर से राजपूत कुल का कहती हैं।[२७]

इस प्रकार विभिन्न गवेषक इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि गुर्जरों (आजकल के गूजर) और विभिन्न राजपूत जातियों में नसली सम्बन्ध है। इसलिये ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ के ज़रिये शुद्धि और शुद्ध वर्गों का परम्परागत क्षत्रिय वर्ण में शामिल होना मनगढ़न्त कहानी नहीं है, ख़ासतौर से जब हम यह देखते हैं कि हिन्दू समाज आज के हिन्दुस्तान में विभिन्न स्थानों पर वही काम कर रहा है।* हिन्दू धर्म हमेशा कहता है कि वर्ण गुणों के अनुसार बनते हैं (गीता) वर्ण की बुनियाद कर्म है, इसलिये हिन्दू समाज में ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जिससे कि परम्परागत वर्णों में एक नया दल समाज के लिये किये हुये कर्म के आधार पर तैयार किया जाय।

२४—Bhandarkar I. R. A. S. 1905 PP. 1-4, 31-32.

A—N. C. Vasu, History of kawsupa

B—Ep. Ind. Vol. XII PP. 10 FF.

C—Indian antiquary Vol. XVIV P. 11.

D—EP. Ind. Vol IX, No 2 P. 1I-

E—I. R. A. S. B. Vol. Lv Pti I, P. 43.

F—Ep. Ind Vol IX No 44 D.P F.

२५—"पञ्जाब और सीमाप्रांत की जातियों और क़बीलों का कोष।" परलोक वासी सर डी० इबेटसन के पञ्जाब की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट आधार पर।

२६—Ibid., Pp 310, 312.

२७—Ibid.

*—यहां हमें बौद्धदार्शनिक आर्य देव की बात याद आ जाती है कि ब्राह्मण तो किसी को भी क्षत्रिय में बदल देते हैं।

अब हम राजपूतों में विदेशियों के सवाल पर आते हैं। हमने कहा है कि मानवतत्व वेत्ता यह नहीं मानते कि राजपूतों का उद्भव सिथियनों से हुआ। लेकिन हम यह देखते हैं कि पश्चिमी क्षत्रियों का पूरा ब्राह्मणीकरण हुआ था और इस वंश के संस्थापक चस्तन के वंशज जो कि या तो पार्थियन या शक हिन्दू नाम के थे।[२८] इस कुल के अन्तिम व्यक्ति रुद्र सिंह तृतीय थे। खण्डहरों के खोजों से पता चलता है कि शकों और बहुत से यवनों ने ब्राह्मण्यवाद स्वीकार कर लिया था।[२९] यह साफ़ है कि शक क्षत्रपों ने ब्राह्मण्यवाद स्वीकार कर लिया क्योंकि ब्राह्मण राजा पुलमई ने चस्तन के पोते क्षत्रप रुद्र दामाँ की लड़की से शादी की।[३०] इतिहास बताता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३८८ ई० में इस शाही ख़ान्दान को ख़त्म किया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि दो सौ बरसों से जितने भी शक इस साम्राज्य में रहते थे सभी ख़त्म कर दिये गये। इतिहास भी इसकी गवाही नहीं देता। रुद्र सिंह तृतीय तो ज़रूर ख़त्म कर दिये गये, लेकिन बहुत से पुराने बसने वालों के सिंह नामधारी ब्राह्मण वंशज रह गये थे। उसी शक साम्राज्य की सीमा के ठीक भीतर वह यज्ञ हुआ था। फिर बाद में हम देखते हैं कि गुर्जर प्रतिहारों ने भी अपनी राजधानी उसी क्षेत्र में बनाई। तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी कि ब्राह्मणों ने, जैनों और बौद्धों के विरुद्ध, अपने लिये लड़ने वालों को, कट्टर हिन्दू व्यवस्था के द्वितीय वर्ण में पहुँचाने के लिये एक आधार के रूप में धार्मिक अनुमति दे दी! इसलिये यह कोई असम्भव बात नहीं है कि बहुत से शक और गुर्जर क़बीले की शासक श्रेणी के लोग क्षत्रिय बन गये और उन्हें "राजपूत" की नई उपाधि मिली। यह नया नाम उन्हें पुराने क्षत्रियों से बिलकुल अलग कर देता है।[३१] तमाशा है यह है कि ये तमाम नये क्षत्रिय अपने नाम के आगे सिंह (बोलने में सिंघ) शब्द को जोड़ते हैं। इसलिये क्षत्रप रुद्र सिंह और उनके सजातीय लोगों के राजपूत सिंहों के पूर्वज होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

अब हम कुछ राजपूतों के "हूण" ससर्ग के सवाल पर विचार करेंगे। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है टाडने ही पहिले यह बताया कि राजपूतों में "हूण" नाम का एक क़बीला है। लेकिन श्री वैद्य इस बात को यह कह कर काट देते हैं कि राजपूत क़बीलों की सूची में "हूण" नहीं "हूल" है।[३२] आगे वे कहते हैं, मुसलमानों के विरुद्ध हूणों और हूलों का नाम आता है (देखो Tod's Rajasthan by Crooke, Vol, I, P. 290.) हूल हूण से अलग क्षत्रियों में एक क़बीला था।[३३] आगे फिर वे कहते हैं, "कुमार पाल चरित में (इसकी रचना चन्द्रगहर वाला ने १०८०-११३० ई० में की थी) क्षत्रियों के

२८—H. C Ray Chaudhari Political History of ancient India PP. 339, 388-389.

२९—देखिये—हेलेनिस्टिक राज्य के हेलेनिस्टिक राजदूत-जिसने कि अपना नाम "परम भागवत हेलियोदोरा" रखा था—द्वारा निर्मित गौरोरा स्तम्भ—Vineent Smith, Early History of India; also vide Ep. Indica, Vol. VIII 'The Inscriptions in the Caves of Nasik' No 10, 15, 18.

३०—H. C. Ray Chadhari, ap, cit, PP. 339 388-389.

३१—उत्तर बंगाल के कोंच क़बीले ने हिन्दू होने के बाद राजवंशी-शासक कुलों से सम्बन्धित नाम धारण कर लिया। आजकल वे अपने को क्षत्रिय कहते हैं। राजन्य शब्द प्राचीन और राजपूत वर्तमान इतिहास के शब्द हैं। इसलिये उन्हें नये शब्द की जरूरत थी। सच तो यह है कि इस नये नाम का वही अर्थ है जो कि दूसरे शब्दों का है।

३२—Vaidya, Vol. IV, 23-26.

३३—Ibid.

कुछ राजकुलों की सूची में हूण भी है।[३४] रासो की सूची में इसे हूल कहा गया है।"[३५] आगे चलकर वे कहते हैं, "लेखों से क्षत्रिय राजाओं का हूण राजकुमारियों से ब्याह होने का पता चलता है।[३६] ग्यारहवीं सदी में कलचुरियों के शासक कर्ण देव ने हूण राजकुमारी अवल्ला देवी से शादी की (विक्रम देव चरित)।

इस तरह सन् ५३० ई० में पश्चिमी भारत से यशोधर्मन द्वारा मिहिर कुल के हरा दिये जाने और निकाल दिये जाने के बाद भी हूणों की मौजूदगी का पता चलता है। ९-१० सदियों में हम बंगाल के पाल राजाओं के किराये के सिपाहियों के रूप में हूणों का नाम पाते हैं।[३७]

ऐसा लगता है कि वे हिन्दुस्तान भर में घूमते रहते थे और विभिन्न राजाओं के यहाँ फौजों में काम किया करते थे। इन रचनाओं में यह बात तो मान ही ली गई है कि जो हूण हिन्दुस्तान में बसे, वे पूरी तरह से हिन्दुस्तानी हो गये। क्षत्रिय राजाओं से उन लोगों के विवाहों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके भी शासक क्षत्रिय राजाओं के समकक्ष हुआ करते थे। इसलिये अगर वे ब्राह्मणों द्वारा संपादित धार्मिक शुद्धि-क्रिया के बाद क्षत्रिय वर्ण की हैसियत से हिन्दुओं में शामिल कर लिये गये, तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये!

इन तमाम बातों का विचार कर लेने के बाद, यह कहा जा सकता है कि ऐसा हो सकता है कि शक, हूण और दूसरे विदेशी जो कि हिन्दुस्तान में बस गये, वे हिन्दू व्यवस्था के भीतर शामिल कर लिये गये और जिस जिस वर्ण में गये उसी में विभिन्न टुकड़ियों की हैसियत से समा गये।[३८] ब्राह्मण धर्माचार्यों ने सिद्धान्त की दृष्टि से उन्हें शूद्र की श्रेणी में रखा था,[३९] लेकिन हम तो उन्हें ब्राह्मण और क्षत्रिय राजाओं के यहां शादी करते हुये पाते हैं! इस प्रकार कट्टरपन्थी ब्राह्मणों द्वारा बनाये हुये काग़ज़ी धार्मिक नियमों और जीवन के व्यवहार में हम अन्तर पाते हैं।

इन बातों को देखकर यह सम्भव मालूम पड़ता है कि ब्राह्मणों ने ब्राह्मण्यवाद के नाम पर तमाम लड़ाकू जातियों को एक नये क्षत्रिय वर्ण में शामिल करने के लिये शुद्धि आन्दोलन चलाया, क्योंकि उन्हें अपने काम के लिये समर्थकों की ज़रूरत थी।

३४—मल्लिनाथ, कालिदास के रघुवंशम् की टीका के चौदहवें अध्याय में इन्हें क्षत्रिय बताते हैं।

३५—Vaidya, Vol. III, P. 37.

३६—Ibid, Vol. II, P. 26.

३७—Vide Pala inscriptions published in Epigraphica Indica.

३८—विष्णु पुराण में [४। ३। १८—२१] उन विदेशियों की चर्चा है जो अयोध्य में बस गये और क्षत्रिय बन गये और जिन्होंने ब्राह्मणोंसे ब्राह्मण्यवादी पूजा विधियां संपादित करवाई। (Bd iii, 48, 29-47, J. R.A. S. 1919. Pp. 358--6) बाद में सगर ने, तालजंघ हैहयों को हराया और अयोध्या को फिर से जीता (Bd. iii, 48, 49, 10) उन्होंने विदेशी क़बीलों को ख़त्म करने का पक्का इरादा कर लिया। लेकिन इनकी प्रार्थना पर वशिष्ठ मध्यस्थ बने और सगर ने उनकी जान बख़्श दी। लेकिन सगर ने धार्मिक और राजनीतिक दृष्टि से उन्हें नीचे गिराया।" (Pargiter, Pp 269-270)

श्री जायसवाल ने भी बनारस के सिथियन क्षत्रप बनसफर के उन वंशजों की चर्चा की है, जो बुन्देलखण्ड में रहते थे। वे कहते हैं, "उनको नीच कुल का समझा जाता था। वे राजपूत घरानों में मुश्किल से शादी कर पाते थे और आज भी वे नीची श्रेणी के समझे जाते हैं। उन्हीं के नाम से बुन्देलखण्ड में बनाफरी बोली बोली जाती है। "History of India" in J. B. O. R. S. Vol. XIX मध्य भारत में एक राजपूत जाति बनफ़ोर है, जो लेखक के खोजों के अनुसार राजपूतों से अन्तर्विवाह मुश्किल से कर पाते थे। महोबा के मध्यकालीन राजपूत वीर—आल्हा और ऊदल बनाफर राजपूत थे। लेकिन उनका नीचा स्थान किन्हीं और कारणों से है।

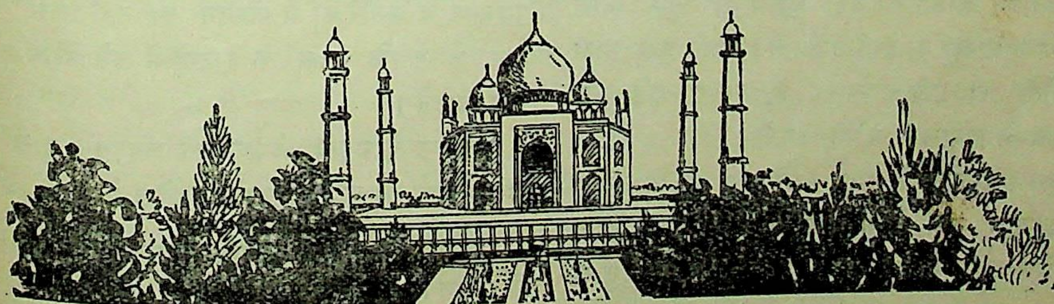
३९—Vide Manu X—43-44, Patangali 2. 4. 10.

इसलिये, जब तक ब्राह्मण्यवादी धर्म का प्रभुत्व रहा, जितने भी विदेशी अथवा तथाकथित आदिम निवासी थे सभी क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लिये गये और उनके लिये नई नई वंशावलियाँ बना ली गईं। इस तरह उन नये क्षत्रियों ने अपनी जाति को पश्चिमी और मध्य भारत की सरहदों तक सीमित रखा। श्री वैद्य ने स्वयं इस बात को माना है कि पंजाब राजपूत कबीलों की सूची से अलग था, क्योंकि इस पर मुसलमानों का कब्ज़ा हो चुका था, या ऐसा भी हो सकता है कि उस समय बौद्ध राजे उस सूबे में राज कर रहे थे। निश्चय ही वहाँ कोई न कोई ऐसी अड़चन ज़रूर रही होगी, जिससे पंजाब के नये क्षत्रिय इस संगठन आन्दोलन में शामिल न हो सके। पूरब में मगध और बंगाल में बौद्ध पालों का प्रभुत्व उस समय था,[४०] इसलिये यह आन्दोलन उन प्रदेशों में न घुस सका। दक्षिण में राजू और बल्लाल पहिले से ही उस पद तक पहुंच चुके थे। इस प्रकार इस क्षेत्र में रहने वाली लड़ाकू लोगों की शासक श्रेणी क्षत्रिय बन गई और उन्हें "राजपूत" का नया नाम मिला। इस कारण से गुर्जर, जाट और अहीर जनता जो कि शासक श्रेणी में नहीं थी क्षत्रिय वर्ण में शामिल न हो सकी, हालांकि मानव-तत्व विशारद इनमें और राजपूतों में बहुत सामीप्य पाते हैं।

जब राजपूत नाम प्रतिष्ठित हो गया; और राजपूतों की बहादुरी के कारण उस नाम में गौरव और सम्मान की अभिव्यक्ति होने लगी, तो दूसरे लोगों ने भी जो धीरे-धीरे क्षत्रिय वर्ण में शामिल होना चाहते थे, अपने नाम के आगे जाति सूचक शब्द की हैसियत से राजपूत जोड़ दिया। इस प्रकार छोटा नागपूर में हम नाग-वंशी और गो-वंशी राजपूतों को पाते हैं। ये लोग अपने को साँप (नाग) और गाय (गो)[४१] के वंश का कहते हैं। यह स्पष्ट है कि ये दोनों जानवर उस स्थान के कुछ आदिम जातियों के कुल देवता थे। लेकिन वे लोग जो वहाँ के ज़मीदार थे अपने को परम्परागत क्षत्रिय श्रेणी का कहते थे और उन्होंने नया "जाति" सूचक शब्द भी अपना लिया। ठीक इसी तरह बङ्गाल की पूर्वी पहाड़ियों में टिपरा और मनीपूर के राजवंश हैं, जो अपने को क्षत्रिय कहते हैं और आजकल राजपूतों से ही अपना नाता गोता रखते हैं। इसी कारण आज के हिन्दुस्तान में राजपूत और क्षत्रिय (बोलने में छत्री) एक ही अर्थ में इस्तेमाल होते हैं।

४०—पञ्जाब के मैदानों के राजपूतों का जाति नाम जो ज़्यादातर मुसलमान हो गये हैं, वही हैं जोकि राजपूताना और गंगा के द्वाबे के राजपूतों का है। जिसका अर्थ यह हुआ कि इन स्थानों से लोग पञ्जाब में चले आये थे। इस सूबे की पूरबी पहाड़ियों के राजपूत राजपूताना के राजपूतों से नीची श्रेणी के समझे जाते हैं। यानी वे दूसरी जाति के हैं। उनकी जाति का ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं चला है, क्योंकि अभी तक उनका खोज नहीं हो पाया है। इब्वेटसन कहता है कि इस स्थान का राजपूत शब्द पेशे का सूचक है (P. 362.)

४१—Risley—Tribes and castes of Bengal—Ethnographic glossary, Vol. I, PP. 184—185.



बुद्ध के अनात्मवाद का रहस्य

शान्ति भिक्षु

बुद्ध से पहले भारत में अनेकों दार्शनिक विचार विकसित हो चुके थे और बाद में भी अनेकों दार्शनिक विचारों का उदय और उत्थान हुआ। आज उन सब दार्शनिक विचारों की अनेकों बातें भूली जा चुकी हैं और जो बची हैं, उनके भी समझने में कम भूलें नहीं की गई हैं और न की जा रही हैं। बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद के बारे में तो यह बात विशेष रूप से कही जा सकती है। आज ही नहीं पिछले युग में भी उसे लोग ग़लत ढंग से ही समझते रहे हैं। इसलिये अनात्मवाद की चर्चा करने से पहले उससे सम्बन्ध रखने वाली कुछ मोटी मोटी बातों का ज़िक्र कर लेना बहुत ज़रूरी है।

बुद्ध से पहले उपनिषदों के तत्वचिन्तन में कर्म-फल, प्रेत्यभाव (आवागमन), परलोक और मुक्ति के सिद्धान्त पक्के हो चुके थे और मनुष्य के इस लोक के जीवन की सफलताओं और असफलताओं तथा सामाजिक ऊँच-नीच भाव को पूर्वजन्म के कर्मों का फल समझा जाने लगा था। जन-समाज अपने दुःखों और असफलताओं के भीतर घुट रहा था; पर निरुपाय था, क्योंकि दार्शनिकों ने समझा रक्खा था कि तुम्हारे इस दुःख द्वन्द्व का कारण अदृष्ट के भीतर है, इस दृष्ट लोक के भीतर नहीं। जो कुछ सुख दुःख है वह तो भोगना ही पड़ेगा, क्योंकि वह पहले की कमाई का फल है। बुद्ध से पहले भारत के सामाजिक जीवन का यही दर्शन था और आज भी जन-साधारण का वही दर्शन है। यद्यपि कुछ चोटी के लोगों की दृष्टि बदल रह है, पर वह दृष्टि जन-साधारण के ख़याल से कोसों दूर है।

इस दृष्टि-जाल के भीतर रहते हुए बुद्ध ने जनता का कल्याण नहीं देखा। जन-साधारण अपने दुःख का कारण अदृष्ट में ढूंढ़ता था और बुद्ध उस दुःख के कारण को दृष्ट (इसी दुनिया) के भीतर देख रहे थे, पर जनता के मानसिक धरातल पर अदृष्ट का इतना व्यापक प्रभाव था कि उसे सर्वथा दूर कर दुःखमात्र के दृष्ट कारण को समझा देना उस पुराने समय में बहुत कठिन बात थी। इसलिये बुद्ध ने अदृष्ट से सर्वथा इनकार तो नहीं किया, पर दुःख के कारणों की व्याख्या करते हुए अदृष्ट का स्थान बहुत गौण कर दिया। बुद्ध ने जिन कारणों से मनुष्य को सुखी दुःखी और उदासीन देखा वे ये हैं: "बात, पित्त, कफ़, सन्निपात, ऋतु-परिवर्तन, अपथ्य, उपक्रम और कर्मविपाक।"[1] इन कारणों के भीतर छिपे बुद्ध के अभिप्राय को बतलाते हुए भदन्त नागसेन का कथन है: "अप्पं कम्मविपाकजं बहुतरं अवसेसं"[2] अर्थात् कर्मविपाक के कारण तो मनुष्यों को अल्प ही दुःख भोगना पड़ता है। दुःख का अधिकांश तो दूसरे कारणों से ही होता है। संसार के दुःख का बहुत सा भाग जिन दृष्ट या भौतिक कारणों से होता है, उनमें एक 'उपक्रम' भी है। उपक्रम का अर्थ है: व्यापार या क्रिया। एक प्राणी के व्यापार से दूसरे प्राणी को जो क्लेश पहुँचता है, उसको यहां उपक्रम शब्द से प्रकट किया गया है। यहां ध्यान से देखते ही यह साफ़ मालूम हो जाता है कि बुद्ध संसार के दुःख के बड़े भाग का कारण ऋतु परिवर्तन आदि भौतिक व्यापारों तथा उपक्रम अर्थात् मानव और दूसरे प्राणियों के व्यापारों को ही समझते हैं। अदृष्ट या पूर्वजन्म के कर्मों का वे खण्डन तो नहीं करते, पर दृष्ट जगत् के दुःख के कारणों में उसे महत्व नहीं देना चाहते।

अदृष्ट के महत्व को घटाकर जब सुख दुःख के दृष्ट कारणों को बुद्ध ने अपने उपदेश में मुख्य स्थान

१—संयुक्तनिकाय के वचन, मिलिन्द प्रश्न ४।१।६४ में उद्धृत।

२—मिलिन्द प्रश्न ४।१।६२।

दिया, तो पूर्ववर्ती सभी रूढ़ियों पर उसका प्रभाव पड़ा और अदृष्ट के साथ जिनका जिनका नाता था, उनके महत्व को धक्का लगा। उस समय के समाज में देवताओं की पूजा के लिये यज्ञ हुआ करते थे और यज्ञों का मुख्य फल स्वर्ग समझा जाता था, तथा इस लोक की अनेकों मनोकामनाओं—जैसे पुत्र, आरोग्य आदि—के लिये भी यज्ञ हुआ करते थे और यह समझा जाता था कि यज्ञों से प्रसन्न हो कर देवता यजमान का मनोरथ पूरा किया करते हैं। पर बुद्ध लोक के सुख दुःख में देवताओं की दस्तन्दाज़ी पसन्द न करते थे। मनुष्य के लौकिक व्यवहार में, मनुष्य के प्रत्येक कार्य में देवताओं का दख़ल उन्हें रुचिकर न था। इसलिये बुद्ध ने देवताओं का प्रत्याख्यान किया, पर उनकी सत्ता का निषेध करके नहीं, उनके महत्व को कम करके। त्रिपिटक में जहां देखिये देवता बुद्ध के सामने हाथ जोड़े खड़े मिलेंगे। कहीं ब्रह्मा बुद्ध के निकट नम्रभाव से आ रहे हैं, कहीं इन्द्र आते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। सर्वत्र ही देवताओं का स्थान बुद्ध और बुद्ध-पुत्रों के नीचे दिखाई पड़ेगा। बुद्ध जो मनुष्य है—किसी देवता का अवतार नहीं, उसके नीचे है देवताओं का स्थान, जो बतलाता है कि बौद्ध परम्परा ने किस प्रकार मानवता को देवत्व के ऊपर बिठा दिया है। देवताओं का इस मधुर शैली से प्रत्याख्यान करने के बाद दूसरी बात थी श्रुतियों को प्रमाण मानना। बुद्ध ने साफ़ साफ़ कहा कि श्रुतियां सच भी हो सकती हैं और झूठ भी।[३] अतः किसी बात को बिना परखे मान लेना ठीक नहीं। यहां तक कि बुद्ध ने अपने उपदेशों के लिये भी यही कहा कि: "मेरे प्रति गौरव होने या मुझे गुरु समझने के कारण मेरी बात को मत मानो, बल्कि मेरी बातों को परखो फिर यदि ठीक हो तो मानो।"[४] मनुष्य की बुद्धि जो श्रुतियों को अन्धभाव से मानती आ रही थी, बुद्ध ने पहले पहल उसे परख कर मानने की ओर प्रवृत्त किया। इस प्रकार श्रुतियों के प्रति जनता की अन्धश्रद्धा को दूर कर बुद्ध ने समाज की बनावट पर निगाह डाली और देखा कि यहां एक जन्म से ब्राह्मण है और एक जन्म से शूद्र है। ब्राह्मण को सब प्रकार के आत्म-विकास का सौकर्य है और शूद्र को किसी भी बात की सुविधा नहीं है। बुद्ध की बूझ को यह बात न जँची और उन्होंने साफ़ साफ़ कह दिया: "ब्राह्मण और अब्राह्मण जन्म से नहीं हुआ करते कर्म से ही ब्राह्मण होता है और कर्म से ही अब्राह्मण।"[५] जन्म से ही सामाजिक ऊँच नीच भेद के कारण उस समय में शूद्रों को धर्माचरण तथा अध्ययन आदि की सुविधा न थी। बुद्ध ने शूद्रों को भी प्रव्रज्या देकर उन्हें उच्च वर्णों के समकक्ष कर दिया तथा स्त्रियों के लिये धर्म और ज्ञान का मार्ग खोल दिया। धर्म और ज्ञान को इस प्रकार मनुष्य मात्र की सम्पत्ति बनाकर बुद्ध ने धर्म का नया रास्ता भी दिखाया, जो पहले चले आते हुये रास्ते से विभिन्न है। बुद्ध से पहले धर्माचरण में विविध प्रकार की बाध्य क्रियाओं—जैसे यज्ञ, मन्त्र तन्त्र आदि—का बहुत स्थान था तथा लोग स्वर्ग और मोक्ष के लिये कठोर तप करने के पक्षपाती हो रहे थे। दूसरी ओर "खाओ पिओ और मौज उड़ाओ" के सिद्धान्त का मानने वाला एक दल था, उसे दुनिया की परवाह न थी; उचित, अनुचित जैसे भी हो भोग विलास की सामग्री प्राप्त कर उसे भोगना उसका सिद्धान्त था। बुद्ध इन दोनों रास्तों को हितकर न समझते थे। उन्होंने भोग विलास के जीवन को निचले दरजे का जीवन बताया तथा कठोर तप के द्वारा अपने को पीड़ा देने के मार्ग को भी अधम जीवन कहा। अपने और पराये दोनों को पीड़ा न देकर सदाचार से जीवन बिताने को उन्होंने उच्च जीवन कहा।[६]

३—स्वानुस्सुतं येव होति। तंच होति रित्तं तुच्छं मुसा। नो चेपि स्वानुस्सुतं होति। तंच होति भूतं तच्छं अनञ्जथा।—मज्झिम निकाय ९५।

४—परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं भिक्षवो न तु गौरवात्। तत्त्वसंग्रह के मंगलाचरण की टीका में उद्धृत।

५—सुत्तनिपात ३।९।५७

६—धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र।

ऐसा उच्च जीवन जिसमें अपने और पराये दोनों को पीड़ा न देना पड़े तथा जिस जीवन का सम्बन्ध आंख से दिखाई पड़ती दुनिया के साथ हो, जिस जीवन में मनुष्य के अदृष्ट देवताओं का गुलाम न रहना पड़े एवं मनुष्य की बुद्धि पर वेद या दूसरी ऐसी ही (अपौरुषेय) पोथियाँ न रक्खी जाएं, जिस जीवन में पैदायशी ऊँच नीच भाव न हो तथा जिस जीवन में पुण्य कमाने के लिये न दूसरे को सताने की ज़रूरत हो न अपने को ही सताया जाए; उस महान् जीवन का दर्शन है अनात्मवाद। अनात्मवाद के तब तक हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता जब तक उसके पीछे छिपे उचकोटि के जीवन के उपरोक्त आदर्शों के न समझ लिया जाए।

अनात्मवाद क्या है ? शब्द की रचना को देखने —वह न+आत्मावद—या आत्मवाद का निषेध है। आत्मा और शरीर एक हैं या आत्मा शरीर से अलग है। इस बात के पीछे बुद्ध के समय के दार्शनिक हैरान थे। बुद्ध के सामने भी यह प्रश्न आया पर उसे उन्होंने नज़रअन्दाज़ करते हुए कहा : "आत्मा और शरीर एक है," ऐसा मत रहने पर भी "आत्मा दूसरा है और शरीर दूसरा है" ऐसा मत रहने पर भी दुःख और परेशानी हैं ही।[७] फिर बुद्धिमानी यही है कि उस दुःख के दूर करने का उपाय सोचा जाए। आत्मा और शरीर की एकता या पृथक्ता के पीछे भटकने से तो दुःख दूर नहीं हो सकता; इसलिये उस पर विचार करना बेकार है। दुःख के नाश करने के उपायों को बुद्ध इस दुनिया से बाहर नहीं ढूंढ़ते थे, इसलिये उन्होंने बढ़कर कहा : "मैं इसी जन्म में दुःख के विघात (उपाय) को बतलाता हूँ।"[८] इस जन्म के भीतर मनुष्य के दुःख को दूर करने के लिये सयत्न बुद्ध ने मनुष्य जीवन को मन और शरीर का संयोग, विचारों और कार्यों का समूह समझा है। जैसे शरीर एक रूप में नहीं रहता, अवस्था के हिसाब से बदलता रहता है, वैसे ही मन भी परिस्थितियों के हिसाब से बदलता है। बुद्ध की दृष्टि में मन शरीर से भी जल्दी बदलने वाला है। उनका कथन है : "भिक्षुओ, यह कहीं अच्छा है कि वह आदमी जिसने सद्धर्म के नहीं सुना चार भूतों से बने शरीर के आत्मा समझले लेकिन चित्त को नहीं। वह क्यों ? यह जो चार भूतों से बना शरीर है यह एक साल, दो साल, तीन साल, चार साल, पांच साल, छः साल और सात साल तक भी एक जैसा प्रतीत होता है; लेकिन जिसे चित्त कहते हैं, मन कहते हैं, विज्ञान कहते हैं, वह तो रात के और ही उत्पन्न होता है तथा निरोध होता है और दिन को और ही।"[९] इस प्रकार बदलते रहने वाले शरीर और मन के छोड़ कर बुद्ध की दृष्टि में आत्मा अथवा कोई स्थिर, टिकाऊ या अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है।

इस बदलने वाले चित्त-मन-विज्ञान या ब्राह्मणों के शब्दों में कहें तो परिवर्तनशील आत्मा का पूर्व जन्म या परजन्म से क्या सम्बन्ध है ? इस पर भी बुद्ध ने विचार किया है और विचार करते उन्होंने पूर्व और पर जन्मों से अथवा जन्म से पहले और मरने के बाद होने वाली आत्मा की गति से इन्कार नहीं किया है; पर इस जन्म के साथ पूर्व और पर गतियों का ऐसा सम्बन्ध नहीं जोड़ा है, जिससे इस जन्म में या इस जन्म के कार्यों में पूर्व जन्मों का हस्तक्षेप मंजूर करना पड़े, अथवा इस जन्म के भीतर बैठे बैठे पर जन्म या परलोक की फ़िक्र में घुलना पड़े। उन्होंने साफ़ कहा है : "जैसे भिक्षुओ, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी होता है। जिस समय दूध होता है उस समय न उसे दही कहते हैं, न मक्खन, न घी। जिस समय वह दही होता है उस समय न उसे दूध कहते हैं, न मक्खन, न घी। इसी प्रकार भिक्षुओ, जिस समय मेरा भूत काल का जन्म था, उस समय मेरा भूतकाल का जन्म ही सत्य था, यह वर्तमान और भविष्यत् का जन्म असत्य था। जब मेरा भविष्यत् काल का जन्म होगा उस समय मेरा

७—मज्झिमनिकाय ६३
८—वहीं
९—संयुत्तनिकाय २१७

भविष्यत् काल का जन्म ही सत्य होगा। यह वर्तमान और भूतकाल का जन्म असत्य होगा। यह जो अब मेरा वर्तमान में जन्म है, सो इस समय मेरा यही जन्म सत्य है, भूतकाल का और भविष्यत् काल का जन्म असत्य है।"[१०] इस प्रकार जन्म के साथ, जन्म से पहले और मरने के बाद की गतियों को बुद्ध नहीं जोड़ना चाहते, वे इसी जन्म को प्राधान्य देना चाहते हैं। बुद्ध वचनों में पूर्व जन्म, परलोक, स्वर्ग नरकादि का जहां जहां उल्लेख है वहाँ यह पहले से समझ लेने की ज़रूरत है कि बुद्ध की दृष्टि में उनका महत्व कुछ भी नहीं है। बुद्धवाणी में उनका अस्तित्व म्यूज़ियम में रक्खी वस्तुओं की तरह है, जिन्हें देख कर मनुष्य अपने कुतूहल को शान्त कर लिया करता है। बुद्ध केवल इस जन्म और इस दुनिया पर ही ज़ोर देना चाहते हैं, दूसरे जन्म और दूसरी दुनिया भले ही हो, पर जहां तक इस जन्म और इस दुनिया से उनका सम्बन्ध है, वे सब असत्य हैं।

इस प्रकार आवागमन और परलोक से बिना इनकार किए ही बुद्ध ने उनको इस जन्म और इस दुनिया के लिये निकम्मा बता कर मोक्ष (निर्वाण) पर विचार किया है। बुद्ध का मोक्ष केवल दुःख से शान्ति पाना भर ही है और वह मोक्ष इसी जन्म में—इसी दुनिया में होता है। उसके लिये आकाश या पाताल में दौड़ने की ज़रूरत नहीं पड़ती। महाकवि और दार्शनिक अश्वघोष ने दृष्टान्त के द्वारा बुद्ध जिस प्रकार के निर्वाण को मानते हैं उसे यों समझाया है: "दीपक जब निर्वाण को प्राप्त होता है तो वह पृथ्वी में नहीं समा जाता और न आकाश में ही उड़ जाता है, वह दिशाओं और विदिशाओं में भी नहीं भटकता है, बल्कि तेल के ख़तम होने से केवल बुझ जाता है। वैसे ही जिस पुण्यवान् को जब निर्वाण प्राप्त होता है तब वह न तो पृथ्वी में समा जाता है, न आकाश में ही उड़ जाता है और न दिशाओं-विदिशाओं में ही भटकता फिरता है, बल्कि क्लेश के क्षय होने से केवल शान्ति को पाता है।"[११] इस प्रकार आवागमन और परलोक की चिन्ता को इस जन्म के दुःख दूर करने में अकिंचित्कर बता कर तथा मोक्ष को क्लेश-क्षय कह कर बुद्ध ने संसार के दुःख के साकार कारणों की ओर लोगों के ध्यान को झुकाया।

बुद्ध की यह विचारधारा एक चिर से चले आते विचारों के भीतर बिल्कुल नई थी। इसमें न तो आवागमन और परलोक का महत्व था और न लोक के लिये स्व-पर-पीड़न का कोई स्थान था। समाज के ऊंच नीच भेदों की भी इसमें गुञ्जायश न थी। इसमें मनुष्य का ही एकमात्र स्थान था और मनुष्य पर उसके सुखदुःखों का उत्तरदायित्व था। इस विचारधारा में युद्ध-मारकाट या हिंसा को कोई जगह न थी और होती भी कैसे; इसमें युद्ध को स्वर्ग का द्वार नहीं समझा गया और न हिंसा और परपीड़न से प्राप्त भोगों का भोगना ही उचित क़रार दिया गया।[१२] हिंसा और पर-पीड़न की बात छोड़िए, अयत्न साध्य भी भोग विलास के जीवन को इसमें महत्व नहीं दिया गया था। बुद्ध के शब्दों में कहें तो: "भोग विलास का जीवन हीन, ग्राम्य, जड़ लोगों के द्वारा सेवित, अनार्य और अनर्थकारी होता है।"[१३] बुद्ध ने सरल जीवन पर जो इतना ज़ोर दिया है, वह परलोक बनाने के लिये नहीं, बल्कि इस लोक को बनाने के लिये। सरल जीवन पर ज़ोर देने का अभिप्राय था स्वार्थ—चाहे वह व्यक्ति विशेष का हो चाहे वर्ग विशेष का हो—के कारण मानव समाज में होते संघर्ष को दूर करना। बुद्ध यह निश्चय रूप से समझते थे कि मनुष्यों का दुःख उनके व्यक्तिगत या वर्गगत स्वार्थ के कारण ही होता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है: "स्वार्थ ही के कारण, स्वार्थ ही की वजह से, स्वार्थ ही के हेतु से राजा राजाओं से झगड़ते हैं, क्षत्रिय क्षत्रियों से

१०—दीघ निकाय ६

११—सौन्दरानन्द।

१२—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्, 'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्;" गीता

१४—धम्मचक्क पवत्तन सुत्त।

झगड़ते हैं, ब्राह्मण ब्राह्मणों से झगड़ते हैं, वैश्य वैश्यों से झगड़ते हैं, माता पुत्र से, पुत्र माता से झगड़ता है; पिता पुत्र से, पुत्र पिता से झगड़ता है; भाई भाई से, भाई बहन से, बहन भाई से झगड़ती है। मित्र मित्र से झगड़ता है—इस प्रकार झगड़ा करते एक दूसरे से मुक्का-मुक्की करते हैं, डंडों से भी पीटते हैं। शस्त्रों से भी प्रहार करते हैं। वे मर जाते हैं वा मरणान्त दुःख पाते हैं।"[१४] लोगों के दुःख की तह में स्वार्थ को कारणरूप से देखते बुद्ध ने कहा: "स्वार्थ या तृष्णा की जड़ों को खोद डालो।"[१५] बुद्ध ने अपने समय की उस जनता से—जिसे अन्न का क्लेश न था, वस्त्र का क्लेश न था—रहने के लिये मकान का क्लेश न था, जीविका के साधन जिसके लिये सुलभ थे—तृष्णा की जड़ खोदने को कहा था, पर बुद्ध यदि आज होते और देखते कि भूखे नंगे लोग वे घर बार भटकते गलियों में दम तोड़ रहे हैं; तो निश्चय ही वह तृष्णा की जड़ खोदने का उपदेश न दे कर सम्पत्ति और सम्पत्ति के उत्पादक साधनों पर व्यक्तिविशेष या वर्ग विशेष के आधिपत्य का ज़ोरदार विरोध करते। फिर भी उस पुराने समय में बुद्ध ने भिक्षु के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का निषेध किया है और दान में प्राप्त सम्पत्ति पर संघ के अधिकार को न्याय कहा है, जिससे उनकी उस पैनी दृष्टि का पता चलता है, जो संसार के भीतर ही संसार के दुःख को दूर करने के पक्ष में है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध अपने समय में एक महान् परिवर्तन लाना चाहते थे। भले ही वह उसमें पूरे तौर सफल न हुए हों पर बुद्ध का प्रयत्न अवश्य उचित दिशा में था, यद्यपि वह समय से बहुत पहले अवश्य था और जनता का मानसिक विकास इतना न था कि उसे ठीक समझ सकती। बुद्ध इस बात को जानते थे और समझते थे कि जनसाधारण को वह अपनी बात न मनवा सकेंगे, पर उन्हें यह विश्वास था कि मेरी बात को समझने वाले कुछ लोग मिलेंगे और यदि इन विचारों का धीरे धीरे प्रसार होता रहा, तो अवश्य एक दिन संसार का दुःख दूर हो सकेगा। बौद्ध-परम्परा में यह बात बड़े चमत्कृत ढङ्ग से गूँथी गई है: जब बुद्ध ने 'बोधि प्राप्त कर ली, तब उनके मन में ऐसा हुआ कि मेरे विचारों को समझ सकना स्वार्थ में लिप्त जनता के लिये कठिन है, इसलिये धर्म के उपदेश करने का झंझट ही क्यों मोल लिया जाए। उस समय ब्रह्मा ने बुद्ध के मन की बात जान कर ख़्याल किया कि यदि बुद्ध का चित्त धर्मोपदेश से उदासीन हो गया तो लोक का नाश हो जाएगा। यह ख़्याल कर ब्रह्मा बुद्ध के पास आए और बोले—जग में विचरो, धर्म का प्रचार करो, भगवन्, जानने वाले मिलेंगे; तब बुद्ध ने भी अपनी बूझ की निगाह से देखा कि जीवों में अनेकों तीक्ष्ण बुद्धि, सुन्दर-स्वभाव, समझाने में सुगम प्राणी भी हैं।'[१६] ख़ैर, बुद्ध के समय भले ही उनकी बात को बहुत थोड़े लोग समझ सके हों, पर आज उनकी बात को सब नहीं तो अधिकांश लोग समझ सकेंगे। परिस्थितियों ने जनता के लौकिक जीवन को नरक बना दिया है और उस नरक से वह निकलना चाहती है, उसे इस समय आवागमन, परलोक और इसी प्रकार के दूसरे झंझटों में दिलचस्पी नहीं रही है और यही कारण है कि उसका मानसिक धरातल इस योग्य हो चुका है कि यदि समझाने वाला हो तो वह बुद्ध के पुराने विचारों को हृदयङ्गम कर सकेगी।

बुद्ध अपने समय के संसार को बदलना चाहते थे पर उस समय का संसार अपने को बदलना न चाह रहा था। आज का संसार अपने को बदलने के लिये व्याकुल हो रहा है, इसलिये बुद्ध की यह मान्यता कि 'सभी कुछ बदलने वाला है—स्थिर या अपरिवर्तनशील कुछ भी नहीं है,' उसके लिये दुरूह भले हो पर अरुचिकर नहीं ही होगी। इस मान्यता के दार्शनिक-स्वरूप की भी अब चर्चा कर लेनी अपेक्षित है। बुद्ध किसी कार्य या घटना को न तो आकस्मिक

१४—मज्झिमनिकाय १३

१५—धम्मपद २४।४

१६—मज्झिमनिकाय २६,

समझते हैं और न अहेतुक, प्रत्युत कार्य-मात्र को सहेतुक समझते हैं। कार्य और कारण से अतीत किसी काल्पनिक सत्ता पर उनका विश्वास नहीं है। उनकी दृष्टि में यह सम्पूर्ण विश्व कार्य और कारण का प्रवाह है। कारण के बिना कार्य नहीं होता, इसलिये यदि कार्य को रोकना हो तो कारण को रोक देना चाहिए। इस प्रकार यह विश्व जो कर्म=क्रिया=व्यापार या विभिन्न प्रवृत्तियों के द्वन्द्व का फल है, यदि उसे बदलने की ज़रूरत हो, तो उन प्रवृत्तियों के मूल में छिपे कारण को खोजना होगा और उसे दूर करना होगा। कारण भी वही हो सकता है, जो परिवर्तित हो सकता हो—बदल सकता हो। जो चीज़ न बदल सकती हो उसे बौद्ध दर्शन में कारण नहीं माना जाता। उपनिषदों में ब्रह्म को जगत् का कारण माना है, कपिल ने प्रकृति को जगत् का कारण माना है, चार्वाक ने पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं को जगत् का कारण माना है, पर ब्रह्म को भी अपरिवर्तनशील कहा गया है, प्रकृति को भी न बदलने वाला कहा गया है, परमाणुओं को भी परिवर्तनशील नहीं माना गया है, इसलिये बुद्ध के दृष्टि विन्दु से इनमें कारण होने की योग्यता नहीं है। नैय्यायिकों का ईश्वर भी परिवर्तन से अछूता है अतः बुद्ध की मान्यता के हिसाब से वह भी किसी का कारण नहीं बन सकता। कारण वही बन सकता है, जो परिवर्तनशील हो। किसान बीज को खेत में बोता है। गर्मी और नमी से बीज बदल कर अंकुर बन जाता है। यदि बीज में बदल जाने की योग्यता न होती, तो वह अंकुर न हो पाता। प्रत्येक कार्य की यही दशा है, कारण बदल कर ही कार्य का रूप लिया करता है। बुद्ध इस विश्व का परिवर्तन मानते हैं, इसलिये उनकी दृष्टि में कुछ भी शाश्वत नित्य अर्थात् अपरिवर्तनशील नहीं है। बुद्ध किसी वस्तु के विनाश को नहीं मानते, क्योंकि जो पदार्थ के परिवर्तन को मानता है उसकी दृष्टि में किसी चीज़ का नाश या उच्छेद नहीं होता, बल्कि उसका रूपान्तर ही होता है। बौद्ध दर्शन में इस भाव को "न तत् न चान्यत्" शब्दों में प्रकट किया गया है।[१७] विश्व के प्रत्येक अणु-अणु में परिवर्तन होता रहता है, इसलिये किसी वस्तु के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि यह वही (तदेव) अर्थात् परिवर्तन से अछूती वस्तु है और उसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह और ही (अन्यदेव) है, क्योंकि 'और ही' तभी कहा जा सकता है, जब उसका उच्छेद या नाश मान लिया जाए।

एवं बुद्ध के दृष्टि विन्दु के अनुसार न कुछ भी नित्य (अपरिवर्तन शील) है और न किसी का नाश है, प्रत्युत सब कुछ परिवर्तनशील है। मनुष्य जीवन के लिये भी यही बात है। जीवन शरीर और मन का संयोग है। शरीर बदलता है और मन तो शरीर की अपेक्षा और भी तेज़ी से बदलता है। सहेतुक परिवर्तनशीलता के इस सिद्धान्त को अनात्मवाद कहते हैं। बुद्ध जहां 'अनात्म' शब्द प्रयोग करते हैं, वहां उनका अभिप्राय 'सकारण परिवर्तन' से होता है। सकारणता और परिवर्तन के इस नियम को बुद्ध ने 'प्रतीत्य समुत्पाद' कहा है। जिसका अक्षरार्थ है: समुत्पादः=उत्पत्ति, कार्य मात्र का होना प्रतीत्य (एव भवति)=कारण के प्राप्त होने पर ही होता है। इस अनात्मवाद का बुद्ध ने तर्क से भी समर्थन किया है। बुद्ध की विचारधारा को ठीक रूप से उपस्थित करने के पहले यहाँ कुछ सांकेतिक शब्दों की चर्चा कर लेनी अपेक्षित है। बौद्ध मान्यता के अनुसार कोई 'एक' वस्तु नहीं है, प्रत्युत जहाँ 'एक' का भान होता है वहां अनेकों का समूह हुआ करता है। वृक्ष 'एक' पदार्थ है पर वह है क्या? जड़, तना, शाखा और पत्र आदि का समूह ही तो है। हर एक पदार्थ का यही हाल है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये ही बौद्ध दर्शन में स्कन्ध शब्द का प्रयोग होता है। स्कन्ध का अर्थ राशि या ढेर है। प्रत्येक वस्तु अनेकों का एकढेर है, उसमें जो एक की प्रतीति है

१७—प्रतीत्य यद्यद्भवति न हि तावत् तदेव तत्।
न चान्यदपि तत् तस्मात् नोच्छिन्नं नापि शाश्वतम्॥
माध्यमिक कारिका १८।१०

वह व्यवहारतः ठीक हो सकती है पर परमार्थतः है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने अवयवों का स्कन्ध या ढेर है। अवयव के लिये परमाणुओं शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि स्थूल पदार्थ का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव है वह परमाणु हैं। परमाणु पृथ्वी, जल, तेज और वायु के होते हैं। यह चार भूत कहलाते हैं। यह चार भूत, पांच ज्ञानेन्द्रियां और उनके पांच रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श विषय इन सब को 'रूप स्कन्ध' कहते हैं। चक्षु से रूप का, श्रोत्र से शब्द का, नासिका से गन्ध का, जिह्वा से रस का, शरीर (काय, स्पर्शेन्द्रिय) से स्पर्श का और मन से धर्म (मानसिक भावों) का जो सामान्यतया ज्ञान होता है, उसे 'विज्ञान स्कन्ध' कहते हैं। यदि इस ज्ञान में विषय की विशेषताएँ झलकें, तो वह 'सज्ञा स्कन्ध' होगा। जैसे आंख से कोई स्त्री दिखाई पड़ी यह तो विज्ञान स्कन्ध हुआ, पर यदि इस ज्ञान में स्त्री का रंग, रूप, क़द आदि की प्रतीति भी शामिल हो तो वह संज्ञा स्कन्ध होगा, क्योंकि यह सं=सम्यक् या विशेष रूप से ज्ञा=जानकारी हुई है। सुख दुःख की अनुभूति का नाम 'वेदना स्कन्ध' है। इन चारों स्कन्धों से जो बचा है वह 'संस्कार स्कन्ध' है।

इन रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार स्कन्धों के संकेतों के सहारे बुद्ध ने अपने अनात्मवाद (सहेतुक परिवर्तनवाद) को यों समझाया है: "भिक्षुओ, यदि कोई ऐसा कहे कि वेदना मेरा आत्मा है तो उसे यों कहना चाहिये कि आयुष्मान् वेदना तीन तरह की होती हैं। सुख वेदना, दुःख-वेदना, असुख अदुःख वेदना। इन तीन तरह की वेदनाओं में से किस तरह की वेदना को आप आत्मा समझते हैं ! भिक्षुओं, जिस समय कोई सुख-वेदना की अनुभूति करता है उस समय उसे न तो दुःख वेदना की अनुभूति होती है, न असुख अदुःख वेदना की, उस समय उसे केवल सुख-वेदना की ही अनुभूति होती है। जिस समय कोई दुख-वेदना की अनुभूति करता है, उस समय उसे न तो सुख-वेदना की अनुभूति होती है न असुख अदुःख वेदना की, उस समय उसे केवल दुःख वेदना की अनुभूति होती है। जिस समय कोई असुख-अदुःख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय न उसे सुख-वेदना की अनुभूति होती है न दुःख वेदना की; उस समय उसे केवल असुख-अदुःख वेदना की अनुभूति होती है। भिक्षुओ, यह तीनों वेदनायें अनित्य हैं, संस्कृत है, प्रत्यय (कारण) से उत्पन्न हैं, क्षय होने वाली हैं, व्यय होने वाली हैं, विराग को प्राप्त होने वाली हैं, निरोध को प्राप्त होने वाली हैं। इन तीनों वेदनाओं में से किसी एक को भी अनुभूति करते समय यदि किसी को ऐसा होता है कि 'यह आत्मा है' तो फिर उस वेदना का निरोध होते समय उसको ऐसा होगा कि 'मेरा आत्मा बिखर रहा है।' इस प्रकार वह अपने सामने ही अनित्य, सुख दुःखमय, उत्पन्न तथा विनाश होने वाले आत्मा को देखता है। भिक्षुओ, यदि कोई कहे "मेरी वेदना आत्मा नहीं, आत्मा की अनुभूति नहीं होती, तो उससे पूछना चाहिए कि आयुष्मान्, जहाँ किसी की अनुभूति ही नहीं, उसके बारे में क्या यह हो सकता है कि मैं यह हूं ! लेकिन भिक्षुओ, यदि कोई ऐसा कहे कि 'न तो मेरी वेदना आत्मा है और नहीं मेरे आत्मा की अनुभूति होती है, किन्तु मेरा आत्मा अनुभव करता है, मेरे आत्मा का स्वभाव=गुण है वेदना।' तो उससे पूछना चाहिए कि आयुष्मान् यदि सभी वेदनाओं का सम्पूर्ण निरोध हो जाए, कोई एक भी वेदना न रहे, तो क्या किसी एक भी वेदना के न होने पर ऐसा होगा कि यह (आत्मा) मैं हूँ।

"और भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि 'मन आत्मा है' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मन की उत्पत्ति और निरोध दोनों ही दिखाई देते हैं, जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं, उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि 'मेरा आत्मा उत्पन्न होता है और मरता है।' इसलिये 'मन आत्मा है'—यह ठीक नहीं है। मन अनात्म है।

"और भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि धर्म (मन के विषय) आत्मा है, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि

धर्म की उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं। जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं, उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि मेरा आत्मा उत्पन्न होता है तथा मरता है, इसलिये 'धर्म आत्मा है'--यह ठीक नहीं है। धर्म अनात्म है।

"और भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि 'मनोविज्ञान आत्मा है' तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि मनोविज्ञान की उत्पत्ति और निरोध दोनों देखे जाते हैं। जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं, उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि 'मेरा आत्मा उत्पन्न होता तथा मरता है।' इसलिये 'मनोविज्ञान आत्मा है'--यह ठीक नहीं है। मनोविज्ञान अनात्म है।

"भिक्षुओ, यह कहीं अच्छा है कि वह आदमी जिसने सद्धर्म को नहीं सुना, चार भूतों से बने शरीर को आत्मा समझले, लेकिन चित्त को नहीं। वह क्यों? यह जो चार भूतों से बना शरीर है यह एक-दो-तीन-चार-पांच-छः और सात साल तक भी एक जैसा प्रतीत होता है, लेकिन जिसे चित्त कहते हैं--मन कहते हैं—विज्ञान कहते हैं वह तो रात को और ही उत्पन्न होता है तथा निरोध होता है और दिन को और ही।

"रूप नित्य नहीं, ध्रुव नहीं, शाश्वत नहीं, अपरिवर्तनशील नहीं। वेदन-संज्ञा-संस्कार विज्ञान नित्य नहीं, ध्रुव नहीं, शाश्वत नहीं, अपरिवर्तनशील नहीं।"[१८]

इस प्रकार बुद्ध की निगाह में सब कुछ परिवर्तनशील है, सब कुछ कारण से ही होता है। अकारण, आकस्मिक, नित्य, ध्रुव और कूटस्थ कुछ नहीं है। सहेतुक परिवर्तनशीलता का यह सिद्धान्त अनात्मवाद है। बुद्ध इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित कर नित्य-अटूट या अटल समझी जाने वाली उन रस्सियों को तोड़ डालना चाहते थे, जिनसे अदृष्ट ने—देवता, परलोक, आवागमन आदि ने—मनुष्यों को बुरी तरह से बांध रक्खा था। इन रस्सियों को तोड़ बुद्ध उस प्रकार के विश्व का निर्माण करना चाहते थे, जिसमें स्वार्थमूलक संघर्ष न रहे तथा जिसमें स्व-पर-पीड़न का नाम-निशान न हो।

[चीन-भवन, शान्तिनिकेतन

१८—बुद्धवचन पृ० २७,२८,२९,२६

गीत

"विनोद"

संसृति में गति, गति में संसृति, गति जीवन की थाती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।
पंकज लहरों में मुसकाता, दिनकर कान्त किरण से राता।
घोर तमिस्रा की रजनी में अपने आप सकुच सो जाता।
कोमल मधु गुलाब की कलिका कांटों में खिलती मुसकाती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।
जीवन-ज्वार चढ़ी मद-फूली, मनसिज की माया में भूली।
बधुका अपने को विसार जब, पीतम की गलबहियां झूली।
विवश वेदना ढोती, रोती, नव-जीवन को गोद खिलाती।
दुख मे सुख की छटा दिखाती।
दुख जीवन है, दुख यौवन है, दुख हरीतिमा मय मधुवन है।
दुख से ही सुख सहज सुहाता, दुख मानव-जीवन का धन है।
दुख की यह घन-गहन-निशा सुख के बालारुण को दुलराती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।

नया नगर

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, एम० ए०

उस प्राचीन नगर के कक्ष में, उजड़े बीहड़ देश में एक नए नगर का जन्म हुआ है ! क्रमशः एक एक करके खंड-खंड पत्थरों से फूट कर तरु-लताओं से लहलहाते अनेक भव्य भवन उठे, और आकाश में उनके उन्नत मस्तक छा गए।

यह नई नगरी कांच और लकड़ी से बनी है। पत्थर इसमें नाम-मात्र को ही है। सुनहरी और नीले रेशमी पर्दों के पीछे इस रहस्यमयी पुरी का व्यापार छिपा है। इन मकानों की गोल, चमकती खिड़कियाँ पथारोहियों को घूर कर देखती हैं और अन्धकार में किसी जंगली बिल्ले की आँखों-सी जल उठती हैं।

यह टेढ़े-मेढ़े कुरूप भवन हमारे युग की आत्मा के अनुरूप ही बने हैं। वे इस युग की स्वर्ण मछली के लिए कांच का केस हैं।

इस नगरी में पुराने और नए का अपूर्व सम्मिश्रण है। पुराने खंडहर, पीपल और इमली के पुराने पेड़, कुएँ; और यह शोख़ी-भरे होटल, क्लब और बैठकें जहां रात भर जुआ चलता है।

× × ×

नए नगर के एक सिरे पर अमरूद के बाग़ में अब भी चरस चलता है। चूं-चूं चर-मर कर पानी खिचता है, बैल ज़ोर लगाते हैं, एक भारी प्रयास कर चरसवाला चमड़े के बड़े डोल को ऊपर खींच लेता है और पानी उलट देता है। यह पानी छोटी पतली नालियों में हो कर बाग़ भर में फैल जाता है और पेड़ों के फूल-पत्ती इस जीवनी-शक्ति को पाकर उल्लसित हो उठते हैं।

झोंपड़ी में बैठी बुढ़िया यह रहस्य देखती है, और नहीं देखती। बच्चे मेड़ पर बैठ कर गन्दा करते हैं और पेड़ से बँधा टीन खींच कर एक कोहराम मचा देते हैं। कौए भयभीत हो कर अमरूद के पेड़ों से कांव-कांव कर भागते हैं।

बमपुलिस से दुर्गन्धि उड़-उड़ कर हवा में फैलती है और इन ग्रामीणों के फेफड़ों में पहुँच कर उन्हें (?)ड़ाती है।

बाग़ के नीचे कसाई ख़ाने के सुअर अपने कातर, कर्कश नाद से आसमान को गुंजा देते हैं। बाहर कुत्तों और मक्खियों की भीड़ चोरी और लूट की आशा से इकट्ठी होती है। कुछ ख़रीदार भी इकट्ठे होते हैं; टूटे, फटेहाल बूढ़े, बालक युवा जो बड़े यत्न से अपनी जेब के पैसे बार-बार टटोलते हैं। फिर किसी गन्दे झाड़न में हड्डी और गोश्त का कोई छोटा टुकड़ा आतुरता से घर ले जाते हैं।

सामने मैदान में गन्दा ढोने वाली अनेक गाड़ियाँ झुटपुटा होने की उम्मीद में खड़ी रहती हैं। इन्हें हम लोग 'टाइगर' कहते हैं, क्योंकि अँधेरा होते ही यह इस जंगल—से उजाड़ शहर में निकलती हैं और चतुर्दिक स्वच्छन्द विचरती हैं। इनके भय से रात में अकेला आता-जाता राहगीर नाक बन्द करके एक ओर दुबक जाता है। सुबह हम लोग सड़कों पर इन 'बाघों' के छितराए मल-मूत्र को देखते हैं और समझ जाते हैं कि रात में 'टाइगर' यहां बन-क्रीड़ा में निमग्न थे।

मैदान से लगी ही मेहतरों की बस्ती है, ठीक उस सुन्दर, नए प्रासाद के सामने जहां स्त्रियों का अस्पताल है और जो नए नगर की सर्व सुन्दर इमारत है। पतली, कच्ची दुर्गन्धिपूर्ण गलियां। कीड़ों से बिलबिलाते बच्चे, कीं-कीं करते सुअर और कोई अर्द्ध-मानव जाति जो इस विषैले वायुमंडल में रह कर भी पनपती है !

कुछ ही दिनों में नए नगर के सुन्दर अवयवों पर पड़े ये धब्बे हटा दिए जायँगे और बीच-बीच का यह ग्राम-देश, यह अन्धकार भरी दुनिया आंख से ओझल हो जायगी। कहीं दूर ले जा कर इन मेहतरों,

कसाइयों, ग्वालों और पशुओं को बसाया जायगा। यह निचली दुनिया के प्राणी, पाताल-वासी सभ्य जग की सतह से नीचे छिप जायँगे।

तब यह नगर कितना गुलज़ार हो उठे...

× × ×

दूर तक लहलहाते हरे-भरे खेत, नए भव्य भव[न] बांध पर अनेक बिजलियों से जगमग रेलगाड़ी [के] डब्बे, रात का आकाश ! "तारों का नभ ! तारों का नभ !"

नया नगर कितना आकर्षक है !

× × ×

सड़क के किनारे पान, सिगरेट, बीड़ी मूंगफली आदि की दूकान है, जहां आते-जाते बाबू लोग अपनी भूक-प्यास मिटा लेते हैं और कभी-कभी दूकान वाली को देख कर अपनी आंख भी सेक लेते हैं। वह जर्जर यौवना कभी रूपवती रही होगी, क्योंकि खँडहर बता रहे थे कि इमारत आलीशान थी। लेकिन अब मँहगाई और ग़रीबी ने अपनी कूँची उठा कर उसके मुंह पर कालिख पोत दी थी।

यह दूकान सड़क के तल से नीची है। इसके अन्दर आदमी सिर्फ़ उकड़ूं बैठ सकता है, न खड़ा हो सकता है, न चल-फिर सकता है।

दूकान वाली के बच्चे सड़क पर खेलते हैं दो-तीन-चार, कौन गिने ? पशुओं की तरह अनसोचे ही वह जन्मते हैं और मर भी जाते हैं। पिछली बार जब एक छोटा बच्चा एक पलटन की लारी के नीचे दब गया, तो न जाने कहां से दूकान वाली का रोना फट पड़ा ! उसका रोना रुकता ही न था ! बहुत कुछ उसे समझाया गया : "रो मत, भगवान और देंगे !" वह सिसकियों के बीच कहती : "अभी तो वह हँस रहा था, खेल रहा था ! और अब ? हाय राम !"

× × ×

इस नगर में अनेक रूपवती स्त्रियां, युवक और [चि]र शान्ति के अभिलाषी हिमवान् बूढ़े सुबह शाम [घू]मने निकलते हैं। उनके हृदय संतोष से भर जाते हैं। यह भव्य भवन, यह नए ढङ्ग का फ़र्नीचर, यह रेशमी पर्दे, संगीत की मृदु गूँज, यौवन का उल्लास और अन्त में बुढ़ापे की बुझी ज्वाला ! यह नर-नारी अपनी कल्पना के स्वर्ग में थे। उन्हें निर्वाण मिल चुका था।

वह युवक टेढ़ा हैट लगाए, मुंह पर पाउडर का हलका 'कोटिंग' दिए, सिगरेट के कश खींचता हुआ, 'शार्क-स्किन' का सूट पहने...

वह युवती सुन्दर सिल्क की साड़ी पहने, शोख़ी भरी चाल से खट-खट कर पृथ्वी नापती, प्रकृति की ओर कटाक्ष करती, अपनी सुन्दरता से आप ही आतुर...

कितने सुन्दर हैं वे ! कितने भाग्यवान हैं वे !

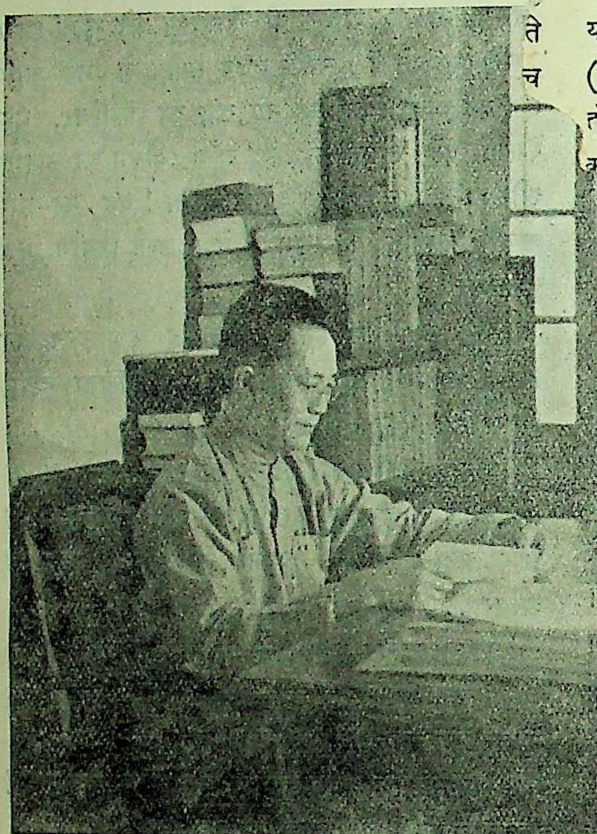
किन्तु इस स्वर्ग का धब्बा और कलंक वह मेहतरों का महल्ला ! कीड़ों से बिलबिलाते और बरसाती मक्खियों की तरह पटापट मरते वे अर्द्ध-मानव ! कितने कुरूप हैं वे ! कितने अभागे हैं वे !

उस नए नगर के आलोक में छिपे वे दुर्गन्धि-पूर्ण गाँव, वे अर्द्ध-पशु और पूर्ण-पशुओं की बस्तियां, मैदान में खड़ी वह सरेशाम निकलने वाली मैले की गाड़ियां—हमारे इस नगर-उपवन में स्वच्छन्द विचरने वाले बन-बिलाव—वे कीं-कीं करते सुअर आंखों के सामने एकबारगी आ जाते हैं।

इस नए सुन्दर अमीर-बाबू नगर में उनका क्यों स्थान है ? इस प्रश्न का उत्तर हमें नहीं मिलता।

भारत में चीनी अध्ययन की प्रगति

प्रोफ़ैसर तान ... शान



आ अ
ते य
च (
तो
को

हिन्दुस्तान में विश्वभारती ही पहली युनिवर्सिटी है, जहाँ प्रारम्भ से ही चीनी साहित्य के अध्ययन का प्रबन्ध किया गया। फ़्रान्स के मशहूर भारतीय-वेत्ता डाक्टर सिलवेन लेवी विश्वभारती के पहले यूरोपीय आगन्तुक प्रोफ़ैसर थे, जिन्होंने सन् १९२२ में शान्तिनिकेतन में चीनी अध्ययन का काम शुरू किया। डाक्टर लेवी के काम को शान्तिनिकेतन के दूसरे इटालियन आगन्तुक प्रोफ़ैसर जी०तुस्सी ने आगे बढ़ाया। बाद में विश्वभारती के रिसर्च डिपार्टमेंट विद्याभवन में आचार्य विधुशेखर शास्त्री के तत्वावधान में ज़ाब्ते से चीनी अध्ययन का काम शुरू हुआ। सन् १९२४ में स्वर्गीय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर पीकिंग के विश्वविद्यालयों द्वारा संगठित व्याख्यान समिति के निमन्त्रण पर चीन गये। इस व्याख्यान समिति के अध्यक्ष प्रसिद्ध चीनी विद्वान स्वर्गीय लिआङ्ग चि-चाओ थे। गुरुदेव की इस यात्रा के अवसर पर एक प्रस्ताव रखा गया कि प्रसिद्ध चीनी प्रोफ़ैसर शान्तिनिकेतन जाकर चीनी साहित्य के अध्ययन के काम को प्रोत्साहन दें और शान्तिनिकेतन के भारतीय आचार्य चीन आकर भारतीय अध्ययन के काम को आगे बढ़ाएँ। इसके अनुसार आचार्य विधुशेखर शास्त्री और एक दूसरे विद्वान को चीन भेजना तय हुआ, जो पीकिंग में जाकर संस्कृत पढ़ायें और चीनी का अध्ययन करें और श्री लियाङ्ग चि-चाओ का दूसरे चीनी विद्वानों के साथ शान्तिनिकेतन आकर चीनी साहित्य पढ़ाने और संस्कृत के अध्ययन करने की बात तय हुई। विश्वभारती में इन चीनी अतिथियों के ठहरने के लिये सेठ जुगलकिशोर बिड़ला ने एक अतिथिशाला बनाने के लिये बीस हज़ार रुपये का उदार दान दिया। पर अभाग्यवश यह प्रस्ताव अमल में न आ सका।

मुझ नाचीज़ को सन् १९२८ में पहली मरतबा भारत और विश्वभारती आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शान्तिनिकेतन पहुंचने से पहले सिंगापुर में सन् १९२७ में स्वर्गीय गुरुदेव से मेरी भेंट हुई। विश्वभारती और वहां के चीनी अध्ययन के सम्बन्ध में गुरुदेव ने मुझे अपने विचार बताये। गुरुदेव ने मुझे बेहद प्रभावित किया और उनके विचारों से मुझे बहुत प्रोत्साहन मिला। मैंने अपनी तुच्छ सेवायें उनके चरणों में अर्पित कीं। प्रारम्भ में मेरी इस यात्रा का उद्देश्य भारत के बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा और

भारतीय धर्म और भारतीय दर्शन का अध्ययन था। किन्तु विश्वभारती के विद्या-भवन के आचार्य श्री विधुशेखर शास्त्री के आग्रह पर मैंने वहाँ पाँच विद्यार्थियों को लेकर ज़ाब्ते से एक चीनी [illegible] खोल दी। इन पांच विद्यार्थियों में एक विश्वभार[illegible] पुस्तकालय के लाइब्रेरियन और प्रसिद्ध बंगला लेख[illegible] प्रोफ़ैसर प्रभात कुमार मुकर्जी थे। चीनी-भवन[illegible] आजकल के मेरे सहायक सुजीत कुमार मुकर्जी [illegible] एक विद्यार्थी थे। किन्तु शान्तिनिकेतन का यह पहला चीनी क्लास नहीं था। इससे पूर्व एक दूसरे चीनी विद्वान श्री लिन दो वर्ष तक एक चीनी क्लास चला चुके थे। अपने क्लास के अतिरिक्त मैं विश्वभारती के तुलनात्मक भाषाओं के प्रोफ़ैसर डाक्टर कालिन्स को चीनी धर्म ग्रन्थों के अध्ययन में भी मदद देता था। उन्हें लगभग पचास भाषायें आती थीं और चीनी भाषा भी उन्हें ख़ासी अच्छी आती थी। मैंने उन्हें 'लाओ-त्ज़े का ग्रन्थ' और 'चार ग्रन्थ' नामक दो चीनी ग्रन्थ पढ़ने को दिये।

सन् १९३१ में मैं गुरुदेव के आदर्श और सन्देश से प्रोत्साहित हो कर चीन लौटा। मैं अपने देश के बड़े बड़े विद्वानों से मिला और मैंने उन्हें विश्वभारती के आदर्शों और काम का परिचय दिया और उनसे प्रार्थना की कि भारत और चीन के बीच के सांस्कृतिक सम्बन्ध की फिर से स्थापना के काम में वे मदद दें। मेरी इस प्रार्थना का लोगों ने आशा से अधिक समर्थन किया। सन् १९३३ में नानकिंग में 'सिनो-इण्डियन कलचरल सोसायटी' (चीन-भारती सांस्कृतिक समिति) नामक संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था का उद्देश्य चीनी और भारतीय सभ्यताओं का मेल, सांस्कृतिक अदान-प्रदान, दोनों देशों के बीच मैत्री-भाव की स्थापना और विश्वशान्ति और मानव भ्रातृ-भाव के लिये मिलकर कोशिश करना था। चीन में इस संस्था की स्थापना के बाद मैं सन् १९३४ में दूसरी मरतबा शान्तिनिकेतन आया। गुरुदेव से मैंने अपने काम और चीन में इस संस्था की स्थापना की चर्चा की और हिन्दुस्तान में इस संस्था का सङ्गठन करना चाहा। गुरुदेव की सहायता और सलाह के प्रताप से इस देश में यह काम इतनी आसानी से हो गया, जितनी आसानी से चीन में भी [illegible]न हुआ था। साइनो-इण्डियन कलचरल सोसायटी [illegible] सङ्गठन में गुरुदेव ने ख़ुद बहुत बड़ा हिस्सा [illegible]या। इस देश में वही इस संस्था के प्रेज़िडेन्ट बने।

सिनो-इण्डियन कलचरल सोसायटी के प्रोग्राम के मुताबिक़ इसका सबसे पहला और सब से महत्व का काम शान्तिनिकेतन, विश्वभारती में 'चीन-भवन' का क़ायम करना था। इसलिये सोसायटी का सङ्गठन करने के बाद भी रुपया जमा करने के लिये और इस तरह की चीनी किताबें इकट्ठा करने के लिये जो इस तरह की संस्था के लिये बहुत ज़रूरी थीं मैं फिर एक बार उसी साल चीन वापस चला गया। इस काम को चीन में पूरा करने में मुझे एक साल से ज़्यादा लगा। जितने धन को ज़रूरत थी उतना तो मुझे नहीं मिल सका, लेकिन फिर भी काफ़ी धन मिल गया कि जिससे 'चीन-भवन' की इमारत बन सके और उसके लिये ज़रूरी साज सामान ख़रीदा जा सके। यह बड़ी ख़ुश क़िस्मती की बात थी। जहां तक चीनी किताबों का सम्बन्ध है मेरी आशा से ज़्यादा किताबें जमा हो गईं। चीन की सिनो-इण्डियन कलचरल सोसायटी ने एक लाख से ऊपर चीनी किताबें ख़रीद कर इस काम के लिये दीं। क़रीब पचास हज़ार किताबें दूसरे दोस्तों और प्रकाशकों ने भेंट कीं। इनमें से ज़्यादातर किताबों का विषय चीनी बौद्ध धर्म, चीनी पुराण, चीनी साहित्य, चीनी इतिहास और चीनी दर्शन हैं। ये पुस्तकें बड़े महत्व की और क़ीमती हैं। शान्तिनिकेतन के चीनी पुस्तकालय में जितनी तरह की और जितने अलग अलग मज़मूनों की किताबें हैं, उतनी चीन के ऊपर शायद ही किसी दूसरे पुस्तकालय में हों।

इस काम को करते ही सन् १९३६ में मैं तीसरी बार हिन्दुस्तान आया। जो कुछ धन और पुस्तकें जमा हो सकीं अपने साथ लेता आया। विश्वभारती ने तुरन्त 'चीन-भवन' की इमारत खड़ी करली

और उस भवन को चीनी-भारतीय अध्ययन का एक अलग महकमा बनाने की तय्यारियां शुरू कीं। चीन भवन का उद्घाटन स्व० गुरुदेव ने १४ अप्रैल सन् १९३७ को अपने हाथों से किया। उस दिन बंगालियों का नव वर्ष दिन था। पंडित जवाहरलाल नेहरू उस समय इण्डियन नैशनल कांग्रेस के सभापति थे। उन्होंने उस दिन के उत्सव में सभापति होना स्वीकार कर लिया था; लेकिन अचानक ज्वर हो जाने की वजह से वे न आ सके। उन्होंने एक ज़ोरदार और लम्बा सन्देश भेजा, जिसमें उन्होंने यह कहा कि—"आमतौर पर मुझे इस तरह ज्वर नहीं आता, इसलिये मैंने बड़ी ख़ुशी से और पूरे विश्वास के साथ इस महान समारोह में शामिल होने का वादा कर लिया था। यह समारोह जिस लम्बे भूत काल की हमें याद दिलाता है, उसकी दृष्टि से भी महान है और भविष्य के लिये जिस परस्पर सहयोग की ओर चीन और भारत को एक दूसरे के नज़दीक लाने की और उनमें नये नये सम्बन्ध क़ायम करने की हमें आशा दिलाता है, उनकी दृष्टि से भी यह महान है।" महात्मा गान्धी ने भी इन शब्दों में अपना आशीर्वाद भेजा—"मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि 'चीन-भवन' चीन और हिन्दुस्तान के बीच में जीवित और मूर्तिमान सम्बन्ध साबित हो।" इस तरह शान्तिनिकेतन में शान के साथ वह चीन-भवन क़ायम हुआ, जिसकी लोगों को बहुत दिनों से लगन थी। उसका नाम 'विश्वभारती चीन-भवन' रखा गया। एक साल बाद सन् १९३८ में मैं अपने देश वापिस गया और उससे अगले साल चौथी बार और आख़रीबार फिर शान्तिनिकेतन आया। चीन-भवन का सबसे बड़ा उद्देश्य यह है कि जो हिन्दुस्तानी विद्यार्थी और हिन्दुस्तानी विद्वान् चीनी भाषा, चीनी दर्शन, चीनी धर्म इत्यादि पढ़ना चाहें, उनके लिये सुविधायें पैदा की जाँय और इसी तरह जो चीनी विद्वान् और चीनी विद्यार्थी विश्वभारतीय में रहकर हिन्दुस्तानी भाषाओं, हिन्दुस्तानी दर्शन और हिन्दुस्तानी धर्मों का अध्ययन करना चाहें, उनके लिये भी सुविधाएँ पैदा की जाँय। संस्कृत भाषा के कम से कम पांच हज़ार प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं, जो अब मूल संस्कृत में नहीं मिलते लेकिन जिनके चीनी अनुवाद मौजूद हैं। हम इन सब ग्रन्थों का फिर से चीनी भाषा से अनुवाद कराने की तजवीज़ कर रहे हैं। इसी तरह हम संस्कृत से चीनी भाषा में और चीनी से संस्कृत और दूसरी आजकल की हिन्दुस्तानी ज़बानों में नई नई किताबों का अनुवाद कराने की सोच रहे हैं। इस बड़े काम के लिये हमने चीनी, संस्कृत, पाली, तिब्बती जैसी दूसरी भाषाओं का अध्ययन और एक दूसरे से मुक़ाबला करना शुरू कर दिया है। हम यह भी चाहते हैं कि प्राचीन इतिहास की पूरी तरह खोज करके हिन्दुस्तान और चीन के बीच जितना धार्मिक और सांस्कृतिक या दूसरी दूसरी तरह का सम्बन्ध जब जब हुआ, उस सब का पूरा पता लगावें। इन सब में बहुत धन, बहुत जन और बहुत समय की ज़रूरत है।

विश्वभारती चीन-भवन पिछले कई वर्षों से चल रहा है। मैं स्वीकार करता हूं कि अब तक हम बहुत कम काम कर पाये हैं। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि हमने अपनी कोशिशों में कमी कमी नहीं की और हमने अपने काम की अच्छी बुनियादें डाल दी हैं। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि हमारा भविष्य बहुत आशाजनक है। एक मशहूर चीनी कहावत है—"दरख़्तों को लगाने में दस साल लगते हैं और आदमियों को लगाने में सौ साल।" असली सांस्कृतिक अध्ययन और सांस्कृतिक शिक्षा में बहुत समय की ज़रूरत होती है। इस काम में हम किसी तरह जल्दी नहीं कर सकते। मैंने चीनी अध्ययन और शान्तिनिकेतन के विश्वभारती में 'चीन-भवन' के क़ायम होने की लम्बी कहानी इसलिये बयान की है ताकि हमारी शुरू की उन कठिनाइयों का पता लग जावे, जिनके दूर करने में हमें इतना समय लगा है।

इस देश में चीनी अध्ययन के लिये विश्वभारती सबसे पहली जगह है, लेकिन अब इस देश में और

जगहें भी हैं, जहाँ चीनी अध्ययन हो सकता है। जहाँ तक मुझे मालूम है कुछ साल से कलकत्ता यूनिवर्सिटी में भी चीनी भाषा इत्यादि पढ़ाने का इन्तज़ाम हुआ है। वहाँ यह काम मशहूर विद्वान् डाक्टर पी० सी० बागची की देखरेख में हो रहा है। अभी हाल में वहाँ का काम कुछ बढ़ाया गया है और चीन-भवन से मिस्टर टी० एफ़० चो नाम के एक चीनी विद्वान वहां भेजे गये हैं ताकि वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में इस काम को उन्नति दें। पश्चिमी भारत में पूना संस्कृत के अध्ययन के लिये मशहूर है। वहाँ भी चीन-भवन के मेरे पुराने मित्र और साथी मशहूर विद्वान् डाक्टर वासुदेव गोखले, जो इस समय फ़र्ग्यूसन कॉलेज के रेक्टर हैं, कुछ और मित्रों और साथियों को लेकर चुपचाप लेकिन बड़े गम्भीर तरीक़े से बड़ी सफलता के साथ चीनी भाषा और साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं। तिरुपति की 'श्री वेंकटेश्वर प्राच्य समिति' ने भी हाल में एक चीनी अध्ययन का केन्द्र खोला है, जिसके प्रबन्धकर्ता बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध आचार्य पण्डित एन० अय्यास्वामी हैं। पण्डित अय्या स्वामी मेरी अनुपस्थिति में चीन-भवन के आचार्य थे। लाहौर की 'इण्टर नैशनल एकेडेमी आफ़ इण्डियन कलचर' भी डाक्टर रघुवीर की देखरेख में चीनी अध्ययन का काम शुरू कर रही है और इस काम के लिये चीन-भवन के श्री फ़ा चो उन्हें सहायता दे रहे हैं। आन्ध्र विश्वविद्यालय में हालाकि चीनी अध्ययन का कोई ज़ाब्ते का प्रबन्ध नहीं है फिर भी उन्होंने सन् १९३८ में मुझे आधुनिक चीनी इतिहास पर व्याख्यान देने के लिये बुलाया। दार्जिलिंग में रामकृष्ण मिशन के स्वामी अभेदानन्द के मित्र स्वामी भवेशानन्द चीनी अध्ययन में लगे हुये हैं। इसके अतिरिक्त और कई अज्ञात मित्रों ने मुझे चीनी अध्ययन के सम्बन्ध में लिखा है।

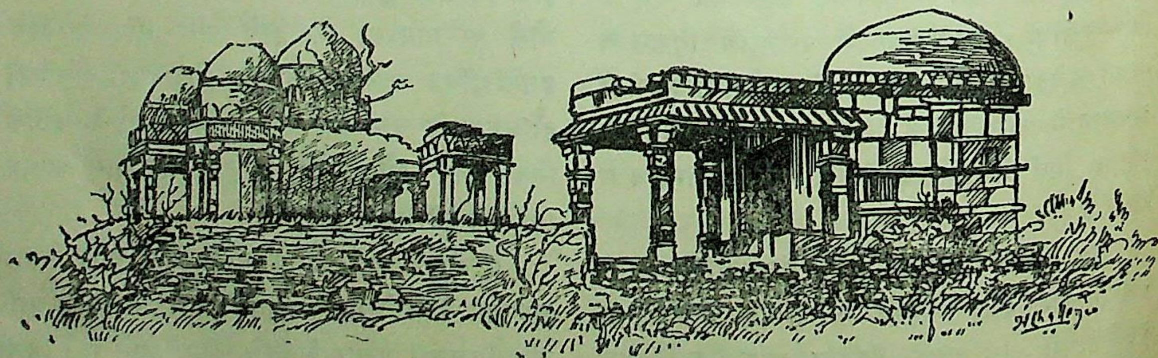
कुछ भारतीय मित्रों और संस्थाओं के अनुरोध पर चीनी बौद्ध त्रिपिटक के शंघाई संस्करण के दस सेट मैंने जनरलिस्मो चियांग काइ-शेक से प्राप्त किये। इस संस्करण में १९१६ विविध पुस्तकों का संग्रह है, जो संस्कृत से चीनी में आईं किन्तु अब जिनकी मूल प्रतिलिपि संस्कृत में नहीं मिलती। हर सेट में ४१४ जिल्दे हैं। इन पुस्तकों में न केवल बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिये व्यापक सामग्री है, बल्कि भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, भारतीय दर्शन, इतिहास भूगोल आदि के अध्ययन के लिये भी यथेष्ट सामग्री है। इन सेटों को मैंने निम्नलिखित जगह बँटवाया है—(१) कलकत्ता यूनिवर्सिटी, (२) पटना यूनिवर्सिटी, (३) हिन्दू यूनिवर्सिटी, (४) आन्ध्र यूनिवर्सिटी, वालटेर, (५) भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इनिस्टट्यूट पूना, (६) श्री वेंकटेश्वर ओरियण्टल इनिस्टट्यूट, तिरुपति, (७) इण्टर नैशनल एकेडेमी आफ़ इण्डियन कलचर, लाहौर, (८) महाबोधि सोसायटी, सारनाथ, (९) बङ्गाल बुद्धिस्ट एसोशियेशन, कलकत्ता और (१०) चीन-भवन। मुझे खेद है कि और अधिक सेट इनके नहीं मिल सके वरना कई मित्रों और विश्वविद्यालयों ने मुझ से इन सेटों के लिये अनुरोध किया था। युद्ध के बाद ही अब कुछ और सेटों का प्रबन्ध हो सकता है।

इन सब बातों को देखते हुये यह मालूम होता है कि इस देश में चीनी अध्ययन के लिये काफ़ी प्रेरणा, उत्साह और माँग है। मुझे विश्वास है इन सेटों के उपहार के फलस्वरूप निकट भविष्य में चीनी अध्ययन की तरफ़ और अधिक उत्साह और दिलचस्पी बढ़ेगी। यह न केवल चीन और भारत के लिये अच्छा लक्षण है, बल्कि सारे संसार का इसमें कल्याण होगा। क्योंकि दुनिया के इतिहास के इस ख़तरनाक मौक़े पर मानवता के लिये और संसार के लिये इससे अधिक कल्याण प्रद और कोई दूसरी बात नहीं हो सकती कि चीन और भारत एक दूसरे के अधिक निकट आयें और उनमें एक दूसरों को और अधिक समझाने की भावना पैदा हो।

प्राचीन काल में अनेक चीनी भिक्षु और विद्वान् अध्ययन के लिये भारत आते थे और भारतीय ऋषि और मिशनरी प्रचार के लिये चीन जाते थे। इनमें

अधिकांश दोनों देशों की भाषाएँ जानते थे और दोनों देशों का अध्ययन करते थे। सब में मशहूर भारतीय जो चीन गये वे हैं—काश्यप मातंग कुमार जीव और गुनरत। जो प्रसिद्ध चीनी भारत आये वे हैं—फ़ाहियान, हुएन-त्सांग और यि-त्सिंग। फ़ाहियान पहले चीनी विद्वान् थे जो भारत आये और उन्हें अपनी यात्रा में काफ़ी सफलता मिली। काश्यप मातंग पहले भारतीय थे जो चीन गये और वहाँ जाकर उन्होंने महान् बौद्ध धर्म का ज़ाब्ते से परिचय कराया। कुमार जीव और गुनरत दो महान् भारतीय अनुवादक थे जिन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी में अनुवाद किया। कुमार जीव ने ९४ और गुनरत ने ६४ पुस्तकों का चीनी में अनुवाद किया। हुएन-त्सांग और यि-त्सिंग बौद्ध त्रिपिटक के बहुत मशहूर चीनी अनुवादक थे। हुएन-त्सांग भारत से ६५७ पुस्तकें ले गये थे, जिनमें से ७३ पुस्तकों का उन्होंने स्वयं अनुवाद किया। यि-त्सिंग भारत से लगभग ४०० पुस्तकें ले गये जिनमें से ५६ पुस्तकों का उन्होंने स्वयं अनुवाद किया। यह न केवल चीनी संस्कृति की महान् प्राप्ति है, बल्कि दुनिया की सभ्यता के इतिहास में अनोखा कारनामा है। भारतीय और चीनी सन्त और विद्वानों ने अपने अनन्त श्रम और महान् काम से चीन और भारत दोनों देशों के बीच आश्चर्यजनक और गहरी सांस्कृतिक मित्रता क़ायम की थी क्योंकि वे एक दूसरे से प्रेम और आदर के साथ मिलते थे। सम्माननीय मित्रों की तरह वे आपस में शुभकामनाओं का आदान प्रदान करते थे। उनके आपसी सम्बन्ध में लेशमात्र भी स्वार्थभावना न थी। उनकी भावना, उनका व्यवहार, उनके शब्द और उनके काम सब शुद्ध सांस्कृतिक और धार्मिक थे।

दुर्भाग्यवश, महान् दुर्भाग्यवश भारत और चीन का यह आपसी सम्बन्ध धीरे धीरे विस्मृति के गर्त में चला गया। पिछली कई शताब्दियों में हमारे दोनों देशों के बीच आपसी सम्बन्ध का रास्ता अन्धकार और अवज्ञा के कूड़ा कर्कट से भरा हुआ था। अब हमारा कर्तव्य है कि हम न केवल अपने पुराने रास्ते पर वापस आयें, नये सन्देशवाहकों के लिये नये रास्ते बनायें। हमें न केवल अपना पुराना सम्बन्ध फिर से स्थापित करना है बल्कि दोनों देशों की जनता के बीच नया मैत्री-भाव और नये सम्बन्ध का सृजन करना है। भारत में इस समय जो चीनी अध्ययन का प्रयत्न चल रहा है वह महान घटनाओं के आगमन की केवल भूमिका है।





ममता

श्रीमती ... देवी चौधरी

"विदा दो ममते मुझे जाना है साधना-मन्दिर ... मेरी पुकार है—"स...त...य !"

इतना संक्षिप्त प्रश्न करते-करते स्तब्ध रह गई ममता। उस स्तब्धता ही से साधनार्थी स्नेह से परिपूर्ण हो उठा—धीरे से पीठ थपथपाते हुये उसने कहा—"हाँ सत्य।"

साधनार्थी की आँखों में मूर्त ममता ने देखा—दृढ़ता, कर्मनिष्ठा और किंचित अनुराग के साथ ही कुछ जिज्ञासा भी है—जैसे वह ममता के अन्तर को टटोल कर देखना चाहता है—उसके अन्दर मेरी साधना के प्रति अगाध श्रद्धा अतिरिक्त कुछ और तो नहीं है।

ममता तुरन्त ही सावधान हो गई, उस छोटे प्रश्न—"सत्य" में उसने भारी चतुराई से परिवर्तन दिखा दिया—"सत्य साधना करने जाते हो ओह !......"

वह मुसकराने लगी। सर्वाङ्ग में प्रसन्नता भर कर शब्दों में ओज, उत्साह भर कर, वह साधक की साधना के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा, भक्ति, आदर, सम्मान, अनुपम अनुराग, अकथनीय प्रफुल्लता की चेष्टाएँ प्रकट करने लगी। साधक की कर्मनिष्ठा के प्रति गर्व, अभिमान और उसकी विदा के लिए आतुरता, तत्परता। वह स्तब्धता, तटस्थता में परिणत हो गई।

शंकित साधनार्थी आश्चर्य चकित और मुग्ध हो उठा। आँखों के सम्मुख वह तन-मन-प्राण रखनेवाली जीवित प्रतिमा उसकी साधना की, कर्मनिष्ठा की साक्षात श्रद्धा रूपी प्रतिमा है। किन्तु न जाने क्यों इस समय साधनार्थी इस प्रतिमा की कर्मनिष्ठा पर गर्व न कर सका। उसका मन कुछ टूटने-सा लगा। शरीर में रोमांच होने लगा। बिदाई की तटस्थता में कुछ शिथिलता आने लगी। परन्तु ममता की ...स्थता, और तत्परता ने साधनार्थी के उन भावों ... प्रकट होने का अवसर नहीं दिया। आदर से श्रद्धा युक्त दोनों हाथ उठा कर उसने प्रणाम किया। और जैसे इस प्रकार विदा की अन्तिम क्रिया समाप्त हो गई।

अब विलम्ब के लिए स्थान शेष नहीं था। उसी का अनुकरण करके साधनार्थी ने लक्ष्य मार्ग की ओर मुख फेरा; किन्तु विलम्ब के आकांक्षित मन को एक साधन सूझ गया—"आओ ममते तुम भी मेरे साथ मार्ग का अवलम्बन करो।"

इस आदेश के विरुद्ध ममता कोई चेष्टा कैसे करे। साधक ने प्रसन्न हो कर अपनी श्रद्धा की प्रतिमा को वरदान दिया है। इससे उपयुक्त उसके लिए और क्या गौरव, क्या प्रसाद, क्या प्राप्ति हो सकती है! उसके अन्तर की श्रद्धा आज धन्य हो गई है। फिर भी ममता की क्षण भर पहले की प्राप्त की हुई चेष्टायें उसी के अन्तर के छिपे हाहाकार में विलीन होने लगीं; वह चुपचाप साधनार्थी के साथ चलने लगी।

साधनार्थी क्या जानें—उसने अपने मन, प्राण, आत्मा, शरीर, सब के अणु-अणु से सम्पूर्ण शक्ति खींचकर विदाई के अन्तिम क्षण तक के लिए विद्युत गति उत्पन्न की थी। अब तो वह शक्ति-दीपक की अन्तिम लौ की भांति समाप्त होना चाहती है। साधक तुम्हारे वरदान को सहेजने के लिए वह अब इस निधि का कहां से संचय करे।

(२)

मार्ग ही में अवस्थायें विपरीत हो गईं। साधनार्थी ने क्षणिक उत्पन्न हुए अपने उद्वेग को, साधना को, उपेक्षित करनेवाले स्नेह रूपी मोह को, अनुराग, करुणा को संयमित करके अपने को कर्मनिष्ठा के प्रति तटस्थ, दृढ़ और अटल कर लिया।

और ममता के त्रास ने, आतंक ने उसकी सारी गति, प्रगति, सारी संचित शक्ति पर आतंक जमा कर उसे उसी अस्फुट—"स···द···य ! प्रश्नावली अवस[illegible] में पहुंचा कर मुख का अवगुण्ठन उघार दिया[illegible] हृदय का परदा उलट दिया। साधनार्थी ने भली[illegible] जान लिया—ममता के पास उसके प्रति अपार [illegible] है। आदर सम्मान भक्ति सब कुछ है। उसकी [illegible] का पात्र, साधक अपनी साधना आराधना में, कर्मनिष्ठा में अविचल रहे, अग्रसर रहे। अपनी कर्मनिष्ठा की अपूर्व प्रतिभा से श्रद्धा को इतना दान दे कि उसका हृदय परिपूर्ण हो जाय। परन्तु इन सब के अंतरङ्ग में जो कुछ छिपा है; उससे वह अपने नाम ही को अधिक सार्थक करती प्रतीत होती है।

हाँ, उस सार्थकता के वशीभूत होकर वह साधक की साधना को निरर्थक करना नहीं चाहती। वह नहीं चाहती कि उसके नाम की अनुरूपता साधनार्थी के हृदय में इस प्रकार चमत्कृत हो उठे कि उसकी कर्मनिष्ठा के मार्ग का रोड़ा बने। यह सब कुछ सही, फिर भी साधनार्थी ने भली भाँति देख लिया—"ममता" ममता है!

साधना स्थल पर पहुंच कर और अपने संयम में सब कुछ डुबाते हुये साधनार्थी ने अपने गले में लटकती चादर के छोर से ममता की आँखें पोंछ दीं। और ममता की इस असंयित अवस्था पर, उसके हृदय की धड़-धड़ करने वाली स्नेह, प्यार, अनुराग, प्रेम, ममता, वात्सल्य, अनुताप, संताप, करुणा, पीड़ा, विह्वलता असहनशीलता, कर्तव्य-हीनता, अस्थिरता जैसी अनेकों चेष्टाओं पर दयार्द्र होकर वह मुसकरा उठा। और नम्रता से कहा—"तुम लौट जाओ ममते, यह मार्ग बड़ा कठोर है।" "मेरी चिन्ता न करना, अच्छा विदा।"

साधनार्थी ने साधना-मन्दिर के पट बन्द कर लिए। ममता लौट नहीं सकी। वह अपने मन रूपी पारावारा के उमड़ते तूफ़ान को रोकती हुई वहीं द्वार पर बैठ गई।

(३)

[illegible] अगाद [illegible] भास हुआ—साधनार्थी साधना स्थल में पहुँच कर भी उसकी पूर्णता [illegible] को न[illegible] पा रहे हैं। मन्दिर के पट जिस प्रकार कठोरता से जकड़ दिये हैं हृदय के पट उस प्रकार बन्द नहीं होते हैं। आँखें मूंदे वे पूर्णतः साधना में तन्मय हो जाना चाहते हैं; किन्तु ध्यान में विचलित हो [illegible] रहे हैं।

ममता सोचने लगी—"इस साधना की परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए साधक ने कितने कष्ट सहे हैं। कैसी कैसी घोर विपत्तियों का सामना किया है। अपने जीवन के बहुमूल्य दिन और जीवन की सुनहरी घड़ियाँ सब इसी साधना पर न्योछावर कर दी हैं। अन्तरजगत की कोमल स्निग्ध-चेष्टाओं को ढूंढ़-ढूंढ़ कर विसर्जन किया है। अपूर्व त्याग से संयम की पराकाष्ठा ढूंढ़ी है। फिर भी आज एक रस होकर वे अपनी इसी ध्येय रूपी साधना में पूर्णतः लीन हो जाँय, ऐसी बात नहीं बन रही है।

ममता को मानो अवसर मिल गया। उसने मन्दिर के पट ज़ोर से खड़खड़ा दिये—सुनो—सुनो साधक मेरी एक बात सुन लो, अब मैं जा रही हूँ।

साधनार्थी ने द्वार खोल दिया—दूर ही से हाथ जोड़कर ममता ने कहा—साधक, मैं धर्म, कर्म, पूजा, पाठ, ध्यान, योग्य, जप, तप, पाप, पुण्य कुछ नहीं जानती। तुम्हारी साधना को अपना जीवन आदेश मानकर उसका पालन करने के लिये श्रद्धा को अपना इष्ट बनाया था। उसमें सफलीभूत होने के लिये मैं अपने को सर्वथा शून्य निस्पन्द करने की चेष्टा में रत थी; किन्तु मैं सफलीभूत नहीं हो सकी। साधक! मेरे नाम ने अपना अस्तित्व मेरे अन्तर से मिटने नहीं दिया, बल्कि मेरे अन्तर के भीतरी सतह में समाकर जैसे वह सर्वोपरि बनकर रहना चाहता है। मेरी हार का वह दृश्य तुमने देख ही लिया है। फिर भी मेरे लिये यह कठोर आदर्श; मेरी चिन्ता न करना!

साधनार्थी फिर भी मूक स्तब्ध खड़ा ममता की ओर टुकुर-टुकुर निहारता रहा। यह मूकता ममता के लिये असह्य हो [illegible] वह

वह रो उठी--"यह कठोरता की चरम [illegible] है साधक! और उसने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि साधक [illegible] मुख पर डाली। मानो कहती हो—अपने अन्तर [illegible] टटोल कर उत्तर दो। यह कठोरता ग्रहण करना [illegible] तुम्हारे ही वश की बात है? क्या तुम्हारे मन [illegible] विजय ही विजय है। पराजय का किंचितमात्र [illegible] अंश नहीं है?

ममता ने देखा—साधनार्थी की आँखें स[illegible]ल हो आई हैं। उसका हृदय धक से हो गया। कहीं साधक की साधना डगमगा न जाय।

किन्तु ममता सन्तुष्ट हो गई, उसे अब अपनी हार पर लाज नहीं है--ग्लानि नहीं है। उन सजल आँखों में उसने देख लिया—उसी की भांति साधक की भी हार हुई है।

किन्तु वह नहीं चाहती, कदापि नहीं चाहती--[illegible]ह हार साधक की कर्मनिष्ठा पर प्रहार करके अपनी जय-घोसणा करे।

ममता अपनी मोह को खींचती हुई और श्रद्धा को बखेरती हुई भाग चली--अब द्वार बन्द कर लो साधक, ईश्वर तुम्हारी कार्य्यनिष्ठा में सहायता करें। मैं जाती हूँ तुम अपनी साधना में तन्मय रहो।

कर्मनिष्ठा का भार समझते हुए साधक शिथिल-सा आसन पर बैठ गया और सोचने लगा--मानवता के लिये शायद वही राह अनुकूल है जिस पर ममता भागी जा रही है।

चाह उस क्षण की

श्री सुधीन्द्र एम० ए०

क्या करूँ मैं चाह उस क्षण की?
मृत्यु मुझको जब मिलेगी गोद अमरण की?

श्वास दो बजती रहेगी वेणु मेरी,
स्पर्श दो सजती रहेगी रेणु मेरी,
दो प्रबल आघात पग का,
गा उठे अवसाद मग का,
किन्तु यदि छाया न दोगे निज चरण की,
जा छिपेगी चरण में झंकार जीवन की!

झलक दो सुषमित बनेंगे चित्र मेरे,
रूप दो तो बने ध्यान पवित्र मेरे,
प्रेम का दो एक मधु क्षण,
हो उठे उद्गार मधुकण
किन्तु पूछोगे न यदि पल बात मन की,
हृदय लेगी बांध मर्म-पुकार क्रन्दन की!

स्मरण दो तो हार भी आनन्द होगी,
मधुर चितवन ही मिलन का छन्द होगी,
बाहु यदि अपने बढ़ाओ—
ये चिरन्तन दुख मिटाओ,
किन्तु यदि आशीशवाणी दो मरण की,
मुक्ति पा लेगी मुझी में मुक्ति बन्धन की!

अन्न-कष्ट दूर [illegible]ने का [illegible]

श्री [illegible] आर्य

आज देश की अन्न-समस्या निराशा जनक है। बंगाल की स्थिति तो अकथनीय है। साधारण दि[illegible] में ही बंगाल में अन्न की कमी रहा करती थी और अपनी कमी पूरी करने के लिए उसे बर्मा से चावल मँगाना पड़ता था। बर्मा पर जापानियों का क़ब्ज़ा हो जाने से वह आशा भी समाप्त हो गई। बर्मा से सहायता मिलना बन्द हो जाने के कारण बङ्गाल को अब बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त और मध्य प्रान्त पर, जहां दूसरे प्रान्तों में भेज सकने के लिए ख़रीफ़ की फ़सल होती है, निर्भर रहना पड़ता है; किन्तु इन प्रान्तों में भी इस वर्ष खरीफ़ की फ़सल दुर्भाग्यवश नष्ट हो गई। फलतः बङ्गाल की खाद्य-समस्या जटिलतम हो गई और लाखों की संख्या में लोग क्षुधा-रोग से मर रहे हैं, मां बच्चों को बेच रही हैं, पति पत्नियों को बेच रहा है और लोग प्रति क्षण मौत से खिलवाड़ कर रहे हैं। स्थिति यहां तक ख़राब हो गई कि केन्द्रीय सरकार को भी स्थिति सुधारने की योजनाओं पर विचार करना पड़ा। दिल्ली, और पञ्जाब में खाद्य-सम्मेलनों का तांता-सा लग गया है, किन्तु इनका कोई फल निकलता दिखाई नहीं देता और समस्त देश में व्यापक रूप से कार्यान्वित करने के योग्य और वर्तमान अन्न-कष्ट दूर करने के योग्य कोई सम नीति-निर्धारण असम्भव सा ही दिखाई दे रहा है। केन्द्रीय सरकार ने तथाकथित नियन्त्रण-नीति प्रान्तीय सरकारों के हाथ में सौंप दी है और जिन प्रान्तों में अधिक अन्न उत्पन्न होता है, वहां से कम अन्न उत्पन्न होने वाले प्रान्तों के लिए अन्न भेजने की व्यवस्था भी अपनी सुविधा के अनुसार करने की अनुमति प्रान्तीय सरकारों को दे दी है। केन्द्रीय सरकार ने खाद्य-स्थिति सुधारने की दीर्घकालीन योजना कार्यान्वित करने का भार अवश्य ही अपने ऊपर ले लिया है। बङ्गाल में सिंचाई की त्रय-वार्षिक [illegible]जना के लिए केन्द्रीय सरकार ने ३६ लाख रुपये [illegible] सहायता [illegible]ना स्वीकार किया है। इस योजना ([illegible]) अनुसार यदि बङ्गाल सरकार भी १ करोड़ ७२ [illegible]ख रुपया ख़र्च करना स्वीकार करे, तो बंगाल की [illegible]-उत्पत्ति बढ़ाने के लिए इतनी ही रकम और ख़र्च होगी। निस्सन्देह केन्द्रीय सरकार का यह कार्य सरा[illegible]ीय है; किन्तु इतने से वह देशव्यापी नियन्त्रण योजना कार्यान्वित करने के अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकती। केन्द्रीय सरकार द्वारा बिना किसी केन्द्रीकरण के अपने आप नियन्त्रण की योजना प्रान्तीय सरकारों द्वारा कार्यान्वित किये जाने की अपेक्षा, इस बात की आवश्यकता अधिक है कि केन्द्रीय सरकार ही सारा भार अपने ऊपर ले ले। इसी कारण से आज बंगाल में कहीं कहीं ८० रुपया मन चावल मिल रहा है, जब कि उड़ीसा और मध्य प्रान्त में १० रुपया मन मिलता है। जबकि पञ्जाब में ९॥) मन गेहूं मिले; उस समय वही गेहूँ बंगाल में २५) मन मिले, क्या यह स्थिति लज्जा जनक नहीं है?

यदि यह मान लिया जाय कि १९३७ से १९३९ तक जन-संख्या में ५ प्रतिशत की वृद्धि हुई है, तो यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस समय होनेवाली अनाज की खपत ५ करोड़ ३४ लाख ७४ हज़ार टन से बढ़ कर १९४२-१९४३ में ५ करोड़ ६१ लाख ४४ हज़ार टन हो गई है। यदि अन्न प्राप्ति के समस्त साधनों का भी उपयोग कर लिया जाय, तो भी ५ प्रतिशत कमी बनी ही रह जायगी। यदि संघटित भारत के अङ्गों के रूप में विभिन्न प्रान्त इस कमी को बांट लें तो वह पूरी हो जायगी।

दीर्घकालीन योजना क्या हो?

यदि जनता का कष्ट दूर करना है तो उसके लिये यह भी आवश्यक है कि तात्कालिक योजना के साथ

ही साथ दीर्घकालीन योजना भी बनाना आवश्यक है। युद्ध के पूर्व भी [illegible] की कृषि-समस्या उपेक्षित ही थी। कृषि-व्यवसाय ह्रास का अवस्था में था और खेतों की उत्पादन-शक्ति पर उसका बहुत बुरा प्र[illegible] पड़ रहा था। यदि उसी समय कृषि-सम्बन्धी अ[illegible]सन्धान किये गये होते और खेतों की उत्पादन-श[illegible] बढ़ाने की योजनाएँ कार्यान्वित की गई होतीं, [illegible] आज का संकट ही उत्पन्न न हुआ होता। इंगलैंड ने भी, जो अन्न के लिए सदा दूसरे देशों पर ही निर्भर रहा है, युद्धारम्भ के एक वर्ष के भीतर ही अपनी कृषि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर ली, जिससे उसे दूसरे देशों का कम से कम मुहताज बनना पड़े। किन्तु भारत में हम लोग इसी बहकाव में फूले बैठे रहे कि हमारे देश में अन्न की भरमार है और सदा हमारे पास अन्न का अतिरिक्त भण्डार भरा रहेगा। यहाँ कोई भी दीर्घकालीन योजना—बेकार पड़ी भूमि जोतने की योजना भी—कार्यान्वित नहीं की गई। हमारे देश में क़रीब ४७ लाख एकड़ ज़मीन ऐसी है जो बंजर पड़ी रहती है, ९७ लाख एकड़ परती पड़ी रहती है, और ८९ लाख एकड़ कृषि के लिए अप्राप्य है। परती ज़मीन में से ९ लाख एकड़ निश्चित रूप से कृषि के योग्य नहीं है। बंगाल में साधारणतः बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जिनके पास खाली और बेकार ज़मीन पड़ी हो। किसी न किसी रूप में लोग चप्पा-चप्पा ज़मीन का उपयोग कर डालते हैं। इसलिए अच्छा तो यह होता कि बेकार पड़ी ज़मीन का उपयोग करने का उपदेश देने के बजाय कृषि के अनुपयुक्त भूमि को उपयुक्त बनाने का प्रयास किया गया होता, जिससे देश की अन्न-समस्या बहुत कुछ दूर करने में सहायता मिलती। सरकार को चाहिये कि वह बेकार ज़मीनों को ख़रीद ले और बाद में लगान की दर बढ़ाकर ज़मीन ख़रीदने में ख़र्च रक़म वसूल कर ले। आँकड़ों पर विचार करने पर हमें जो निराशा की झलक मिलती है, वह यह है कि जबकि सिंचाई के क्षेत्र में वृद्धि हुई है, बंजर और परती ज़मीनों में कमी होने के बजाय उन खेतों में भी कमी हो गई है, जिनमें फ़सल बोई जाती है। १९३०–३१ में २ करोड़ २९ लाख एकड़ ज़मीन में फ़सल बोई गई थी, किन्तु १९३९–४० में २ करोड़ १० लाख एकड़ ज़मीन ही रह गई। सिंचाई का क्षेत्र ४९ लाख एकड़ से बढ़कर ५४ लाख एकड़ हो गया है।

इससे प्रकट होता है कि देश की कृषि-व्यवस्था के दोष बहुत भीतर तक घुस गये हैं और १९३० तथा उसके बाद के अर्थ-संकट काल के फल हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि फ़सल बोये जाने वाले खेतों के क्षेत्र में और अधिक विस्तार किया जाय। इसके लिये यदि आवश्यक हो तो जूट की खेती भी कम कर दी जाय। जूट की खेती में इस वर्ष ३ लाख एकड़ की कमी हुई है, किन्तु 'अधिक अन्न पैदा करो' आन्दोलन के लिए इसमें और कमी की आवश्यकता है। जूट की खेती में कमी के साथ साथ देश के बाहर बड़े परिमाण में अनाज का निर्यात बन्द कर दिया जाय।

विचारणीय विषय

अनाज का निर्यात बन्द करने के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि विदेशों से भी बड़े परिमाण में अन्न का आयात किया जाय। आस्ट्रेलिया में बहुत बड़े परिमाण में गेहूँ पैदा हुआ है। वह बिना किसी असुविधा के भारत को गेहूँ भेज सकता है। इस सम्बन्ध में शीघ्रातिशीघ्र आस्ट्रेलिया की सरकार से भारत सरकार को बातचीत करनी चाहिये। इस समय सभी प्रान्तीय सरकारों ने, चाहे उनके प्रान्त में आवश्यकता से अधिक अन्न उत्पन्न होता हो, चाहे कम, समान रूप से अपने प्रान्तों के बाहर अनाज भेजने पर रोक लगा दी है। इसके फलस्वरूप अव्यवस्था और अनियन्त्रण उत्पन्न हो गया है। इसलिये यह आवश्यक है कि देश के विभिन्न प्रान्तों के बीच, परस्पर हित के लिये अन्न की आवाजाही अबाध रूप से हो और केन्द्रीय सरकार यह ध्यान में रखे कि उक्त आवाजाही ठीक से होती है या नहीं।

वर्तमान खाद्य-संकट का एक कारण यह भी मालूम होता है कि सरकार सीमित संख्या में व्यापारियों को लाइसेन्स दे रही है। इसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि सरकार ने लाइसेन्सों की संख्या सीमित कर धनी व्यापारियों को लाभ उठाने की शक्ति में वृद्धि कर दी है और इन धनी व्यापारियों का अ[illegible] के व्यापार पर एकाधिपत्य हो रहा है। यदि बिना किसी रोक थाम के लाइसेन्स बाँटे गये होते, तो व्यापार में बहुत अच्छी प्रतिद्वन्द्विता होती और इस से मूल्य वृद्धि रुक गई होती। बङ्गाल में अन्न एकत्र करने वालों के विरुद्ध हाल में की गई कार्रवाई के सम्बन्ध में कुछ कहना अनावश्यक है।

मुद्रा-वृद्धि रोकना भी आवश्यक

यह कम महत्व की बात नहीं है कि मुद्रा-वृद्धि की दृष्टि से इस प्रश्न पर अब तक सरकार ने विचार करना आवश्यक नहीं समझा और न इस ओर उसका ध्यान ही आकृष्ट हुआ। मुद्रा-वृद्धि का जो परिणाम अब स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा है, उससे यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि जब तक मुद्रा वृद्धि पर रोक नहीं लगा दी जाती, तब तक खाद्य-संकट संतोष जनक रूप से दूर नहीं किया जा सकता। प्रोफ़ैसर सी० एन० वकील का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि 'व्यवसाय-विभाग मूल्य-नियन्त्रण में तब तक निश्चय ही विफल होता रहेगा, जब तक अर्थ-विभाग अबाध रूप से मूल्य-वृद्धि की नीति बरतता रहेगा।' उनका यह भी कहना है कि जब तक मुद्रा-वृद्धि जारी रहेगी, तब तक अन्न इकट्ठा कर छिपा कर रखने वालों को इस बात के लिए प्रोत्साहन मिलेगा कि वे चीज़ों का मूल्य मनोनुकूल होने तक और तब तक, जब तक अपनी चीज़ के लिए अधिक से अधिक मुनाफ़ा न मिले माल छिपाये रखें। हाल में ही गेहूँ पर से नियन्त्रण उठा लिया गया है और उससे ही पता चल जाता है कि हवा का रुख किस ओर है। सरकार ने अपनी इस कार्रवाई का कारण जनता को नहीं बताया, यद्यपि इस सम्बन्ध में उसे सारी बात जनता को बता देनी चाहिये थी। इससे [illegible] मान लेना अनुचित न [illegible] कि सरकार ने इसके [illegible] निश्चय ही यह स्वीकार [illegible] लिया है कि [illegible] वृद्धि के कारण मूल्य में होने वाली वृद्धि [illegible] रोकना [illegible]हती है। इसी स्थिति से लाभ उठा कर [illegible]तिये अनुकू[illegible] परिस्थिति उत्पन्न होने तक के लिए [illegible]ना माल रोक रखना चाहते हैं। दुर्भाग्यवश सर[illegible] ने गम्भीरता पूर्वक मुद्रा वृद्धि की समस्या पर वि[illegible] करना आरम्भ नहीं किया है और न उसने यही [illegible]ीकार किया है कि मुद्रा वृद्धि बहुत बुरी तरह से हो [illegible]ी है।

केवल सरकार ही नहीं बल्कि व्यापारियों के भी बहुत से नेता अभी तक इसी भ्रम में हैं कि देश में मुद्रा-वृद्धि नहीं हो रही है। कुछ दिनों पहिले सर चुन्नीलाल बी० मेहता ने एक वक्तव्य में यह सिद्ध करने का कष्ट उठाया था कि किसी भी प्रकार मुद्रा-वृद्धि नहीं हो रही है। उनका वक्तव्य प्रकाशित होते ही प्रोफ़ैसर अडारकर ने सर चुन्नीलाल की बहुत सी भूलों का पता उन्हें बता दिया। उनका कहना है कि सर चुन्नीलाल ने 'बंकों में जमा रकम और पूंजी' दोनों का एक ही अर्थ लगा कर घपला कर दिया है। सर चुन्नीलाल का यह भ्रम है कि 'डिफेन्स लोन' और 'ट्रेजरी बिल' मुद्रा-वृद्धि पर रोक-थाम किये हुए हैं, यह स्वभाविक है कि बड़े-बड़े व्यापारियों को मुद्रा-वृद्धि के कारण होने वाली मूल्य-वृद्धि से प्रसन्नता हो, जैसा कि प्रोफ़ैसर सी० एन० वकील का कहना है कि मूल्य-वृद्धि व्यापारियों के लिये उन्नति का पथ-प्रदर्शक है, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि यह दौलत केवल 'काग़ज़ी दौलत है', देश की आर्थिक स्थिति अधिक से अधिक बिगाड़ कर ही वे सम्पत्ति कमाते हैं।

कुछ घटनाओं से यह सिद्ध हो जाता है कि मुद्रा वृद्धि के कारण वस्तुतः कितना संकट उत्पन्न हो गया है। अर्थशास्त्र का कोई भी विद्यार्थी इन घटनाओं की ओर से उदास नहीं रह सकता। अर्थशास्त्र के बहुत से विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उत्पादन

में जब कि केवल २० या ३० प्रतिशत की ही अपर्याप्त वृद्धि हुई है, उस समय कागजी मुद्रा में २१८ प्रतिशत की वृद्धि से [illegible] हो जाता है कि देश की मुद्रा-वृद्धि की समस्या कितनी जटिल हो है। इस कारण से कि यह मुद्रा-वृद्धि सरकार के आय-व्यय से सम्बद्ध नहीं है, इस प्रश्न का निबटारा करना अवश्य ही कठिन हो गया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सरकार पर इस बात का दोष मढ़ा जा सकता है कि वह अपने युद्ध-व्यय के लिये नोट छापे जा रही है। इसी तर्क के कारण लोग तुरन्त यह मान बैठते हैं कि देश में मुद्रा-वृद्धि है ही नहीं। वे यह नहीं जानते कि मुद्रा-वृद्धि ने बिलकुल दूसरे ही ढङ्ग से अपना प्रभाव दिखाया है। इस देश में ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रों की सरकार जो कुछ ख़रीद करती है, उसके लिये रुपया देने की जो ज़िम्मेदारी भारत सरकार ने अपने सिर ले रखी है, उसके फलस्वरूप मुद्रा-वृद्धि हो रही है। बजाय इसके कि भारत सरकार सामान ख़रीदने वाले देशों को ही रुपये की व्यवस्था इस देश में क़र्ज लेकर, या अपना सामान बदले में बेचकर या अपने देश का सोना बेचकर करने दे, उसने ऐसी नीति अपनाई जो भारत की स्थिति की दृष्टि से उसके लिये पूर्णतया अनुपयुक्त है। सामान ख़रीदने वाले देशों को ब्रिटिश सरकार ने लन्दन में पौंड के रूप में जितना भी क़र्ज़ दिया था, उन्हें सब स्वीकार कर भारत सरकार ने यहाँ नोट छापना शुरू कर दिया, जिससे असीमित मुद्रा-वृद्धि हो गई। नोटों की बढ़ती और परिवर्तन के योग्य सामान का उत्पादन, इन दोनों के बीच जो अन्तर है, उसी के फलस्वरूप मुद्रा-वृद्धि अधिकांशतः हुई है। भारत में जिस प्रकार की मुद्रा-वृद्धि है उसकी तुलना 'फेडरल रिजर्व सिस्टम' के डाक्टर गोल्डेन वेसर के इन कथन से की जा सकती है कि जबकि सामान ख़रीदने के लिये जितने रुपये की आवश्यकता है, वह प्राप्य सामग्री से बहुत अधिक हो जाता है, और जब रुपयों के रूप में देश की आमदनी उत्पादन से अधिक हो जाती है, तब मुद्रा-वृद्धि होती है।

भारत की आज यही दशा है; चीज़ तो ज़्यादा है नहीं, मुद्रा बहुत अधिक अवश्य है, और इसी कारण [illegible] मुद्रा-वृद्धि हो गई है। मूल्य की दर में जो अत्य[illegible]क वृद्धि हुई है वह भी मुद्रा-वृद्धि का प्रमाण है। [illegible] इस सम्बन्ध में भारत तथा कनाडा और अमे[illegible] संयुक्तराष्ट्र जैसे विदेशी राज्यों में जो मूल्य की [illegible] के बीच अन्तर है, उस पर विचार करना आवश्यक है। यद्यपि सबसे ताज़े आंकड़े प्राप्य नहीं हैं, फिर भी निम्नलिखित आंकड़ों से ही काम चल जायगा। १९४० के दिसम्बर और १९४१ के दिसम्बर के बीच कलकत्ता और बम्बई के मूल्य की दर में क्रमशः २४ और ४३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी समय कनाडा और अमेरिकन संयुक्तराष्ट्र के मूल्य की दर में क्रमशः केवल ७ और १४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। यह मारके की बात है कि भारत में १९४१ के अन्त से ही सबसे अधिक मूल्य-वृद्धि हुई है। यह भी महत्व की बात है कि ज्यों ज्यों रुपये में चांदी की कमी होती जाती है त्यों त्यों बाज़ार में भी उसका मूल्य गिरता जाता है। राष्ट्र-संघ के सब से ताज़ा प्रकाशन 'मनी एण्ड बैंकिंग—१९४०–४२' से पता चलता है कि दिसम्बर १९३८ में एक रुपया ३४·३६ सेन्ट के बराबर था, और मार्च १९४२ में उसका मूल्य गिर कर ३०·२२ सेण्ट हो गया। रुपये के मूल्य में इस प्रकार की कमी के साथ साथ चीज़ों के दाम में इतनी बढ़ती होती जा रही है कि मुद्रा-वृद्धि का पूरा परिणाम स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है।

इस अन्न-समस्या के दूसरे अङ्गों की भी हमें उपेक्षा नहीं कर देनी चाहिये। वैज्ञानिक कृषि-व्यवस्था के बिना 'अधिक अन्न पैदा करो' आन्दोलन कभी सफल नहीं हो सकता। अधिक उत्पत्ति के लिये आधुनिक यन्त्रों का उपयोग आवश्यक है।* अच्छे यन्त्र तैयार करने, और किसानों में अच्छे बीज तथा खाद मुफ़्त बाँटने का भी प्रबन्ध होना चाहिये।*

* यह सब स्वाधीन देशों के ही लोग कर सकते हैं।—सम्पादक

अवैज्ञानिक रीति से खेतों का टुकड़े टुकड़े जो बटवारा हुआ है, उसके स्थान पर बड़े बड़े खेत रहें। निश्चय ही इसके फलस्वरूप सम्मिलित खेती की प्र[illegible] आरम्भ हो जायगी। भारत में फ़सल में कीड़े आ[illegible] लग जाने के कारण प्रति वर्ष २ अरब रुपये की [illegible] होती है। ११ प्रान्तों में से केवल एक ने और [illegible]ते देशी राज्यों में से केवल ४ ने इनसे बचने का उ[illegible] अब तक सोचा है।

फ़सल का बीमा भी आवश्यक प्रश्न है; किन्तु इस ओर जनता का ध्यान उतना आकृष्ट नहीं होता जितना कि होना चाहिये। हाल में ही एक देशी राज्य ने इस प्रकार के बीमे की योजना बनाई है और उसे कार्यान्वित भी किया है। यद्यपि इस योजना का व्यौरा अभी नहीं मिला है फिर भी कीड़े मकोड़ों से अन्न की बरबादी रोकने के लिये यह आवश्यक है। यदि फ़सल के बीमे की [illegible] कार्यान्वित की गयी [illegible] फ़सल की जमानत [illegible] किसानों को बङ्कों से भी [illegible] मिल सकता है। फ़सल के मालिकाना हक़ के [illegible] सम्बन्ध में झगड़ा न होने पावे इसके लिये किसान-[illegible] क़ानून में भी तदनुकूल परिवर्तन कर देना चाहिये।

संक्षेप में वर्तमान अन्न संकट दूर करने के लिये अधिक से अधिक ज़मीन में खेती, छोटे-छोटे खेतों [illegible] जगह बड़े-बड़े खेतों में खेती, ज़िला बोर्डों द्वारा ट्[illegible]वेल लग जाना, उत्पादन शक्ति में ह्रास रोकना, स[illegible]लित खेती और फ़सल का बीमा आदि तात्कालिक और दीर्घकालीन योजनाएँ देशव्यापी योजना के रूप में 'रेशनिंग' के साथ साथ कार्यान्वित की जानी चाहिए।

गीत

ब्रह्मदत्त विद्यार्थी

जीवन की ज्योति जाग

अन्धकार दूर भाग
अपना हो जाय भुवन
अपनी भू - स्वीय सदन
गूंजे स्वातन्त्र्य राग
बह कर सद्‌गुण पराग

प्रथम क्रान्ति पुनः शान्ति
फैले सब ओर क्रान्ति
होवे सब दूर भ्रान्ति

जीवन की ज्योति जाग

दो आदर्श खलीफ़ा : अबुबक्र और उमर

पं० [illegible]रलाल

कुस्तुनतुनिया के राजसिंहासन पर [illegible]नी सम्[illegible] हरकल (हेराक्लियस) राज कर रहा था। हरकल [illegible] के सब से अधिक शक्तिशाली सम्राटों में गिना ज[illegible] है। चन्द साल ही पहले उसने ईरानी सेनाओं [illegible] शिकस्त देकर उन्हें अपने साम्राज्य की सरहद[illegible]स बाहर खदेड़ दिया था। हरकल ने यह भी [illegible]फ़ौरन समझ लिया कि अरबों की बढ़ती हुई श[illegible] रोम साम्राज्य के लिए बहुत ख़तरनाक है। इसलिए उसने एक विशाल सेना अरबों को परास्त करने के लिए जमा की और स्वयं राजधानी कुस्तुनतुनिया से चल कर शाम प्रान्त के हिम्स नामक नगर में आकर डेरा डाला।

ख़लीफ़ा अबुबक्र को एक साथ पूरब और पश्चिम दोनों ओर के साम्राज्यों से युद्ध करना पड़ा। हरकल की तैयारियों का समाचार पाते ही उसने समस्त अरब राष्ट्र को अपने राष्ट्रीय अस्तित्व और अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए तैयार हो जाने का हुक्म दिया। सोरह बिल, यज़ीद बिन अबुसुफ़िया, अबु उबैदा और अम्र, इन चार सिपहसालारों के अधीन चार सेनाएं मदीने से रवाना की गईं।

सन् ६४४ ई० की बसन्त ऋतु में छत्तीस हज़ार अरब सेना यरमुक नदी के दक्खिन में जमा हो गई। दो लाख चालीस हज़ार सुसन्नद्ध और अभ्यस्त रोमी सेना इनके मुक़ाबिले के लिए यरमुक के उत्तर में थी। सम्राट् हरकल का भाई थियाडोर रोमी सेना का प्रधान सेनापति था। इस विशाल सैन्य दल को देख कर एक बार मुसलिम सेनापतियों को अपनी विजय में सन्देह हुआ। अबुबक्र को सन्देश भेजा गया। अबुबक्र ने उत्तर दिया, "चारों सेनापति यरमुक नदी के निकट मिल जाओ। तुम अल्लाह की सेना हो और बिला शुबह तुम शत्रु को भगा दोगे। तुम्हारे जैसे आदमी अपनी तादाद की कमी की वजह से कभी [illegible]ड़ाई में हार नहीं सकते। लड़ाई में दसों हज़ार [illegible]ाएं अपने पापों के सबब मार खा जाती हैं। इस[illegible]ए तुम पाप से बचो। हर सैनिक अपने साथी के संग डट कर खड़ा हो। अल्लाह तुम्हें विज[illegible] करेगा।"

रोमी सेना ने कई बार अरबों पर हमला किया। दो महीने कशमकश चलती रही। अबुबक्र को चिन्ता हुई। उस समय ख़ालिद इराक़ में था। अबुबक्र ने ख़ालिद को आज्ञा भेजी—"फ़ौरन शाम में मुसलमानों की सेना के साथ जाकर मिल जाओ।...बढ़े चलो, अल्लाह तुम्हारे इरादे को ऊँचा रखे। मानव समाज के ऊपर अल्लाह की बरकतों को फैला दो और वह तुम्हें बरकत देगा। ख़बरदार! दुनिया और नफ़्स तुम्हें जाल में न फँसा लें, नहीं तो लड़-खड़ा कर गिर पड़ोगे और तुम्हारे सब काम नष्ट हो जायँगे। तुम्हें बदला देने वाला केवल अल्लाह है।"

हीरा से हूमा, हूमा से शाम की सरहद को छूते हुए उत्तर में तादमोर और तादमोर से फिर दक्खिन में यरमुक इस प्रकार १२०० मील से ऊपर की यात्रा तै करके बयाबान रेगिस्तानों और दुर्गम पहाड़ों को पार करते हुए नौ हज़ार सेना सहित ख़ालिद मैदान में पहुंच गया। रास्ते में लगातार पाँच दिन तक सेना को ऐसे स्थान से निकलना पड़ा जहाँ एक बूंद पानी भी न मिल सकता था। ऊँटों के पेट से पानी निकाल कर ऊंटनियों का दूध मिला कर घोड़ों को पिलाया जाता था और हर सिपाही को २४ घन्टे में सिर्फ़ एक प्याला पानी पीने को मिलता था। ख़ालिद की यह अद्भुत सैन्य यात्रा इतिहास के बड़े से बड़े विजेताओं, चंगेज़ ख़ां, सिकंदर और नेपोलियन की किसी यात्रा से कम न थी। यह सारी यात्रा ख़ालिद ने लगभग दो सप्ताह के अन्दर समाप्त कर दी।

सम्मिलित सेना का प्रधान सेनापतित्व ख़ालिद को ही सौंपा गया। दो लाख चालीस हज़ार सेना दूसरी ओर और सिर्फ़ पैंतालिस हज़ार इनके साथ। अनुशासन, शिक्षण, अस्त्र-शस्त्र और सामान में रोमी सेना अरब सेना से कहीं बढ़कर थी। घोड़े अरबों के अधिक फ़ुरतीले थे। किन्तु एक ओर शाम में केवल अन्य मतावलम्बी होने के कारण सहस्रों को देशनिकाला और मृत्यु दंड दिये जा रहे थे, धार्मिक स्वतन्त्रता का सर्वथा अभाव था, और शाम की अरब प्रजा रोमी शासकों के अत्याचारों से पीड़ित थी, दूसरी ओर थे एक अल्लाह और उसके पैग़म्बर में पक्का विश्वास, नव जाग्रत राष्ट्रीयता की ज़बरदस्त भावना, पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता और समता।

'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गम्
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'

में विश्वास मुसलमान अरबों की उस समय की अजेयता का एक ख़ास कारण था। रोमी सैनिक केवल अपनी तनख़्वाह के लिए लड़ रहे थे किन्तु हर अरब सिपाही अल्लाह की राह में शहीद होने को था—अल्लाह के लिए विजय प्राप्त करने को निकला था। यरमुक के उत्तर की ओर वाक़ुसा के पहाड़ी मैदान में एक घमासान संग्राम हुआ। ख़ालिद ने सेना की व्यूहरचना इत्यादि में अपूर्व योग्यता दिखलाई।

आख़ीर दिन प्रातःकाल जब कि मालूम होता था कि आज शाम तक इधर या उधर लड़ाई का फ़ैसला हो जायगा अकस्मात् मदीने से एक गुप्त दूत ने आकर ख़ालिद के हाथ में एक पत्र दिया। ख़ालिद ने चुपके से पत्र पढ़कर अपने तरकश में डाल दिया। इस पत्र में ख़लीफ़ा अबुबक्र की मृत्यु का समाचार था जिसे ख़ालिद ने बड़ी बुद्धिमानी के साथ लड़ाई के फ़ैसला होने तक जान बूझ कर सेना से छुपाये रखा।

दिन भर के भयङ्कर युद्ध के बाद जिसमें अरब स्त्रियां भी अपनी सेना की ओर से लड़ रही थीं, सूर्यास्त होते होते मैदान अरबों के हाथ रहा। एक लाख से ऊपर रोमी सिपाही और तीन हज़ार से ऊपर अरब मैदान में काम आये। अगले दिन [illegible] ख़ालिद ने [illegible] ख़ेमे पर क़ब्ज़ा [illegible] शाम प्रान्त की क़िस्मत का फ़ैसला हो गया। मोहम्मद साहब को मरे अभी केवल दो वर्ष हुए थे। यद्यपि शाम के अनेक नगरों और दुर्गों और विशेष (कर) शाम की राजधानी दमिश्क पर अभी अरबों का क़ब्ज़ा होना बाक़ी था तथापि इस ज़बर्दस्त हार ने रोमी सेना के हाथ पैर फुला दिये, फिर कहीं भी वे जमकर अरबों का मुक़ाबला न कर सके।

अगस्त सन् ६३४ ईसवी में जबकि यरमुक नदी के किनारे संग्राम हो रहा था ख़लीफ़ा अबुबक्र की मृत्यु हुई।

अबुबक्र की आयु उस समय ६२ वर्ष से ऊपर थी। "शासक की हैसियत से अबुबक्र ने उसी तरह की सरल और किफ़ायतशारी की ज़िन्दगी बिताई जैसी मोहम्मद साहब ने। उनके यहाँ न कोई पहरेदार रहते थे और न ख़िदमतगार और न किसी तरह की शान शौकत थी। उनका रहन सहन सीधा सादा और परहेज़गारी का था। अन्त तक उन्होंने अपने जीवन की कठोर सरलता को क़ायम रखा, यहां तक कि घर की बकरियों को वह स्वयं चारा देते थे और स्वयं उनका दूध दूहते थे।* ख़लीफ़ा होने के शुरू के छै महीने वह मदीने के पास एक छोटे से गाँव अल-सुन्ह के अन्दर एक छोटी सी झोपड़ी में रहते रहे। शासनकार्य के लिये वह प्रति दिन अधिकतर पैदल मदीने की मसजिद में आते थे जहाँ से मोहम्मद साहब सारे राज्य का प्रबन्ध करते थे। छै महीने बाद वह मसजिद के ही पास एक झोंपड़ी में रहने लगे। रात को वह अक्सर दीन दुखियों की दशा का पता लगाने के लिये नगर में अकेले घूमा करते थे। अपनी तमाम पहले की सम्पत्ति वह इसलाम की ख़िदमत में ख़र्च कर चुके थे। ख़लीफ़ा होने के शुरू के दिनों में उन्होंने चाहा कि अपने और अपने

* Sir William Muir.

कुटुम्ब के गुज़ारे के लिये थोड़ी सी तिजारत करते रहे; किन्तु जब इससे [illegible] में बाधा पड़ी तो लोगों के कहने सुनने से उन्हों[illegible] दिरहम सालाना अ[illegible] और अपने कुटुम्ब के लिये सरकारी खज़ाने से [illegible] स्वीकार कर लिया। मालूम होता है कि यह ब[illegible] उनके अन्तःकरण में चुभती रही। मौ[illegible] से कुछ दि[illegible] पहले उन्होंने हुकुम दिया कि उनकी कुछ नि[illegible] ज़मीन बेचकर वह सब रुपया जो उन्होंने सरका[illegible] खज़ाने से लिया था लौटा दिया जावे। ऐस[illegible] किया गया। अबुबक्र की दूरदर्शिता, नीति[illegible]ता, बुद्धिमत्ता, न्यायप्रियता, निष्पक्षता, सचाई [illegible] और उनकी नेकी की समस्त इतिहास लेखक मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। पैग़म्बर की मौत के बाद के कठिन संकटों में से इसलाम और अरब राष्ट्र को बचा ले जाने का श्रेय सबसे अधिक अबुबक्र ही को दिया जाता है।

मौत से पहले उन्होंने ख़ास ख़ास लोगों से सलाह करके उमर बिन ख़त्ताब को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। मसजिद के सहन में सम्मिलित मुसलिम जनता की स्वीकृति प्राप्त करके उन्हें आदेश दिया और उनसे वादा ले लिया कि वे उमर की आज्ञाओं का पालन करेंगे।

"अन्त समय तक अबुबक्र का दिमाग़ साफ़ और ज़ोरदार था।" मौत से चन्द घण्टे पहले उन्हें समाचार मिला कि ख़ालिद की अनुपस्थिति से फ़ायदा उठाकर इराक़ में ईरान के शासक फिर से युद्ध का इरादा कर रहे हैं और, यद्यपि अरब सेनापति मुसन्ना ने चन्द रोज़ पहले ही ईरान की राजधानी मदियन से केवल पचास मील दूर बाबुल के उत्तर में ईरानी सेना को शिकस्त दी थी तथापि और अधिक सेना का इराक़ भेजा जाना आवश्यक है। अबुबक्र ने उमर को अपने बिस्तर के समीप बुला कर आदेश दिया—

"मुसन्ना की मदद के लिये फ़ौज जमा होने की आज्ञा दे दो। देर न करो। मुमकिन है कि मैं आज दिन ही में मर जाऊँ। अगर ऐसा हो जावे तो भी तुम शाम तक इस काम को न टालना। यदि रात तक सांस जारी रहे तो तुम सुबह तक इस काम को न टालना। मेरे रञ्ज में तुम अल्लाह की इस ख़िदमत में देर न करना। [illegible]ने देखा था कि पैग़म्बर की मौत के समय मैंने [illegible] क्या किया था और मनुष्य जाति के लिये उससे [illegible]कर रञ्ज की बात क्या हो सकती थी? सचमुच यदि मैं उस समय रञ्ज के वश में हो जाता और अल्लाह और उसके रसूल के मार्ग में कमर कसके खड़ा न हो जाता तो इसलाम को कितना धक्का पहुँचता। बग़ावत की आग नगर में सुलग चुकी थी। और ऐ उमर! सुनो, जब अल्लाह शाम में विजय प्रदान कर दे तो इराक़ की सेना वहाँ लौटा देना क्योंकि इराक़ की रक्षा और वहां के शासन के लिये वे ही सबसे अधिक उपयुक्त हैं।"

उमर ने ध्यान से सुना और आज्ञापालन का वादा किया। इसके बाद अबुबक्र ने कुछ देर तक उमर को दया और नम्रता से काम करने का उपदेश दिया और अन्त में अल्लाह का नाम लेते लेते शरीर त्यागा।

मरने से पहले अबुबक्र ने आदेश दिया कि मैं जिन कपड़ों में मरूँ उन्हीं में मुझे दफ़न करना, "क्योंकि नये कपड़े ज़िन्दा लोगों को शोभा देते हैं। मृत शरीर के लिये पुराने कपड़े काफ़ी है।" ऐसा ही किया गया। मोहम्मद साहब की क़ब्र के पास ही अबुबक्र को दफ़न कर दिया गया। उनका सिर उनके स्वामी के कन्धे से मिलाकर रखा गया।

अबुबक्र अपने को 'ख़लीफ़ तुर्रसूल' कहा करते थे। उमर ने अपने को 'ख़लीफ़तुर-ख़लीफ़ तुर्रसूल' यानी 'पैग़म्बर के प्रतिनिधि का प्रतिनिधि' कहना शुरू किया। बाद में ख़लीफ़ाओं की उपाधि अधिक लम्बी हो जाने के कारण वे 'अमीरुल मोमनीन' कहलाने लगे जिसका अर्थ है मोमिनों का नेता। उमर का सब से पहला काम, अबुबक्र के अन्तिम आदेश के अनुसार, इराक़ के लिए फ़ौज जमा करना था। अभी तक ख़लीफ़ाओं की कोई स्थाई सेना न

होती थी। ज़रूरत पर सेना जमा करने का तरीक़ा इस प्रकार था—मदीने की मसजिद के सहन में एक झन्डा गाड़ दिया जाता था। सारे देश में फ़ौज की आवश्यकता का ऐलान कर दिया जाता था। चारों तरफ़ से क़बीलों के लोग अपने अस्त्र-शस्त्रों, ऊँट और घोड़ों सहित अपने सरदारों के अधीन [illegible]ते झण्डे के नीचे आकर जमा होते थे। वहाँ वे नाम ज़द किये जाते थे। ज़रूरत के अनुसार उनके अस्त्र-शस्त्रों की कमी को सरकारी ख़ज़ानों से पूरा किया जाता था। वे शहर से बाहर मैदान में ख़ेमें डालकर रहने लग जाते थे। जब काफ़ी सेना जमा हो जाती थी ख़लीफ़ा किसी एक सरदार के हाथ में झण्डा सौंप देता था। वह सरदार सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त हो कर जहाँ ख़लीफ़ा की आज्ञा होती थी वहाँ के लिए चल पड़ता था। इस मौक़े पर उमर ने तायफ़ के एक सरदार अबुओबैद को सेनापति नियुक्त किया।

दूसरी ओर से ईरानियों ने भी इस मौक़े पर काफ़ी ज़ोर लगाया। सम्राट् के दरबार से अरबों के मुक़ाबले में सेना तैयार करने का भार सुप्रसिद्ध रुस्तम को सौंपा गया। दो सैन्यदल राजधानी मदियन से रवाना किये गये—एक सेनापति जाबान के अधीन और दूसरा सेनापति नरसा के अधीन। जाबान की सेना फ़िरात को पार करके काल्डिया के प्रसिद्ध नगर हीरा तक पहुँच गई। हीरा में ख़ालिद की अनुपस्थिति में मुसन्ना प्रान्तीय शासक का काम कर रहा था। अबुओबैद की सेना के पहुंचने में अभी देर थी। मुसन्ना के पास मुक़ाबले के लिये बहुत कम सेना थी। वह नगर छोड़कर पीछे हट आया और अबुओबैद का इन्तज़ार करने लगा। अबुओबैद के आने से पहले एक महीना इसी तरह बीत गया। किन्तु आते ही अबुओबैद ने जाबान और नरसा की सेनाओं को हराकर पीछे हटा दिया और दोआब पर फिर से क़ब्ज़ा कर लिया।

एक और विशाल सेना ईरान की राजधानी से अरबों का मुक़ाबला करने के लिये बहमन के अधीन भेजी गई। बहमन की सेना ने अरबों को फ़िरात पार करने पर मजबूर कर दिया। अबुओबैद ने दो बार [illegible]ात पार कर [illegible] [illegible]कि[illegible]हा लिया। बहुत [illegible] सेना के साथ साथ अबुओबैद भी इस संग्राम [illegible] मारा [illegible]या। मुसन्ना तीन हज़ार फ़ौज को लेकर य[illegible] पीछे हट आया। ख़लीफ़ा उमर को खबर भेजी ([illegible] । उमर ने और बहुत सी सेना मुसन्ना की मदद को [illegible]जी। ईसाई अरब क़बीले भी अरबों के साथ ईरानियों से लड़ रहे थे। मुसन्ना ने एक ईसाई अरब सरदार को [illegible]ला कर कहा, "हमारा और तुम्हारा रक्त एक है, आओ, जब मैं बढ़ूं तुम मेरे साथ बढ़ो।" घोर संग्राम के बाद दोआब पर फिर से अरबों का क़ब्ज़ा हो गया।

इस बीच एक २१ वर्ष का उत्साही युवक यज़्देगर्द ईरान के सिंहासन पर बैठा। अरबों से मुक़ाबला करने की उसने ज़ोरदार तैयारी शुरू की। मुसन्ना को फिर फ़िरात पार कर पीछे हट जाना पड़ा। उमर को जब सूचना मिली उसने तय कर लिया कि बिना राजधानी मदियन पर क़ब्ज़ा किये जो हीरा के इतने निकट थी इराक़ पर अरबों का शासन रह सकना असम्भव है। उमर के लिये और कोई चारा न था। फिर एक नई सेना के जमा होने का ऐलान कर दिया गया और उत्तर के क़बीलों को हुक्म दे दिया गया कि वे सीधे मुसन्ना की मदद के लिये पहुंच जावें। साद बिन मलिक इस नई सेना का सेनापति नियुक्त हुआ। साद एक ऊँचे घराने का अरब था। ख़लीफ़ा ने चलते समय साद को सावधान कर दिया कि अपनी कुलीनता के भरोसे न रहना। "अल्लाह नेकी और अच्छे कामों को देखता है, जन्म को नहीं देखता क्योंकि उसकी नज़रों में सब इनसान बराबर हैं।" धीरे धीरे साद की सेना बीस हज़ार तक पहुंच गई। क़ादेशिया के प्रसिद्ध मैदान में दोनों सेनाओं का मुक़ाबला हुआ। स्वयं रुस्तम ईरानी सेना का सेनापति था। चार दिन तक लगातार युद्ध होता रहा। अरबों की मदद के लिये दस हज़ार और नई सेना आई। दोनों सेनाओं के बीच करीब एक

मील तक लाशें पड़ी हुई थीं। क़बरों को खोदने और मुरदों के दफ़न करने का काम अरब औरतों के सुपुर्द था। ज़ख्मियों [illegible] मलहम पट्टी क[illegible] थीं। रुस्तम इस लड़ाई में मारा गया और [illegible] अरबों के हाथ रहा।

"शत्रु के लिये यह पराजय उनकी क़िस्मत [illegible] फ़ैसला कर देने वाली थी। तीस महीने से कुछ ऊपर हुआ था जबकि खालिद ने पहली बार इरा[illegible] में क़दम रखा था और इसी दरमियान वह साम्रा[illegible] जिसने १५ वर्ष पहले रोम की सेना को [illegible]चा दिखाया था, शाम को रौंद डाला था और बास[illegible]रस के किनारे एक बार अपनी विजय पताका गाड़ दी थी—अब एक ऐसे शत्रु के वारों से नष्ट भ्रष्ट हो रहा था जिसकी संख्या कभी तीस, चालीस हज़ार अरबों से ज़्यादह नहीं बढ़ी—ऐसे अरब जिनके अस्त्र शस्त्र पुराने ढङ्ग के थे। क़ादेशिया की लड़ाई से इस पराजय का रहस्य खुल जाता है। एक ओर निरुत्साह ग़ुलामों की संख्या थी और दूसरी ओर वह अजेय उत्साह जो इतनी देर तक और लगातार लड़ते रहने के बाद भी मुसलमानों को अन्तिम हमले के लिये तैयार कर सकता था। वह विशाल सेना जिस पर ईरान ने अपने आख़िरी प्रयत्न ख़र्च कर डाले थे सर्वथा परास्त हो गई और यद्यपि टूटी हुई टुकड़ियां जान बचाकर नदी के पार चली गईं पर ईरान की सैनिक शक्ति फिर कभी दृढ़ और ख़तरनाक शक्ल अख़्तियार न कर सकी।

'ख़लीफ़ा उमर प्रति दिन प्रातःकाल अकेले मदीने के फाटक से इस उम्मीद में निकलते थे कि शायद युद्ध के मैदान से कोई सन्देश-वाहक उन्हें मिल जावे। अन्त में एक दिन एक सांडनीसवार नगर के बाहर पहुंचा। उमर के प्रश्न करने पर उसने संक्षेप में उत्तर दिया—'अल्लाह ने ईरानी सेना को नीचा दिखा दिया।' उसने उमर को नहीं पहचाना। उमर पैदल उसके पीछे शहर की ओर आये और उससे उस महान् युद्ध के अन्य समाचार पूछते रहे। मदीने में घुसते ही लोग ख़लीफ़ा के चारों ओर जमा हो गये और सलाम करके इस विजय पर मुबारकबाद देने लगे। दूत ने झेंप कर कहा—'ऐ अमीरुल-मोमनीन! आपने मुझे बताया क्यों नहीं?' ख़लीफ़ा [illegible]रलता के साथ उत्तर दिया—'मेरे भाई, सब ठीक [illegible]' उस मनुष्य का जो उस समय रोम के क़ैसर या ईरान के ख़ुसरो दोनों से अधिक महान था इतना सीधा सादा तर्ज़ था।"*

दजला और फ़िरात के बीच के सब सामन्त सरदारों ने अब ईरान के ख़ुसरो की जगह मदीने के ख़लीफ़ा को सहर्ष अपना अधिराज स्वीकार कर लिया और उसे खिराज देना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु ईरानी सेना और ख़ुसरो ने अरबों की इस जीत को क़ुबूल करने से इनकार कर दिया। वे किसी तरह की सन्धि के लिये तैयार न थे। राजधानी मदियन अरबों की सरहद से क़रीब क़रीब मिली हुई थी। मजबूर ख़लीफ़ा उमर की इज़ाज़त से सेनापति साद को मदियन पर चढ़ाई करने की योजना करनी पड़ी। कई महीने के मोहासरे के बाद नगर के पच्छिमी भाग पर अरबों का क़ब्ज़ा हो गया। मदियन का शहर बग़दाद से १५ मील नीचे फ़िरात नदी के दोनों किनारों पर बसा हुआ था। राजमहल आदि सब फ़िरात के उस पार पूर्वीय किनारे पर थे। अरबी सेना ने घोड़ों से नदी को पार किया। सम्राट् यज़्देगर्द अपनी सेना और ख़ज़ाने समेत अधिक पूरब की ओर भाग गया। राजधानी पर अरबों का क़ब्ज़ा हो गया। संगमरमर के ईवान के नीचे सबसे पहले अरब सेना ने नमाज़ पढ़ी। उसके बाद उसने शाही सामान पर क़ब्ज़ा किया। (अपूर्ण)

---

* The Caliphate by Sir W. Muir P.P. 123—24.

——

सृष्टि [illegible] अगार

पं० श्यामनारायण, एम०ए० [illegible]साहित्यरत्न रिसर्चस्कालर

इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा [illegible]ते
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद [illegible]च
वा न वेद ॥ ऋ० १०।१२९।७

पशुता से उठकर मानव ने अपने परितः एक विचित्र और रहस्यपूर्ण सत्ता का अनुमान किया। घने जंगलों के प्रान्तर में विचरण करने वाले नाना-वर्ण तथा विभिन्न आकार के पशु-पक्षी, गगनचुम्बी शाल वृक्षों से लिपटी हुई लताएं, आकाश के नील गह्वर से झाँकते हुए असंख्य नक्षत्र और तारापति की रहस्यमयी लीला, राग रक्त सूर्य का चिर-सुन्दरी वधू उषा की खोज में दिन रात—प्रकाश और अंधकार में, आकाश और पाताल में—एक क्षितिज से दूसरे क्षितिज की दूरी का परिक्रमण, असंख्य कल्लोलनियों का उत्तेजित होकर समुद्र-सम्मिलन के लिए अबाध गति से दौड़ना और महा समुद्र की मेघ-गर्जन करने वाली ताल-तुंग तरंगों का आकाश चूमने की स्पृहा से उठना और निराश होकर कठोर वेला पर हाहाकार कर चूर्ण हो जाना इत्यादि व्यापार ज्ञान-प्रकाश के प्रथम रश्मि का दर्शन करने वाले मनुष्य के लिये सचमुच एक पहेली थे। उसने उस रहस्य के उद्घाटन करने का संकल्प किया। संसार की लगभग सभी जातियों ने जगत और उसके उत्पति सम्बन्धी संस्कृत और असंस्कृत पुरा-वृत्तों की कल्पना की है। यह जान कर आश्चर्य होगा कि संसार की प्राचीनतम से प्राचीनतर जातियों के मस्तिष्क ने लगभग एक ही प्रकार से अपने-अपने जगत् सम्बन्धी विचारों को विकसित किया है। नारायण ऋषि ने सुप्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में सृष्टि के सम्बन्ध में कहा है—

'सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्'॥

सहस्र [illegible] वाला, हज़ार आँख वाला, हज़ार पाँव ([illegible]ला पुरुष [illegible] को चारों ओर से परिवेष्ठित कर [illegible]स अंगुल बढ़कर स्थित हुआ।

[illegible]स्माद् विराड्जायत विराजोऽधिपुरुषः।
[illegible] जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमधो पुरः॥

उस (आदि पुरुष) से विराज् उत्पन्न हुआ और उस विराज से (अन्य) पुरुष की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न होकर (आदि पुरुष से) भिन्न हुआ, और फिर पृथ्वी की रचना की।

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसंतोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

देवताओं ने पुरुष-रूप हविष् से यज्ञ किया, उससे (यज्ञ में) वसंत घृत था, ग्रीष्म इंधन और शरद हविष् (पुरोडाशि इत्यादि) था।

तस्माद् यज्ञात सर्वहुतः संभृतं पृष्दाज्यम्।
पशून् ताँश्चक्रे वाय व्यानारण्यान ग्राम्याश्च ये॥

उस सर्व हुत यज्ञ से दधिमिश्रित घी तथा उन जंगली पशुओं को उत्पन्न किया जो वायु देवता विषयक हैं और जो ग्राम्य अर्थात पालतू हैं।

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का उरू पादा उच्येते॥

जब पुरुष से (काट कर) विविध रूप बनाया गया तो उसका किस प्रकार विश्लेषण हुआ? उसका मुख क्या था? उसकी भुजाएं क्या हुईं? और उसके पाँव को क्या कहते हैं?

ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥
नास्यासीदन्तरिक्षम् शीर्ष्णो द्यौः सम वर्तत।
पदभ्याम भूमि दिशः श्रोत् तथा लोकाँ अकल्पयन॥

इसका मुख ब्राह्मण हुआ, भुजाएं क्षत्रिय हो गईं और जंघाएं वैश्य हु... तथा पांव से शूद्र उत्पन्न हुए। नाभि से ... सर से आकाश, ... से भूमि और कान से दिशाओं की रचना हुई ... प्रकार अन्य लोकों की भी। यह सूक्त बहुत बाद ... है, किन्तु इसकी दार्शनिकता के मूलतत्व में प्राचीन-तम (Primitive) मानव के विचार संन्निहित ... इस सूक्त से यह ज्ञात होता है कि देवताओं ने दी... काय पुरुष को पशु-रूप से यज्ञ में आहुति दे दि...। उस यज्ञ के पुण्य फलस्वरूप भूमि, अंतरिक्ष, आ...श, सूर्य और चन्द्र तथा इन्द्रादि देवगण और प... तथा मानव की प्राप्ति हुई। उन आदि जीवधारियों से उनकी वंश-परम्परा का सूत्रपात हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त सूक्त के विचार परम्परा में शृङ्खलता और दार्शनिक कल्पना की गहरी छाप हैं। यह सूक्त उस समय का है जब वर्ण-व्यवस्था पूरी तरह अपना रंग दिखला चली थी और 'आर्य-संस्कृति' का काफ़ी दौर-दौरा था। किन्तु इसका मूलतत्व अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार की विचार परम्परा अन्य देश के पुरावृत्तों में भी उपलब्ध है।

चीना पुरावृत्त साहित्य में सृष्टि की उत्पत्ति-विषयक एक कथा है जो पुरुष-कथा से मिलती-जुलती है।

अगणय युगों में 'शून्य' (nothing) 'संश्लिष्टि' (Unity) में परिणत हुआ और उससे 'असुर अणु' (Mighty Atom) का विकास हुआ। नाना युगों की करवटों के साथ 'असुर अणु' नर और मादे के रूप में संविभक्त हुआ। और संसार की सृष्टि हुई। यह एक अन्य प्राचीन कथा का सुसंस्कृत रूपान्तर है। प्राचीन कथा इस प्रकार है कि आरम्भ के दो मूलतत्व चार हो गए। इनकी सहक्रिया से 'प' आन कू' देव आविर्भूत हुआ। इसने संसार के अङ्ग प्रदान किए। उसकी आंखें सूरज और चांद में, सांस हवा में उसके बाल पेड़ पौधों में, उसका मांस पृथ्वी में, पसीना वर्षा में और उसके सड़े शरीर से निकले हुए कीट मनुष्य में परिणत हो गए।

जिस प्रकार देवताओं और ऋषियों ने पुरुष को यज्ञार्थ बलि देकर उससे जगत् की सृष्टि की थी वैसे ही चीनी पुरावृत्त में 'निएन' अथवा 'शङ्ग-ति' देव ने 'प' आन कू' देव को संविभक्त करने में उत्तेजना ...।

'शून्य' और परमाणु 'संश्लिष्टि' विषयक चीना ...था का दार्शनिक निरूपण भारतीय साहित्य में मौजूद है। माध्यमिक शून्यवादी तो यहाँ तक कहता है—

नास्ति बुद्धिरथी त्याह वादी माध्यमिकः किल।
न सन्न्यसन्न सदसन्न चोभाभ्यां विलक्षणम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥

माध्यमिक बुद्धि तक की भी सत्ता नहीं मानता। अन्तिम तत्वों को वह इन चारों की सीमा से परे मानता है—(१) सत् (२) असत् (३) ससत् और (४) ससत् से भिन्न कोई अन्य पदार्थ। इन में से किसी कोटि में भी अन्तिम तत्व नहीं आता। वैशेषिकादि दार्शनिक परमाणु और उसके संश्लेषण तथा विश्लेषण का अनुमान करते हैं। सर जेम्स जीन्स ने अपनी पुस्तक The Universe में स्पष्टतः परमाणु-प्रक्रिया द्वारा विश्व रचना को सिद्ध करने का जतन किया है।

बैबीलन के अधीश्वर, अस्सुरबनिपाल के निनेवेह में स्थित पुस्तक-भाण्डार से प्राप्त और ब्रिटिश म्यूज़ियम् में सुरक्षित Seven tablets of creation नामक महाकाव्य में सृष्टि-रचना पर विचार करते हुए कवि ने लिखा है—'अप्सु' और 'तियावाथ'—शून्य के नर और मादा स्वरूप—दो देवता अपने पुत्र के साथ निवास करते थे। पश्चात् उन्हीं से 'अनु' 'एन्-लिल' और 'एआ' नामक विद्रोही देवता आविभूत हुए। इन नवीन देवताओं ने प्राचीन पिता पुत्र को पराभूत कर दिया और अकेली 'तियावाथ' ने इनसे लगातार युद्ध किया। किन्तु 'मर्दूक' या 'मेरोदैख' से युद्ध कर वह मारी गई। मर्दूक ने उसके शरीर के अर्ध भाग को स्वर्ग बनाया और पेरोदैख के उपासक बेरोसस (Barosus;

300 Gent. B. C.) के अनुसार उसके अवशिष्टार्ध से पृथिवी की रचना की। छठवें शिला से पता चलता है कि मर्दूक का सर काट लिया गया और मर्दूक ने स्वयं अपने अस्थि और रक्त से मानव-वर्ग की रचना की।*

चीनी और भारतीय सृष्टि-विषयक पुरावृत्त से मिलती-जुलती नार्स—(स्कैण्डिनेवियक) पुरावृत्त की कथा है। सृष्टि के आरम्भ में गिन्नुंगगैप (Gunungagap) नामक गह्वर मुख-विवर विस्तीर्ण किए स्थित था। उसके उत्तर में निफ्लहीम (Nifleheim) और दक्षिण में मुस्पेलहीम (Muspleheim) नामक बर्फ़ और आग के दो प्रदेश थे। निफ्लहीम से उद्भूत Elivagar नदी जम गई। किन्तु मुस्पेलहीन की गर्म हवा से उसका बर्फ़ पिघला और वाष्पकणों में जीवनशक्ति उत्पन्न हुई। इससे एक विशाल दैत्य येमिर (Ymir) और एक गाय औधुम्ला (Audhumla) उत्पन्न हुई। इस गाय की चार दुग्ध धाराओं से येमिर का पोषण हुआ। गाय अपने जीवन-रक्षा के लिये पत्थरों की ओस चाटती थी। पहले दिन चाटने से बाल, दूसरे दिन चाटने से एक सिर और तीसरे दिन चाटने से एक सुन्दर शरीर उत्पन्न हुआ। इसका नाम बूरी (Buri) था और यही ओडिन (Odin) का पितामह था। सोते हुये येमिर ने अपने पसीने से राक्षसों को जन्म दिया। बूरी के पौत्रों ने इनका और येमिर का बध कर डाला और उसके शरीर को गिन्नुङ्गगैप में डाल दिया। उसके रक्त से समुद्र और जल, उसके माँस से पृथ्वी उसकी हड्डियों से पर्वत, उसके कपाल से आकाश, मस्तिष्क से बादल, और उसकी भौहों से मिदगर्द (Midgard) —मनुष्यों का वास्थान—आविर्भूत हुए। बाद में ओडिन और उसके भाइयों ने वामनों के द्वारा बनाए, दो काठ के पुतले प्राप्त किए। उनमें उन्होंने प्राण-संचार किया और इनके नाम अस्कर Askr और एम्बला (Embla) रखा। आधुनिक मानव के ये नर-नारी पूर्वज थ।

इस प्रकार भारत, बैबीलन, चीन और स्कैन्डिनेविया के पुरावृत्तों में हम एक शरीर की ही विभिन्न यज्ञों में संविभक्त हो आधुनिक सृष्टि का कारण (मा)नते हैं। इसका कारण क्या है? क्या इन सब पुरावृत्तों का मूल-स्रोत एक है? अथवा विजित जाति के संस्कृत साहित्य ने विजेताओं की विचारधारा पर प्रभाव डाला? अथवा अन्योन्य भाव से एक दूसरे से विनिमय किया? इन सब प्रश्नों का उत्तर देना सरल कार्य नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आदिम युग के विचारशील मानव ने 'असत्' में 'सत्' की कल्पना की जो परम स्वभाविक था।

इस सृष्टि के जन्म के सम्बन्ध में ऋक्संहिता (१०।१२९) में प्रजापति कहता है :—

नासदासीन्न नो सदासीत् तदानीं
नासीत् रजो नोव्योमा परा यत्।
किमावरीव: कुहकस्य शर्मन्नम्भ:
किमासीद्‌गहनं गभीरम्।'

न 'असत्' था और न 'सत्' और न तो उस समय वायु था जो आकाश के ऊपर तक फैला है। क्या था? कहाँ था? किसका आश्रय कौन था? क्या अगम्य गहरी जलराशि थी?

न मृत्यु रासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्नं आसीत् प्रकेत:।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न पर: किंचनास॥

न मृत्यु थी और न अमरता; न रात्रि और दिन के सूचक (चन्द्र और सूर्य) थे; केवल एक था जो बिना वायु के अपनी शक्ति से श्वास लेता था और उसके परे कुछ भी नहीं था।

तम आसीत् पसा गूह्लमग्ने प्रकेतं
सलिलं सर्वमा इदम्।

* King : Seven Tablets of Creation (1902) and Babylonian Religion and Mythology.

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्त
न्महिना जायतैकम् ॥

अन्धकार से ... था; अज्ञय ही जल था; जीवन प्राप्त करता हुआ वह ... आवृत था; वह एक तेज से उत्पन्न हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्।
हृदिप्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

आरम्भ में वासना थी; जो मन का प्रथम बीज था। बुद्धिमान् ऋषियों ने हृदय में खोज करते हुए 'सत्' के सूचक को 'असत्' में प्राप्त किया।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामपः
अधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥

(सत् और असत् का) सूत्र विस्तृत हुआ। यह ऊपर था या नीचे? गर्भाधान करने वाले थे; बल था; नीचे शक्ति थी, ऊपर अन्तःप्रेरणा थी।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्,
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना—
था को वेद यत आबभूव ॥

कौन इस रहस्य को जानता है? कहाँ से उत्पन्न हुई? कहाँ से यह विसृष्टि हुई?—यह कौन बतला सकता है? (शायद इसका उत्तर देवता देते लेकिन) देवगण इस सृष्टि के पश्चात् उत्पन्न हुए! तब कौन जानता है कि यह कहाँ से उत्पन्न हुई?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव,
यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्,
सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई; उसने इसे बनाया या नहीं; परम व्योम में इसकी निगरानी करने वाला (अध्यक्ष) ही (यह) जानता है या वह भी नहीं जानता!! (ऋ० १०।१२९)

वैदिक देवताओं में प्रजापति का स्थान बहुत नवीन है। यज्ञ से फ़ुर्सत पाने पर आध्यात्मिक गवेषणा आरम्भ हुई। इस रहस्य का उद्घाटन सरल कार्य नहीं। अन्त में प्रजापति को भी कहना पड़ा—'... अङ्ग वेद यदि वा न वेद!' वही जानता है या वह नहीं जानता।

प्राचीन मिश्र के पुरावृत्त में इसी प्रकार की एक कथा का वर्णन है। ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित १०,१८८ पत्तों पर एक ग्रन्थ है। इसमें समस्त पदार्थों के उद्भव पर प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक पैनोपोलिस (Panopolis) के पुजारी नेस-अम्सु के लिये ३१२ B. C में लिखी गई थी। इस ग्रन्थ में दो सृष्टि-विषयक कथाओं का अस्पष्ट वर्णन इस प्रकार है—

'नेब-एर-त्चेर्' (Neb-er-tcher) देवता—'रा' (सूर्य) देवता का एक स्वरूप—ने खेपेरा (Khepera)—प्रजापति—का रूप धारण कर अपने को और समस्त संसार को अपने मुख से उत्पन्न किया। जिस स्थान पर उसकी सृष्टि की थी उसका नाम 'नू' (Nu) था। यह 'नू' जलमय अनन्त (abyss) था।

"I found no place there (in Nu) whereon I could stand. I worked a charm upon myown heart. I laid a foundation on Maa. I made every form. I was one by myself. I had not emitted from myself the god Shu. I had not spit out from myself the goddess Tefnut. There was no other being who worked with me."

इससे प्रकट होता है कि नेबेर-त्चेरने खेपेरा का स्वरूप धारण कर अकेले ही सृष्टि की रचना की; किन्तु उसके लिये 'नू'—जलमय अनन्त—में किसी प्रकार का दृढ़ आधार नहीं था। उसने अपने हृदय को—मनस् को—ही आधार माना।

"There came into being multitudes of things from the things of what was produced." इस प्रकार उसको सृष्टि से सृष्टि चलती रही। नर-नारी का जन्म उसके अश्रुओं से हुआ।

दूसरी कथा में ओसिसि (Osisis) को [illegible]ते माना गया है। इस देवता को 'पउतेत पउत्ती'—च आदिम-प्रकृति का सार कहा गया है।

"I came into being from Primeval matter, and I appeared under the form of multitudes of things from the beginning. Nothing exeisted at that time and it was I who made whatsoever was made. I was alone and there was no other being who worked with me; in that place. I made all the forms under which I appeared by means of the God-soul which I raised up out of Nu, out of a state of inertneso. इस प्रकार 'परमात्मा' (God-soul) की सहायता से, जो वेदान्त के माया-विहीन ब्रह्म की भांति विशुद्धावस्था में Nu-अनन्त जलराशि में सुषुप्तावस्था में पड़ा था, ओसिसि ने विश्व की रचना की।*

इस प्रकार इन कथाओं से यह सिद्ध होता है कि जलमग्न अनन्त में एक 'स्वयम्भू' और 'एकसत्' देवता था। यह देवता अपने नाम रूपी मन्त्र के उच्चारण से उत्पन्न हुआ और सुषुप्तावस्था में पड़े हुए 'परमात्मा' को जागृत कर संसार की रचना की। कपिल के अनुसार सृष्टि रचना इस प्रकार हुई—

सृष्टिप्रकारं वक्ष्यामि तत्वात्मिकमिदं जगत्।
सर्वं हि प्रकृतेः कार्यं नित्यैका प्रकृतिर्जडी॥
प्रकृतेस्त्रि गुणावेशादु दासो नोऽपि कर्तृवत्॥
स चेतनवत्तद्योगात् सर्गं पङ्ग्वन्धयोगवत्।
प्रकृतिर्गुणसाम्यम् स्याद् गुशगः सत्वरजस्तमः॥
सर्वसिद्धान्त संग्रह ६।१४।१६

* Budge : The Gods of Egypt

इस सारो सृष्टि रचना का उत्तरदायित्व प्रकृति पर है। यह प्रकृति नित्य है और जड़ है। प्रकृति [illegible] तीन गुणों के [illegible] लेकिन [illegible]पि उदासीन है तो [illegible]कर्त्ता के समान हो जाता है। प्रकृति जड़ है और वह चेतन। जैसे पंगु और अन्धे परस्पर संयोग से अपना कार्य सिद्ध कर लेते हैं वैसे चेतन किन्तु (उदा)सीन, अतः असमर्थ पुरुष, और जड़ किन्तु (गुणों से) युक्त, अतः समर्थ प्रकृति के संयोग से सृष्टि का उत्पादन होता है।

[illegible]ब्-एसंत्चेर या ओसिरिस का लगभग वही स्थान है जो सांख्य के प्रकृति का। सांख्य की दार्शनिकता के पीछे मिश्र की कथाओं से ठीक मिलती-जुलती भावनायें छिपी हैं।

वेल्श पुस्तक (बर्दास) Barddas के अनुसार आरम्भ में God और Cythrawl—जीवन और मृत्यु ही थे। साइथरात्म Auswan नामक अनन्त अमूर्त-प्रकृति (chaos) में स्थित था। Anuwan और God आरम्भ में अनन्त शून्य के द्योतक थे। God ने अपना नाम लिया और मैनरेड (Manred) की उत्पत्ति हुई। यह मैनरेड आदिम भौतिक तत्त्व था।

Manred was compoed of Thousands of teaming atoms, in each of which God was present and each was a part of God.

कितनी सुन्दर कल्पना है। यदि इस जाति को अपनी संस्कृति की उन्नति करने का उतना ही अवसर प्राप्त होता जितना भारतीयों को मिला तो वेदान्त या वैभाषिक के टक्कर का दर्शन केल्ट-जाति भी उत्पन्न कर सकती।

उक्त उदाहरणों से प्रतीत होता है कि नामोच्चार के साथ सृष्टि रचना होना बहुत सी जातियों के पुरावृत्तों में उपलब्ध है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने 'भूः' कहकर पृथिवी को, 'भुवः' कहकर वायु को और 'स्वः' कहकर आकाश की रचना की। इन तीनों के

उच्चारण के साथ साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी उत्पन्न हुए।

अरब सृष्टि-रचन[illegible] भी ऐसी ही कुछ[illegible] है। अल्लाह ने 'असत्' से 'सत्' की सृष्टि [illegible] 'कुन्' कहकर। बाइबिल (Old Testament) की सृष्टि-कथा बिल्कुल ऐसी ही है।

And 'In the beginning God created the heaven and the earth.'

And the earth was without form and void and darkness was upon the face of the deep. And the spirit of God moved upon the face of the waters.

And God said let there be light and there was light.

And God said let there be a firmament in the midas of waters and let it divide the waters from the waters. इत्यादि Genesis (1) 1-3, 6.

आरम्भ में गॉड ने पृथ्वी और अन्तरिक्ष का निर्माण किया। पृथ्वी अमूर्त थी और अनन्त गह्वर में अन्धकार था। गॉड की आत्मा जल-तल पर चलने लगी। उसने कहा 'प्रकाश हो' प्रकाश हुआ। इसी प्रकार अन्तरिक्ष का जन्म हुआ और अन्तरिक्ष में सूरज और चांद का!

कहने की आवश्यकता नहीं कि क़ुरान और बाइबिल की सृष्टि-कथाएं बहुत ही घनिष्ट रीति से सम्बद्ध हैं। टेस्टामेण्ट की कथा में जिस 'the deep' का प्रयोग हुआ है वह वास्तव में बैबीलोनी 'तियावाथ' है और भी अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध है कि अरब और यहूदी कथा का मूलस्रोत प्राचीन बैबीलोनीय पुरावृत्त साहित्य है। कहा जाता है कि शतपथ ब्राह्मण की प्रलय-कथा में उस बाढ़ का स्मरण विद्यमान् है जो क़ुरान और बाइबिल में वर्णित है। यह 'बाढ़' ऐतिहासिक है। इराक़ की इस बाढ़ की सूचना भारतीय आर्यों को चाहे यात्रियों द्वारा मिली हो अथवा उन्होंने पश्चिम-दक्षिण मध्य एशिया से गुजरते समय स्वयं उसे देखा हो यह स्पष्ट है कि शतपथ ब्राह्मण की प्रलय-कथा पर बाहरी प्रभाव नहीं है [illegible]रन् कथा स्वयं विदेशी है। क्या यह संभव नहीं [illegible] सृष्टि विषयक इस कथा पर भी सामी (Semetic) [illegible]? यह दो कारणों से सम्भव जान पड़ता है। [illegible] तो यह कि शतपथ ब्राह्मण की उक्त कथा [illegible]र ऋग्वेद की कथाओं में कोई सम्बन्ध नहीं है और दूसरे शतपथ ब्राह्मण की सृष्टि विषयक एक अन्य कथा और बाइबिल तथा क़ुरान की आदम और हौवा की जन्म-कथा में बहुत कुछ समानता दिखाई देती है।

आरम्भ में विश्व का आत्मा पुरुष अकेला था। इसलिये वह सुखी नहीं था। उसने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर दिया और नर-नारी रूप में परिणत हो गया। उनसे मानव जाति की उत्पत्ति हुई। स्त्री ने सोचा, 'यह पुरुष अपने से उत्पन्न कर मुझसे किस प्रकार मैथुन करता है? मुझे अन्तर्हित होना चाहिए।' यह सोचकर वह गाय बन गई और तब वह बैल। इस प्रकार गो जाति की उत्पत्ति हुई। वह बडवा बनी और वह अश्व, इस प्रकार अश्व जाति की उत्पत्ति हुई। इत्यादि। भारतीय पुरावृत्त साहित्य में यह पहली गाथा है जिसमें स्पष्टः नर-मादे के मैथुन से सृष्टि-रचना की ओर संकेत किया गया है।

And the Lord God caused a deep sleep to fall upon Adam and he split and he took one of his ribs.

And the rib, which the Lord God had taken from man, made a woman and brought her into the man. Genesis (II) 21-22.

इस प्रकार आदम और हौवा एक ही शरीर से बनाए गए, यद्यपि इनकी रचना करने वाला गॉड था। बैबीलोनी देवता नेवेरत्चेर ने अपने अश्रु से नर-नारी का निर्माण किया था। इस प्रकार बैबीलोनी कथा और (Old Testament) की कथा में कारण

कार्यभाव से नर-नारी का जन्म हुआ। शतपथ ब्राह्मण की इस कथा में 'पुरुष' ने स्वयं अपने को दो भागों में, नर-नारी रूप में विभक्त किया। किन्तु य[illegible] केवल एक दार्शनिक पालिश है जो प्राचीन सा[illegible] कथा का भारतीयकरण करने के लिए की ग[illegible]

हिरण्याण्ड से संसार की उत्पत्ति बत[illegible]ते जातियों में भारतीय और जापानियों का प्र[illegible] स्थान है।

हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
स दाधार पृथ्वींद्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेय॥ ऋ० १०। २१।१२

'आदि काल में हिरण्यगर्भ था। समस्त प्राणियों का वह पति था। उसने पृथ्वी और आकाश को धारण किया। उस देवता का हम हविर्विधान करते हैं।'

विष्णु-पुराण कहता है कि इस हिरण्य गर्भ के भीतर सारे द्वीप, सागर, पर्वत, देवता, राक्षस और मानव थे। इस प्रकार इस अण्डे के टूटने से सारी सृष्टि हुई।

जापानी पुस्तक निहोंगी के द्वारा विदित होता है कि आरम्भ में अनन्त और असीम नर-नारी तत्व-मय एक विशाल और अमूर्त अण्डा था। इसका निर्मल और स्वच्छ भाग अन्तरिक्ष हुआ और आभ्यन्तरिक भाग पार्थिव रूप हुआ। पृथ्वी और आकाश के बीच एक नरकुल उगा और कुनी-तोको-ताथी देवता में परिणत हो गया। इससे और भी देवों की उत्पत्ति हुई। किन्तु इज़ंगी (आकर्षक पुरुष) और इज़ानामी (आकर्षक स्त्री) इनमें मुख्य हैं, जो समस्त दुःखपूर्ण व्यवस्था (Sorry scheme of things) के लिए उत्तरदायी हैं। इन दोनों देवताओं ने स्वर्ग के तैरते हुए पुल पर खड़े होकर रत्नजटित भाले से, अधः स्थित अनन्त के रहस्योद्घाटन की इच्छा से, समुद्र का सं[illegible] किया। जब भाले [illegible] उन्होंने ऊपर उठा[illegible] तो जल-विन्दुओं के जम[illegible] से एक द्वीप की उत्पत्ति हुई। और इस द्वीप [illegible]पर स्थित हो कर पति-पत्नी होने की इच्छा प्रकट की। किन्तु वे तो भाई बहन थे। अतः वे एक स्तम्भ [illegible] निर्माण कर उसके चारों ओर विपरीत दिशा से चक्कर काटने लगे। यह क्रम बहुत दिनों चलता [illegible]। वर्षों बीत गए। अन्त में इज़ंगी ने इज़ानामी को देख कर कहा, 'अभूतपूर्व सौन्दर्य-राशि!' इज़ानामी ने कहा, 'सुन्दर कठोर युवा!' और आलिङ्गन-बद्ध हो गए। उनसे सारी सृष्टि हुई। और महान् अष्ट-द्वीप देश की उत्पत्ति हुई।

निहोंगी की कथा बड़ी रोचक है। जापान ने सृष्टि विषयक अत्यन्त मौलिक पुरावृत्त को जन्म दिया है। भारतीय हिरण्यगर्भ कथा में विचार प्रधान है, इसमें कला। किन्तु मूलतत्व समान है।

इन सब कथाओं का अध्ययन करने के पश्चात् बरबस यह कहना पड़ता है कि इन सब कथाओं का जन्म प्रागै इतिहासिक काल में, जब वर्तमान जातियों के विभिन्न पूर्वज किन्हीं अज्ञात देशों में रहते थे, हुआ था। यह कहना कि इन कथाओं के आदिम कहने वालों ने यात्रियों द्वारा एक दूसरे को प्रभावित किया कदाचित किसी अंश में सत्य हो सकता है, जैसे बैबीलोनी और भारतीय विनिमय। किन्तु जापान और प्राचीन भारत कभी भी बौद्ध युग के पहले एक दूसरे को नहीं जानते थे। ऐसी दशा में यह कहना कि इन जातियों ने एक दूसरे को प्रभावित किया नितान्त भ्रम है। जापान की कथा और भारतीय हिरण्यगर्भ वाली कथा के आत्मा में बड़ा अन्तर है। समानता का प्रधान कारण यह है कि मानव जिज्ञासा ने, व्यक्तिगत मस्तिष्क के सहारे प्राप्त अवसरों से प्रभावित हो कर, इन समान कथाओं का जन्म दिया है। मनुष्य ने जैसी अपने सामने सृष्टि देखी उसी को रूपान्तरित किया—आदिम युग के अर्द्ध-दार्शनिकों ने जन्म सुलभ धर्म-भावना को सन्तुष्ट किया।

* ब्रह्मा ने कामोत्तेजना से प्रेरित हो अपनी कन्या सरस्वती से कामयाचना की थी। इसका आधार शतपथ ब्राह्मण की प्रस्तुत कथा है।—लेखक

वर्तमान संकट और संसार का भविष्य

श्री [illegible] वर्मा

१८७८ ई० के जून मास में जरमनी की [illegible] धानी बरलिन में 'बरलिन कांग्रेस' हुई जिसने बल्[illegible] के टुकड़े टुकड़े कर उसे छाटी छोटी रियासतों में [illegible] दिया; साथ ही ब्रिटेन को इसने यह सुअवसर दिया [illegible] वह टर्की के साथ अलाहिदा एक सुलह [illegible]के उससे साइप्रस टापू ले लेने के बदले में यह [illegible]दा कर दे कि तुर्कों का 'एशियाई साम्राज्य' क़ायम [illegible]गा। अगर ताक़तवर मुल्कों में न्याय की दृष्टि होती तो यही कांग्रेस दुनिया के सुधार की बहुत अच्छी नींव डाल सकती थी। लेकिन उसी वक्त नींव पड़ रही थी उस महायुद्ध की जो १९१४-१८ में लड़ा गया। वस्तुतः इङ्गलैण्ड ने अपने एशियाई साम्राज्य को अच्छी तरह अलेहदगी ('Splendid isolation') में रख सकने के लिए ही यह अलग सुलहनामा किया। टर्की भी इसे जानता था। खुल्लमखुल्ला टर्की को 'मरने वाले रोगी' की उपाधि दी जा चुकी थी और उसकी ओर जिन लोगों की गिद्ध-दृष्टि पड़ रही थी उन्हें वह भी देख रहा था। लेकिन उस समय नये ज़माने की नई व्यवस्थाओं को अपनाने की ताक़त टर्की में न थी। जिन बुराइयों में वह अपनी कमज़ोरियों की जड़ें देख सकता था उन्हें हटा देने की शक्ति या स्फूर्ति वह अपने में नहीं पा रहा था। अरब, सीरिया और पैलेस्टाइन को टर्की से अलग करने के लिए इन्हें छोटे मुल्की हिस्से में बाँट देना ज़रूरी था और इसके लिए 'एक ज़बान वालों की एक क़ौम' या ऐसे ही तरह तरह के 'असूलों' का प्रचार करके अरबी ज़ुबान वाले अरबों को टर्की ज़ुबान वालों से और इसी तरह दूसरों को भी, काफ़ी प्रचार के साथ, अलहदगी के लिए संगठित किया गया था। अन्त में पहले महायुद्ध के बाद ख़िलाफ़त को तोड़ देने का मौक़ा भी आ गया। पर इसके लिए यकायक साहस पा लेना सहज न था। संयोग से कमाल पाशा [illegible]र्की ने अपना नेता बनाया। कमाल [illegible] स्विट्ज़रलैण्ड के राजनैतिक क़ानूनों को [illegible]पनाना ठीक समझा; अपने यहां की लिपि की जगह 'लैटिन लिपि' को दे दी। ख़िलाफत चकनाचूर हो गई। तेल के जिन इलाक़ों को अंग्रेज़ क़ौम लेना चाहती थी वे उसे मिल गये और टर्की अब ऐसी हालत में न रहा कि उसे 'बड़ी ताक़तों' में गिना जाता। इन सब का असर सभी मुसलमानी देशों पर पड़ा। हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने भी ख़िलाफ़त की रक्षा के लिए आवाज़ उठाई थी। पर जब १९२४ में कमाल पाशा ही के ज़रिये उसका ख़ात्मा हुआ तब वे क्या कर सकते थे? विजयी मुल्क इङ्गलैण्ड में विजय के फलस्वरूप नैतिक विश्वास बढ़ने, 'क्रिश्चियन सभ्यता' का प्रसार होने और वास्तविक लोकतन्त्र के अभावों की पूर्ति होने के लक्षण नहीं दिखलाई दिये। युद्ध के समय इन्हीं की घोषणा कर इनके लिए ही इतने अधिक लोगों के 'बलिदान' की ज़रूरत समझाई गई थी। फ्रांस में कई दलों का मतभेद बढ़ता गया। अमेरिका में प्रेसिडेन्ट विल्सन की न चली; कहा जाता है कि निराशा के साथ उनका प्राणान्त हुआ। केवल एक मुल्क—रूस, इस लड़ाई से ऐसा फ़ायदा उठा सका कि अपने यहाँ 'सोवियट' गवर्नमेन्ट क़ायम कर ली और लेनिन, स्टेलिन आदि लोगों को जो एक ज़माने में साइबेरिया में निर्वासित कर दिये गये थे, यूरुप आदि से वापिस बुला कर उनके हाथ में अपना नेतृत्व दे सका। सोवियट गवर्नमेन्ट ऐसी गवर्नमेन्ट हुई जो यह घोषणा करती हुई बनी कि उसका धार्मिक विश्वासों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, और उन्हें वह ज़रूरी या लाभदायक भी नहीं समझती। हिन्दुस्तान में ईसा से पहले ऐसे ज़माने आ चुके थे जब व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों को सामाजिक

विधान से अलग करने की कोशिश की गई थी और इसमें सफलता भी मिली थी। जैन और बौद्ध दोनों आन्दोलन असिल में ऐसे ही थे। इसके बहुत पहले कर्मयोगी क्षत्रियों ने जिनमें जनक और कृष्ण के नाम ... और कामों का ख़ासतौर से बयान है ऐसे ही ... को श्रेष्ठ समझा था। 'यूनानी मूर्तिपूजा और ... विचारों ने यहां के अनेक 'धार्मिकों' को अपना अन्न खींच कर उन्हें सैकड़ों अंधविश्वासों में फँसा दिया। इस अवस्था के सुधार के लिए मुसलमानी 'एकेश्वर-वाद' और समता के विचारों के प्रचार ने बहुत कुछ काम किया। वेदान्त, सूफ़ी और कबीर पन्थ मिल जुल कर लोगों को फिर सच्चे कर्मयोग की तरफ़ ले जाना चाहते थे। रूस का आन्दोलन भी, अनेक विद्वानों के अनुसार, अपने ढङ्ग का पूरा कर्मयोगी आन्दोलन था और है।

यूरुप के लोग यह देख चुके थे कि 'मशीन-युग' के आगमन के बाद केवल पूंजी के सहारे निकम्मे, और स्वार्थी साहूकार किन किन उपायों से जनता को अपनी ओर करके उनसे 'वोट' पाते हैं और अपनी गवर्नमेन्ट बनाकर जनता की भलाई की कुछ भी परवाह न कर मनमाने क़ानून बना उन्हीं का तरह तरह से शोषण करते हैं। कार्लमार्क्स के प्रयत्नों से एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय दल का संगठन इस मशीन-युग में किया गया जो इन 'निकम्मे' लोगों के चंगुल से परिश्रमी लोगों को छुटकारा दिला सके। किन्तु दूसरे लोगों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कई सदियों पहले से था और उनके पास प्रचार तथा संगठन के बहुत से साधन थे। मुल्कों की हुकूमतें उन्हीं के हाथों में थीं। वे धर्म, सभ्यता, लोकतन्त्र आदि के नाम का मनमाना उपयोग कर रहे थे। 'धार्मिक' गुरु लोग उनसे 'वेतन' या और तरह से धन ले लेकर उन्हीं का साथ दे रहे थे। फलतः रूस की इस क्रान्ति ने यूरुप, इङ्गलैण्ड और अमरीका में भी तहलका मचा दिया। हमारे यहाँ भी अब भी अनेक लोग चिल्ला उठते हैं—'हम रोटी के बदले अपने धर्म, अपनी संस्कृति या अपनी राजतन्त्र को नहीं छोड़ सकते।' और इनमें वे लोग होते हैं जिन्हें रोटी देने के लिए ही उस झूंठे प्रचार को हटाने की ज़रूरत है ... धर्म और वि... ...कि ...नाम से आपस में ... डालने और अपनी कौड़ी सीधी करने के लिए अ...बर किया जाता है!

यह...

(...) फिर भी हिन्दुस्तान और युरोपीय मुल्कों में यह दो...त बड़ा अन्तर था—जो अब भी है—कि यहाँ अ...भी 'मशीनों' का इतना इस्तैमाल नहीं हो पाया कि '...त्पादन के सब साधन' पूंजी रखने वालों के ही हाथों ... आ जावें। इसके सिवा, यह देश पराधीन होने से अपने लिए आवश्यक मशीनें भी बना नहीं सकता। यहां तो मोटर, जहाज़, रेल के इंजिन आदि ही नहीं, घड़ियां, फाउन्टपेन, रंग, दवाइयाँ, छापे की मशीनें, ब्लेड जैसी मामूली चीज़ें बनाने के भी कारख़ाने नहीं खुले और इनमें से अधिकांश तो खोले ही नहीं जा सकते। इसलिए जब यहां रूस जैसी क्रान्ति करने की योजना कोई व्यावहारिक समझने लगे तब उसके दिमाग़ में कुछ फ़ितूर ज़रूर समझना चाहिये। रूस को अपने देश की एक व्यवस्था हटा कर दूसरी क़ायम करनी थी। हमें सबसे पहले अपने देश को पराधीनता की उस अस्वाभाविक अवस्था से आज़ाद कराना है जिसकी वजह से हम जापान और जरमनी तक के सामान को अपने यहाँ से न निकाल पाये। अमरीका से मोटरें आदि लेना 'आवश्यक' समझा जाने से अपने कारख़ाने इनके लिए भी न खोल पाये। यह सब धार्मिक मतभेद का प्रश्न नहीं है, न यह ऐसे काम हैं जो हिन्दू और मुसलमान अलग अलग करें। मुल्क के लिए समुद्री जहाज़ मिलकर ही बनाये जावेंगे। इनके कारख़ानों में सब लोग मिल जुल कर काम करेंगे। इसी तरह हज़ारों कारख़ाने और भी होंगे। 'लड़ाई के काम में ही चालीस हज़ार चीज़ें काम में आती हैं, जिनमें अभी सिर्फ़ बीस हज़ार ही हिन्दुस्तान में बनती हैं।' कपड़ा तक अभी साठ करोड़ का बाहर से आता है। फिर भी इस समय विलायत जाने वाले माल के धन

के बदले हम जो चाहते हैं वह नहीं दिया जाता। यह सरकारी तौर से अब से आठ मास पहले बतलाया गया था कि 'भारत [illegible] स्थित सबसे मज़बूत होगई है। पहले हिन्दुस्तान ३७६० लाख का देनदार था पर अब वह सब 'क़र्ज़' अदा हो कर इस मुल्क के ३०२० लाख जमा हो चुके हैं।' यह मुल्क महाजन हो गया है। फिर भी हमारी यह बात कि हमारे इस धन से यहाँ के विलायती पूंजी से चलने वाले कारख़ाने ख़रीद लिये जावें मानी नहीं जाती। हमें यह विश्वास दिलाया जाता है कि इस धनके बदले 'धीरे धीरे आवश्यकतानुसार' हमें तरह तरह की विलायती मशीनें मिलेंगी। यहां के सच्चे और निष्पक्ष अर्थ-शास्त्रियों और समाजशास्त्रियों में से कई एक इस 'साम्राज्यवादी चाल' की पोल खोल चुके हैं।

अब से तीन बरस पहले* 'स्टेट्समैन' ने लिखा था—Let us confess that in the past we Britons have done India much wrong. We have starved her industry to feed our own markets—अर्थात् 'हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम ब्रिटेन वालों ने हिन्दुस्तान के प्रति बीते हुए ज़माने में बहुत अन्याय किया है। हमने हिन्दुस्तान के बाज़ारों में अपना माल बेंचने के लिए हिन्दुस्तान के उद्योग-धन्धों को ख़तम कर दिया है।' इस महायुद्ध के दरम्यान यह सवाल कई दफ़े उठा कि हिन्दुस्तान को 'आर्थिक और औद्योगिक स्वराज्य' तो दे ही देना चाहिए; पर सदैव इसका घोर विरोध किया गया और यह मुल्क देख रहा है कि ऐसी योजनायें चल रही हैं जो उसकी थोड़ी सी बची-खुची औद्योगिक आज़ादी को भी ख़तम कर देने पर उतारू हैं। और यह सब हो रहा है 'जनता की' असीम 'भलाई' करने, उन्हें ऐसे नेताओं के चंगुल से छुड़ा देने के लिए जो असिल में पूंजीपतियों के एजेन्ट हैं और ज़बरदस्ती नेता बन गये हैं।' इस झूंठ और बेशरमी का क्या इलाज है?

* 'Statesmen,' 25-8-1940

असिल में यह सब इस समय की 'वैज्ञानिक' कही जानेवाली सभ्यता और संस्कृति की देन हैं। आज [illegible]फल का सम्पूर्ण साम्राज्यवाद और पूंजीवादी पश्चिमी [illegible] इसी के फल हैं।

[illegible] जो देश कल सब से बढ़े-चढ़े सभ्य समझे [illegible] वे ही आज एक दूसरे को 'अन्यायी', [illegible]ली', 'फ़ासिस्टी' आदि कह कर आपस में 'संपूर्ण वैज्ञानिक और बौद्धिक शक्ति के साथ' लड़ रहे हैं। एक दूसरे की राजधानियों और बड़े बड़े शहरों पर बराबर 'सूद दर सूद के साथ' बम-वर्षा करने और उन्हें जला कर बिल्कुल नष्ट कर देने में अपनी बहादुरी और बेहतरी समझ रहे हैं।

जोड साहब ने लिखा है—Here then is an age which is without beliefs in religion, without standards in morals, without convictions in politics, without values in art... To if life has no point & the universe no purpose...It has mastered nature...but it has neglected man* अर्थात् 'यह युग ऐसा है जिसमें धर्म में विश्वास नहीं, नीति का कोई उचित माप-दण्ड नहीं, राजनीति में कोई जमे हुए यक़ीदे नहीं, कला का कोई सच्चा मूल्य नहीं··इस युग में जीवन का लक्ष्य नहीं, विश्व का कोई उद्देश्य नहीं—प्रकृति पर तो विजय प्राप्त कर ली गई पर मनुष्य की परवाह नहीं की गई है।'—इसका कारण वे यह बतलाते हैं—It is because we are continually mistaking means for ends that our civilization has fallen into errors.* 'हमारी सभ्यता ग़लत रास्ते पर इसलिये चल खड़ी हुई क्योंकि हम साधनों को उद्देश्य समझने की भूल बराबर किया करते हैं।' उनका कहना है—Leisure, comfort & money are not ultimate

* The Plight Of Our Civilization —G. E. M. Joad.

good but utilitarian needs. 'फ़ुरसत, आराम और धन अन्तिम लक्ष्य नहीं, बल्कि काम निकालने भर की चीज़ें हैं।'

दुनिया के शक्तिशाली लोगों के लिए [illegible] महायुद्ध बहुत बड़ी चेतावनी थी। उन्हें दु[illegible]ते सुधारने का एक शानदार अवसर मिल[illegible] उन्होंने उसे खो दिया। इसीलिए यह लड़ाई अनिवार्य हो गई। चाहिए कि संसार के प्राकृतिक नियमों और मानव समाजशास्त्र के नैतिक नियमों की अवहेलना अब न की जावे, क्योंकि इसमें अपनी ही हानि है। लड़ाई के बीच में ही अमरीका और इंगलैण्ड में लड़ाई के बाद की योजनाओं की पूर्ति पर अमल प्रारम्भ हो गया है। अगर ऐसा न किया जावे तो लड़ाई के बाद यकायक परिवर्तन करना सम्भव ही नहीं होता। फिर हिन्दुस्तान से लड़ाई के बाद के लिए सारी आशायें मुल्तवी रखने को क्यों कहा जाता है? हम अपनी भूख-प्यास, अपने कपड़े-लत्ते, अपने लिए आवश्यक कल-कारख़ानों का प्रबन्ध करने की शक्ति आज न पा सके तो कल, लड़ाई के बाद, क्या कर सकेंगे? हमें राजनैतिक वायदों, धार्मिक विश्वासों आदि के भरोसे रखना या 'रूस जैसी क्रान्ति' करा कर हमें इनाम देने की की बातें करना किसी तरह और किसी के लिये लाभदायक नहीं हो सकता। किन्तु जिस तरह खाने पहरने की वस्तुओं के ख़रीदने और बेंचने पर सरकारी क़ब्ज़ा होता जा रहा है उससे लोगों को यह स्वभाविक भय है कि जो थोड़ी बहुत आर्थिक स्वाधीनता इस बारे में अब तक मिली हुई थी वह भी अब छिन जावेगी। इसके लिए जनता के अज्ञान और विशेष पढ़े लिखे लोगों के संकीर्ण स्वार्थ से लाभ उठा कर जो चाहे वह किया जा सकता है। पर क्या अन्त में इसका फल सन्तोषप्रद हो सकता है? जोड साहब की तरह के विचार अनेक निष्पक्ष विद्वान् प्रकट कर चुके हैं। ये लोग संसार का पुनर्निर्माण नये मूल्यांकन के आधार पर चाहते हैं, जिससे मानव जीवन को [illegible] लक्ष्य और उसका गौरव (Purpose & dignity of human life) दिखलाई दें। उदार और निष्पक्ष विद्वानों की ऐसी सम्मतियों के आधार पर काम करने से साम्राज्यवादी विचार अपने आप ख़तम हो सकते हैं। अभी अभी मज़दूर दल के काव साहब ने पिछले वाइसराय और वर्तमान भारत-मंत्री की उचित निन्दा की है और उनके कामों को सर्वथा अनुचित ठहराते हुए यह सच्ची बात कह दी है कि The real Indian problem was not over-population but the fact that there was an alien Government governing India. It was the social & economic condition which obtained in India & which would not be changed until India gets her political independence अर्थात् हिन्दुस्तान की असली समस्या अत्यधिक आबादी नहीं है। बल्कि यह असली चीज़ है कि वहाँ विदेशी शासन है। वहाँ की सामाजिक और आर्थिक दशाएं तब तक नहीं बदल सकतीं जब तक हिन्दुस्तान आज़ादी नहीं हासिल करता।'* वस्तुतः जोड साहब की, काव साहब की और ऐसे अन्य दूरदर्शियों की मानवोचित इच्छा ठीक वही है जो यह विशाल देश अपने महान नेता के अमिट शब्दों में प्रकट कर चुका है और प्रकट कर रहा है। इसी की पूर्ति की ओर चलने से भावी संसार को संकटों से दूर किया जा सकता है—'और कोई पथ नहीं है।'

* पार्लियामेंट के मज़दूर-सदस्य श्री कोव साहब (Mr. W. G. Cove) के २८-११-४३ के भाषण से।

विक्रम द्वि सहस्राब्दि समारोह और प्रस्तावित विश्वविद्यालय

श्री भग[...]ास केला

भारतवर्ष में जो सन् सम्बत आदि प्रचलित हैं [...] उनमें विक्रम सम्बत का विशेष प्रचार है। यह सम्राट् [...] विक्रमादित्य की याद में है, और आगामी मा[...] १९४४ में इसके दो हज़ार वर्ष अर्थात् बीस शताब्दि (सदी) पूरी हो जायँगी। उस अवसर पर सम्राट् विक्रम की राजधानी उज्जैन में एक महान समारोह का आयोजन किया जा रहा है। इसमें कई राजा-महाराजाओं का सहयोग प्राप्त होने की आशा है। ग्वालियर-नरेश श्री मंत मेजर सर जीवाजी राव महाराजा शिन्दे के तत्वावधान में यह महोत्सव मनाया जायगा।

यह ठीक है कि जनसाधारण को खेल तमाशों में रुचि होती है, परन्तु ज्यों ज्यों उनका मानसिक या सांस्कृतिक धरातल ऊँचा होता जाता है, उनके खेल तमाशों का उद्देश्य केवल क्षणिक मनोरंजन नहीं रहता और किसी भी नेता या सत्ता को यह उचित नहीं है कि वह जनता की साधारण मनोवृत्ति का लाभ उठा कर उसका ध्यान मूल प्रश्नों से हटाने का प्रयत्न करे। हमारा कोई भी समारोह या उत्सव विशेष मूल्यवान नहीं है, यदि वह हमारी प्रधान समस्याओं को हल करने में सहायक नहीं होता और हमारी परिस्थिति को सुधारने का साधन नहीं बनता। विक्रम-द्विसहस्राब्दि-समारोह की उपयोगिता भी इसी कसौटी पर कसी जानी चाहिए। कुछ विद्वानों के भाषण, कुछ निबन्ध, पाठ, पुस्तकालय प्रदर्शनी, कीर्त्ति-स्तम्भ का निर्माण आदि का अपना अपना मूल्य अवश्य है, परन्तु भारतवर्ष के दो हज़ार वर्षों की यादगार के लिए क्या यह आयोजन कुछ काफ़ी कहा जा सकता है? इस शुभ अवसर पर तो कोई ऐसी ख़ास बात की जानी चाहिए जो जनता को कुछ स्थायी रूप से ऊँचा उठाने वाली, और उसे वास्तविक सुख प्रदान करने वाली हो।

[...]जकल संसार की अधिकांश जनता, और [...]ा निर्धन और पराधीन भारत के आदमी [...]ोगों के शिकार हैं आर्थिक और राजनैतिक। यदि हम शुद्ध सच्चे हृदय से विक्रम की याद मनाना चाहते हैं तो सब से प्रथम लोगों को भोजन-वस्त्र काफ़ी प्रमाण में दिये जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। अन्य बातों की कुछ समय प्रतीक्षा करनी पड़े तो ऐसा हर्ज नहीं है, परन्तु जनता की भूख प्यास और सर्दी गर्मी का कष्ट तो तुरन्त ही निवारण किया जाना चाहिए। जिन धनवानों, रईसों, सरदारों या राजा महाराजाओं को विक्रम-स्मृति का कुछ अभिमान हो, वे अपने सुख और वैभव का कुछ त्याग करके अपनी शक्ति जनता जनार्दन की सेवा में लगावें। यदि वे एक बार इसका दृढ़ निश्चय करलें तो ब्यौरेवार योजना सहज ही बन सकेगी।

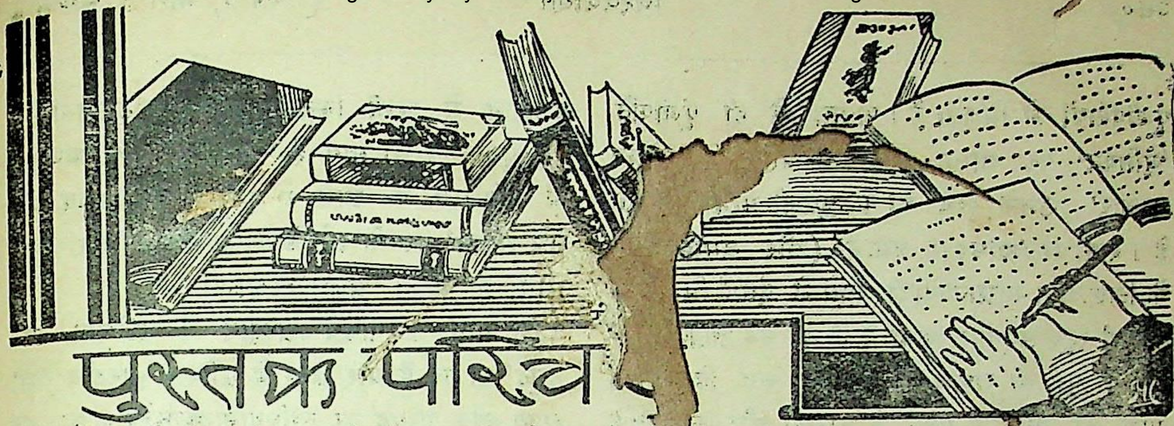
दूसरा कार्य जो अत्यावश्यक है, वह है शासन-सुधार का। यदि यह कार्य ठीक तरह हो जाय तो आर्थिक उत्थान का मार्ग भी सरल हो जायगा। जब हम किसी कामके करने को ठान लेते हैं तो उसका कुछ मार्ग निकल ही आता है। इसके विपरीत यदि हम टालना चाहें तो बहाना ढूंढ लेना भी कुछ कठिन नहीं। शासकों को प्रायः शासन-सुधार करने में टालमटोल की आदत होती है। आजकल ब्रिटिश सरकार से जब कोई सुधार करने की बात कही जाती है तो उसके लिए 'युद्ध-काल' का बहाना बना-बनाया है। वह भारतवर्ष को 'स्वराज्य' और न जाने क्या-क्या देने का वायदा करती है, परन्तु उसके सब प्रतिज्ञापत्रों पर युद्ध के बाद की मिति डाली जाती है। उधर यह हाल है कि अधिकांश आदमियों के लिए उसकी साख प्रायः जाती रही है। इसका कारण अंगरेज़ों के समय का विशेषतया पिछले महा युद्ध (१९१४-१८) और उसके बाद का शासन-इतिहास

है। जो हो, हमारे राजा - महाराजाओं को प्रत्येक सुधार के लिए 'युद्ध के बाद' की बात कहना उचित या शोभास्पद नहीं है। इन शब्दों में कुछ दम नहीं रहा है। जो राजा - महाराजा वास्तव [illegible] द्विसहस्राब्दि-उत्सव की कुछ स्थायी यादगा[illegible] के इच्छुक हों, उन्हें अन्य छोटे मोटे का[illegible]ते संतोषप्रद नहीं समझना चाहिए—जनता[illegible] सभी आदमी बिल्कुल भोले नहीं हैं—उन्हें जनता के हाथ में शासन-शक्ति सौंपने का कोई योग्य और अच्छा क़दम उठाना चाहिए। क्या हम आशा करें कि जो ब्रिटिश सरकार युद्ध के समय के कुछ विशेष लोक-हितकारी कार्य करने में अपनी असमर्थता सूचित करती रही है, वह राजाओं को तो कुछ सुधार करने देने में बाधक न बनेगी वरन् कुछ प्रोत्साहन ही देगी?

अब 'विक्रम शिन्दे (?) विश्वविद्यालय' के बारे में। इस समारोह के आयोजनों में से एक है—"हिन्दी माध्यमयुक्त विक्रम शिन्दे विश्वविद्यालय की घोषणा!" विश्वविद्यालय सम्बन्धी ब्यौरेवार बातों का यहां विचार न कर केवल उसके प्रस्तावित नाम के बारे में ही कुछ कहना है। साधारण तौर से यह कहा जा सकता है कि यदि किसी नागरिक को एक शिक्षा-संस्था से ज्ञान मिलता है तो उसे वह सहर्ष प्राप्त कर लेना चाहिए, उस संस्था के नाम के विषय में विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। सिद्धान्त से यह बात ठीक है। परन्तु दूसरा भी पक्ष है; लोक-भावना की सर्वथा उपेक्षा होना भी ठीक नहीं। विश्वविद्यालय वह संस्था है जिसकी प्रत्येक बात से व्यवहार में शिक्षा मिलनी चाहिए। जो कोई उसके सम्पर्क में आवे वह त्याग, उदारता, सेवा और निरभिमानता का पाठ सीखे। शिन्दे राजवंश के प्रति किसी प्रकार की लघुता का भाव सूचित न करते हुए मैं यह कहना चाहता हूँ कि अकेले विक्रम के नाम पर जितने देशी राज्यों का सहयोग किसी विश्वविद्यालय को मिल सकता है उतना सम्भवतः विक्रम और शिन्दे दोनों के संयुक्त नाम पर नहीं मिल सकता। उदाहरण के लिए मध्यभारत के ही राज्यों को लें। इन्दौर राज्य यह चे[illegible]सकता है कि होल्कर-[illegible]श्वविद्यालय की स्थापना की जाय, और यदि [illegible]उसके लिए शक्ति या सुविधा पर्याप्त नहीं है तो कुछ य[illegible] न किया जाय। यदि ऐसी बात हो तो उसे कौन [illegible]सन्द करेगा? और इससे क्या अच्छा उदाहरण उपस्थित होगा? हमारी इच्छा है कि नये विश्वविद्यालय का क्षेत्र यदि अधिक नहीं तो मध्य भारत तक तो रहना चाहिए। शिन्दे नाम से, उसका क्षेत्र बहुत कुछ गवालियर राज्य में परिमित रहने की आशंका है। हो सकता है, यह आशंका इन पंक्तियों के लेखक जैसे कुछ व्यक्तियों की कमज़ोरी के कारण ही हो; परन्तु क्या मानवी स्वभाव की दुर्बलता से सतर्क नहीं रहना चाहिए?

मैं आशा करता हूँ कि विश्वविद्यालय जैसी महान शिक्षा संस्था का आयोजन करने वाले महानुभावों का हृदय इतना विशाल होगा कि वे अपनी ओर से किसी व्यक्तिगत भावना के कारण विश्वविद्यालय की उपयोगिता कम करने वाली बात कदापि न होने देंगे। उन्हें काम से मतलब होगा, अपनी प्रसिद्धि या ख्याति से नहीं। और यह तो स्पष्ट ही है कि उज्जैन (गवालियर राज्य) में इस नये विश्वविद्यालय की स्थापना होने से (तथा गवालियर महाराज द्वारा आर्थिक व्यवस्था होने के कारण) गवालियर राज्य को तो इसका यश और श्रेय है ही। अच्छा हो, इसके नाम में ऐसा आकर्षण हो कि अन्य राज्य भी इसमें खुले हृदय से, अधिक से अधिक सहायता और सहयोग कर सकें, और यह विश्वविद्यालय भारतवर्ष भर के विश्वविद्यालयों में अपना विशेष स्थान बना सके। इन पंक्तियों को लिखने में हमारा लक्ष्य केवल शिक्षा का अधिक से अधिक हित है, आशा है, पाठक उसी दृष्टिकोण से इन पर विचार करेंगे।

——



(१) पूर्व की राष्ट्रीय जाग्रति—लेखक प्रो० शंकरसहाय सकसेना एम० ए०, पृष्ठ संख्या २७० मूल्य १।।)

(२) देशी राज्य शासन—लेखक श्री भगवानदास केला पृष्ठ संख्या ५६० सजिल्द मूल्य ३।।)

इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशक 'भारतीय ग्रन्थ-माला, वृन्दावन' के अध्यक्ष श्री भगवानदास केला जी हैं। दोनों पुस्तकें सर्वथा सामयिक हैं। पहली में पूर्व में साम्राज्यवाद, मिश्र की राष्ट्रीय जाग्रति और टर्की, अरब (सीरिया, पैलेस्टाइन, मैसोपोटेमिया और मध्य अरब), ईरान और अफ़ग़ानिस्तान की राष्ट्रीय जाग्रति पर लिखा गया है। लेखक महोदय का कहना है कि 'मेरा तो यह अनुभव हुआ है कि हिन्दी में स्वयं अपनी रुचि के अनुसार पुस्तक, लिखने का दुस्साहस कभी न करना चाहिए।' जान पड़ता है यदि ऐसा न होता तो इस पुस्तक में और भी खरी खरी बातें पढ़ने को मिल सकतीं। एक नक़्शे की और प्रत्येक 'देश' की जन-संख्या, क्षेत्रफल आदि की एक तालिका की ज़रूरत थी। अपने वर्तमान रूप में भी इस पुस्तक में ऐसी उपयोगी सामग्री है जिसकी ओर हम सब का पूरा ध्यान जाना चाहिए।

यूरुप के 'छोटे से' हालैंड और बेल्जियम जन-संख्या और क्षेत्रफल में यहां के सूबों अधिकांश में से किसी की बल्कि 'कमिश्नरियों' में से भी किसी की बराबरी नहीं कर सकते। वे अपने को एक एक 'मुल्क' समझते हैं। 'अपने से क्रमशः साठ गुने और अस्सी गुने भूखंड पर इन्होंने आधिपत्य जमा लिया' था। 'उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते होते—ब्रिटेन ने सैंतालिस लाख वर्ग मील, फ्रांस ने पांच लाख, जर्मनी ने अफ्रीका में दस लाख वर्ग मील भूमि पर अधिकार जमा लिया' था 'मानों समस्त संसार को बाँध लेने का अधिकार योरोपीय राष्ट्रों को ही प्राप्त हो गया।' 'इंगलैंड मिश्र को हड़प जाना चाहता था तो फ्रांस चुप रहा, इंगलैंड ने फ्रांस का मरक्को पर अधिकार हो जाने दिया। इसी प्रकार एशिया में इंगलैंड ने रूस से समझौता कर लिया। किन्तु जब बाँटने के लिए अधिक भूमि नहीं रह गई तो यह साम्राज्यवादी राष्ट्र आपस में ही भिड़ गये।' १९१४-१८ का महायुद्ध और आजकल का महायुद्ध 'इसीलिए हुए।'

असिल में बहुत थोड़े से पूंजीपतियों के हाथों में मनचाही शक्ति आ गई है। वे ही अपनी मनमानी किया करते हैं। 'संयुक्त-राज्य अमरीका के स्टैन्डर्ड आयल-ट्रस्ट का वार्षिक लाभ डेढ़ अरब रुपये के लगभग है और वह केवल नौ पूंजीपतियों को मिलता है।' इन मालिकों के बीस से अधिक बैंक तथा पांच प्रमुख रेलें संयुक्त राज्य अमरीका में चल रही हैं।' ऐसे ही, 'आयरन-ट्रस्ट', 'तम्बाकू-ट्रस्ट' आदि बने हुए हैं। 'ये लोग अपनी पूंजी विदेशों में लगाना चाहते हैं और इसीलिए अपनी अपनी सरकार को विवश करते हैं कि वह पिछड़े हुए देशों पर अधिकार जमावे।' दक्षिण अफ़रीका में 'किम्बरले तथा अन्य हीरे-जवारात की ख़ानों पर डी० बियर्स कम्पनी का एकाधिपत्य है। इन ख़ानों का लाभ कुछ इने गिने

पूंजीपतियों को मिलता है। फलतः वे ही पूंजीपति 'यूनियन' पर शासन करते हैं—यहां तक कि 'यूनियन सरकार' 'उनके हाथ की कठपुतली मात्र' बन जाती है। राष्ट्रों पर 'अधिकार जमाने' (और जमाये रखने) के लिए 'इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने ईसाई मिशनरियों का भी खूब उपयोग किया है।' यह सब लेखक महोदय ने 'पूर्व की राष्ट्रीय जाग्रति' में बता दिया है और साथ ही पूर्व के पतन के कारणों और फिर उसके नव-जन्म पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। 'रेल, तार तथा अन्य आधुनिक सुविधायें न होने पर भी पहले 'कोई भी भूखा नहीं रहता था। गोरों के शोषण के कारण विजित देशों में अधिक जन-संख्या भूखी रहने लगी।' 'साथ ही उन्होंने देखा कि विद्या बुद्धि में वे किसी भी गोरे से कम न होने पर भी पद पद पर अपमानित होते हैं।' रूसी क्रान्ति के प्रभाव का और १९२० में सैंतीस राष्ट्रों की कामरेड ज़िनोविफ़ के सभापतित्व में बाकू में जो कान्फ़रेन्स हुई थी और जिसमें ख़ास कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पोल खोली गई थी यथेष्ट वर्णन है। इसी तरह पूर्व के देशों में एक समूह को दूसरे समूह के ख़िलाफ़ खड़ा कर देने की जो जो चालें चली गई हैं और चली जा रही हैं उनका बहुत कुछ हाल मालूम हो जाता है और उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। हमारा अपने देश के युवकों से विशेष अनुरोध है कि वे ऐसी पुस्तकों को अपनावें और खुद भी ऐसी ही पुस्तकें लिखने-लिखाने में लगें।

(२) 'देशी राज्य शासन' के शुरू में दिये हुए 'निवेदन' से पता चलता है कि ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन में अभी कितनी अधिक कठिनाइयां हैं। इस पुस्तक के दो भाग हैं—पहले के बीस अध्यायों में 'अंगरेज़ों के आने से पूर्व' से 'देशी राज्य और संघ शासन' तक के बारे में लिखा गया है और दूसरे भाग में अलग अलग रियासतों के बारे में। पहले भाग के पांचवें अध्याय में 'सन्धियां और सनदें' दी गई हैं और अन्त में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद का लोधियाना-अधिवेशन का यह प्रस्ताव है—'इन संधियों को सरकार स्वयं समय-समय तोड़ती रही है। आजकल की बदली हुई स्थिति में रियासती जनता पर सौ साल पहले की संधियों को, जिनमें उनकी कोई चिन्ता नहीं की गई, मानने के लिए ज़ोर नहीं दिया जा सकता। इस सन्धियों का उपयोग अब सरकार रियासती जाग्रति के दमन के लिए ही करती है। ये अब वर्तमान समय बिलकुल प्रतिकूल और अक्रियात्मक हो गई हैं। इन्हें अब समाप्त कर देना चाहिए।' 'कांग्रेस और देशी राज्य' पर भी एक अध्याय है। प्रथम भाग के अन्त में डा० पट्टाभि सीतारामैय्या के रियासतों के बारे में वे वाक्य हैं जिनके अन्त में कहा गया है—'मैं समझता हूँ कि देशी राज्यों की जनता ने अपना संगठन इसी दृष्टि से किया है कि निकट भविष्य की मुकम्मिल आज़ादी में वे अपने दायित्व और अधिकारों में पूर्ण भाग लें।' परिशिष्टों में 'देशी राज्यों की जन-संख्या और उनमें शिक्षा-प्रचार' पर एक तालिका है और देशी राज्यों के बारे में एक प्रश्नावली है। ये दोनों भी महत्वपूर्ण हैं। यह पुस्तक भी विशेष उपयोगी है।

—वि० व०

सम्पादकीय-[illegible]

बंगाल की हालत—पोस्टवार रिकन्सट्रक्शन पालिसी कमेटी [illegible]ड ऐराड इराडस्ट्री—पुनर्निर्माण और जन स्वास्थ्य—दुधारू गाएं कटनी बन्द हों—भारत में पानी क[illegible]—मद्रास सरकार और शराबबन्दी—संगीत-सम्मेलन—भारतीय पुरातत्ववेत्ता—स्वर्गीय सर आरेल स्टं[illegible] में साम्प्रदायिकता नहीं है—विक्रमोत्सव—सिक्यूरिटी प्रिज़नर्स—ए० आर० पी० संगठन—ब्रिटिश साम्[illegible]—भारत सरकार की नई शिक्षा-योजना—आयरलैंड की तटस्थता—सोवियत् रूस की अल्पमत जा[illegible]विनान—धुरी राष्ट्रों की आ[illegible]-शक्ति—मास्को-सम्मेलन के बाद—ब्रिटेन की बढ़ती हुई अधार्मिकता—परिडत सुन्दरलाल जी—विश्ववाणी [illegible] तीन वर्ष।

बंगाल की हालत

लार्ड वैवल के बंगाल पहुँचने के बाद से बंगाल की हालत में ज़ाहिरा थोड़ा सा परिवर्तन नजर आरहा है। गृहहीन जनता को ज़बर्दस्ती पकड़ पकड़कर कनसनट्रेशन कैम्पों या आस पास के गावों में भेज दिया गया है, जिससे कलकत्ते की मृत्यु-संख्या में आधे का फ़र्क आगया है। गावों की मृत्यु-संख्या की कोई सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित नहीं की जारही है, इसलिये असली हालत का ठीक ठीक पता नहीं चल रहा है। डाक्टर हृदयनाथ कुंजरू जैसे ठंडे दिल के व्यक्ति ने कौंसिल आफ़ स्टेट में जो बयान दिया है उसके अनुसार अब भी पूरे बंगाल में एक लाख आदमी हर सप्ताह भूख से मर रहे हैं। कलकत्ता कारपोरेशन की रिपोर्ट के अनुसार अक्तूबर महीने में अकेले कलकत्ते के दुर्भिक्षपीड़ित मनुष्यों की मृत्यु-संख्या ७७८७ थी। फ़ौजी मदद से दुर्भिक्षपीड़ित क्षेत्रों में अन्न पहुंचाने का सराहनीय प्रयत्न किया जारहा है। कम्बल और कपड़े बांटने की भी योजना बनाई जारही है। दुर्भिक्षपीड़ित स्थानों में मलैरिया के प्रकोप को कम करने के लिये फ़ौज से २०० डाक्टरों की मदद ली गई है। नई फ़सल का धान और चावल बाज़ार में आगया है जिसकी क़ीमत आठ से पन्द्रह रुपया मन तक है।

किन्तु इस चित्र से बंगाल की असली हालत का पता नहीं चल सकता। डाक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी, मौलवी फ़ज़लुल हक़ और "स्टेटसमैन" के सम्वाददाता तीनों के अनुसार अभी तक हालत क़ाबू में नहीं आई है। हर तरफ़ से सरकार पर इस बात का ज़ोर डाला जारहा है कि परिस्थिति को पूरी तरह क़ाबू में करने के लिये उसे कोई दक़ीका बाक़ी न उठा रखना चाहिये।

सेण्ट्रल असेम्बली की बहसों में मिस्टर जिन्नाह ने कहा कि—"फ़र्ज़ करो इङ्गलैण्ड में हज़ारों की बात जाने दो, यदि सैकड़ों आदमी ही भूख से मरे होते तो क्या चर्चिल की सरकार २४ घंटे भी अपने पदों पर बैठी रह सकती थी?...हमें यह बताया गया है कि भारत-सरकार सन् १९३९ से भोजन की समस्या पर कान्फ्रेंसें कर रही है और आज नतीजा यह है कि हज़ारों आदमी भूखे मर रहे हैं...भारत-सरकार भयंकर बेपरवाही के इलज़ाम से अपने को बरी नहीं कर सकती। मैं प्रान्तीय सरकार को सुबुकदोश नहीं कर रहा हूं, किन्तु प्रान्तीय सरकार मुद्रा-नीति, जहाज़ी चुंगी, अनाज के बाहर भेजे जाने, क़ीमतें निश्चित करने, राशनिंग और फ़ौजी ज़रूरतों से नाज के इकट्ठा किये जाने जैसे मामलों में क्या दख़ल दे सकती थी?...इस दुर्भिक्ष के लिये भारत-सरकार ही पूरी तरह ज़िम्मेवार है और यदि वह इस ज़िम्मेवारी को नहीं समझती तो ईश्वर ही उसकी रक्षा करे।"

बहस के दौरान में इण्डिपेण्डेण्ट पार्टी के नेता श्री हुसेनभाई बालभाई ने कहा—"पिछले चार वर्षों में जितना अनाज हिन्दुस्तान से बाहर भेजा गया है उसके आंकड़े हमें नहीं बताये जाते जबकि बाहर से जो कुछ अनाज यहां आया है उसके लिये डींगें मारी जा रही हैं।"

अमेम्बली के यूरोपियन सदस्य सर फ्रेडरिक जेम्स ने बहस के दौरान [illegible] — [illegible] के फ़ायदे हर एक के लिये एकसां है ? मैं [illegible] यह सवाल पूछ रहा हूँ कि बैंगलोर में फ़ौजी अ[illegible]पर निर्भर करने वाले जो बहुत से लोग हैं उन्हें [illegible] आदमियों से बारह गुना ज़्यादा अन्न स[illegible]दी जाती है। फ़ौजी अफ़सर यह तमीज़ [illegible] नहीं चाहते, किन्तु उनसे कोई पूछता ही नहीं। [illegible]

मित्रराष्ट्रों ने यूरोप के देशों के भूखों के वास्ते अन्न वस्त्र और दवा के प्रबन्ध करने के लिये एक "यूनाइटेड नेशनल रिलीफ़ एण्ड रिहैबिलिटेशन एडमिनिस्ट्रेशन" नाम की संस्था क़ायम की है। इसकी ओर से अमरीका के अटलांटिक शहर में करोड़ों मन अनाज और कपड़ा इकट्ठा किया जा रहा है। इस संस्था में रायटर की ख़बर के अनुसार भारत-सरकार भी लगभग साढ़े दस करोड़ रुपया चन्दा देगी जिससे यूरोप के एक करोड़ गोरे नर-नारियों को एक वर्ष तक भोजन दिया जा सके। प्रसिद्ध अमरीकन पत्र "शिकागो सन" ने मित्रराष्ट्रों से इस बात की अपील की है कि इस मद से बङ्गाल के भूखे मरने वालों की भी मदद की जाय। किन्तु नक्कार ख़ाने में तूती की आवाज़ कौन सुनेगा ?

यह टिप्पणी समाप्त करने के पहले हम श्री डी वेलरा और मैडम चियांग काइ शेक को धन्यवाद देना नहीं भूल सकते जिन्होंने कई लाख भेजकर भारत के प्रति अपना बन्धुत्व प्रकट किया है। भारत अपने इन मित्रों के प्रति कृतज्ञ रहेगा।

पोस्टवार रिकन्सट्रक्शन पालिसी कमेटी और ट्रेड ऐन्ड इण्डस्ट्री

जंग के बाद उद्योग-धन्धों के पुनर्निर्माण पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने ऊपर लिखी कमेटी बनाई है। भारत सरकार के व्यापार-सदस्य सर अज़ीज़ुल हक़ ने इसका उद्घाटन करते हुए कहा—"सरकार का यह कर्तव्य है कि वह नये नये उद्योग-धन्धों को सहायता और प्रोत्साहन दे। किन्तु सरकार के लिये यह भी जानना ज़रूरी है कि यहां किस तरह के उद्योग-धन्धों की गुञ्जाइश है। एक विराट क्षेत्र खुला पड़ा है किन्तु फिर भी हर तरह के उद्योग-धन्धों को सफलता नहीं मिल सकती। सरकारी सहायता से भी हर नया उद्योग नहीं चल सकता।"

सर अज़ीज़ुल हक़ के इस वक्तव्य के बाद जनता को कमेटी की कारगुज़ारियों से ज़्यादा उम्मीद नहीं हो सकती। मोटर, हवाई जहाज़, ट्रक्स, ट्रैक्टर आदि बनाने के लिये जिन भारी कारख़ानों की ज़रूरत होगी क्या सरकार उनके लिये पूंजी इकट्ठा करने में मदद देगी ? जहाज़ी कारख़ाने खोलने के लिये क्या यहां प्रोत्साहन मिल सकेगा ? मोटर का कारख़ाना खोलने के सम्बन्ध में सेठ बालचन्द हीराचन्द को सरकार ने जैसा टका सा जवाब दिया था उससे हमें सन्देह होता है कि सरकारी सहायता उस तरह के भारतीय प्रयत्नों को न मिलेगी जो ब्रिटिश उद्योगवाद के शोषण को हटाने या उसका मुक़ाबला करने की चेष्टा करेंगे। किन्तु जब तक सब तरह के कारख़ाने यहाँ न खुलेंगे तब तक देश का सच्चा औद्योगीकरण असम्भव है।

उस नैशनल प्लेनिंग कमीशन ने, जिसके चेयरमैन पंडित जवाहरलाल थे, बड़ी मेहनत और क़ाबिलियत के साथ भारत के औद्योगीकरण के हर पहलू पर इत्तलाएं जुटाई हैं। क्या सर अज़ीज़ुल हक़ की कमेटी इस सामग्री से लाभ उठाने की बात सोचेगी ? सर अज़ीज़ुल हक़ को पहले यह बात तय करनी है कि सरकारी योजना क्या है। यदि सरकार के सामने केवल कोई कामचलाऊ योजना ही है और सर अज़ीज़ को केवल जनमत के सामने शरमाहुज़ूरी करनी है तो ज़्यादा बेहतर हो कि ग़ैर सरकारी तरफ़ से इस काम को बढ़ाया जाय।

क़दम उठाने से पहले एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। हिन्दुस्तान बेहद ग़रीब मुल्क है। यहां की जनता की ख़रीदने की शक्ति नहीं के बराबर है। यहां आदमियों का मुनासिब से ज़्यादह

बोझ केवल खेती पर है। हमें ऐसे उद्योग शुरू करने चाहिये जो अधिक से अधिक तादाद में इस बोझ को कम कर सकें। विदेशी मण्डियां तलाश करने के पहले हमें अपने ही देश की मण्डियों पर क़ब्ज़ा करने की बात सोचनी चाहिये।

भारत जैसे पिछड़े हुए देश के लिये यह कहीं ज़्यादा मुनासिब और फ़ायदेमन्द होगा कि यहां बहुत बड़े पैमाने पर खद्दर और दूसरे ग्राम-उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाय। केवल इस तरह के ग्राम-उद्योग ही यहां की अतिरिक्त जनशक्ति को खपा सकते हैं नहीं तो भारत के औद्योगीकरण की वास्तविक समस्या ग़लत या अधूरे प्रयत्नों से हल नहीं हो सकती।

पुनर्निर्माण और जन स्वास्थ्य

युद्ध के बाद भारतीय जनता के स्वास्थ्य को सुधारने के लिये भारत सरकार ने एक हेल्थ सरवे एण्ड डिवलपमेण्ट कमेटी' क़ायम की है। सर जोसफ़ भोरे इसके चेयरमैन हैं। सर जोसफ़ ने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य में कहा है—"जनता के स्वास्थ्य के गिरते जाने को रोकने के लिये हम कोई क्षणिक योजना बनाने के लिये नहीं इकट्ठा हुए हैं, बल्कि हम ऐसे सुझाव पेश करना चाहते हैं जिनकी उन्नति का फैलाव ५० वर्ष में पूरा हो।"

जनता के स्वास्थ्य के गिरने के कारणों पर बहस करते हुए सर जोसफ़ ने बताया—"कमेटी का पहला काम असली हालत की सच्ची तसवीर पेश करना है। सरकारी पुस्तकों में जो कुछ सामग्री दर्ज है वह पूरी तरह विश्वास के योग्य नहीं है।"

सर जोसफ़ ने यह भी कहा--"ब्रिटिश भारत में पुरुषों की औसत उम्र केवल २७ वर्ष है, जबकि न्यूज़ीलैण्ड में ६५ वर्ष, आस्ट्रेलिया में ६३ वर्ष, अमरीका में ५९ वर्ष, और इंगलिस्तान में ५८ वर्ष है।"

"मैनेचेस्टर गार्जियन" ने अपनी हाल की एक टिप्पणी में लिखा है कि—"बंगाल के दुर्भिक्ष के भयङ्कर परिणाम की एक वजह यह भी है कि निरन्तर आधे[illegible]अधिकांश जनता इतनी कम[illegible]गई है कि मौत बिला कोशिश उन्हें [illegible]में कामयाब हो रही है।"

[illegible] जोसफ़ को जनता की भयङ्कर ग़रीबी की व[illegible]तलाश करने के लिये कहीं दूर नहीं जाना प[illegible] इतिहास के खुले हुए पन्ने हमें बता रहे हैं कि कि[illegible] तरह 'वैज्ञानिक रीति से' [illegible] को दिन बदिन दरिद्र बनाया गया, किस तरह हमारे उद्योग-धन्धों का सर्वनाश किया गया, किस तरह राजनैतिक ग़ुलामी की कड़ियां दिन बदिन मज़बूत की गईं और कभी कभी हमें पशुओं से भी बदतर समझा गया।

हम सर जोसफ़ को बड़ी नम्रता के साथ बताना चाहते हैं कि विटेमिन की गोलियों और कुनेन की टिकियों से भारतीय जनता के स्वास्थ्य को लाभ न होगा। जब तक सर जोसफ़ के आक़ा अपने मौजूदा अधिकारों के साथ यहाँ तशरीफ़फ़र्मा हैं तब तक हमें इस तरह की कमेटियों से कोई फ़ायदा नहीं नज़र आता। हमने बीसों कमेटियों को बनते और उनकी रिपोर्टों को दाख़िल दफ्तर होते देखा है। इन हालतों में सर जोसफ़ की कमेटी रिपोर्ट का क्या अंजाम होगा उसका अन्दाज़ा लगाने के लिये कुछ बहुत बड़ी कल्पना शक्ति की ज़रूरत नहीं है।

दुधारू गाएं कटनी बन्द हों

मारवाड़ी चैम्बर्स आफ़ कामर्स और कई दूसरी संस्थाओं ने दूध देने वाली गायों के बेहिसाब काटे जाने को रोकने के लिये सरकार से अनुरोध किया है। ग़ैर सरकारी रिपोर्टों से पता चलता है कि पिछले चार वर्षों में इस देश से लगभग बीस लाख गायें कटी हैं। यह संख्या इतनी तकलीफ़देह है कि सहसा इस पर विश्वास नहीं होता।

कौंसिल आफ़ स्टेट में राजा युवराजदत्त सिंह के प्रश्न के जवाब में सर जोगेन्द्र सिंह ने सरकार की तरफ़ से यह आश्वासन दिया है कि फ़ौज के लिये अब दुधारू गाएं न कटेंगी।

क्या हम आशा करें कि सरकार सर [illegible] सिंह के आश्वासन पर [illegible] अति [illegible] अमल करने का प्रयत्न करेगी ?

भारत में पानी की बिजली

मौजूदा ज़माने में देश के उद्योग-ध[illegible]ती तरक़्क़ी के लिये पानी की बिजली का स्थान [illegible] महत्वपूर्ण है। यूरोप, अमरीका के देशों और जापान में पानी की बिजली बनाकर उससे छोटे बड़े सब तरह के कल कारख़ाने चलाए जाते हैं। इससे एक तरफ़ तो मानव शक्ति की बचत होती है और दूसरी तरफ़ चीजें सस्ती पड़ती हैं। भारत में बड़ी बड़ी नदियां और जलप्रपात मौजूद हैं जिनसे बिजली तय्यार की जा सकती है; किन्तु यहां की सरकार इस सम्बन्ध में उदासीन है।

"ईस्टर्न इकौनोमिक्स" ने अपने हाल के एक अंक में लिखा है कि भारत में दो करोड़ सत्तर लाख किलोवाट पानी की बिजली तय्यार की जा सकती है जबकि इस समय यहाँ केवल ५ लाख किलोबाट बिजली तय्यार की जाती है। रूस और जापान ने पानी की बिजली बनाकर अपने देश के उद्योग धन्धों और खेती और सिंचाई के तरीक़ों में आश्चर्य-जनक उन्नति की है।

इस पर टिप्पणी करते हुए 'लीडर' लिखता है—'युद्ध के बाद की आर्थिक पुनर्निमाण की योजना में पानी की बिजली को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिये। पुनर्निर्माण-समिति को इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि पानी की बिजली तैयार करने की योजना और उसके लिये आवश्यक ख़र्च का सरंजाम वह पहले से कर रखे ताकि युद्ध की समाप्ति पर बिला वक़्त ख़राब किये यह काम शुरू किया जा सके।'

किन्तु पुनर्निर्माण कमेटियों की कार्रवाइयों से हमें पता चलता है कि भारत-सरकार इस सम्बन्ध में अभी तक सचेष्ट नहीं है। भारत-सरकार के इलेक्ट्रिकल कमिश्नर श्री एच० एम० मैह्यूज़ ने हाल में रीकन्सट्रक्शन कमेटी की मीटिंग में कहा है कि भारत सरकार पानी की सात लाख किलोवाट बिजली तैयार करने पर विचार कर रही है। भारत-सरकार की इस कल्पना शक्ति की कमी पर हमें तरस आता है!

डाक्टर अम्बेदकर ने इस कमेटी का उद्घाटन करते हुए कहा था—

"भारत में किसानों की जो दुर्दशा हो रही है वह खेती की नुमाइश और पशु-प्रदर्शनियों से दूर न होगी। वह तभी दूर होगी जब खेती को फ़ायदे की चीज़ बनाया जाय और बग़ैर व्यापक उद्योगवाद के खेती को फ़ायदेमन्द नहीं बनाया जा सकता। उद्योग-धन्धे ही किसानों की अतिरिक्त संख्या का बोझ खेती पर से हटा सकते हैं और यह तभी हो सकता है जब भारत में सस्ती बिजली और सस्ती मशीनरी का हम प्रबन्ध करें।"

श्री अम्बेदकर ने यह भी कहा कि यदि लड़ाई की समाप्ति पर सरकार इसका प्रबन्ध नहीं करती तो वह अपने कर्तव्य से गिर जायगी। क्या डाक्टर अम्बेदकर को यह बताने की ज़रूरत है कि आजकल की शासन-नीति की बुनियाद ही शोषण पर है और इस नीति के अनुसार भारत केवल एक व्यावसायिक मन्डो है और भारत में उद्योग-धन्धों की वास्तविक बढ़ती का अर्थ इस मन्डी की समाप्ति है? हम फिर यही कहेंगे कि सारा सवाल दिलों के बदलने का है।

मद्रास सरकार और शराबबन्दी

सन् १९३७ में मद्रास के कांग्रेस मंत्रिमण्डल ने वहां के सेलम, उत्तरी अरकाट, चित्तूर, कड्डापा आदि के इलाक़ों में शराबबन्दी प्रचलित की थी। अब गवर्नर ने अपने निजी अख़्तियार से पहली जनवरी सन् १९४४ से इन इलाक़ों में फिर से ताड़ी की दूकानें खोलने का फ़ैसला किया है।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने, जो उस समय मद्रास सरकार के प्रीमियर थे, गवर्नर के इस फ़ैसले की निन्दा करते हुए अपने २० नवम्बर के मद्रास के एक व्याख्यान में कहा है—

"सन् १९३७ में जब इन इलाक़ों में शराबबन्दी जारी की गई तो इसका फ़ैसला जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों ने किया था। मुसलिम लीग और जस्टिस-पार्टी के नेताओं ने भी इसका समर्थन किया था। मद्रास-असेम्बली ने सर्व सम्मति से इसे स्वीकार किया था। शराबबन्दी का क़ानून बनने के साथ साथ आर्थिक घाटे को पूरा करने के लिये जनता के ऊपर नये नये टैक्स लगाये गए थे जिन्हें जनता ने इस उम्मीद में खुशी के साथ स्वीकार किया था कि यह शराबबन्दी प्रान्त भर में जारी कर दी जायगी। शराबबन्दी के एवज़ नये नये कर लगाने से सरकार को काफ़ी आमदनी हुई जिसका तख़मीना इस साल के बजट में लगभग चार करोड़ रुपया होता है।"

मद्रास के गवर्नर ने अपने इस फ़ैसले के लिये जिस आर्थिक घाटे की दोहाई दी है वह ऊपर के वक्तव्य से निराधार साबित होता है। गवर्नर के फ़ैसले का जो नतीजा होगा उसके सम्बन्ध में श्री राजगोपालाचार्य ने कहा—

"चौबीस हज़ार वर्ग मील का इलाक़ा पिछले छै वर्षों से ताड़ी और शराब से ख़ाली था। सत्तर लाख आदमी ताड़ी के दूषित प्रभाव से मुक्त हो चुके थे। यह सोचकर ही मैं कांप उठता हूं कि अब इसी इलाके में जनवरी सन् ४४ से ७००८ ताड़ी की दूकानें फिर से खोल दी जायँगी। उस इलाके में ताड़ी की दूकानें फिर से खोलने के लिये जनता की तरफ़ से ज़रा भी माँग नहीं की गई। स्त्रियों ने भी कांग्रेसी मंत्रिमंडल के इस पुण्यकार्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी।"

गवर्नर की ओर से यह कहा गया है कि पिछले छै वर्षों में नाजायज़ ताड़ी बनाने के जुर्म में इन इलाक़ों में क़रीब छै हज़ार व्यक्तियों पर मुक़दमा चला। इसका अर्थ यह हुआ कि ७० लाख व्यक्तियों में पूरे एक वर्ष में एक हज़ार व्यक्ति शराबबन्दी तोड़ने के अपराधी थे। चोरी का क़ानून तोड़ने वाले इस इलाके में इससे भी कहीं अधिक थे। इसका अर्थ यह हुआ कि गवर्नर महोदय चोरी भी जायज़ क़रार [illegible] चर बिना पर क़ायदे क़ानू[illegible] किये जाते। किन्तु [illegible]ज़ोर देशों का रा[illegible] स्वत्व हरण करने के साथ साथ उनके [illegible]पतन में सबल क़ौम को अक्सर अपना हि[illegible]ई दिया है। एक ज़माना था जब [illegible]त-श[illegible]राब बनाने और पीने के जुर्म [illegible] लोगों को उन[illegible] काट डालने की सज़ायें [illegible] करते थे और एक आज का ज़माना है जब शराब को ग़रीब देहातियों के बीच में प्रचार की वस्तु बनाया जा रहा है! इस देश की आइन्दा आने वाली नस्लें मद्रास-सरकार के इस अनैतिक कृत्य को कभी माफ़ न करेंगी।

संगीत-सम्मेलन

गोरखपुर में अखिल भारतीय संगीत-सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए मिस्टर बी० आर० जेम्स आई० सी० एस० ने कुछ बड़े पते की बातें कहीं हैं जिनकी ओर हम अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। श्री जेम्स ने कहा—

"इस देश में जो बहुत से संगीत-सम्मेलन होते हैं। मेरी समझ में नहीं आता उन्हें सम्मेलन क्यों कहा जाता है। उन्हें संगीत-प्रदर्शन या मेले कहना ज़्यादह उपयुक्त होगा। पश्चिम में हम इन्हें इसी नाम से पुकारते हैं। व्याख्यान और विवाद सम्मेलन के प्रमुख अंग होते हैं और भारतीय संगीत-सम्मेलनों में इन्हीं का अभाव होता है। प्रसिद्ध संगीतज्ञ और नृत्य और लास्य विशारद इन सम्मेलनों में अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। कोई इस बात पर ध्यान नहीं देता कि वह इन कला विशारदों से यह कहे कि वे अपनी कला के प्रदर्शन के साथ साथ अपनी कला पर कुछ व्याख्यान भी दें। लोग उनकी कला पर प्रश्न करें और वे लोगों की शंकाओं का समाधान करें। इससे भारतीय संगीत-कला को बेहद लाभ होगा। इन सम्मेलनों में संगीत के विकास और इतिहास पर भी व्याख्यान होने चाहियें। ऐसा करने

से इन संगीत-सम्मेलनों की [illegible] और उपादेयता बेहद बढ़ जा[illegible] [illegible] कहना [illegible]

श्री [illegible] के इस कथन में बहुत [illegible] है। हम संगीत-सम्मेलनों के संचालकों और [illegible]कों का [illegible] इस ओर दिलाते हैं।

[illegible]रत[illegible] पुरातत्ववेत्ता

मेसो[illegible]या के दबे हुए शहर उर [illegible] खुदाई करने वाले मशहूर अंगरेज़ पुरातत्ववेत्ता सर लिओनार्ड वूली ने अपने एक बयान में भार[illegible]य पुरातत्ववेत्ताओं के सम्बन्ध में यह विचार प्रकट किया है कि भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं और अन्वेषकों में ठोस काम करने की प्रवृत्ति नहीं है और वे गम्भीर और वैज्ञानिक रीति से काम करने के आदी नहीं हैं।

हमें सर वूली के इस वक्तव्य पर कुछ हैरानी है। आज से ८-१० वर्ष पहले जब सर वूली भारत आये थे उस समय भारतीय पुरातत्व के सम्बन्ध में हमारी उनसे बातें हुई थीं। महंजो दड़ो और दूसरी जगहों की खुदाई में भारत-सरकार ने जो ढील दिखाई थी उसकी उन्होंने तीव्र शब्दों में निन्दा की थी। भारतीय पुरातत्ववेत्ता जिन बाधाओं और विपत्तियों का सामना करते हुए अपना काम करते हैं उसके लिये उनके पास प्रशंसा के शब्द थे। किन्तु न जाने कैसे यकायक सर वूली की राय बदल गई और आज वह एक स्कूलमास्टर के लहजे में हमारे पुरातत्ववेत्ताओं को उपदेश दे रहे हैं। हमें सर बूली की प्रशंसा और निन्दा की परवाह नहीं करनी चाहिये। डाक्टर भण्डारकर, डाक्टर शामशास्त्री, डाक्टर हीरानन्द, डाक्टर राय, डाक्टर काशीनाथ दीक्षित आदि हमारे अनेक आदरणीय पुरातत्ववेत्ता जिन विपरीत परिस्थितियों में जिस योग्यता के साथ काम कर रहे हैं उसके लिये हर सत्यता प्रेमी के दिल में उनके प्रति आदर और सम्मान होना चाहिये और है।

स्वर्गीय सर आरेल स्टीन

गत २६ अक्तूबर को क़ाबुल में ८० वर्ष की उम्र में प्रसिद्ध यूरोपियन पुरातत्ववेत्ता सर आरेल स्टीन की मृत्यु हो गई। सर आरेल लगभग पिछले पचास वर्षों से मध्य एशिया, चीनी तुर्किस्तान, गोबी मरुस्थल और भारत में पुरातत्व की अथक खोजों में लगे हुए थे। बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में उन्होंने जो खोजें की हैं वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। भारत, ईरानी और चीनी संस्कृतियों के सम्बन्ध में भी उनकी खोजों का यथेष्ट आदर किया जाता है। काश्मीर के राजाओं से सम्बन्ध में उन्होंने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक "क्रानिकल आफ़ किंग्ज़ आफ़ काश्मीर" लिखी है। उनकी अन्य मशहूर पुस्तकें "एनशिएण्ट खोतान," "दी थाउज़ेंण्ड बुद्धाज़" और "रुइन्स आफ़ डेज़र्ट काथे" हैं। सर आरेल की खोज की हुई चीज़ें दिल्ली में एक अलग सरकारी म्यूज़ियम में रखी गई हैं।

सर आरेल का व्यक्तिगत जीवन तपस्वियों का सा जीवन था। बौद्ध धर्म का उनके जीवन पर बेहद प्रभाव पड़ा था। पुरातत्व के वे सच्चे खोजी थे। एक बार गोबी मरुस्थल में उन्हें कई दिन तक बिना अन्न पानी के रहना पड़ा था और दूसरी बार हिन्दुकुश के २६,००० फुट ऊंचे हिम शिखरों पर उनके पैरों के पंजे तक गल गये थे। किन्तु शारीरिक कष्ट उनके मार्ग में बाधक न हो सकते थे। पिछले कई वर्षों से उन्होंने काश्मीर को ही अपना घर बना लिया था। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में उन्होंने जो खोजें की हैं उसके लिये हर भारतवासी उनका कृतज्ञ है। सर आरेल की पुण्य स्मृति में हम अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

उनमें साम्प्रदायिकता नहीं है

दक्षिण अफ़रीका से हिन्दुस्तान के हाइ कमिश्नर सर शफ़ात अहमद ख़ाँ कुछ दिनों की छुट्टी लेकर अपने वतन लौटे हैं। दो एक दिन के लिये वे इलाहाबाद भी आये। दक्षिण अफ़रीका में भारतीयों की परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यहाँ दो एक व्याख्यान दिये। उन्होंने बताया कि दक्षिणी अफ़रीका के हिन्दू मुसलमानों में सम्प्रदायिकता नहीं है। वहां के अलग अलग धर्मों के लोगों में आपस

में काफ़ी भाई चारा है। धोती और पाजामे छोड़कर वहां के अधिकांश हिन्दुस्तानी अब विलायती लिबास में ही रहते हैं। ज़ाहिरा देखने में उनमें कोई फ़र्क़ नहीं किया जा सकता। दोनों की एक सी राजनैतिक मांगें हैं। साउथ आफ्रिकन इण्डियन कांग्रेस दोनों की प्रतिनिधि संस्था है जिसमें दोनों समान रूप से भाग लेते हैं। अपनी इसी एकता के कारण वे दक्षिण अफ़रीका के गोरे अधिवासियों के पेगिंग एक्ट जैसे जुल्मों का कुछ न कुछ मुक़ाबला कर सकते हैं। इत्यादि।

दक्षिण अफ़रीका के अपने इन भाइयों पर हमें फ़ख़ है। काश अपने इन दूर के भाइयों से यहां अपने देश में हम सबक़ सीख सकते। एकता में ही हमारा कल्याण है। अनैक्य से हम अपनी ही जड़ें खोदते हैं।

विक्रमोत्सव

सम्राट विक्रमादित्य की बीसवीं शताब्दी का उत्सव मनाने का ज़ोरदार आयोजन उज्जैन, कानपुर, बनारस आदि में हो रहा है। उज्जैन में यह उत्सव ग्वालियर के महाराजा शिंदे के संरक्षण में हो रहा है। सम्राट विक्रमादित्य अपने समय के भारत के राजनैतिक और सांस्कृतिक नेता थे। उनके नाम का संवत सर हमें उस समय की याद दिलाता है। यह हमारे लिये उचित ही है कि हम शानदार तरीके से इस उत्सव को मनावें।

डेढ़ साल से ऊपर हुआ जब 'विश्वमित्र'-सम्पादक हमारे आदरणीय मित्र पंडित सत्यदेवजी विद्यालंकार ने पहली बार विक्रमोत्सव मनाने की ओर जनता का ध्यान खींचा था। उसके बाद भाई सूर्यनारायण व्यास ने जी जान से इस उत्सव को सफल बनाने का निश्चय किया। उनकी आयोजन-समिति ने अपने सामने जो व्यापक कार्य क्रम रखा है हम पूरी तरह उसकी सफलता के इच्छुक हैं। आयोजन-समिति उज्जैन में इस उत्सव की स्मृति में एक विक्रम-कीर्ति-मन्दिर की स्थापना करना चाहती है जिसमें रि[illegible] पुर[illegible] श्रम और कला। रों[illegible] इसी अवसर पर उज्जैन म[illegible] [illegible]द्यालय भी क़ायम करने की यो[illegible] [illegible]ही है। इसमें सन्देह नहीं यह एक[illegible] [illegible] है। किन्तु हमें विश्वास है कि[illegible] महाराजा [illegible] मदद से यह सब आसा[illegible] से पूरा हो सकता है।

हमें सबसे अधिक खुशी इस बात की है कि उत्सव के आयोजक इस महोत्सव को सर्वथा राष्ट्रीय रूप में मनाना चाहते हैं। साम्प्रदायिकता की उसमें गन्ध तक न होगी। उन्होंने हर सम्प्रदाय और हर धर्म के विद्वानों को उत्सव में शरीक होने का निमंत्रण दिया है। सर्वांगीण भारतीय संस्कृति के हर पहलू पर उत्सव में प्रकाश डाला जायगा। हमें विश्वास है कि इस सम्बन्ध में आयोजन-समिति को पूरी सफलता मिलेगी।

उज्जैन के केन्द्रीय उत्सव के साथ साथ हम चाहते थे समस्त भारत में विक्रमोत्सव मनाया जाय जहां भारतीय संस्कृति के समन्वयात्म रूप पर और सब धर्मों के सार रूप 'प्रेम' की महिमा पर प्रकाश डाला जाय।

सिक्यूरिटी प्रिज़नर्स

गत सेण्ट्रल असेम्बली की बैठक में होम मेम्बर रेजिनल्ड मैक्सवेल ने असेम्बली के मेम्बरों को यह आश्वासन दिलाया कि सिक्यूरिटी-प्रिज़नर्स के साथ उसी डिवीज़न के सज़ायाफ़्ता क़ैदियों के मुक़ाबले में जहां तक खाने, पढ़ने और खेलने आदि का सम्बन्ध है अच्छा बर्ताव हो रहा है।

वे अनेक लोग जो हाल में जेलों से छूट कर आये हैं मिस्टर मैक्सवेल के इस कथन की पुष्टि नहीं कर सकते। जहां तक यू० पी० के बी क्लास सिक्यूरिटी प्रिज़नर्स का सम्बन्ध है उनके खाने की क़िस्म बेहद घटिया कर दी गई है। उन्हें गेहूं के आटे की जगह मिस्सा आटा दिया जा रहा है। आलू उनके

से इन संगीत-सम्मेलनों की [illegible] सी देयता बेहद बढ़ जा[illegible] है। [illegible] दानशत [illegible] अपने

श्री [illegible] के लिये मजबूर किया जाता [illegible] पढ़ने हम संग[illegible] अच्छी पुस्तकों का भी अभाव है [illegible] [illegible] एक एक ख़त, वह भी अधिक [illegible] ५[illegible] शब्दों का, उन्हें दिया जाता है। [illegible] तोड़े से व्यक्तियों को बड़ी कोशिश के बाद [illegible] अलाउन्स मिला है। खेल कूद की सु[illegible] भी उनकी कम कर दी गई हैं। बरेली जेल में उन्हें सज़ायाफ़्ता कैदियों की तरह परेड लगा[illegible] पर मजबूर किया गया है। आमतौर पर मेडिकल सुविधाओं का तो अभाव ही है। गरमियों भर उन्हें बन्द बैरकों के अन्दर बिना पंखे के सोना पड़ा है। क्या यही बातें अच्छे बर्ताव का निशानी हैं?

ए० आर० पी० संगठन

२२ नवम्बर की "अमृत बाज़ार पत्रिका" में ए० आर० पी० संगठन के सम्बन्ध में नीचे लिखा समाचार प्रकाशित हुआ है—

"ए० आर० पी० के काम में हिन्दुस्तान में अब तक समझा जाता है कि ३० करोड़ रुपये की रक़म ख़र्च की जा चुकी है। इतनी बड़ी रक़म भी ख़र्च हुई और ए० आर० पी० कोई बहुत उपयोगी संस्था नहीं साबित हुई, इसलिये भारत सरकार ने यह फ़ैसला किया है कि बङ्गाल, आसाम और मद्रास जैसे खतरे के क्षेत्रों को छोड़कर बाक़ी सब जगह से ए० आर० पी० का संगठन तोड़ दिया जाय।"

यदि यह खबर सही है कि ए० आर० पी० के काम में तीस करोड़ रुपये की रक़म ख़र्च हुई, जिस पर सहसा विश्वास नहीं होता, तो ग़रीब जनता के टैक्स का यह भीषण दुरुपयोग है। हम जानना चाहते हैं कि क्या सरकारी बजट में इस रक़म का उल्लेख किया गया है? यदि नहीं तो इसके लिये कौन ज़िम्मेवार है? हम मानते हैं कि युद्ध के समय बहुत सी ज़रूरी चीज़ें करनी पड़ती हैं किन्तु युद्ध के नाम पर धांधली तो नहीं होनी चाहिये। ए० आर० पी० की योजना के लिये आख़िर ज़िम्मेवार कौन है? ए० आर० पी० के तरफ़ से जो शेल्टर बनाए गये और खाइयां खुदाई गईं वे क़तई अवैज्ञानिक साबित हुईं। बरसात में खाइयों में पानी भर गया और वे मलेरिया का कारण बनीं। लाखों रुपया उनके खोदने में ख़र्च हुआ और लाखों रुपया भरने में। हम बड़ी उत्सुकता के साथ इस सम्बन्ध में भारत-सरकार की सफ़ाई की प्रतीक्षा करेंगे।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद

श्री वाल्टर लिपमैन अमरीका के एक आदरणीय और प्रतिष्ठित लेखक हैं। अमरीका में उनकी रचनाएँ बड़े ध्यान से पढ़ी जाती हैं। अभी हाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर उन्होंने एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक का एक मार्के का उद्धरण रायटर ने अपने १२ नवम्बर के तार में भेजा है। श्री लिपिमैन लिखते हैं—

"ग्रेट ब्रिटेन १९ वीं सदी की जिस साम्राज्यवादी नीति का अनुकरण कर रहा है उसके कारण उसे अमरीका की मदद से हाथ धोना पड़ेगा। इस नीति के कारण उसे सोवियत रूस के साथ संघर्ष में आना पड़ेगा और अन्त में इसी साम्राज्यवादी नीति के कारण वह विजेता शक्तियों के बीच में फूट के बीज बोएगा। अमरीका में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन को सचमुच क़ायम रखने की बात सोचता हो। किन्तु यदि ब्रिटेन को एशिया में अपनी साम्राज्यवादी नीति पालन करने के लिये छोड़ दिया गया तो क्या उससे मित्रराष्ट्रों की मित्रता खतरे में न पड़ जायगी और क्या हिन्द-महासागर ही आपसी मन मुटाव की जड़ न बनेगा, क्योंकि हिन्द-महासागर को लेकर ही आपसी झगड़े शुरू होंगे।"

श्री लिपिमैन या उनके कुछ देसवासी चाहे जो सोचें किन्तु मिस्टर चर्चिल बार बार दोहरा चुके हैं कि वे ब्रिटिश साम्राज्य को तोड़ने के लिये ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री नहीं बने। मिस्टर चर्चिल और उनके

साथी इस सम्बन्ध में किसी तरह का नक़ाब पहनना भी उचित नहीं समझते।

भारत-सरकार की प्रारम्भिक शिक्षा-योजना

आज से तीस वर्ष पूर्व जब स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले ने भारत में लाज़मी प्रारम्भिक शिक्षा की योजना रखी तो भारत-सरकार ने इसका तीव्र विरोध किया और असेम्बली में गोखले के एलीमेंटरी एजूकेशन-बिल का गला घोट दिया गया। तब से अब तक बार बार मांग किये जाने पर भी सरकार ने इस सम्बन्ध में कोई क़दम नहीं उठाया। इसीलिये नई दिल्ली से प्रकाशित इस समाचार को पढ़कर हमें उत्सुकता हुई कि भारत-सरकार के एजूकेशनल कमिश्नर श्री जान सारजैण्ट ने प्रारम्भिक शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना बनाई है, जिस पर युद्ध की समाप्ति के बाद अमल किया जायगा। इस योजना को अमल में लाने में प्रति वर्ष ३१३ करोड़ रुपये ख़र्च होंगे। इसमें अकेले ब्रिटिश भारत में सर्व व्यापक प्रारम्भिक शिक्षा में २०० करोड़ रुपया प्रति वर्ष ख़र्च होगा। मिस्टर सार्जेन्ट की स्कीम के अनुसार २,४० ००० विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा सकेंगे। बालिग़ों में शिक्षा प्रचार के लिये मिस्टर सार्जेन्ट ने एक बीस वर्षीय योजना बनाई है।

इस समस्त योजना को अमल में लाने में बीस लाख नान-ग्रेजुएट शिक्षकों की और १,८०,००० ग्रेजुएट शिक्षकों की ज़रूरत होगी। इस योजना के अनुसार स्कूल जाने वाले विद्यार्थियों के लिये ७,५०० डाक्टरों और १५,००० परिचारकों की ज़रूरत होगी।

हम इस योजना पर क्या टिप्पणी करें? जो काम १५० वर्ष पूर्व करने का था, उसे अमल में लाने की अक़्ल अब भारत सरकार को आई। ग़नीमत है कि वह राह पर तो आई। फिर भी योजना इतनी उमदा है और इतनी आकर्षक है कि जब तक वह अमल में न आ जाय तब तक हम सरकार को बधाई देने में ख़तरा समझते हैं।

आ[illegible] तटस्थ दशा म[illegible]
है[illegible] ...स्तान के राजनैतिक सम्बन्ध [illegible]
[illegible] जो बुरा असर छोड़ा है यह उस[illegible]
है[illegible] आयरलैण्डवाले इस महायुद्ध से अ[illegible]
व[illegible]य रखे हुए हैं। गत १६ नवम्बर [illegible]ा आ[illegible]रिश [illegible] आयरलैंड की तटस्थता को ले[illegible] लम्बी बहस हुई जि[illegible] आइरिश पार्लिमेन्ट ने सब सम्मति से श्री डी० वे[illegible]लरा की तटस्थता की नीति को पसन्द और पास किया। रायटर के अनुसार श्री डी० वेलरा ने अपने लम्बे व्याख्यान में कहा—

"हमने हिम्मत के साथ और सोच विचार कर इस तटस्थता की नीति को अख़्तियार किया है। इसके सिवा हम दूसरी बात कर ही नहीं सकते थे। हमें किसी से माफ़ी मांगने की ज़रूरत नहीं क्योंकि हम जानते हैं कि हमारे लिये यही मुनासिब और उचित बात थी। यदि युद्ध के पश्चात् ऐसा हो कि कोई देश हमारी आज की नीति को लेकर हम पर गुस्सा उतारे तो हम उसका उसी तरह सामना करेंगे जिस तरह हम आज किसी के भी सम्भावित हमले का कर रहे हैं। मुझे विश्वास है उसका हम उसी हिम्मत से सामना करेंगे जिस हिम्मत से आज कर रहे हैं और इसी तरह उस संकट को भी पार कर जायँगे।"

निश्चय ही अपने फ़ायदे नुक़सान की बात सोचने का पूरा अधिकार हर देश को खुद है। आयर्लैंड, तुर्की, पुर्तगाल आदि को इस युद्ध में घसीटने की तरह तरह से कोशिशें की जा रही हैं किन्तु अभी तक इसमें कामयाबी नहीं मिली है।

सोवियत् रूस की अल्पमत जातियां

अमरीकन सरकार के गृह-मन्त्री श्री हैरल्ड एल० आइकस ने, "नैशनल कौंसिल आफ़ अमेरिकन सोवियत् फ्रेंडशिप" के सामने, गत ९ नवम्बर को व्याख्यान देते हुए सोवियत् की बेहद प्रशंसा की कि सोवियत् सरकार अपने यहाँ की अल्पमत जातियों के

से इन संगीत-सम्मेलनों [illegible] तार देयता बेहद बढ़ जा[illegible] कहना [illegible] है—

श्री [illegible] हमारा देश भी सोवियत् यू[illegible] से इस हम संग[illegible] से मिलता जुलता है कि हमारे [illegible] भी क[illegible] जातियाँ और अनेक सम्प्रदाय हैं। [illegible] हमारे [illegible]जनों [illegible] यह स्वीकार करना पसन्द नहीं। [illegible] कि सोवियत् की तुलना में अपनी अल्प जा[illegible] साथ और वि[illegible] कर निग्रो जाति के साथ [illegible] व्यवहार बुरा और ज़ालिमाना है।...इसके विपरीत सोवियत् यूनियन में हर जाति और हर तबक़े के लोगों को वास्तविक और यकसाँ सुविधाएँ दी जाती हैं। सोवियत् यूनियन उन्हें यकसाँ आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ देती है। सोवियत् यूनियन में साम्प्रदायिक और धार्मिक असहिष्णुता को बहुत बुरी नज़रों से देखा जाता है। मिसाल के तौर पर यहूदी-विरोधी आन्दोलन को वहाँ राजद्रोह समझा जाता है और उसी के अनुरूप सज़ा मिलती है। सोवियत् यूनियन में किसी एक फ़िर्के के लोगों पर हमला करने को सारे देश पर हमला करना समझा जाता है।...हमें इस सम्बन्ध में सोवियत् से सबक़ लेने की ज़रूरत है।"

लैबनान

पाठकों ने पिछले दिनों लैबनान में फ्रेंच-हस्तक्षेप और दमन की कहानी विस्तार के साथ पढ़ी होगी। रस्सी जल जाती है पर उसकी ऐंठन नहीं जाती। फ्रांस आज हिटलरी जूते के नीचे पड़ा कराह रहा है किन्तु उसकी भी साम्राज्यवादी भावना ठण्ढी नहीं पड़ी।

जिस समय सीरिया शाम को फ्रांस के मैण्डेट में दिया गया था सारी अरब दुनिया ने उसका विरोध किया था। फ्रांसीसियों ने सीरिया पर अपने मुस्तकिल क़ब्ज़े की ग़रज़ से उसे कई हिस्सों में बाँट दिया था। लैबनान सीरिया का इसी तरह का एक प्रान्त है। लैबनान में बहुमत ईसाइयों का है और फ्रान्सीसी यह भूल गये थे कि दूसरे ईसाइयों को भी आज़ादी से अटूट प्रेम हो सकता है।

फ्रांस के पतन के बाद मित्रराष्ट्रों ने सीरिया की स्वधीनता का ऐलान कर दिया था। फ्रेंच कमेटी आफ़ नैशनल लिबरेशन का कहना है कि उसे स्वाधीनता पर अमल करने के लिये 'वैधानिक' ख़ानापूरी ज़रूरी थी। लिहाज़ा लैबनानी नेताओं का व्यवहार विद्रोहात्मक था। लैबनानी चैम्बर के स्वाधीन रुख़ अख़्तियार करने के साथ ही वहाँ के प्रेज़िडेण्ट और मिनिस्टरों को क़ैद कर लिया गया, चैम्बर आफ़ डेपुटीज़ तोड़ दिया गया और एक कठपुतली प्रेज़िडेण्ट मुक़र्रर कर दिया गया। इसके दो नतीजे हुए—

(१) लैबनान की ईसाई और मुसलमान जनता एक आवाज़ के साथ उठकर खड़ी हो गई, और

(२) सारी अरब दुनिया अभूतपूर्व एकता के साथ इस अन्याय का विरोध करने पर तत्पर हो गई।

फ्रेंच जनरल कात्रू को मजबूर हो कर लेबनान जाना पड़ा। रायटर के सम्वाददाता के अनुसार जब जनरल कात्रू लेबनान के मुसलमान नेता मुफ़्ती से मिले और उनसे पूछा कि मुसलमानों की क्या मांगें हैं तो मुफ़्ती ने जवाब दिया—'हम सब लेबानानियों की एक मांग है। मुसलमानों की कोई अलहदा मांग नहीं है।'

अरब जनमत ने मित्र राष्ट्रों को विवश कर दिया कि वे लेबनान के मामले में फ्रेंच नैशनल कमेटी को दबावें। फ्रेंच शक्ति को मजबूरन् इस एकता के सामने घुटने टेकने पड़े। नतीजा यह हुआ कि लैबनानी प्रेज़िडेण्ट और मिनिस्टरों को रिहा कर दिया गया। प्रेज़िडेन्ट को फिर से बरक़रार कर दिया गया और इस झगड़े की जड़ फ्रेंच डेलीगेट-जनरल हेलू को वापस बुला लिया गया।

हम लैबनान की अरब जनता की इस शानदार विजय पर उन्हें मुबारकबाद देते हैं। काश कि हमारे देश के सब लोग लैबनानी घटना से सबक़ सीख सकते कि--एकता में ही विजय है।

धुरी राष्ट्रों की आक्रमण शक्ति

अमरीकन सरकार के सहायक युद्ध मन्त्री श्री रावर्ट पैटर्सन ने वाशिंगटन के अपने एक व्याख्यान में कहा है—

"बड़ी सख़्त लड़ाई सामने है। अगला साल फ़ैसले का साल है। कोई समझदार आदमी यह नहीं कह सकता कि लड़ाई कब ख़त्म होगी।···लेरास टापू पर जर्मनों का क़ब्ज़ा कोई ख़ास फ़ौजी महत्व नहीं रखता; किन्तु फिर भी वह उन लोगों के लिये एक जवाब है जो कहते हैं कि जर्मनों की आक्रमण शक्ति शीघ्र ही समाप्त हो जायगी···इटली की लड़ाई कबड्डी की तरह की लड़ाई हो गई है और वहां लड़ाई के तेज़ पड़ने की मानी फ़ैसलाकुन होने की उम्मीद नज़र नहीं आती।"

ऊपर के शब्द एक ऐसे व्यक्ति के हैं जिसे युद्ध की परिस्थिति का पूरा पूरा ज्ञान है। रायटर के तारों के अनुसार इटली में (मित्रराष्ट्रों की) फ़िफ़्थ और एटथ आरमी की रफ़्तार इतनी धीमी पड़ गई है कि सोवियत् के सरकारी पत्र "वार एण्ड वर्किंग क्लास" के २१ नवम्बर के अंक में एक लेखक को यह लिखना पड़ा कि—"मौजूदा युद्ध की सारी रफ़्तार इस बात को आवश्यक कर देती है कि इटली की लड़ाई को शीघ्र ही तेज़ किया जाय। मित्रराष्ट्रों का समुद्र पर क़ब्ज़ा है और वे दुश्मन के पीछे बड़ी बड़ी फ़ौजें उतार सकते हैं।" यह इसलिये भी ज़रूरी है कि स्वयं रूस में कीव के मोरचे पर जर्मन प्रत्याक्रमण कर रहे हैं। उन्होंने जितामिर नामक मुक़ाम को फिर रूसियों से छीन लिया है और रूसियों को क़रीब पचास मील पीछे हटा दिया है।

समुद्री लड़ाई में जर्मनी ने एक बहुत बड़े पैमाने की यू० बोट बनाई है जो अमरीकी संवाददाताओं के अनुसार एक 'भयानक' चीज़ है।

मध्य चीन में जापानी सेनाएं चीनियों को क़रीब सौ मील पीछे हटाने में सफल हुई हैं।

इन सब बातों से पता चलता है कि जब तक यूरोप में दूसरा फ्रन्ट नहीं खुलता और बरमा की म[illegible]
व[illegible] और बरमा की लड़ा[illegible]
[illegible]दल्ली दूर' ही दिखाई देती है।

[illegible]को-सम्मेलन के बाद

[illegible]ास्को के त्रिराष्ट्र-सम्मेलन से जैसी हमें आशा [illegible] नतीजे नहीं निकले। जहां [illegible] फ़ौजी मोरचे का [illegible]न्ध था सम्मेलन ज़ाहिरा दे[illegible] में सफल रहा; किन्तु [illegible]हां तक नैतिक मोरचे का सम्बन्ध है सम्मेलन ने उस [illegible] ग़ौर करना ही मुनासिब नहीं समझा। संसार के दलित और पराधीन राष्ट्र इस उम्मीद में थे कि मास्को सम्मेलन उनके लिये आज़ादी और मुक्ति का पैग़ाम देगा किन्तु इस दृष्टि से मास्को और क्यूबेक और म्यूनिख़ में हमें कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। श्री वेण्डल विल्की इस दृष्टि से मास्को-सम्मेलन के नतीजे में मित्रराष्ट्रों के मोरचे में बहुत बड़ी नैतिक ख़ामी देखते हैं। न तो श्री ईडन की आशापूर्ण वक्तृता इस कमी को पूरा कर सकी और न श्री कार्डेल हल की ख़ुशदिली। श्री मोलोतोव को इसी बात में सन्तोष नज़र आया कि अंगरेज़ और अमरीकन बावजूद व्यापक सैनिक तैयारी के यदि अभी तक जर्मनी से पूरी मुठभेड़ नहीं ले पा[illegible] ह तो आगे लेंगे। किन्तु बावजूद आपसी समझौते के गीत गायन के "न्यू स्टेट्समैन" के अनुसार इन तीनों मुल्कों में अधूरी एकता ही नज़र आयी। इसकी एक मिसाल यह है। मैक्सिको के सोवियत् राजदूत अमान्स्की ने हाल में अपने एक वक्तव्य में कहा कि सोवियत् को अब भी अपनी अन्तिम सरहद तक पहुँचने में २५० मील रह गये हैं। इसका अर्थ लोगों ने यह लगाया कि शायद हल और ईडन ने चुपके चुपके सोवियत् के पोलैण्ड-हरण को स्वीकार कर लिया है। मिस्टर हल ने इस बात से इनकार किया है कि मास्को में कोई गुप्त समझौता हुआ है। दूसरी मिसाल सोवियत के मुख पत्र 'इज़वेस्तिया' का वह लेख है जो उसने "न्यू स्टेट्समैन" और "इकानामिस्ट" नामक पत्रों के जवाब में लिखा है। इन पत्रों

से इन संगीत-सम्मेलनों की [illegible] सम्मे-देयता बेहद बढ़ जा[illegible] है यह इस [illegible] द्योतक

श्री [illegible]त् यूनियन युद्ध के बाद यूर[illegible] राष्ट्रों हम सग[illegible]म का विरोधी नहीं है। इस प[illegible] का[illegible] ने जवाब देते हुए लिखा कि [illegible]यो म[illegible]तोव [illegible] सम्मेलन में सोवियत् की ओर[illegible] यह कहा था [illegible] सोवियत छोटे राष्ट्रों के अप[illegible] संघ का उसूलन [illegible]धी है; "क्योंकि इस त[illegible] के संघ से न केवल उन राष्ट्रों के लिये भयानक [illegible]रिणाम होगा बल्कि उससे यूरोप की शान्ति ख़तरे में [illegible]ड़ जायगी।"

सोवियत् राष्ट्र की हिफ़ाज़त और सलामती बाल्टिक, ब्लैक सी और मध्य यूरोप के देशों पर निर्भर है। प्रोफ़ेसर वे वस्टर के शब्दों में—"पिछले डेढ़ सौ वर्षों से मध्य यूरोप का कोई समझौता सफल नहीं हुआ जब तक रूस ने या तो उसमें हिस्सा नहीं लिया या उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण तटस्थता नहीं दिखाई।" 'इज़वेस्तिया' के अनुसार सोवियत अपनी सरहद पर कभी ऐसे राष्ट्रों के संघ को स्वीकार न करेगा जो उसके लिये फन्दे का काम करें।

अमरीका की सेनेट ने त्रिराष्ट्र-सम्मेलन पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी है; किन्तु अमरीकन जन-[illegible]त यूरोप से अधिक प्रशान्त महासागर की परिस्थिति में दिलचस्पी रखता है। राजनीतिज्ञों के अनुसार अमरीका की रियासतों के पिछले चुनाव में डेमोक्रेटिक पार्टी के ऊपर रिपब्लिकन पार्टी को जो जीत मिली है वह इसी की द्योतक है।

मास्को सम्मेलन के बाद परिस्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। तीनों राष्ट्रों की एक सलाहकार-समिति बना दी गई है किन्तु इस समिति की शक्ति का अभी तक निरूपण नहीं हुआ है। बहरहाल मास्को-सम्मेलन ने इस युद्ध की न्याय्यता के प्रश्न को जहां का तहां छोड़ दिया है। उस पर भले ही साम्राज्यवादी चर्चिल, व्यवसायवादी रूज़वेल्ट और मुसीबतज़दा स्तालिन को सन्तोष हो किन्तु ग़ुलाम और पीड़ित एशियाई राष्ट्रों को सन्तोष नहीं हो सकता। यह सही है कि चीन ने मास्को-पैक्ट पर अपने दस्तख़त कर दिये हैं किन्तु चीन के दस्तख़त के बहुत मानी हमें नज़र नहीं आते।

पंडित सुन्दरलाल जी

"विश्ववाणी" के संरक्षक पंडित सुन्दरलाल जी गत १७ नवम्बर को सवा पन्द्रह महीने जेल में रहकर छूटे हैं। अपने कारावास के लगभग छै महीने वे जेल अस्पताल में हृदय-रोग से पीड़ित पड़े रहे। शुरू शुरू में तो हम सबको उनके जीवन से ही निराशा हो गई थी। किन्तु पंडित जी भारतीय संस्कृति की जिस एकता के प्रचार में अपनी सारी शक्ति लगा रहे थे उसकी पूर्ति के लिए उनकी आवश्यकता थी और हमारे सौभाग्य से आज वे फिर हम सब के बीच में हैं। बीमारी ने अभी उनका पीछा नहीं छोड़ा है और वे काफ़ी कमज़ोर हैं। हमें पूरी आशा है कि वे शीघ्र ही स्वस्थ होकर अपने अधूरे काम को हाथ में ले सकेंगे। "विश्ववाणी" और उसके पाठकों की ओर से हम उनका हार्दिक स्वागत करते हैं।

'विश्ववाणी' के तीन वर्ष

इस दिसम्बर अंक के साथ साथ 'विश्ववाणी' अपने जीवन के तीन वर्ष पूरे कर रही है। यह तीसरा वर्ष 'विश्ववाणी' के जीवन का संकटकाल था। 'विश्ववाणी' के संरक्षक और सम्पादक दोनों जेल में थे। उनकी ग़ैरहाज़िरी में 'विश्ववाणी' को अपनी शक्ति के अनुसार हमने चलाने का प्रयत्न किया। 'विश्ववाणी' के सम्पादक पंडित विश्वम्भरनाथ जी अब भी जेल में हैं और कई महीने से बीमार हैं। उन्होंने सरकार से इस बात की अनुमति मांगी थी कि जेल से वे अपने चीनी, अमरीकन, अंगरेज़ और रूसी लेखकों से 'विश्ववाणी' के लिये लेख भेजने की प्रार्थना कर सकें। किन्तु उनकी वह प्रार्थना सरकार ने नामंज़ूर कर दी। अमरीकन इनफ़ारमेशन डिपार्टमेन्ट के सहयोग से वे जेल में बैठे बैठे 'विश्ववाणी' का एक "अमरीका अंक" निकालना चाहते थे। अमरीकन अधिकारी पूरे सहयोग का विश्वास भी

दिला चुके थे किन्तु सरकार ने पंडित विश्वम्भरनाथ जी के इस अनुरोध को भी स्वीकार नहीं किया।

युद्ध की परिस्थिति के कारण विदेशी लेखकों के लेखों के अभाव में 'विश्ववाणी' में बहुत कुछ कमी रही है। किन्तु इस सम्बन्ध में हम से अधिक दोष परिस्थिति का है। हमें आशा है पाठक हमारी विवशता जान कर हमें क्षमा करेंगे।

"विश्ववाणी" भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक रूप, अन्त में विश्व-संस्कृति की एकता, और अहिंसात्मक बुनियादों पर मानव समाज के संगठन में विश्वास करती है। चाहे जितनी बाधाएं आवें वह अपने विश्वास को निर्भीकता के साथ रखने और उसका प्रचार करने की कोशिश करती रहेगी।

हमें विश्वास है पिछले तीन वर्षों में हमारे पाठकों और लेखकों ने जिस प्रेम के साथ हमारा हाथ बटाया है आगे भी वे उसी तरह हम पर अपना प्रेम बनाए रखेंगे।

पंडित सुन्दरलाल जी की उपस्थिति से हमें यह भी विश्वास है कि 'विश्ववाणी' अगले वर्ष निश्चय ही अधिक उन्नत और अधिक उपयोगी रूप में पाठकों के सामने पहुंचेगी।

समाचार पत्रों की ज़िम्मेवारी

[दैनिक आज के २३ ११-४३ के अंक में पंडित सुन्दरलाल के बारे में जो कुछ प्रकाशित हुआ है और उसके बारे में जो कुछ लिखा गया है वह सब नीचे प्रकाशित किया जाता है —सम्पादक]

"श्री सुन्दरलाल की उल्टी सूझ

कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था

(विशेष प्रतिनिधि द्वारा)

प्रयाग, २० नवम्बर। प्रान्त के प्रसिद्ध कांग्रेस-नेता और 'भारत में अंग्रेज़ी राज' के लेखक पण्डित सुन्दरलाल कल दोपहर को नैनी सेण्ट्रल जेल से बिना शर्त रिहा कर दिये गये। जेल से छूटने पर आपने लोगों से यह मत प्रकट किया कि कांग्रेस ने अब तक मुसल[illegible] [illegible]लम्बर[illegible] स्तानी[illegible] की मांग सर्वथा न्याय[illegible] स[illegible] आपने यह मत भी प्रकट कि[illegible] कांग्रे[illegible]यतः हिन्दुओं की संस्था है और व[illegible] हितों [illegible]रक्षा करती है। विश्वस्तसूत्र से यह [illegible] मालू[illegible] है कि आपने श्री राजगोपाला[illegible]ारी [illegible] पत्र लि[illegible] कि यदि आप मुसलम[illegible] के लिए 'स्वभाग्यनिण[illegible]' की अस्पष्ट मांग का समर्थन करने के बजाय पाकि[illegible]तान की 'स्पष्ट मांग' के समर्थन में आन्दोलन करें तो मैं भी आपका साथ देने को तैयार हूं।"

श्री सम्पादक 'आज'

बनारस

महोदय,

२३-११-४३ के 'आज' में "श्री सुन्दरलाल की उल्टी सूझ" शीर्षक से कुछ पंक्तियां प्रकाशित हुई हैं। उन्हें पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने 'आज' की कतरन पंडित सुन्दरलाल जी को दिखाई। उस कतरन को देख कर उन्हें मुझसे भी अधिक आश्चर्य हुआ। उनका कहना है कि जब से वह जेल से आये हैं उन्होंने श्री राजगोपालाचार्य को कोई पत्र किसी सम्बन्ध में नहीं लिखा। जहां तक उन्हें याद है, पिछले चार वर्ष के अन्दर राजा जी को कोई पत्र लिखने का विचार तक उनके मन में नहीं आया। 'आज' की उस कतरन में प्रकट किये हुए विचार उनके विचार नहीं हैं।

पंडित सुन्दरलाल जी का स्वास्थ्य जब से वह जेल से आये हैं इतना ख़राब है कि वे अभी किसी भी सार्वजनिक कार्य में कोई ख़ास हिस्सा लेने के क़ाबिल नहीं हैं। यह पत्र उनकी इजाज़त से आपको भेज रहा हूं। कृपया इसे शीघ्र 'आज' में उचित स्थान पर प्रकाशित कर दीजिए।

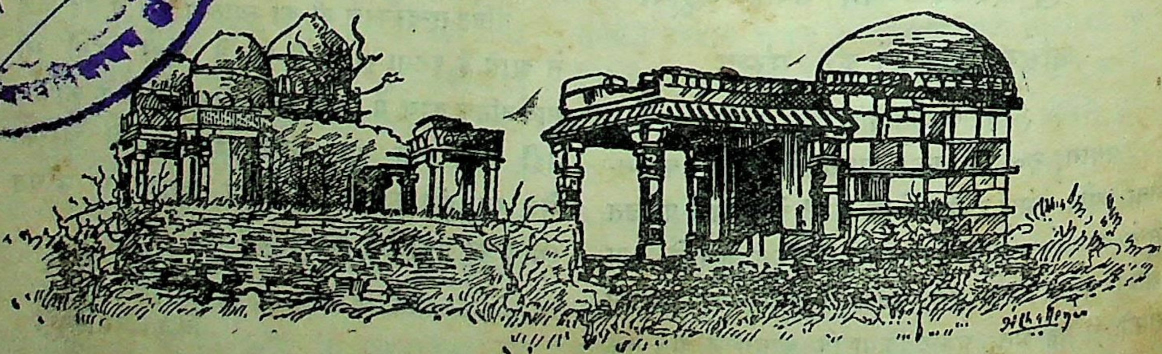
विनीत

विजय वर्मा

से इन संगीत-सम्मेलनों की [illegible] देयता बेहद बढ़ जा[illegible] [illegible] भूले

श्री [illegible] जिनसे अनर्थ की सम्भा[illegible] प्रथम हम सं[illegible] 'आवभूव' के स्थान पर 'आबभू[illegible] [illegible]िए, [illegible] कर '[illegible]राष्ट्रजायत' को 'विराडजायत[illegible] [illegible]ुरुषः' को 'पू[illegible]ः', 'पृष्दायम' को 'पृषदाज्यम्[illegible] [illegible]मस्य' को 'किमस्य', 'अरू' को 'ऊरु', 'बुद्धिरथी' को 'बुद्धिरपी', 'सन्नूयसन्न' को 'सन्नासन्न', (३) ससत् और (४) ससत् को (३) सदसत् और (४) सदसत्, 'पैरोदेख' को 'मैरोदेख', 'प्रभेतः को 'प्रकेतः' 'आसीत पसा गूह्लिमग्रे' को 'आसीत् तमसा गूढमग्रे' होना चाहिए।





इतिहास संस्कृति और राजनीति की सचि

विश्ववाणी ही क पढ़ें ?

'विश्ववाणी' का नामकरण स्वर्गीय कवि द्रनाथ ठाकुर ने किय या।

'भारत में अंगरेज़ी राज' के रचयिता पं० रलाल इसके सं क हैं

'विश्ववाणी' पर लोकमत

यों तो मैं किसी को आजकल कुछ संदेश नहीं भेजता, लेकिन विश्ववाणी को मैंने चन्द मिनट दीं। 'विश्ववाणी' की विशेषता कि उसमें ज़ाहिर ख़बर नहीं ली जाती मुझे बहुत प्रिय लगी। मुझे यह भी अच्छा लगा कि 'विश्ववाणी' में सब धर्मों के लेखकों के लेख भरे हैं......—महात्मा गान्धी

'विश्ववाणी' जिस महान उद्देश्य को लेकर निकली है, मुल्क को उसकी बेहद ज़रूरत है। हर हिन्दुस्तानी को 'विश्ववाणी' पढ़नी चाहिये—राष्ट्रपति आज़ाद

ऐसे महान उद्देश्य को लेकर जिस साहस के साथ आपने 'विश्ववाणी' निकालने का आयोजन किया है, उसकी प्रशंसा करता हूं—सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि हिन्दी में इतनी उच्चकोटि की कोई दूसरी मासिक पत्रिका नहीं है—आचार्य नरेन्द्रदेव

निस्संदेह 'विश्ववाणी' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है—पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी

'विश्ववाणी' का एक एक अङ्क संग्रह करने की वस्तु है

आज ही छै रुपये भेजकर ग्राहक बन जाइये

मैनेजर 'विश्ववाणी' कार्यालय, साउथ मलाका, इलाहाबाद

से इन संगीत-सम्मेलनों की ... में प्रकाशित हो गई
देयता बेहद बढ़ जा...
श्री ...
हम संगी...
का कर...

हज़रत मुहम्मद और इसलाम

लेखक 'भारत में अंगरेज़ी राज' के रचयिता

पंडित सुन्दरलाल

२५० पृष्ठ की सजिल्द, सचित्र, मोटे कागज़ पर छपी, सरल और सुन्दर पुस्तक का मूल्य

केवल डेढ़ रुपया : डाक खर्च अलग

विश्ववाणी के स्थायी ग्राहकों को पुस्तक केवल पौने मूल्य में

[डाक खर्च छै आना अलग]

१५ वर्षों की लगातार खोज और मेहनत से, सैकड़ों पुस्तकों के अध्ययन के बाद यह पुस्तक तय्यार हुई है। पुस्तक में अरब का भूगोल और इतिहास, प्राचीन अरबों के सामाजिक जीवन, उनके धार्मिक विश्वास, उनकी पूजा के तरीक़े, मुहम्मद साहब का जन्म, इसलाम का प्रचार, रोम और ईरान के साथ टक्कर, आदि विषयों का अत्यन्त सरल और चित्ताकर्षक वर्णन है। चित्रों और नक़्शों से पुस्तक की उपयोगिता बेहद बढ़ गई है। पुस्तक इतने आकर्षक ढङ्ग से लिखी गई है कि प्राचीन घटनाएं मानों क़ब्र से निकल कर बोलने लगती हैं।

काग़ज़ की तंगी से पुस्तक का दूसरा संस्करण लड़ाई के बाद निकलेगा। जल्दी से जल्दी अपना आर्डर भेजिये वरना प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

पंडित सुन्दरलाल जी की दूसरी पुस्तक

गीता और क़ुरान (प्रेस में)

मैनेजर विश्ववाणी बुक-डिपो, साउथ मलाका, इलाहाबाद

मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद